आधुनिक निबन्ध

निम्नलिखित नए निबन्ध इस संस्करण में जोड़े गये हैं :—

१—स्वेज़ नहर का राष्ट्रीयकरण
२—भारतीय राज्यों का पुनर्गठन
३—अणु एवं उद्जन बम
४—परिवार नियोजन
५—शिक्षित वर्ग की बेकारी समस्या
६—बुल्गानिन की भारत यात्रा
७—आधुनिक वैज्ञानिक आविष्कार
८—स्वतन्त्रता-संग्राम में नारी का सहयोग
९—प्राच्य और पाश्चात्य नारी-जीवन
१०—द्वितीय पंचवर्षीय योजना
११—ग्रामोत्थान की योजनाएँ
१२—राष्ट्र निर्माण की योजना
१३—एवरेस्ट विजय

—:०:—

प्रकाशकीय

विभिन्न प्रतियोगितात्मक परीक्षाओं के प्रत्याशियों तथा शिक्षण संस्थाओं के छात्रों के बीच 'आधुनिक निबन्ध' को जो लोकप्रियता प्राप्त हुई है, उसी ने हमें यह द्वितीय पूर्णतः परिवर्द्धित तथा संशोधित संस्करण प्रस्तुत करने के लिए उत्साहित किया है। पुस्तक का प्रथम संस्करण एक वर्ष से कम की अल्पावधि में ही समाप्त हो गया यह तथ्य इस पुस्तक की श्रेष्ठता का पुष्टतम प्रमाण है। इस द्वितीय संस्करण में हमने अनेक अनुभवी अध्यापकों के परामर्श के अनुसार तथा विभिन्न परीक्षाओं के प्रश्न पत्रों को ध्यान में रखते हुये बहुत से नए निबन्ध जोड़ दिए हैं जिन्होंने पुस्तक की उपादेयता को कई गुना बढ़ा दिया है।

पुस्तक को और अधिक उपयोगी बनाने के लिए सुझाव देने वाले महानुभावों के प्रति हम आभारी रहेंगे। हमें आशा है कि यह संस्करण प्रथम संस्करण से भी अधिक लोकप्रिय होगा।

१५ नवम्बर १६५६ राजकिशोर प्रकाशन

श्रद्धेय
डा० रामकुमार वर्मा
एम० ए०, पी०-एच० डी०
को
समर्पित
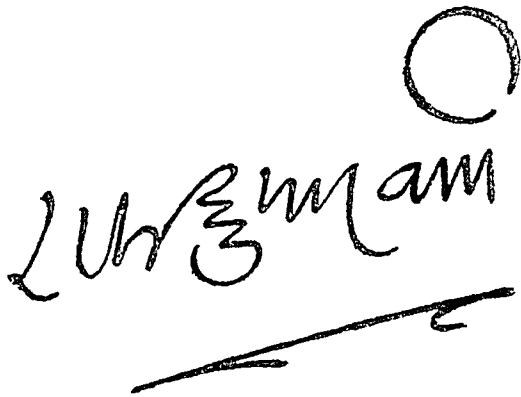
परिचय

वैसे तो हिन्दी में निबन्धों की अनेक पुस्तकें हैं परन्तु "आधुनिक निबन्ध" अपने प्रकार की एक ही है। इसमें वर्णनात्मक, विचारात्मक, व्याख्यात्मक तथा भावात्मक सभी प्रकार के नवीनतम निबन्ध हैं। इस पुस्तक की विशेषता इस बात में है कि इसमें वर्तमान की ज्वलन्त समस्याओं पर तो निबन्ध हैं ही, साहित्य और साहित्यकारों पर भी उत्कृष्ट निबन्ध लिखे गये हैं। प्रथम और द्वितीय पञ्चवर्षीय-योजना, कोलम्बो-योजना, बान्डुंग सम्मेलन आदि राजनीतिक विषयों पर लिखित निबन्ध जागरूकता के परिचायक हैं।

यह पुस्तक इन्टर, बी० ए०, विशारद, साहित्यरत्न तथा प्रभाकर आदि के विद्यार्थियों के लिये विशेष रूप से लाभदायक सिद्ध होगी। पब्लिक-सर्विस-कमीशन द्वारा आयोजित प्रतियोगिता परीक्षाओं में बैठने वालों के लिये भी यह लाभप्रद है।

मुझे विश्वास है कि विद्यार्थियों के अध्ययन में यह एक आवश्यक पुस्तक समझी जायगी।

साकेत
इलाहाबाद—२
१४-६-१६५५

प्रथम संस्करण की प्रस्तावना

अद्यावधि हिन्दी में प्रायः जो भी निबन्ध की पुस्तकें उपलब्ध हैं, उनमें विशुद्ध साहित्यिक निबन्धों की ही प्रधानता है। सम-सामयिक विषयों पर बहुत कम विचार किया गया है।

प्रस्तुत 'आधुनिक निबन्ध' नामक पुस्तक इसी एक विशेष उद्देश्य की आंशिक पूर्ति के लिए लिखी गयी है। ये निबन्ध विशेष रूप से इन्टर, बी० ए०, विशारद एवं विभिन्न प्रतियोगिता परीक्षाओं के परीक्षार्थियों के लिये उपयोगी हैं, यद्यपि प्रभाकर, साहित्यरत्न एवं एम० ए० आदि के परीक्षार्थी भी इनसे लाभ उठा सकते हैं।

हम डा० रामकुमार जी वर्मा के अत्यन्त आभारी हैं। उनकी विशेष कृपा तथा सहयोग का ही यह प्रतिफल है। पुस्तक को सुरुचिपूर्ण बनाने में प्रकाशक एवं मुद्रणालय के कर्मचारियों का सराहनीय सहयोग इसमें जुड़ा हुआ है।

हमें आशा है कि "आधुनिक-निबन्ध" अपने उद्देश्य की पूर्ति करता हुआ विद्यार्थी या परीक्षार्थी वर्ग के लिये विशेष उपयोगी सिद्ध होगा।

रामप्रसाद किचलू

१ सितम्बर १९५५ केशनी प्रसाद चौरसिया

विषय-सूची

साहित्यिक निबन्ध

(क) व्याख्यात्मक

(ख) परिचयात्मक

आर्थिक निबन्ध

समस्या प्रधान निबन्ध

विवरणात्मक निबन्ध

सांस्कृतिक निबन्ध

विविध निबन्ध

भूमिका

निबन्ध की परिभाषा—निबन्ध की कोई विशेष परिभाषा प्रस्तुत नहीं की जा सकती, क्योंकि विषय के अनुसार इसके रूप और परिमाण में पर्याप्त विभिन्नता है। इसलिए किसी लक्षण के चौखटे में इसे नहीं कसा जा सकता। हिन्दी के शब्द-कोशों में 'निबन्ध' शब्द के कई अर्थ दिये गयें हैं। जैसे (१) रचना, लिखना; (२) जोड़ना, बाँधना (३) संग्रह (४) शृंखला (५) नींव, उत्पत्ति, कारण, हेतु। अंग्रेजी में निबन्ध को एसे (Essay) कहते हैं जो उत्तरी फ्रांसीसी शब्द 'एसाई' से निकला है किसका अर्थ है 'प्रयत्न' या किसी विषय पर गद्य में लिखी गयी छोटी साहित्यिक रचना। सत्य तो यह है कि निबन्ध की सीमा निर्धारित करने के विषय में विद्वानों में मतवैभिन्य है। कुछ विद्वानों के मत से निबन्ध 'अस्तव्यस्त विचारों का प्रकाशन मात्र' है। आंग्ल साहित्य के प्रसिद्ध निबन्धकार डॉक्टर जॉन्सन ने आधुनिक निबन्ध को 'मन की मुक्त उड़ान' कह कर सम्बोधित किया है एवं उसकी इस प्रकार परिभाषा दी है—

'निबन्ध' 'मानसिक विश्व का वह थका हुआ बुद्धि-विलास है जिसमें क्रम और नियम का अभाव है। इसे विचारों की अधूरी एवं अव्यवस्थित रचना मात्र माना जा सकता है।' डा० रामकुमार वर्मा निबंध की सामान्य रूप से परिभाषा करते हुए कहते हैं कि 'किसी विषय विशेष की सम्यक् रूप से संगठित और क्रमिक व्याख्या ही निबन्ध है।' कुछ लोग 'सांगोपाग' शब्द से इसका रूप निर्धारित करते हैं लेकिन निबंध किसी विशेष दृष्टि से नहीं लिखे जाते, उनकी एकपक्षीय विवेचना नहीं हो सकती। इसलिए इस शब्द की आवश्यकता अनिवार्य रूप से निबन्ध को नहीं है। निबन्ध में क्रम-बद्धता आवश्यक है। विचारों और दृष्टिकोणों की विकासोन्मुखता

परमावश्यक है और इसका विस्तार एक पृष्ठ से लेकर ५०० पृष्ठों तक हो सकता है। निबन्ध के लक्षणों के साथ यह क्रमबद्धता किसी निश्चित निष्कर्ष तक पहुँचनी चाहिए और इस विवेचन का तथ्य अंतिम अनुच्छेद या वाक्य में प्रकट होना चाहिए, लेकिन इसके अपवाद भी हो सकते हैं। यह केवल किसी विषय विशेष पर विचारों का अभिव्यंजन भी हो सकता है। प्रताप नारायण मिश्र के निबन्धों में अनेक प्रकार की शैलियाँ हैं उन्होंने ड, आप, दाँत, (व+कील), (अदा+लत) पर बड़े ही कौतूहल प्रधान विचित्र निबन्ध लिखे हैं। वैज्ञानिक प्रणाली की परवाह न करके जिस स्वतंत्र और उन्मुक्त हृदय से अपने विचारों की अभिव्यंजना पाठकों तक पहुँचायी है उससे निबन्ध की यही परिभाषा प्रतिष्ठित होती है कि निबन्ध विचारों के प्रकट करने का एक माध्यम मात्र है।

भारत और यूरोप दोनों देशों के निबन्ध साहित्य का विकास समान रूप से हुआ है। उनकी शैलियों, उद्देश्यों तथा उपकरणों में अनेक विभिन्नताएँ हैं। सामान्यरूप से निबन्ध में इतनी बातों का समावेश किया जा सकता है—

(१) निबन्ध एक छोटी गद्य रचना को ही कहा जाता है। इसका आकार अपेक्षाकृत छोटा होना चाहिए। यद्यपि ४००,५०० पृष्ठों में समाने वाली रचना भी कभी-कभी निबन्ध के नाम से पुकारी जाती है किन्तु अनिवार्य रूप से निबन्ध एक छोटी सुगठित गद्य रचना को ही कहा जायगा। निबन्ध का उद्देश्य मन की उन्मुक्त उड़ान, रसास्वादन, सौन्दर्य की खोज एवं आनन्द बोध है। कहा गया है कि 'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति', शुक्ल जी ने इसको परिमार्जित रूप में इस प्रकार कहा है कि 'यदि गद्य कवियों की कसौटी है तो निबन्ध गद्य की कसौटी है।' इसलिए हम निबन्ध उसी को कह सकते हैं जिसमें हमें गद्य का सुविकसित एवं परिष्कृत रूप प्राप्त हो सके। जे० बी० प्रीस्टले ने स्पष्ट कहा है—'सच्चे निबन्धकार के लिए किसी विशेष विषय का बंधन नहीं, वह अपनी इच्छानुसार संसार का कोई भी विषय चुन सकता है। उसमें किसी भी विषय को मनमाना झुकाने एवं मोड़ने

की भरपूर शक्ति रहती है क्योंकि इस कौशल के माध्यम से ही वह वस्तुतः अपने व्यक्तितत्व की अभिव्यक्ति करता है। इस प्रकार एक अपरिचित विषय पर भी वह प्रसन्नता के साथ निबन्ध लिख सकता है। वह निबन्ध में केवल अपने अज्ञान की बानगी देगा। सच्चा निबन्ध किसी रहस्यालाप या प्रेमालाप की तरह मधुर होता है, तथा सच्चे निबन्धकार की पाठक से जो हित-वार्ता होती है वह चतुराई से भरी एवं पाठक को प्रभावित करने वाली होती है। एक-एक शब्द की अभिव्यक्ति उसके अन्तर के तारों से ध्वनित होकर निकलती है, उन शब्दों में उसके अन्तस्तल की अगाध गहराई एवं आकुलता ध्वनि बनकर समायी रहती है।'

इस प्रकार 'लघुता' आधुनिक वैयक्तिक निबन्ध का प्रधान गुण है। इस व्यस्त युग में दीर्घ कथा का स्थान छोटी गल्प या लघु-कथा ने ले लिया, दीर्घकाय खण्डकाव्य चतुर्दशियों या सानेट में बदल गये। पाँच अंक के बड़े-बड़े नाटकों की विशालकाय जगह एकांकी नाटकों ने घेर ली। बड़े-बड़े प्रबन्धों की अपेक्षा छोटे निबन्धों को विशेष लोकप्रियता मिली। डब्ल्यू० ई० विलियम्स ने लिखा है कि 'स्वल्पतम परिभाषा निबन्ध की यह है कि यह गद्य रचना का एक प्रकार है, जो बहुत छोटा होता है, और जिसमें केवल वर्णन नहीं होते। कभी-कभी निबन्धकार अपनी बात को सिद्ध करने के लिए प्रसंगों का सहारा ले सकता है, कभी उपन्यासकार की भाँति पात्र-सृष्टि करने का प्रयत्न भी कर सकता है, परन्तु उसका मूल उद्देश्य कथा कहना मात्र नहीं है, उसका मुख्य कार्य सामाजिक, दार्शनिक आलोचक या टिप्पणीकार के समान होता है। बेन्सन के अनुसार निबन्धकार 'जीवन की समग्रता का अनुभव और आनन्द ग्रहण करना चाहता है, कवि की भाँति जीवन की विराटता, सूक्ष्मता या सुन्दरता से ही उसे प्रयोजन नहीं होता। निबंधकार जीवन की दीप्ति से सन्तुष्ट है, पूर्ण प्रकाश या ज्वाला की अनुभूति से इसका कोई प्रयोजन नहीं, अतः निबन्धकार रोमांस लेखक के विपरीत है। वह तो जीवन का तटस्थ द्रष्टा है, वह कल्पना के स्वप्नलोक में अपने आपको नहीं भुला देना चाहता। वह हमारी मंजिल का मीत एवं सफर का साथी

है। निबन्धकार की मनोदशा चाहे जो हो, चाहे वह जीवन को देखने के लिये पचासों दृष्टि-प्रकार रखता हो किन्तु वह जीवन की उपेक्षा या तिरस्कार करके एक पल भी नहीं जी सकता। जीवन की अवहेलना का दूसरा नाम निबन्धकार की मृत्यु है। हमें बिना सहृदयता के किसी वस्तु के विषय में सोचने का अधिकार नहीं है। जीवन में, हम जो सोचते हैं उसमें कितनी अधिक विविधता भरी हुई है। इस प्रकार से निबन्धकार जगत और जीवन को न तो इतिहासकार की भाँति देखता है, न दार्शनिक, न कवि और न उपन्यासकार की भाँति; किन्तु फिर भी निबन्धकार इन सब गुणों से पूर्ण होता है।' (२) निबन्ध में लेखक के निजी दृष्टिकोण की प्रधानता रहती है। वह सर्वत्र स्वयं को प्रकट करता चलता है, उसका व्यक्तित्व गरजता हुआ चलता है। यह निजी अनुभवों के आधार पर अपनी रचना का निर्माण करता है। यह निबन्ध स्वयमेव एक इकाई होता है, अपने आप में पूर्ण होता है। निबन्ध की संज्ञा उसी को दी जा सकती है जिसमें लेखक के द्वारा किसी भी विषय पर विचारों का परिमार्जित स्पष्टीकरण प्रस्तुत किया गया हो, उसमें व्यक्तिगत विशेषता रहती है परन्तु वह कृत्रिम वातावरण उपस्थित करके नहीं उत्पन्न की जाती अपितु उसमें पूर्ण स्वाभाविकता का निर्वाह किया जाता है। निबन्ध के बारे में श्री हरिहरनाथ टंडन अपने विचार व्यक्त करते हुए कहते हैं कि—

"निबन्ध लिखना अभ्यास से आता है। निबन्ध लेखक के ज्ञान की कसौटी है। उथला या पांडित्य-प्रदर्शन के भाव से लिखा गया अथवा उलझे हुए भावों से बोझिल निबन्ध व्यर्थ होता है। निबन्ध शब्द का अर्थ है 'बँधा हुआ', अतः थोड़े से अत्यन्त चुने हुए शब्दों में किसी विषय पर अपने विचार प्रकट करने के प्रयत्न को निबन्ध कह सकते हैं। निबन्ध के विषयों की कोई सीमा नहीं होती। आकाश-कुसुम से लेकर चींटी तक सभी निबन्ध के विषय हो सकते है।" श्री यज्ञदत्त शर्मा ने अपने 'प्रबन्ध-सागर' में लिखा है कि "निबन्ध के लिये यह आवश्यक नहीं कि पूरे निबन्ध का रूप एक ही हो। प्रत्येक निबन्ध के आदि, मध्य और अन्त का विभाजन ठीक ठीक होना चाहिये। निबन्ध का

आरम्भ ऐसे सुन्दर ढंग से होना चाहिये कि उसे पढ़ते ही पढ़ने वालों की उत्सुकता बढ़े और वह आप से आप उसे पूरा पढ़ डालने के मोह को संवरण न कर सके। इसके अतिरिक्त लेखक को इस बात का भी ध्यान रखना चाहिये कि पाठक ज्यों-ज्यों उसके निबन्ध को पढ़ता चले, उसे आरंभ से ही ऐसी सामग्री मिलती चले कि उसकी यह धारणा बन जाय कि उसे इस लेख में मौलिक ढंग से लिखी हुई कुछ मनोरंजक और विचारपूर्ण बातें पढ़ने को मिलेंगी। निबन्ध का मध्य निबन्ध का सबसे अधिक विस्तृत भाग होता है। आदि से इसका सम्बन्ध होना चाहिये और इसके सभी सिद्धांत, सभी वाक्य, एक-एक करके निश्चित परिणाम की ओर झुके हुए होने चाहिये। निबन्ध के मध्य में ही लेखक पाठक को अपने तर्क समझाने का प्रयत्न करता है। निबन्ध के अंतिम अंश के सम्बन्ध में लेखक को यह ध्यान रखना चाहिये कि निबन्ध अनायास न समाप्त हो जाय। यदि ऐसा हुआ तो पाठक को रुचिकर न होगा और वह उसकी शैली को दूषित प्रमाणित करेगा। निबन्ध की समाप्ति ऐसी होनी चाहिये कि उसे समाप्त कर देने पर भी उसकी विचारधारा के मूल भाव पाठक के मन में बार-बार आते रहें। वह निबन्ध तो अत्यन्त सफल माना जाता है जिसका अन्त ऐसा हो कि पाठक का ध्यान एक बार फिर लेखक के तर्क पूर्ण संगत भावों की ओर आकर्षित हो जाय और वह गुण और दोष दोनों के सम्बन्ध में अपना एक निश्चित मत दे सके।"

"निबन्ध के आदि, मध्य और अन्त तीनों को पदों में शीर्षकों के अनुसार विभाजित करना चाहिये। वह चाहे बड़े हों या छोटे, सबका सम्बन्ध एक दूसरे से होना चाहिए। पदों में छोटे और बड़े दोनों प्रकार के प्रयोग आवश्यकतानुसार होने चाहिए। जहाँ बात समझानी हो या विषय कठिन हो, वाक्य का लम्बा हो जाना कोई दोष नहीं है। केवल छोटे-छोटे वाक्यों के प्रयोग से निबन्ध में अस्पष्टता आ जाने की सम्भावना बनी रहती है। समय और स्थान के अनुसार दोनों प्रकार के वाक्यों का प्रयोग करना उचित होगा।"

(३) निबन्ध का गद्य में वही स्थान है जो मुक्तक का पद्य में होता है। मुक्तक की तरह निबन्ध भी अपने आप में पूर्ण होता है। व्यक्तिगत स्वच्छंदता उसकी अपनी पहचान है। निबन्ध के लिये यह अनिवार्य है कि व्यक्तिगत विचारों का क्रम, तारतम्य एवं निरंतरता का निर्वाह एक साथ किया गया हो, वैयक्तिकता बुद्धिसंगत एवं विवेकपूर्ण हो। साधारण गद्य की अपेक्षा निबन्ध अधिक सजीव एवं रोचक होता है। क्योंकि उसमें केवल विवरणों का ही ब्यौरा नहीं रहता अपितु व्यक्ति के विचारों एवं अनुभूतियों की अभिव्यंजना के अनुसार हास्य, व्यंग्य, विनोद, ध्वनि-बलिष्ठता, गंभीरता एवं लाक्षणिकता का उचित समावेश होता है। गीति-काव्य की तरह निबन्ध में भी व्यक्ति का अपनत्व एवं प्रतिभा को पंख मिल जाते हैं।

यह कहना अत्युक्तिपूर्ण न होगा कि निबन्ध में काव्य के सभी तत्वों का समावेश हो जाता है, शैली की विशिष्टता निबन्ध की अपनी विशेषता है। शैली-तत्व ही निबन्ध को व्यक्ति का अपनापन प्रदान करता है। यही शैली-तत्व ही साहित्य की अन्य विधाओं के उपकरणों को अपने में लीन करता चलता है। कहानी एवं खण्ड काव्य के समान निबन्ध के सामने भी एक लक्ष्य होता है जिस पर वह सतर्कता के साथ पहुँचता है।

निबन्ध का क्षेत्र—निबन्ध का क्षेत्र आकाश की तरह ही असीम है। जैसा कि पीछे कहा जा चुका है कि आकाश-कुसुम से लेकर मिट्टी के पदाक्रान्त ढेले तक निबन्ध लिखा जा सकता है। निबन्ध अपने क्षेत्र में पूर्ण रूप से स्वतंत्र है। कविता, उपन्यास और कहानी की तरह इसके लिए किसी तरह का बंधन नहीं है, बात स्पष्ट है क्योंकि कविता यदि नीरस विषय को सरसता प्रदान करने का प्रयत्न करेगी तो संभवतः अपने आप ही मुरझा जायगी, ऊबा देनेवाला उपन्यास भी पाठकों की सुरुचि के हाथों अर्द्धचन्द्र प्राप्त करने का अवसर न खो सकेगा किन्तु निबन्ध की दिशा में कोई बन्धन नहीं, कोई रुकावट नहीं, कुछ चुने हुए सुलझे शब्दों में नीरस-सरस सभी विषयों पर निबंध लिखा जा सकता है। यदि आपकी इच्छा है तो आप 'नाक, कान, आँख,

दाँत आदि पर लिख सकते हैं। यहाँ तक कि अपने 'आप' पर भी लिख सकते हैं। गोचर-अगोचर, भली-बुरी, काली-गोरी, छोटी-बड़ी, सुन्दर-असुन्दर, नमकीन-स्वादिष्ट चाहें वे उर्दू कवियों की कमर की कल्पना सरीखी ही सूक्ष्म क्यों न हों! उन पर भी निबन्ध लिखा जा सकता है। निबन्ध का सुन्दर सजाव-शृङ्गार, या कुरूप बनाव-बिगाड़ लेखक की प्रतिभा का पहरेदार है।

निबन्ध का महत्व—किसी भी विषय का सम्यक् किन्तु संक्षिप्त तथा कम से कम समय में ज्ञान कराने में निबन्ध के अतिरिक्त और भी कोई साहित्य का माध्यम है, उसे हम नहीं जानते। निबन्ध के द्वारा पाठक का ज्ञान तो बढ़ता ही है साथ ही पाठक के हृदय में तदनुसार खोज करने एवं पर्यवेक्षण की जिज्ञासा भी उत्पन्न हो जाती है। निबन्ध के माध्यम से हम अपनी मानसिक शक्तियों को सीमित करके उनका विकास करना सीखते हैं एवं कम-से कम समय में सस्ते से सस्ते साधन द्वारा अधिक से अधिक अनुभवों की चिरसञ्चित राशि को अल्प-प्रयास में लूटने का अवसर प्राप्त करते हैं।

निबन्ध के प्रकार—साधारणतया निबन्ध गद्य काव्य के निकट का साहित्य-प्रकार ज्ञात होता है। किन्तु किंचित् गहराई पर उतरने से स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि गद्य काव्य में यदि गम्भीरता, संवेदनशीलता एवं सहज भावुकता रहती है तो निबन्धों में दैनिक जीवन की वार्ताओं का-सा हल्का फुल्कापन एवं सादगी सी अटूट स्वाभाविकता एवं वैयक्तिकता रहती है। गद्य काव्य व्यक्तिगत पत्र की भाँति आत्मनिष्ठता की अपेक्षा रखता है किन्तु निबन्ध उसके विपरीत वस्तुनिष्ठता के अधिक निकट रहता है। इसी प्रकार निबन्ध और गल्प में भी पर्याप्त अन्तर होता है। गल्प में किसी घटना चरित्र, वातावरण या किसी उद्देश्य विशेष की पूर्ति का ध्यान रक्खा जाता है, किन्तु निबन्ध इन सब बन्धनों से परे मन की उन्मुक्त उड़ान लिये स्वच्छन्द आकाश में विचरण करने के लिए स्वतन्त्र है। जहाँ तक निबन्ध और कहानी का सम्बन्ध है उसके लिए यही कहा जा सकता है कि कहानी में जो तटस्थता या कहानीकार की जिस प्रकार की वस्तुनिष्ठ दृष्टि होती है उस दृष्टि की ओर से निबन्धकार अन्धा होता है। उसमें तो गहरी वैयक्तिकता

एवं आत्मनिष्ठता होती है। श्री गुलवराय ने 'काव्य के रूप' में लिखा है कि 'पुस्तक में लेखक अपने व्यक्तित्व को ओझल कर सकता है, किन्तु निबन्ध में यह व्यक्तित्व छिपाया नहीं जा सकता। लेखक जो कुछ लिखता है उसको अपने निजी मत के रूप में अथवा अपने निजी दृष्टिकोण से लिखता है। उसके पीछे उसके निजी अनुभव की प्रेरणा दिखाई देती है। यदि लक्षणा या व्यञ्जना के विषय में कोई ऐसा लेख लिखा जाय जिसमें केवल शास्त्रीय मत ही दिया गया हो तो वह किसी पुस्तक का अध्याय बन सकता है, निबन्ध न होगा। निबन्ध तभी होगा जब कि वह लेखक के किसी निजी दृष्टिकोण से देखा गया हो।" भाव-गीत और निबन्ध की पारस्परिक विभिन्नता पर प्रकाश डालते हुये श्री प्रभाकर माचवे का कथन है—

"भाव-गीत के विषय जैसे सीमित हैं, उसकी रस निष्पत्ति की पद्धति भी प्रायः पूर्व निश्चित-सी है। उसमें 'वैलक्षण्य' (एलिमेंट आफ सरप्राइज़) की कमी है। निबन्ध की इस दिशा में अनेकमुखता बहुत स्पष्ट है। न तो उसके विषय की कोई सीमा है, न उसकी शैलियों की मर्यादा। वस्तुतः रचयिता के मन की अमर्याद भटकन निबन्ध में जितनी आसानी से पूरी हो सकती है, वैसी गीति-काव्य में नहीं। गीति-काव्य एक सुमधुर स्वरों वाले पक्षी के समान है। जिसके आकाश-चरित्व और गान-स्वच्छन्दता के पश्चात भी एक नीड़ जैसे सुनिश्चितप्राय है। परन्तु निबन्ध का कोई नीड़ नहीं है। निबन्ध घुमन्त कबायली तथा यायावर प्रकार का चिर प्रवासी साहित्य-प्रकार है। घाट-घाट का पानी उसने पिया है, कई सराय और होटलों में वह ठहरा है। मगर उसका मञ्जिले-मकसूद अन्ततः आत्मकथन या अपने निकटतर व्यक्ति को लिखे जाने वाले पत्र के समान है। उसमें लेखक की रुचि-अरुचि भी मिश्रित है। निबन्ध के विषय में कुछ निश्चित रूप से कह सकने की अपेक्षा कुछ न कहना ही श्रेयस्कर होगा। यदि चाहें तो वेन्सन के शब्दों में ही अपने विचारों को जोड़कर इस प्रकार कह लें—कि साहित्य में नामकरण तथा साहित्यिक अभिव्यञ्जनाओं के रूपों का वर्गीकरण करने की प्रवृत्ति बहुत गड़बड़ में डालने वाली और उलझानेवाली होती है। यह सब नामकरण या वर्गीकरण केवल

सुविधा के लिए किया जाता है। यह कहना कि साहित्य रूढ़ लीकों और टाइपों के अनुसार ही चले, कोरा पंडिताऊपन है। इसका भावार्थ इतना ही है कि साहित्य एक बड़ी शक्ति है; जो चाहे जिस प्रवाह में बहती रहे। कला का वर्गीकरण केवल इन प्रवृत्तियों और प्रवाहों का वर्गीकरण है। सारी कला के पीछे विस्मय की भावना प्रधान होती है, और एक प्रकार का केन्द्रित ध्यान का स्थिरीकरण। यह आवश्यक नहीं है कि यह स्थिरत्व केवल सौन्दर्य से ही घटित होता है। कई बार वह केवल औचित्य, अद्भुतता, सम्पूर्णता एवं प्रभावशाली प्रयत्न आदि के कारण भी हो सकता है, जैसे कोई आदिम निवासी एक आधुनिक नगर को देखकर चकित हो जाय। यह आश्चर्य केवल सौन्दर्य-बोध के कारण नहीं है जैसे बच्चे तोते की आँख और बोली को देखकर विस्मय, आह्लाद, औत्सुक्य और न जाने किन-किन विभावों से अभिभूत हो उठते हैं। उसी प्रकार की प्राथमिक और अतर्क्य भाव-सामग्री से निबन्धकार का पाला पड़ता है, वह कहाँ तक और कैसे उसका उपयोग करता है। इसी में उसकी सफलता भी निहित है।"

निबन्ध के कितने प्रकार हो सकते हैं? इस विषय पर भी कम माथापच्ची नहीं हुई है। आकाश के नक्षत्रों की भाँति निबन्ध के प्रकार भी अनन्त हो सकते हैं। इस विषय पर डा० हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किये हैं—

"जनतंत्र का जमाना है, छापे की मशीनों की भरमार है। कह सकने की योग्यता रखनेवाले हर भले मानस को किसी न किसी विषय पर कुछ न कुछ कहना है, हर छापे की मशीन को अपना पेट भरने के लिए कुछ न कुछ छापना है। सो राज्य भर के विषयों पर निबन्ध लिखे जा रहे हैं। कहाँ तक कोई सबका लेखा-जोखा मिलाये। सभी विचार किसी न किसी निबन्ध शैली में लिखे जाते हैं। जब कार्लाइल ने कहा था कि निबन्धों को देखकर किसी साहित्य की गहराई का अनुमान किया जा सकता है तो निश्चय ही उसने हर गद्यबद्ध रचना को निबन्ध नहीं माना

था। उस महान् विचारक के मन में ऐसी गद्य रचनाएँ थीं जिनमें केवल प्रलाप नहीं होता, केवल उथले विचारों का संकलन नहीं होता, बल्कि जिनमें गम्भीरतापूर्वक कार्य-कारण की शृंखला का ध्यान रखते हुए विचार निबद्ध किये जाते हैं और उन निबद्ध विचारों की रीढ़ लेखक का अपना व्यक्तित्व होता है। ये दो ही बातें निबन्ध की जान हैं। उनमें या तो विशुद्ध ऊहापोह-मूलक चिन्तन हो और या फिर लेखक का अपना व्यक्तित्व प्रधान हो उठा हो। निबन्ध में कभी एक बात प्रधान हो उठती है कभी दूसरी, पर किसी न किसी रूप में ये दोनों रहती अवश्य हैं। जिस साहित्य में ऐसे निबन्ध नहीं होते उसको बहुत समृद्ध साहित्य नहीं कहा जा सकता।"

विद्वानों ने निबन्ध के चार प्रकार स्वीकार किये हैं—

(१) वर्णनात्मक निबन्ध (Descriptive)
(२) विचारात्मक निबन्ध (Reflective)
(३) व्याख्यात्मक निबन्ध (Narrative)
(४) भावात्मक निबन्ध (Emotional)

(१) **वर्णनात्मक निबन्ध**—जिन निबन्धों में प्रकृति विशेष, नदी विशेष, वस्तु विशेष एवं पशु विशेष आदि का सजीव या आँखों देखा वर्णन किया जाता है उन्हें वर्णनात्मक निबन्ध कहते हैं। रेल, तार, जहाज, बस, मोटर, पुस्तक, कलम, अजायबघर, बन्दूक, कुतुबनुमा, रेडियो, स्टेथिस्कोप आदि मनुष्य-निर्मित या प्रकृति की बनाई सभी वस्तुओं का वर्णन इस प्रकार के निबन्धों के अन्तर्गत आता है। इस कोटि के निबन्धों में वस्तुओं तथा घटनाओं का यथातथ्य वर्णन बड़ी ही चटकीली शैली से किया जाता है। सर्वप्रथम विद्यार्थी इसी प्रकार के निबन्धों से प्रशिक्षण लेते हैं।

(२) **विचारात्मक निबन्ध**—इस श्रेणी में वे निबन्ध आयेंगे जो आकार से रहित सूक्ष्म की ओर अधिक मुड़े हों। आचार्य शुक्ल जी के 'चिन्तामणि' के निबन्ध एवं भूदान यज्ञ, नारी समस्या, संस्कृति की समीचीनता, पंचवर्षीय योजना, हिन्दी का भविष्य, पाश्चात्य आदर्शों के कारण भारतीय जीवन में विषमता इत्यादि विषय विचारात्मक निबन्धों के क्षेत्र में आते हैं।

इस प्रकार के निबन्धों में बहुत ही सतर्कता के साथ वैज्ञानिक ढंग से विश्लेषण किया जाता है और विवेचन द्वारा प्राकृतिक नियमों को खोजकर कुछ सिद्धान्तों की स्थापना की जाती है। इस प्रकार के निबन्ध अपने मूल तत्वों पर विशेष आश्रित रहते हैं।

(३) **व्याख्यात्मक निबन्ध**—इस प्रकार के निबन्धों में प्राचीन अथवा नवीन, काल्पनिक अथवा सत्य कथाओं का वर्णन रहता है। ऐतिहासिक, पौराणिक, धार्मिक कहानियाँ, जीवनियाँ, यात्राएँ इत्यादि इसी प्रकार के निंबन्धों में अपनी जगह ढूँढ़ते हैं। वर्णनात्मक निबन्ध सत्य की ओर अधिक उन्मुख होते हैं परन्तु व्याख्यात्मक निबन्ध उससे कुछ दूर। व्याख्यात्मक निबन्ध में कार्य और कारण का सम्बन्ध दिखलाकर एक घटना के पश्चात् क्रमशः दूसरी और तीसरी घटना का विवरण उपस्थित रहता है। व्याख्यात्मक निबन्ध की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि उसका प्रत्येक भाग दर्पण की तरह स्वच्छ एवं स्पष्ट हो एवं क्रम की शृंखला कहीं भी विशृंखल न हो। आगे बढ़ते हुए भी पिछली बातों को सूत्र रूप में इस प्रकार दुहराते रहना चाहिए ताकि पाठक के मस्तिष्क में स्फूर्ति बनी रहे और उसकी सूक्ष्मों का क्रम उखड़ने न पाये।

(४) **भावात्मक निबन्ध**—भावुकता में बहा ले जाने वाले, अन्तर के तारों को सहृदयता की मीड़ पर मरोड़कर उनसे झंकार उत्पन्न करने वाले, चिन्तन, विचार एवं गंभीरता का गर्व न वहन करने वाले निबन्ध ही भावात्मक निबन्धों की कोटि में आते हैं। इस प्रकार के निबंधों में निबन्धकार की कल्पना इतनी स्वच्छन्द और मुँहलगी हो जाती है कि कभी-कभी निर्लज्जता पूर्वक सत्य के आँचल को भी उतार फेंकती है। रागात्मकता इसका प्राण है।

उपर्युक्त चार प्रकारों के सम्बन्ध में श्री गुलाबराय जी ने लिखा है कि 'वर्णनात्मक निबन्धों का सम्बन्ध देश से है, विवरणात्मक का काल से, विचारात्मक का तर्क से और भावात्मक का हृदय से। यद्यपि काव्य के चारों तत्त्व कल्पनातत्त्व, रागात्मक तत्त्व, बुद्धि तत्त्व एवं शैली तत्त्व सभी प्रकार के निबन्धों में अपेक्षित रहते हैं तथापि वर्णनात्मक और विवरणात्मक निबन्धों

में कल्पना की प्रधानता होती है। विचारात्मक निबन्धों में बुद्धि तत्त्व को और भावात्मक निबन्धों में रागात्मक तत्त्व को मुख्यता मिलती है। शैली-तत्त्व सभी में समान रूप से रहता है। वर्णनात्मक और विवरणात्मक दोनों ही प्रकार के निबन्धों में कहीं विचारात्मक की और कहीं भावात्मकता की प्रधानता हो सकती है। विचारात्मक तथा भावात्मक का भी मिश्रण होना संभव है।" इन सब पर दृष्टिपात करने के पश्चात् इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि निबन्धों के ऐसे भेद करना वस्तुतः अर्थहीनता का प्रतीक है। माचवे जी का कहना है कि मनुष्य में कल्पना, तर्क, भावना विचार सभी कुछ जिस प्रकार समन्वित होता है, निबन्ध में भी उनका अलग-अलग खंडशः विभाजन असम्भव है। निबन्ध एक अन्विति है। वह व्यक्ति-निष्ठ वाङ्मय प्रकार है। फिर भी आलोचकों ने विचारात्मक निबन्धों के 'समास शैली (जैसी आचार्य शुक्लजी की) और व्यास शैली (जैसी श्याम-सुन्दर दासजी की) तथा भावात्मक निबन्धों की धारा तरंग और विक्षेप शैलियाँ वर्णित की हैं।"......विक्षेप और प्रलाप शैली में मात्रा का ही अन्तर होता है। ऐसा भी कहा गया है और हास्य व्यंग के निबन्धों को कुछ लोग एक स्वतंत्र विधा मानते हैं। कई लोग तो भाषा शैली के अनुसार कुछ निबन्धों को संस्कृत-बहुल और कुछ निबन्धों को उर्दू-बहुल कहते हैं। हिन्दी की एक निबन्ध-पुस्तक की भूमिका में विद्वान् लेखक ने हिन्दी भाषी लेखकों के निबन्ध और 'हिन्दी क्षेत्र के बाहर भी हिन्दी राष्ट्रभाषा पद का महत्त्व स्वीकार कर अनेक विद्वानों और लेखकों ने हिन्दी निबन्ध लिखे जिनमें सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, काका कालेलकर, नलिनी मोहन सान्याल आदि प्रमुख हैं। इसी आधार पर जनार्दन स्वरूप अग्रवाल ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी में निबन्ध साहित्य' में कहा है—"आदर्श रूप में जितने लेखक हैं उतनी ही शैलियाँ हैं, इसीलिए कोई-कोई समालोचक विद्वान् भावात्मक, उपदेशात्मक विवरणात्मक, व्यंग्यात्मक, आख्यानात्मक, व्याख्यात्मक, विवेचनात्मक, आलोचनात्मक, अनालोचनात्मक, गवेषणात्मक, तात्त्विक, तार्किक, ललित-कथात्मक तथा न जाने कितने और 'आत्मक' जोड़कर भेदोपभेद बताते ही

चले जाते हैं तथा कोई पाँच भेद कहते हैं तो कोई सात, परन्तु मुख्यतया तीन शैलियाँ हैं।

आचार्य-प्रवर शुक्ल जी ने इसी बात को यों घुमा-फिराकर व्यक्त किया है—"निबन्ध या गद्य विधान कई प्रकार के हो सकते हैं—विचारात्मक, भावात्मक वर्णनात्मक।" प्रवीण लेखक इन विधानों का बड़ा सुन्दर मेल भी करते हैं।

शैली—निबन्ध में शैली का आवश्यक महत्व होता है कारण निबन्ध में लेखक के व्यक्तित्व की छाप जबरदस्त होती है। यह देखने में आता है कि एक ही विषय पर लेखक भिन्न-भिन्न प्रकार से अपने विचारों का प्रतिपादन करते हैं, भिन्न-भिन्न प्रकार से विचारों के प्रकटीकरण की विभिन्नता वस्तुतः व्यक्तित्व या शैली की विभिन्नता है। उदाहरण के लिए 'बिहारी सतसई' पर की गई अनेकानेक आलोचनाओं को लिया जा सकता है। एक ही पुस्तक की विचार-प्रधान, भाव-प्रधान, व्यंग्य-प्रधान, व्याख्या-प्रधान, भावुकता-प्रधान अगणित टीकायें देखने में आती हैं। कोई टीकाकार 'करत कजाकीनयन' के सैनों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण उपस्थित करता है तो कोई चिन्तन के चहले में डूबता उतराता रहता है, कोई उन कजरारों के कर-कमलों में भावुकतावश अपना सारा व्यक्तित्व ही समर्पित कर देता है। इस विषय में किसी के लिए क्या कहा जाय। अपनी-अपनी परस्नालिटी (Personality) होती है। ठीक यही स्थिति निबन्धगत शैलियों की है। भाषा की दृष्टि से शैलियाँ अनेक प्रकार की होती हैं, कुछ निबन्ध लेखक क्लिष्ट भाषा के द्वारा अपने विचारों का प्रतिपादन करने में ही गौरव का अनुभव करते हैं, कुछ सीधे-सादे लेखक सादगी में ही सौन्दर्य की खोज करते हैं और कुछ तो मुहावरों का मुरब्बा बनाने का पेशा अख्तियार कर लेते हैं, कुछ निबन्धकार निबन्ध नहीं लिखते, बल्कि कविता लिखते हैं उसी प्रकार जिस तरह कुछ कवि कविता न लिखकर निबंद्धबद्ध कविता लिखते हैं। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति की शैली पृथक्-पृथक् होती है। शैली का वर्गीकरण भाषा, विचार और भाव की दृष्टि से किया जाता

है। **भाषा की दृष्टि से** सात-आठ प्रकार की शैलियाँ हो सकती हैं—

(१) शुद्ध संस्कृत निष्ठ शैली (२) सरल-भाषायुक्त शैली (३) गुम्फित शैली (४) मिश्रित शैली (५) अलंकार प्रधान शैली (६) उक्ति प्रधान शैली (७) मुहावरेदार शैली (८) प्रतीक पद्धतिवाली शैली। विचार की दृष्टि से इसके प्रायः चार प्रकार मिलते हैं—

(१) समास पद्धति वाली शैली (२) व्यास पद्धति वाली शैली (३) विक्षेप पद्धति वाली शैली (४) प्रलाप पद्धति वाली शैली।

विचारों का ध्यान रखते हुए शैली के निम्न रूप लक्षित होते हैं—

(१) सादी शैली (२) विचार गुंफित शैली (३) विद्वतापूर्ण पांडित्य प्रदर्शन वाली शैली (४) विश्लेषणात्मक शैली (५) क्रमबद्ध शैली (६) विशृ-ङ्खल शैली (७) विचार-विहीन शैली (८) व्यक्तित्व प्रधान शैली। इन विभिन्न प्रकार की शैलियों को विचारों के स्पष्टीकरण के प्रकार मान सकते हैं। कोई भी निबन्धकार अपने विचारों को व्यक्तिरव के अनुसार भिन्न-भिन्न ढंग से प्रदर्शित करता है। कोई तो बड़ी सरलतापूर्वक सीधी सादी-शैली में अपने विचारों को पाठक के मस्तिष्क में उतार देते हैं, कोई पहेली बुझाते रहते हैं, किसी के विचार बड़े ही सुन्दर ढंग से सजे हुए होते हैं तो किसी के ओस की बूँदों की तरह बिखरे हुए। कुछ निबन्धकार अपनी शैली को भाव-प्रधान बनाने का प्रयत्न करते हैं; हास्य व्यंग आदि भाव प्रधान शैलियाँ इसी श्रेणी में आती हैं, किसी निबन्धकार की शैली सागर-सी गंभीर, किसी की उच्छूल तरंगों सी गतिशील एवं किसी की धुवाँधार यौवन सी रंगीन एवं सलोनी सुरभि बिखेर कर सुबुक-सुबुक खो जाने वाली होती थी। एक ही विषय को निबन्धकार अपने व्यक्तित्व के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकारों में व्यक्त कर सकता है और वे प्रकार संभवतः इनके अपने हो सकते हैं—

(१) व्यंगात्मक (२) हास्य रसात्मक (३) ओज प्रधान (४) करुणो-त्पादक (५) शांतिप्रदायक एवं (६) भाव चापल्य से युक्त। इन सब में निश्चित् रूप से भाव पक्ष (जिसे हृदय पक्ष भी पर्याय में कहा जाता है) की प्रधानता होती है, चिंतन पक्ष गौण हो जाता है। कला पक्ष एवं

बुद्धितत्त्व का विशेष आग्रह नहीं होता। कुछ लोग कोरी भावुकता को बहुत सस्ती समझते हैं एवं उसे स्थायी साहित्य में स्थान देने में हिचकिचाते हैं। स्वतंत्र गंभीर चिन्तन को प्राथमिकता देने के वे हिमायती हैं। फिर भी भावात्मक निबन्धों का जीवन एवं साहित्य में अपना एक निराला स्थान है। शैली भी एक प्रकार की रचना कला है इसलिये इस कला को भी पाठकों को आकर्षित करने के लिए प्रभावशाली बनाना पड़ता है। कला का उद्देश्य सौंदर्य, मनोरंजन एवं आकर्षण उत्पन्न करने का प्रयत्न है। रचना कला का उद्देश्य शैली को प्रभावोत्पादक बनाना है। उसमें आनंद और सौंदर्य की स्थापना करनी है एवं बड़ी सुगमता से पाठकों पर छा जाना है। रचना तत्व की दृष्टि से शैली के दो भाग हो सकते हैं—

(१) सौष्ठव युक्त शैली—लेखक प्रयत्नपूर्वक अपने निबन्ध में विचारों को इतने कम शब्दों में प्रकट करता है जहाँ तक उसके लिए ऐसा करना संभव होता है। अधिक से अधिक व्यंजना की उद्दीप्ति करने वाले शब्द उसकी खोज के विषय होते हैं। इस प्रकार की शैली अलंकारिक न होकर सादगी को विशेष पसन्द करती है। निबन्धकार की वाक्य योजना सुसंगठित एवं ध्वनिवलिष्ठ होती है। संगीतात्मकता का होना न होना समान है।

(२) सौष्ठवविहीन शैली—इस प्रकार की शैली में विचारों का प्रतिपादन बड़े विस्तार के साथ किया जाता है, लेखक विचार-पुष्टि के लिए अनेकों दृष्टिकोणों का सहारा लेता है। कभी-कभी पुनरावृत्ति की भी आवश्यकता आ पड़ती है। विषय का विवेचन विश्लेषणात्मक पद्धति से होता है। फलःस्वरूप लम्बे वाक्यों की योजना होना, उनमें अलंकारों का प्रयोग होना आदि स्वाभाविक ही है। शब्द-प्रयोग की दृष्टि से शैली में निम्नांकित गुण होने आवश्यक हैं—

(१) शब्द-चयन में सजीवता, रोचकता, अर्थ-बोधता आदि पर्याप्त मात्रा में हो।

(२) विषयानुकूल शब्दों का चुनाव हो, प्रांजलता का अभाव हो।

(३) शब्दों में एक व्यक्तित्व, ध्वनिवलिष्ठता एवं तरलता हो।

(४) गढ़े हुए कठिन शब्दों का यथासाध्य निषेध हो, चमत्कार पूर्ण कृत्रिम अर्थ प्रदर्शन से दूर बचा जाय। प्रान्तीयता एवं ग्रामीण दोषों का अभाव हो। पुनरावृत्ति न हो।

(५) शब्द-बाहुल्य का प्रदर्शन न होकर अर्थ-प्रदर्शन पर दृष्टि हो।

(६) बड़े-बड़े सामासिक पदों एवं सन्धियों की योजना प्रवाह में बाधा उत्पन्न कर देती है।

वाक्य प्रयोग की दृष्टि से—

(१) वाक्य-संगठन विषयानुकूल हो, अर्थ की स्पष्टता पर विशेष ध्यान देना चाहिए।

(२) एक वाक्य में एक ही विचार प्रकट करने की प्रवृत्ति हो। वाक्यों में एक क्रम बद्धता, एक शृङ्खला, एक गुम्फन का होना आवश्यक है।

(३) वाक्य रचना में व्याकरणजन्य त्रुटियाँ न हों, लिंग, वचन, क्रिया आदि का सर्वत्र ध्यान रक्खा जाय। विरामादि का प्रयोग उचित रीति से किया जाय। एक वाक्य एक दूसरे वाक्य से इस प्रकार संलग्न एवं कसा हुआ हो कि यदि उसको वहाँ से हटा लिया जाय तो सारा अनुच्छेद झनझना उठे। उदाहरण के लिये आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की शैली ली जा सकती है।

(४) वाक्यों को अपेक्षाकृत सरल, सादे एवं बोधगम्य बनाने का प्रयत्न करना चाहिये। इसके अतिरिक्त शैली में ओज, माधुर्य तथा प्रसाद गुणों का यथास्थान प्रयोग होना चाहिये। निबन्ध में व्यक्तित्व की छाप स्पष्ट होनी चाहिए। यत्र तत्र संस्कृत एवं अन्य विदेशी भाषाओं के उद्धरणों से निबन्ध की रोचकता बढ़ाने का प्रयत्न करना चाहिए। अनावश्यक विस्तार से बचना चाहिये। प्रस्तावना एवं उपसंहार पर विशेष ध्यान देना चाहिए। प्रस्तावना पाठकों की जिज्ञासा एवं कौतूहल को जगाने वाली हो। उपसंहार में समस्त निबन्ध का सारांश एवं अपना संदेश दे देना चाहिये। कहीं-कहीं मत वैभिन्य के कारण निबन्ध को समस्या के रूप में पाठकों के लिए सुलझाने को छोड़ दिया जाता है।

निबन्ध लिखने के लिए आवश्यक सामग्री

(१) यह तो स्वयं सिद्ध है कि अच्छे निबन्ध लिखना प्रायः अभ्यास से आता है अतः किसी भी निबन्ध के नवसिखिये विद्यार्थी को सर्वप्रथम उन विषयों पर निबन्ध लिखना चाहिये जिनकी उसे अधिक से अधिक जानकारी हो ताकि उसकी विश्लेषणात्मक शैली मौलिकता से शून्य न हो। निबन्ध को इतना जीवन्त होना चाहिए कि दर्पण की तरह उसमें जीवन प्रतिबिम्बित हो उठे। साधारण विषयों पर निबन्ध लिखकर लेखनी मँज जाने के पश्चात उसे गूढ़ विषयों पर विचारशील तटस्थ व्यक्ति की भाँति खण्डन-मंडन की शैली से युक्त उच्चकोटि के निबन्ध लिखने की ओर अग्रसर होना चाहिए।

(२) जिस भाषा में निबन्ध लिखा जाय उस भाषा के व्याकरण एवं निबन्ध सम्बन्धी नियमों की पूर्ण जानकारी निबन्धकार को होनी आवश्यक है। तत्सम्बन्धी साहित्य का ज्ञान होना भी अनिवार्य है। जीवन के अनेक जटिल एवं सूक्ष्म अंगों को सुलझाने की शक्ति उसमें पर्याप्त मात्रा में होनी चाहिये।

(३) पुस्तकें, अनुभव, कल्पना और ज्ञान—इन साधनों के बल पर हम निबन्ध लिखने में सफलता प्राप्त कर सकते हैं।

(४) निबन्ध न तो अपेक्षाकृत इतना ऊँचा हो कि उसमें महामहोपाध्याय जी को आमंत्रित करने का अवसर आ जाय और न इतना उथला हो कि उसमें बच्चों का बचकानीपन बोल उठे। यदि निबन्ध विचारात्मक निबन्धों की श्रेणी में आता है तो उसमें जो सामग्री दी जाय वह खोजपूर्ण एवं परिश्रम की अपेक्षा रखने वाली हो, उसमें मानव-जीवन की जटिल समस्याओं का निराकरण किया गया हो। यदि निबन्ध को अनुभवों का अलबम बना दिया जाय तो वह महान् शक्तिशाली एवं जीवन के सबसे अधिक निकट होगा। जहाँ तक बन पड़े, पांडित्य-प्रदर्शन का पूर्णरूप से परिहार हो।

(५) विचार या भाव सुलझे हुए हों, उनमें कहीं पर भी गाँठ या जटि-

लता न हो। अलंकारों का प्रयोग केवल प्रदर्शन के लिए न होकर भाषा में प्राण लाने के लिए होना कोई गुनाह नहीं है। क्लिष्ट एवं पारिभाषिक शब्दों से दूर बचना चाहिए।

(६) भाषा यथा साध्य सरल, सादी और सुबोध होनी चाहिए। छात्रों को यह मिथ्या भ्रम रहता है कि क्लिष्ट से क्लिष्ट संस्कृतनिष्ट अलङ्कारपूर्ण भाषा में लिखा गया निबन्ध ही सर्वश्रेष्ठ होता है एवं उसके माध्यम से परीक्षक पर परीक्षार्थी की घोर विद्वता की धाक जम जाती है किन्तु ऐसा सोचना पूर्व को पश्चिम बताना है। हमें सादगी में सौंदर्य खोजना चाहिए। कृत्रिमता के इस युग में हमारी आँखें बनावटीपन से इतनी अभ्यस्त हो गयी हैं कि उन्हें प्रदर्शन में ही सच्चा सुख मिलता है किन्तु हमें अब इस प्रवृत्ति को झकझोर कर दूर फेंकना होगा। हमें महात्मा गाँधी, विनोबा एवं काका कालेलकर की शैली अपनानी चाहिये, एवं हमारे अध्ययन की साधना इतनी पकी हुई हो कि जिस शब्द का भी हम प्रयोग करें उसका व्यक्तित्व उमड़-घुमड़ कर पाठकों के मस्तिष्क पर बरस जाए एवं उसकी उर्वरा शक्ति को बढ़ा दे। लम्बी सामाजिक पद-योजना के दिन अब दूर गये। हमारी लेखन-शैली बोल-चाल की बहन हो।

(७) शैली एवं निबन्ध को मनोहारी बनाने के लिए दूसरी भाषा की लोकोक्तियों एवं मुहावरों को अनूदित करके उसमें जड़ देना चाहिए।

(८) विचारों, वाक्यों, शब्दों एवं भावों में एक प्रकार का लगाव होना चाहिए। एक प्रकार की संगति होनी चाहिए जिससे निबन्ध उखड़ा-उखड़ा-सा या अनर्गल प्रलाप न जान पड़े।

(९) अच्छा निबन्धकार कैसे बना जाय ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए डा० रामरतन भटनागर लिखते हैं :—

"पढ़ो। अपने चारों ओर ध्यान से देखते रहो। विचारशील बनो। लिखने का अभ्यास करो।"

निबन्ध लिखने के लिए अध्ययन की वीथिका की नितांत आवश्यकता है। मस्तिष्क में जब कुछ रहेगा तभी कागज पर आ सकेगा। अध्ययन से

हमारा अर्थ किताबें उलटने-पलटने का नहीं है। वह इससे अधिक गंभीर चीज़ है। आपका अध्ययन पूरा तब होगा जब आप लेखक के रचे हुए संसार में रहने लगेंगे। जयद्रथ-वध, रंगभूमि या स्कंदगुप्त पढ़ते समय आपको पात्रों की एक-एक भाव भंगी और एक-एक चित्र साफ़ स्पष्ट होना चाहिए। तभी आपका अध्ययन पूरा समझा जायगा।

हमारा अध्ययन तब सफल है जब हम उसके बोझ को ढोते हुए न फिरें, वह हमारे रक्त-मांस का एक अंग हो जाय। महामति बेकन ने कहा है—'अध्ययन मनुष्य को पूर्ण बनाता है। इस सम्बन्ध में इससे बड़ा सत्य दूसरा हो ही नहीं सकता। अच्छे निबन्ध लेखक के लिए यह आवश्यक है कि विद्यार्थी अपना कोश बराबर बढ़ाता रहे।..........अध्ययन के समय उसका दृष्टिकोण मनोरंजन प्राप्त करना ही नहीं, आलोचनात्मक भी होना चाहिए। तभी उसका अध्ययन निबन्ध-लेखन में सहायता दे सकता है। जो पद या वाक्य अच्छे लगें उन्हें उसे चिन्हित कर लेना चाहिए। वह उन्हें बराबर पढ़े, यहाँ तक कि वे उसे पूर्ण रूप से आत्मसात् हो जायँ। अच्छी निबन्ध रचना के लिए यह जरूरी है कि विद्यार्थी महान् लेखकों, विशेषकर निबन्धकारों और कथाकारों की रचनाओं को पढ़े। पढ़ते समय पाठक के पास एक ऐसी कापी होनी चाहिए जिसमें वह अच्छे-अच्छे वाक्य या पद उद्धृत कर सके। उद्धरण निबन्ध को सजा देते हैं। वे कटे-छंटे हीरे की तरह हैं। उनसे एक तो निबन्ध में पूर्णता आ जाती है, दूसरे उनके स्पर्श से निबन्ध-लेखक को अनेक ऐसी बातें सूझ जाती हैं जो उनके बिना नहीं सूझतीं। अच्छे निबंधकार की स्मृति तीक्ष्ण होनी चाहिए जिससे उचित उद्धरणों को समय-समय पर काग़ज़ पर उतार सके। परन्तु विद्यार्थी यह न समझ ले कि पढ़ना ही सब कुछ है। उसे अपने चारों ओर ध्यान से देखना चाहिए जिससे उसका अनुभव बढ़े, उसके व्यावहारिक ज्ञान में वृद्धि हो। हम प्रकृति और प्राणियों से घिरे हुए हैं। हम विभिन्न रुचि के मनुष्यों के सम्पर्क में आते हैं और उनकी प्रतिक्रियाओं से परिचित होते हैं। यदि हम आँखें बन्द करलें और इस संसार को मिथ्या समझकर उसकी ओर से दृष्टि फेर लें तो जिस

व्यावहारिक ज्ञान की हमें अपेक्षा है, वह कहाँ मिलेगा ?......उसे प्रतिदिन की घटनाओं और जानी-पहचानी वस्तुओं के विवरण से आरम्भ करना चाहिये।............परन्तु केवल अध्ययन और निरीक्षण से ही काम नहीं चलेगा। निबन्धकार को अपने विषय पर गंभीर विचार भी करने पड़ते हैं। विचारपूर्ण बात कहना बड़ा कठिन है। कुछ लोग तो विचार कर ही नहीं सकते। वे दूसरे की बातों को वेद-वाक्य मानकर चलते हैं। दूसरे के विचारों का विश्लेषण करना और तस्वीर के दोनों रुखों को देखना सब का काम नहीं है। परन्तु परिश्रम से यह बात सध जाती है।......यह सब तो ठीक हुआ परन्तु सब कुछ पढ़-सुन कर भी लिखना नहीं आता। लिखना व्यावहारिक काम है और अन्य कामों की भाँति अभ्यास के बिना अच्छा लेखक या निबन्धकार होना असंभव है। इसलिए अभ्यास करो। नित्य कुछ लिखो। महान् लेखक अपने अभ्यास के द्वारा ही महान् हुए हैं। प्रेमचंद प्रतिदिन कुछ लिखते थे। रवि बाबू के लिखने के घण्टे बँधे थे। इसीलिये यह लोग इतना लिख सके और अपनी विशिष्ट शैली को विकसित कर सके। यदि तुम प्रतिदिन कुछ लिखो और अपनी शैली को माँजते जाओ तो यह संभव है कि एक दिन तुम भी उन-जैसे महान् लेखक और निबन्धकार हो जाओगे। अच्छी रचना के लिए निरन्तर अभ्यास की आवश्यकता है।

निबंध में जो विचार प्रकट किये गये हों वे स्पष्ट हों। इस बात के लिए विचारों में संगति होना आवश्यक है। यदि विचारों के पूर्वापर संबंध पर विचार नहीं रक्खा गया तो वाक्यों और पदों में मेल नहीं बैठेगा। इसलिए एक विचार और दूसरे विचार के बीच की विभाजक रेखा का ज्ञान होना आवश्यक है। जब एक विचार समाप्त हो जाय तो दूसरा विचार प्रारंभ हो।

निबन्ध लिखने के पहले अपना दृष्टिकोण बना लो और फिर यह ध्यान रक्खो कि सारे निबन्ध में उसी एक दृष्टिकोण का पूर्ण निर्वाह हो। यह नहीं कि बीच में कुछ और ले उड़ो जो तुम्हारे पहले तर्क के विरुद्ध पड़े। यदि यह आवश्यक ही है कि विषय को एक दूसरे दृष्टिकोण से देखा जाय तो यह बात बता दो। इससे पढ़ने वाला भ्रम में नहीं पड़ेगा।"

: १ :

भूदान यज्ञ और भूमि समस्या

भारत के स्वतंत्र होने पर अन्य गंभीर एवं जटिल समस्याओं के साथ भूमि समस्या का भी उठना स्वाभाविक था; क्योंकि कृषि प्रधान देश होने के नाते यहाँ की जनता का तीन-चौथाई से भी अधिक भाग खेती द्वारा ही अपनी जीविका चलाता है। कृषि की उत्पादन शक्ति बढ़ाने के लिए यह आवश्यक है कि भूमि अपनी हो। उधार या बटाई में ली गई भूमि में किस फल की आशा से किसान अधिक से अधिक उत्पादन शक्ति बढ़ाने का प्रयत्न करेगा, जबकि थोड़े समय के बाद भूमि उससे छिन जाती है। भारत में कृषि उत्पादन के परम्परागत दो साधन रहे हैं। प्रथम साधन में जमींदार या जागीरदार सरकार और किसानों के बीच मध्यस्थ का कार्य करते हैं और कृषक के श्रम-फल का अधिकांश भाग स्वयं ले लेते हैं। जमींदारी उन्मूलन से यह विपत्ति अपने आप दूर हो गयी है। अब दसगुना लगान जमा करके कोई भी कृषक भूमिधर बन सकता है। दूसरे साधन के अन्तर्गत कृषक और सरकार का सीधा संबंध रहता है जो कि अधिक से अधिक श्रम-फल पाने एवं सुरक्षा के दृष्टिकोण से कृषक के लिए विशेष उपादेय है।

हम देखते हैं कि भारत में किसी के पास तो पाँच सौ एकड़ जमीन है और किसी के पास एक एकड़ भी नहीं है। भूमि संबंधी यह असमानता दरिद्रता की जननी है, वर्ग भेद की पहली सीढ़ी है और हम भारतवासियों के उन्नति में एक जबरदस्त रुकावट है जो निरन्तर पतन की ओर ही ले जाने वाली है। भूमि संबंधी यह असमानता न कानूनी तरीके से सुलझाई जा सकती है और न हिंसात्मक रक्तपात से। यह तो एक मात्र पारस्परिक प्रेम, भ्रातृ भावना एवं अहिंसात्मक सेवा भाव के द्वारा ही हल की जा सकती है। भूमि वितरण की आर्थिक समस्या को सुलझाने का यह आध्यात्मिक प्रयास

भारत की ही मिट्टी में संभव है। पूज्य विनोबा जी के 'भूदान यज्ञ' के इस शुभ अनुष्ठान को देखकर सारा संसार आश्चर्यचकित होकर एक विचित्र सुख का अनुभव कर रहा है, क्योंकि यह विशुद्ध संघर्षहीन आत्मिक प्रेम एवं सौहार्द्र की भावना पर आश्रित है। जबकि अन्य देशवासियों के पास इस प्रकार की जटिल समस्या को सुलझाने के लिए खून-खराबी के अतिरिक्त अन्य कोई साधन ही नहीं है।

भूदान यज्ञ का अर्थ है 'सर्वे भवन्तु सुखिनः के लक्ष्य की पूर्ति के लिए भूमिहीनों को भूमि का दान'। यह भूदान यज्ञ महात्मा गाँधी के योग्य शिष्य विनोबा की महान साधना, अनथक सेवा परायणता एवं तप त्याग का साकार रूप है, जो कि निरन्तर प्रगति के पथ पर है। इसे भारतीय मनीषा 'साम्यवाद का भारतीय आध्यात्मिक प्रयास' कह सकती है, इसके मूल में मानवता की कल्याणभावना एवं विशुद्ध आत्मिक प्रेम छिपा हुआ है। यह शांति के साथ भूमि वितरण की समस्या को सुलझाता है। शान्त तपस्वी विनोबा भूमि सम्पन्नों से दरिद्र नारायण की सेवा के लिए भूमिहीनों के वास्ते भूमिदान देने को कहते हैं। ध्यान रहे कि इसमें किसी प्रकार का दबाव नहीं है, यह तो विशुद्ध प्रेम, दया, सेवा एवं मानवता के हित के लिए हृदय का सौदा है। यह बिना अश्रु एवं रक्तपात के साम्यवाद लाने का भारतीय प्रयास है। दूसरे के हितरक्षा के लिए अपने स्वार्थों की परवाह न करते हुए सामाजिक न्याय का तकाजा है। यह एक मात्र गाँधीवाद का रूपान्तर है जो भूमि वितरण की जटिल समस्या को प्रेम, मानवता एवं अहिंसात्मक ढंग से हल करने का प्रशंसनीय प्रयत्न करता है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यही है कि यह कानूनी दाँवपेंच एवं कोरी बौद्धिकता पर आधारित न होकर उच्च आध्यात्मिक सहृदयता पर टिका हुआ है। इस यज्ञ में वही सम्मिलित हो सकते हैं जिनके हृदय में दरिद्र नारायण के प्रति उत्सर्ग की भावना है। जो अपनी पूरी रोटी में से आधी रोटी प्रसन्नता के साथ अपने दूसरे भूखे भाई को देने में प्रसन्नता का अनुभव करते हैं। भावे जी पैदल यात्रा करके ही इस पवित्रयज्ञ को सफल बना रहे हैं। वे बिना किसी प्रकार की सरकारी सहायता के अपनी साधना

के बल पर जन-जन की आत्मा का पारस्परिक मेल करा रहे हैं जो अधिक टिकाऊ एवं कल्याणकारी है।

इस आन्दोलन की आधारभूत मूल समस्याओं एवं मान्यताओं पर विचार करना भी आवश्यक है, क्योंकि इनके द्वारा भूमि समस्या पर प्रकाश पड़ता है। पहली मान्यता के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वर्तमान समय में देश के अन्दर भूमि वितरण का तरीका ठीक नहीं है, क्योंकि सम्पूर्ण देश के दो भागों की अवस्था एक-सी नहीं है। पहले भाग के अन्तर्गत बङ्गाल, बिहार, उत्तर प्रदेश, तथा पंजाब सम्मिलित हैं जहाँ जमींदार सरकार और किसानों के बीच मध्यस्थ बनकर कृषक के श्रम-फल का अधिकांश भाग स्वयं ले लेते हैं। ये लोग स्वयं खेती नहीं करते। दूसरे भाग में मद्रास, बम्बई तथा मैसूर के प्रान्त हैं जहाँ किसान का राज्य से सीधा सम्बन्ध है। खेती न करने वाले जमींदार कुल खेती की जाने वाली भूमि का थोड़ा सा भाग रखते हैं। इसलिए यह कहना त्रुटिपूर्ण है कि सारे देश में एक ही प्रकार की समस्या है तथा इन सब का समान हल देश में होगा।

दूसरी मान्यता इस प्रकार है—बड़े-बड़े जमींदार बहुत बड़ा भूमि भाग रखते हैं और इन जमींदारों की संख्या इतनी अधिक है कि कृषक भूमि भाग के वास्तविक लाभ से पूर्णतया वंचित ही रह जाता है। कुछ राज्यों के अतिरिक्त अधिकांश राज्यों में ऐसे जमींदारों की संख्या कम है जो अधिकाधिक सौ एकड़ भूमि रखते हैं, जबकि करोड़ों कृषकों के पास ५ एकड़ से भी कम भूमि है। मध्यवर्ग के किसान के पास ५ एकड़ से १०० एकड़ तक भूमि होती है। इन मध्यवर्ग के परिवारों में से कम संख्या में लोग खेती पर ही निर्भर हैं। प्रति कृषक औसत भूमि २½ एकड़ से भी कम पड़ती है। इसके अतिरिक्त भूमि भाग का मूल्य केवल इसकी लम्बाई-चौड़ाई ही से नहीं आँका जा सकता बल्कि मिट्टी, जलवायु, तथा अन्य आवश्यक सुविधाओं पर भी निर्भर करता है। राजपूताने की पचास एकड़ रेगिस्तानी भूमि उत्तर प्रदेश की दस एकड़ भूमि से भी उर्वरता में कम ठहरेगी। इस प्रकार भूदान यज्ञ की दोनों मान्यताएँ कुछ राज्यों को छोड़कर पूर्ण भारत में एक समान नहीं हैं।

दूसरा कटु सत्य अत्यंत भयङ्कर है, वह यह है कि दान में मिली हुई भूमि बंजर है या खेती के लिये अनुपयोगी है, अथवा उसमें कम उर्वरता शक्ति है जिसको चलाऊ भूमि बनाने में कम से कम ४ वर्ष का समय लगेगा। भूमि को तोड़कर बराबर करना, प्रतिवर्ष अच्छी खाद डालना, सिंचाई आदि से उसे उर्वर बनाने में १० एकड़ जमीन में तीन वर्ष में २५००) कम से कम व्यय होंगे। चिंतनीय है कि क्या दरिद्र किसान यह सब कर सकेगा। यहाँ पर एक समस्या और भी उठ खड़ी होती है, दान में दी गयी भूमि अधिकांशतः गोचर एवं वन्य ही है। गोचर भूमि के तोड़ने में पशुओं के चरने की विकट समस्या उठ खड़ी होगी। दूसरी प्रकार की भूमि जो भूमिदान में प्राप्त हुई है वह विवादग्रस्त एवं कौटुम्बिक झगड़े के बीच में पड़ी है। मद्रास में ऐसी ही भूमि दान में मिली है। भूमि वितरण में कुछ विशेष दल के लोगों का प्रभुत्व जमाना एक नयी समस्या खड़ी कर देता है जिससे पूर्ण न्याय होने की गुञ्जायश कम ही रह जाती है। यदि पूर्ण न्याय न हुआ तो फिर यज्ञ का अनुष्ठान ही व्यर्थ हुआ। होना तो यह चाहिये था कि भूदान के विशिष्ट कार्यकर्त्ता सभी राजनीतिक तथा सामाजिक संस्थाओं के चुने हुये व्यक्तियों की प्रत्येक स्थान में एक 'भूदान वितरण समिति' बना देते जो कि व्यक्तिगत निरीक्षण एवं सरकारी सहायता से भूमि का वितरण ठीक प्रकार से करती। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि यदि भूदान आंदोलन की ऐसी ही मन्थर प्रगति रही तो ७० या ८० वर्ष से कम समय न लगेगा। जब तक अनुकूल दिशा में सर्वांगीण प्रगति न होगी तब तक इसकी सफलता की आशा करना दुराशा मात्र है।

इस भूदान आन्दोलन को सफल बनाने के लिए राज्य की सहायता अपेक्षित है। आध्यात्मिक स्तर में सब को समान ले आने की कल्पना इस भौतिकवादी युग में नितांत असम्भव है। अच्छा हो यदि सरकार कानून द्वारा दृढ़ता पूर्वक भूमि का वितरण करे एवं आवश्यकता से अधिक कृषि पर आश्रित रहने वालों को अन्य विभिन्न उद्योग-धन्धों में लगावे। इससे बेकारी की समस्या भी कुछ सीमा तक दूर हो जायेगी और वैज्ञानिक ढङ्ग से कृषि को आश्रय

भी मिल सकेगा। सरकार को सरकारी कृषि योजना (Co-operative Farming) पूरे राष्ट्र में शीघ्र लागू करना चाहिए। चकबन्दी तथा पंचवर्षीय योजना द्वारा सिंचाई की समस्या का हल तथा सम वितरण योजना को शीघ्र कार्यान्वित करने से ही भूमि समस्या का हल संभव है। विनोबाजी के उपायों में इसी प्रकार के सुधारों की आवश्यकता है। ईश्वर करे विनोबा भावे की 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' की दिव्य दृष्टि भविष्य में किसी भी रूप में सफल होकर भारत का कल्याण करे एवं संसार के लिए एक आदर्श उपस्थित करे।

: २ :

प्रथम पञ्चवर्षीय योजना

सैकड़ों वर्षों की पराधीनता से मुक्त होकर भारत आज राजनीतिक स्वतंत्रता का सुख अनुभव कर रहा है। इस आनंद का पूर्ण उपभोग तभी संभव है जब कि प्रत्येक व्यक्ति के रहन-सहन का स्तर इतना ऊँचा हो जाय कि वह अपनी सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक सभी प्रकार की व्यक्तिगत प्रतिभा का विकास कर सके। प्रत्येक व्यक्ति को इन क्षेत्रों में भरपूर उन्नति करने की पूर्ण सुविधा हो। दरिद्रता एवं बेकारी का रोग दूर हो।

भारत की आर्थिक स्थितियों के ढाँचे कुछ ऐसे बेढंगे हो गये हैं कि यहाँ का धनी वर्ग निरन्तर धनी होता चला जा रहा है और सर्वहार वर्ग निरन्तर दरिद्रतर। किसानों के बारे में तो कुछ कहने लायक नहीं, वे बेचारे दरिद्रता में जन्मते हैं, दरिद्रता में पलते हैं और दरिद्रता में ही मर जाते हैं। गत दो विश्व महायुद्धों के परिणामस्वरूप भारत की आर्थिक स्थिति और भी अधिक शोचनीय हो गयी है। इस प्रकार की विशृङ्खलता को दूर करने तथा अभावों की पूर्ति करने का तकाज़ा आज का भारत कर

रहा है। संसार के अनेक समृद्ध एवं सभ्य देशों में वैभव सम्पन्नता, समानता तथा सबके लिए समान सुविधाएँ प्रदान करने की दृष्टि से अनेकों योजनाएँ कार्यान्वित की जा रही हैं। भारत में भी सन् १६४६ में पंडित नेहरू की अध्यक्षता में एक योजना कमीशन का निर्माण किया गया एवं उसे इस बात का आदेश दिया गया कि वह पूँजी तथा मानव साधनों एवं उनके भावी विकास के विषय में पता लगावें, साथ ही इन साधनों के संतुलित उपयोग के लिए एक योजना का निर्माण करें। फलस्वरूप योजना कमीशन ने जुलाई सन् १६५१ में पंचवर्षीय योजना प्रस्तावित की। इस प्रथम पंचवर्षीय योजना का कार्यकाल १६५१-५२ से १६५५-५६ तक है। इसका उद्देश्य सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक न्याय का पूर्ण रूप से पालन करना है। इस योजना में कृषि, सिंचाई तथा शक्ति के विकास को प्रधानता दी गयी है। कुल व्यय का अनुमान २,०६६ करोड़ रुपये के लगभग है जो कृषि, सिंचाई, शक्ति, यातायात एवं उद्योग आदि पर लगाया जायगा। वित्त के साधनों में आन्तरिक साधनों से १२५८ करोड़, विदेशी ऋणों से १५६ करोड़, घाटे के बजट से २६० करोड़ तथा घाटे के ३६५ करोड़ रुपये का प्रबन्ध किया गया है।

भारत के कृषि प्रधान देश होने के नाते इस योजना में कृषि उन्नति को विशेष महत्व दिया गया है और पूरे बजट का ४० प्रतिशत इसके लिए सुरक्षित है। उद्योग में लोक एवं निजी क्षेत्र निर्धारित किए गए हैं, उद्योग पर कम ध्यान दिया गया है। आधार रक्षा तथा भारी उद्योगों के लिए विशेष महत्व दिया गया है। शक्ति विकास के लिए ५६१ करोड़ रुपये की व्यवस्था की गयी है। पाँच वर्ष के भीतर १२ लाख किलोवाट शक्ति वृद्धि की आशा है।

योजना के मूल उद्देश्य—

(१) राज्य इस बात का प्रयत्न करेगा कि एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था स्थापित हो जिसमें राष्ट्रीय जीवन की सभी संस्थाओं में सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक न्याय का पूर्ण पालन हो।

(२) सभी नागरिकों को चाहे वे पुरुष हों या स्त्री, समान रूप से पर्याप्त जीवन के निर्वाह के साधन उपलब्ध कराने के प्रयत्न किए जायँ एवं उनको विकास का समुचित अवसर दिया जाय।

(३) आर्थिक प्रणाली की कार्य व्यवस्था धन एवं उत्पत्ति के साधनों में केन्द्रीयकरण के द्वारा कोई ऐसा असंतुलन न उत्पन्न कर सके जिससे समाज के हित में आशंका हो।

(४) समाज के भौतिक साधनों के स्वामित्व और नियंत्रण का ऐसा संतुलित वितरण किया जाय जो सामूहिक हित कर सके।

योजना में प्राथमिकता का क्रम—

(१) इस योजना के अन्तर्गत शरणार्थी तथा बेघरबार वालों के लिए पुनर्वास का प्रबन्ध सबसे पहले करना।

(२) कृषि संबंधी आवश्यकताओं को पूरी करने वाली उद्योग प्रणालियों के समुचित विकास पर ध्यान देना।

(३) सिंचाई और शक्ति उत्पादन करके खाद्य एवं कच्चे माल के उत्पादन की वृद्धि।

(४) भौतिक एवं शिल्प साधनों के विकास में योग देनेवाली योजनाओं की पूर्ति करना। साथ ही रोजगार तथा उपभोग की वस्तुएँ उत्पन्न करनेवाले उद्योगों को प्रोत्साहन देना।

(५) लोहा इस्पात तथा भारी रासायनिक पदार्थ आदि का उत्पादन करनेवाले आधार उद्योगों की उत्पादन क्षमता को बढ़ना।

(६) वर्तमान औद्योगिक व्यवस्था के उन दोषों को दूर करना जो पर्याप्त शासन संबंधी सामाजिक सेवाओं के अभाव तथा विभिन्न राज्यों में आर्थिक अवनति के स्तरों में अन्तर पैदा कर देते हैं।

योजना में प्रस्ताव के द्वारा पास किए गए कुल व्यय को विभिन्न कार्यों के लिए इस प्रकार से विभाजित किया गया है।

(१) कृषि तथा सामुदायिक विकास	कुल व्यय का	४·१७
(२) सिंचाई और शक्ति	,,	२७·२
(३) समाज सेवा	,,	१६·४
(४) यातायात और संवादवाहन	,,	१४·०
(५) पुनर्वासिन	,,	४·१
(६) उद्योग-धन्धे	,,	८·४
(७) फुटकर	,,	२·५

इस वितरण की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि इसमें कृषि को सर्वप्रथम स्थान दिया है। कुल व्यय का ५० प्रतिशत प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से कृषि की उन्नति के लिए रक्खा गया है। सामुदायिक विकास योजनाओं के लिए ९० करोड़ रुपये की व्यवस्था की गयी है। नदी घाटी संबंधी बहुमुखी योजनाओं पर अगली पंचवर्षीय योजना में विचार होगा। राजमार्गों, बन्दरगाहों, जहाजों एवं यातायात के विकास संबंधी योजनाएँ भी महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं। इस योजना में नई रेलवे लाइनों के विकास की व्यवस्था नहीं की गई है। परन्तु वर्तमान रेल सेवाओं के विकास को सम्मिलित कर लिया गया है। योजना कमीशन ने औद्योगिक विकास का कार्य व्यक्तिगत साहस पर छोड़ दिया है।

योजना पर आलोचनात्मक दृष्टि—योजना कमीशन ने पंचवर्षीय योजना के उद्देश्यों को बढ़ा-चढ़ाकर दिखाया है किन्तु सच बात तो यह है कि वह एक साधारण सी योजना है जो अर्थ व्यवस्था को युद्ध से पूर्व के स्तर पर लाने मात्र का प्रयत्न करती है और चालू विकास योजनाओं के संचालन तक ही अपने को सीमित रखती है। श्री गोरवाला जी ने जो योजना बनाने वालों में से एक हैं, जिन्होंने लोक और निजी क्षेत्रों के कार्यक्षेत्र निश्चित किए हैं, कड़े शब्दों में स्पष्ट कहा है कि 'यह (योजना कमीशन) केवल कुछ ऐसी योजनाएँ बनाता है जिनका संबंध केवल लोकक्षेत्र के व्यय से है, परन्तु ऊँचा नाम देने के लिए वह इसे प्रथम पंचवर्षीय योजना कहते हैं। इस प्रकार का दृष्टिकोण काफी हानिकारक है। यदि एक मनुष्य झोपड़ी

बनाता है और इसे महल का नाम देता है तो उसे इस बात पर आश्चर्य नहीं करना चाहिए कि देखनेवाले इसे कुछ और ही कहते हैं। योजना कमीशन ने जो रिपोर्ट तैयार की है वह लोकक्षेत्र के व्यय की ही एक साधारण योजना है।'

इस योजना का प्रारम्भ ही इस रूप में दोषपूर्ण है कि इनके निर्माताओं ने आर्थिक विकास के नियमों को सुचारु रूप से नहीं समझा है। आर्थिक प्रणाली के नियमों को मानव समाज की प्रगति के नियमों की कार्यवाहकता के समुचित अनुमान पर आधारित होनी चाहिए था। पूँजी की वस्तुओं के उत्पादन तथा उपभोग की वस्तुओं के उत्पादन के बीच का अनुपात योजना की सभी अवस्थाओं के लिए बहुत सोच-विचारकर सावधानी के साथ निश्चित करना चाहिए था। तीसरा दोष यह है कि इस योजना में अर्थ व्यवस्था के मूल पहलुओं के विषय में भी विश्वसनीय सूचनाएँ नहीं हैं, इससे योजना कमीशन के लक्ष्य का ठीक-ठीक अनुमान नहीं हो पाता। सरकारी आँकड़ों की सत्यता भी सन्देह से खाली नहीं है। चौथा महान् दोष यह है कि दीर्घकालीन योजनाओं को इसमें विशेष महत्व दिया गया है इस प्रकार का दृष्टिकोण कभी-कभी लाभ के बदले हानिकारक सिद्ध होता है। अच्छा तो यह होता कि दीर्घकालीन और अल्पकालीन दोनों ही प्रकार की योजनाएँ एक साथ कार्यान्वित की जातीं। इसी प्रकार आर्थिक विकास की किसी भी योजना की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि संचालन के लिए विश्वासनीय शासन और समन्वय प्रणाली हो किन्तु दुर्भाग्य से नदी घाटी योजनाओं का कार्य संचालन बड़ा ही असंतोषजनक रहा है। इसके साथ ही वर्तमान शासन केवल आय के साधनों का उपयोग करने में ही असफल नहीं रहा है, वह विद्वतापूर्वक नियमितता के साथ व्यय करने में भी आंशिक रूप में ही नहीं पर्याप्त मात्रा में असफल रहा है।

इस योजना का अन्तिम दोष यह भी है कि लोक और निजी क्षेत्रों के भेद का स्पष्टीकरण साफ और सुलझा हुआ नहीं है। इस बात का उल्लेख करने की कहीं भी आवश्यकता नहीं समझी गयी कि निजी क्षेत्रों से किस

प्रकार का काम लिया जायगा । योजना में वितरण संबंधी शासन के निर्माण पर ध्यान नहीं दिया गया है यद्यपि योजना का उद्देश्य केवल युद्ध से पूर्व के आर्थिक स्तर को स्थापित करना है। योजना में कृषि सिंचाई तथा लोक उद्योगों को आशा से अधिक महत्त्व देने से उत्पादित अतिरिक्त आय का अधिकांश भाग जनसंख्या के ग्रामीण अथवा निर्धन वर्ग को ही प्राप्त होगा, किन्तु इस प्रकार का विचार भी सर्वथा त्रुटि से हीन नहीं हो सकता।

प्रथम पंचवर्षीय योजना का कार्यकाल लगभग समाप्त ही सा हो रहा है। परन्तु दुख के साथ लिखना पड़ता है कि योजना निर्माताओं को अपने स्वप्न सत्य होते नहीं दिखते। उन्हें इस योजना में वे उद्देश्य पूर्ण होते नहीं ज्ञात होते जो प्रायः आर्थिक नियोजन से सम्बन्धित थे। सबसे बड़ी शंका तो यही है कि यदि योजना के कार्यवाहन से मुद्राप्रसार बढ़ता है तो योजना ही केवल असफल नहीं रहेगी अपितु लोगों की आर्थिक कठिनाइयाँ भी बढ़ जायँगी। योजना बनानेवालों को एक ओर कृषि और दूसरी ओर उपभोग की वस्तुओं और पूँजी की वस्तुओं के उत्पादन के बीच विचार-पूर्वक अनुपात उपस्थित करना चाहिए था। कोई भी योजना जो भारत के आर्थिक जीवन के पहलू की उपेक्षा करके कार्यान्वित की जायगी वह भविष्य में असफल ही रहेगी।

योजना कमीशन का दृष्टिकोण पूर्णतया तर्कसंगत न होने से वर्तमान शासन, कार्यों को शीघ्रतापूर्वक तथा नियोजन की आवश्यकताओं के अनुसार करने में असमर्थ है। न केवल आय प्राप्ति ही अनुमान से कम है, व्यय की भी यही स्थिति है। आशका इस बात की है कि सम्भवतः निश्चित समय में योजना पूरी न होगी और यदि हो भी गयी तो उस दशा में भारी मुद्रा प्रसार की आवश्यकता पड़ेगी। हमारा सबका यह पुनीत कर्तव्य है कि दोष विवेचन की पद्धति को छोड़कर केवल राज्य के सहारे काम पूरा होने की आशा छोड़कर तन मन से सहयोग की भावना लेकर जुट जायँ तब लक्ष्य दूर नहीं रहेगा, ऐसी आशा है।

: ३ :

कुटीर उद्योग एवं उनका महत्व

वर्तमान सभ्यता को यदि यांत्रिक सभ्यता कहा जाय तो कुछ अत्युक्ति न होगी। पश्चिमी देशों की यांत्रिक सभ्यता आज के युग में सम्पूर्ण संसार की सभ्यता बन चुकी है। यंत्र रूपी अशांति ने शनैः-शनैः ग्राम्य जीवन की सुखद शांतिमयी औद्योगिक विश्रांति को निगल लिया है। आजकल हाथ से बनी वस्तु और यंत्र से निर्मित वस्तु में किसी प्रकार की होड़ हो ही नहीं सकती क्योंकि यंत्र-युग अपने साथ अपरिमित शक्ति एवं साधन लेकर आया है। उस संक्रान्ति काल में जब कि भारत की आर्थिक स्थिति प्रत्येक दिन संकट-ग्रस्त होती जा रही थी, युग पुरुष महात्मा गाँधी ने यांत्रिक सभ्यता के विरुद्ध कुटीर उद्योगों को बढ़ावा देने की आवाज उठाई। वे कुटीर उद्योगों के माध्यम से ही गांवों के देश भारत में आर्थिक समता लाने के पक्ष में थे।

'थोड़ी पूंजी के द्वारा सीमित क्षेत्र में अपने हाथ से अपने घर में ही वस्तुओं को निर्माण करना' कुटीर उद्योग कहलाता है। यह व्यवसाय प्रायः परम्परागत भी होता है। दरियाँ, गलीचे, रस्सियाँ बनाना, खद्दर, मोजे और शाल बुनना, लकड़ी, सोने, चाँदी, ताँबे, पीतल की दैनिक उपयोग में आनेवाली वस्तुओं का निर्माण करना आदि अनेक प्रकार की हस्तकला के कार्य इसके अन्तर्गत आते हैं।

औद्योगिक दृष्टि से भारत का अतीतकाल अत्यंत स्वर्णिम एवं सुखद था। लगभग सभी प्रकार के उद्योग अपनी उन्नति की पराकाष्ठा में थे। ढाके की मलमल अपनी कलात्मकता में इतनी ऊँची उठ गई थी कि सात तह करके पहनी हुई ढाके की मलमल की साड़ी से सुसज्जित अपनी पुत्री को औरंगजेब ने डाँटते हुए कहा कि क्या तुमने लाज-शरम सब घोल कर पी ली है। मुसलमानी राजाओं और नवाबों के द्वारा भी इसे विशेष प्रोत्साहन मिला। देश को आर्थिक दृष्टि से कुछ इस प्रकार व्यवस्थित किया गया था कि प्रायः प्रत्येक गाँव में अधिक से अधिक आर्थिक स्वालम्बन प्राप्त हो सके।

किन्तु अँग्रेजों के आने से यांत्रिक सभ्यता की घुड़दौड़ में न टिक सकने के कारण ग्रामीण जीवन की आर्थिक स्वालम्बता छिन्न-भिन्न हो गयी। किसी तरह से उसकी घुटती हुई साँसों का सिलसिला जुड़ा रहा है। देश की राजनीतिक पराधीनता भी इसके लिए उत्तरदायी है। ग्रामीण उद्योगों के समाप्त होते ही ग्राम्यजीवन का सारा सुख भी समाप्त हो गया।

कुटीर उद्योग के पतन के कारण—

(१) अँग्रेजों के आगमन से छोटे छोटे राज्यों एवं इकाइयों के समाप्त हो जाने से इन उद्योग-धंधों का संरक्षण भी समाप्त हो गया। विदेशी शासकों की सहानुभूति के अभाव में ये असमय में ही मुरझा गये।

(२) अँग्रेजी सभ्यता में सिर से पैर तक डूबा भारतीय शिक्षित वर्ग इन उद्योग-धंधों में असभ्यता की बू पाने लगा, इन्हें उपेक्षा की दृष्टि से देखने लगा। पाश्चात्य वस्तुओं की बाह्य चमक-दमक में सादगी के सौन्दर्य की उपेक्षा करने लगा। फलस्वरूप उपेक्षित होने से इसका पतन हुआ। श्रीमती वेरा का कहना है कि 'भारत के धनी वर्गों ने पश्चिमी फैशन ग्रहण करना आरंभ किया, उन्होंने या तो पश्चिमी देशों से बनी वस्तुएँ खरीदना शुरू कर दिया अथवा ऐसी देशी वस्तुओं को खरीदा जो पहले यूरोपियन लोगों को बेची जाती थीं और जिन्हें स्वयं भारतवासी घृणा की दृष्टि से देखते थे।

(३) भारतीय मंडियों में ब्रिटिश माल को अधिक से अधिक लाकर कम से कम मूल्य पर बेचा गया जिससे इन कुटीर उद्योगों को भारी धक्का लगा।

(४) मशीनों द्वारा बनाई गयी वस्तुओं की प्रतियोगिता में हाथ से बनी वस्तुएँ कब तक टिकतीं। औद्योगिक क्रांति के युग में छोटे-छोटे हस्त-उद्योगों का अन्त हो जाना स्वाभाविक ही था।

(५) दमन द्वारा भी अँग्रेज शासकों ने भारतीय उद्योगों का अन्त किया। मलमल बुननेवाले बहुत से जुलाहों की अँगुलियाँ कटवा डाली गयीं।

महत्व—श्री मेघनाद शाहा ऐसे कुछ वैज्ञानिकों का मत है कि कुटीर

उद्योगों का पुनः पुनरुद्धार करना इस यांत्रिक एवं वैज्ञानिक युग में वैसा ही है जैसा मोटर और हवाई जहाज के स्थान पर बैलगाड़ी का चलाना। यह एक प्रकार से 'काल-विरोध' (Anachronism) है। किन्तु यह मत अत्यन्त भ्रामक एवं त्रुटिपूर्ण है। भारत न तो विलायत है और न जर्मनी। यहाँ की परिस्थितियाँ, वातावरण एवं समस्याएँ पूर्ण रूप से कुटीर उद्योग के पक्ष में हैं। स्मरण रहे कि भारत की दरिद्रता का प्रधान कारण कुटीर उद्योगों का विनाश ही है। भारत में उत्पादन का पैमाना अत्यंत छोटा है। देश की अधिकांश जनता अब तक भी छोटे-छोटे व्यवसायों से अपनी जीविका चलाती है। श्री राधाकमल मुकर्जी ने सन् १९४१ में अनुमान लगाया था कि केवल कर्घा उद्योग के द्वारा पचास लाख व्यक्तियों की रोजी चलती है। भारत के किसानों को वर्ष में कई महीने बेकार बैठना पड़ता है; कृषि में रोजगार की प्रकृति मौसमी होती है, लोग बेकार बैठे मक्खी मारते रहते हैं, इस बेरोजगारी को दूर करने के लिए कुटीर उद्योग का सहायक साधनों के रूप में विकास होना आवश्यक है। जापान, फ्रांस, जर्मनी, इटली, रूस सभी देशों में गौण उद्योग की प्रथा प्रचलित है।

भारत में कुटीर धंधों और छोटे पैमाने के कला-कौशल के विकास का महत्त्व इस रूप में भी विशेष महत्त्वपूर्ण है क्योंकि यदि हम अपने संगठित बड़े पैमाने के उद्योगों में चौगुनी-पंचगुनी वृद्धि भी कर दें तो भी देश में वृत्ति-हीनता की विशाल समस्या सुलझाई नहीं जा सकती। ऐसा करके हम केवल मुट्ठी भर व्यक्तियों की रोटी का ही प्रबन्ध कर सकते हैं। इस जटिल समस्या के सुलझाने का एकमात्र उपाय बड़े पैमाने के उद्योगों के साथ-साथ कुटीर उद्योगों का समुचित विकास ही है, जिससे कि ग्रामीण क्षेत्रों को सहायक व्यवसाय मिल सके और किसान को अपनी आय में वृद्धि करने का अवसर मिल जाय।

गाँधी जी के विचार से बड़े पैमाने के उद्योगों को विशेष प्रोत्साहन देकर विशालकाय मशीनों के उपयोग को रोका जाय, तथा छोटे उद्योगों द्वारा पर्याप्त मात्रा में आवश्यक वस्तुएँ उत्पादित की जायँ। कुटीर उद्योग

मनुष्य की स्वाभाविक रुचियों और प्राकृतिक योग्यताओं के विकास के लिए पूर्ण सुविधा प्रदान करता है। मशीन के मुँह से निकलने वाले एक गज टुकड़े को भी कौन अपना कह सकता है जब कि वह उसी मजदूर के रक्त-पसीने से तैयार हुआ है किन्तु हाथ से बनी हुई प्रत्येक वस्तु पर बनानेवाले के व्यक्तित्व की छाप पड़ी रहती है। यंत्रीकरण में मनुष्य का व्यक्तित्व-नैतिक, सांस्कृतिक तथा आत्मिक पतन हो जाता है और वह केवल उस मशीन का एक निर्जीव पुर्जा मात्र रह जाता है।

कुटीर उद्योगों में आधुनिक औद्योगीकरण के वे दोष नहीं पाए जाते हैं जो औद्योगिक नगरों की भीड़भाड़, पूँजी तथा उद्योगों के केन्द्रीयकरण, लोक स्वास्थ्य की पेचीदी समस्याओं, मकानों की कमी तथा नैतिक पतन के कारण उत्पन्न होते हैं।

कुटीर उद्योग थोड़ी पूँजी के द्वारा जीविका निर्वाह के साधन प्रस्तुत करते हैं। पारस्परिक सहयोग से कुटीर उद्योग बड़े पैमाने में भी परिणित किया जा सकता है। कुटीर उद्योग में छोटे-छोटे बालकों एवं स्त्रियों के परिश्रम का भी सुन्दर उपयोग किया जा सकता है। कुटीर उद्योग की इन्हीं विशेषताओं से प्रभावित होकर बड़े-बड़े औद्योगिक राष्ट्रों में भी कुटीर उद्योग की प्रथा प्रचलित है। जापान में ४० प्रतिशत उद्योग शालाएँ कुटीर उद्योग से संचालित हैं। कहा जाता है कि जर्मनी में सब मनुष्यों को रोटी देने का प्रबन्ध करने के लिए हिटलर ने कुटीर उद्योग की ही शरण ली थी।

कुटीर उद्योग में कुछ दोष भी हैं, जैसे इसमें उत्पादन व्यय अधिक होता है। इसी कारण से कुटीर उद्योग सफलतापूर्वक बड़े पैमाने के उद्योगों की प्रतियोगिता में नहीं ठहर पाते। इसीलिए यह कहा जाता है कि यदि हम विदेशी व्यापार के आयात को पूर्णतया समाप्त नहीं कर देते हैं तो विदेशों से आनेवाले मशीन उत्पादित माल की प्रतियोगिता द्वारा कुटीर उद्योग समाप्त हो जायँगे। अतएव आवश्यकता इस बात की है कि औद्योगिक विकास की प्रत्येक भावी योजना में कुटीर उद्योगों और बड़े पैमाने के उद्योगों के बीच एक समझौता हो जाय।

कुछ लोगों का कहना है कि कुटीर उद्योग आर्थिक अवनति के प्रतीक होते हैं किन्तु उन्हें जानना चाहिए कि जापान की आर्थिक उन्नति का एक-मात्र श्रेय कुटीर उद्योग को ही है।

कुटीर उद्योगों को पूर्ण रूप से सफल बनाने के लिए यह नितांत आवश्यक है कि उन्हें वैज्ञानिक पद्धति से संचालित किया जाय। तभी हमारे जीवन में पूर्ण शांति, सुख और समृद्धि की कल्याणकारी गूंज ध्वनित हो उठेगी। तभी हम सारे संसार के सामने शांतिपूर्ण ढंग से आर्थिक समस्याओं को सुलझाने का नया हल गर्व के साथ पेश कर सकेंगे। भगवान वह दिन शीघ्र लावे।

: ४ :

बेरोज़गारी की समस्या

प्रायः बेरोजगारी की समस्या का आरोप सामान्यतया शिक्षित मध्यम श्रेणी की बेरोजगारी को सामने रख कर किया जाता है। किन्तु वस्तुतः यह एकांगी दृष्टिकोण है। चाहे फावड़ा चलाकर रक्त स्वेद सिक्त रोटियाँ खाने वाले मजदूर हों, चाहे वर्षा, शीत, ग्रीष्म में अपने शरीर एवं सुख का होम करने वाले कृषक हों, चाहे मशीनों के सम्पर्क में स्वयं यंत्र बने फैक्टरी के कर्मचारी हों या चाहे अनवरत बौद्धिक परिश्रम करने वाले अपने स्वास्थ्य के शत्रु स्नातक हों, यदि वे अपनी आशाओं को पूरी नहीं कर पाते, अपने आश्रित कुटुम्बियों का भरण-पोषण नहीं कर पाते तो वे न केवल कुटुम्ब के भार बन जाते हैं वरन् उन्हें स्वयं अपने आप से भी चिढ़ हो जाती है। इस प्रकार बेरोजगार के शिकार सभी वर्ग के पढ़े-लिखे निरक्षर-साक्षर व्यक्ति हो सकते हैं। सुविधा के लिए हम इन्हें दो वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—

(१) पढ़े-लिखे मध्यम श्रेणी के बाबूगीरी (Clerical job) करने के इच्छुक व्यक्ति।

(२) शारीरिक परिश्रम करने वाले अशिक्षित व्यक्ति—मजदूर किसान आदि।

भारत में बेरोजगारी की समस्या बहुत समय से चली आ रही है किन्तु वर्तमान समय में जैसा गंभीर रूप इसने धारण कर लिया है वैसा कभी नहीं था। द्वितीय महायुद्ध के पूर्व बेरोजगारी की समस्या वर्तमान थी। महायुद्ध इस बेरोजगारी रूपी अभिशाप के लिए वरदान बन कर आया और सब श्रेणी के व्यक्तियों को उनके अनुरूप काम मिल गया। बेरोजगार की समस्या अंशतः हल हो गयी। बेकार वर्ग अपने-अपने काम में लग गए, सब को पेट भर रोटी मिलने लगी और एक प्रकार से अप्रत्यक्ष रूप से समाज में सुख तथा संपन्नता छा गयी किन्तु युद्ध की समाप्ति के पश्चात् युद्ध संबंधी विभिन्न कार्यों में आयोजित व्यक्ति बेकार हो गए और बेकारी की समस्या दुगुने बल से पुनः बढ़कर सुख-शांति को चुनौती देने लगी।

अपने देश में बेरोजगारी की समस्या एक विचित्र रूप में वर्तमान है। पाश्चात्य देशों में व्यापार में मन्दी आ जाने के कारण कुछ समय के लिए उत्पादन की माँग में कमी आ जाने से बेकारी की समस्या उठ खड़ी होती है। किन्तु हमारे यहाँ माँग की कमी बेरोजगारी का कारण नहीं है वरन् उपभोग संबंधी वस्तुओं की अधिकता के स्थान पर उनका अभाव ही है। देश में वस्तुओं और सेवाओं का अभाव होते हुए भी अधिकांश मात्रा में श्रमिक शक्ति शून्य पड़ी है। एक ओर तो देश में सभी प्रकार के उत्पादन की कमी है और दूसरी ओर उत्पत्ति के बहुत से मानव साधन अप्रयुक्त पड़े हैं। स्पष्टतया पूँजी और साहस की कमी ही बेरोज़गारी का प्रमुख कारण है। यहाँ पर बेरोज़गारी और आंशिक रोज़गारी दोनों ही की समस्याएँ अत्यंत जटिल है। उत्तरी भारत में किसान को वर्ष में सात महीने बेकार रहना पड़ता है जबकि खाली ऋतुओं में दिन भर में उसे केवल एक या दो घंटे ही काम करना पड़ता है। भूमि रहित कृषि-श्रमिकों की दशा और भी अधिक खराब है, उनकी संख्या कुल ग्रामीण जनता की $\frac{1}{5}$ है परन्तु उन्हें वर्ष में केवल ५-६ महीने के लिए ही काम मिलता है और शेष महीनों में मक्खियाँ मारनी पड़ती हैं।

बेरोज़गारी के कारण—

(१) जनसंख्या में तेजी के साथ वृद्धि।

(२) ग्रामीण और कुटीर उद्योगों का ह्रास। इसके कारण बहुत से लोगों को ग्रामीण अथवा नगर क्षेत्रों में जो थोड़े समय के लिए काम मिल जाता था वह समाप्त हो गया है। कुटीर उद्योगों की उन्नति का अनुपात जनसंख्या की वृद्धि के अनुपात से कम पड़ता है।

(३) बढ़ती हुई जनसंख्या को कृषि के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों में रोजगार की अधिक सुविधाओं का अभाव।

(४) देश के विभाजन के कारण जनसंख्या के तितर-बितर हो जाने से रोजागर का समाप्त हो जाना।

समस्या का हल —

(१) देश की बढ़ती हुई जनसंख्या के वेग को रोकने या कमी करने की विशेष आवश्यकता है। क्योंकि देश की बढ़ती हुई जनसंख्या के अनुपात में हमरे यहाँ की उत्पादन शक्ति पूरी नहीं हो पाती। १६५१ में भारत की जनसंख्या ३६ करोड़ थी और अनुमान यह लगाया गया कि सन् १६८१ में ५६ करोड़ हो जायगी, इस प्रकार जनसंख्या को न रोकने से आर्थिक विकास योजना द्वारा जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने की आशा करना केवल मृग-मरीचिका ही होगी। सबसे बड़ा प्रश्न हमारे समाने यही है कि रोजगार की समस्या को सुलझाये बिना हम जीवन-स्तर को किस प्रकार ऊँचा उठा सकते हैं। अल्पकालीन दृष्टिकोण से जनसंख्या के बढ़ते वेग को रोकने के दो ही उपाय हो सकते हैं—(१) संतति निग्रह (२) विवाह की कम से कम आयु का नियमों द्वारा निर्धारण।

(२) यहाँ पर कुटीर उद्योगों, ग्रामीण उद्योगों तथा छोटे-मोटे हाथ से किए जाने वाले उद्योगों का तेजी के साथ अधिकाधिक संख्या में विकास होना चाहिए। इस प्रकार के उद्योगों में थोड़ी पूँजी की आवश्यकता होती है। इनका संचालन व्यय भी अधिक नहीं होता, छोटी-छोटी मशीनों और

शक्ति का उपयोग करके इनकी कुशलता को भी बढ़ाया जा सकता है। इनमें पूंजी की अपेक्षा श्रम की ही अधिक प्रधानता रहती है जिससे बड़े उद्योगों की अपेक्षा अधिक रोजगार मिल सकता है। इसीलिए ये बेरोजगारी की समस्या को निवारण करने में विशेष उपयुक्त है।

(३) देश में शीघ्रातिशीघ्र औद्योगीकरण की भी आवश्यकता को कम नहीं किया जा सकता। हमारे देश में पूँजी और साहस के अतिरिक्त टेकनीकल तथा व्यावसायिक शिक्षण की भी भारी कमी है। यद्यपि सरकार ने देश में संचित पूंजी, विदेशी पूंजी तथा शिल्पकारों के शिक्षण का महत्व-पूर्ण प्रयत्न किया है परन्तु अभी इसमें अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है। जनता में उत्पादन वृद्धि के प्रति उत्साह का बढ़ाया जाना भी अत्यंत आवश्यक है।

(४) देश में यातायात एवं लोकहितकारी सेवाओं के विकास में योग देने की बहुत आवश्यकता है। सड़कें, रेलें, और हवाई सेवाएँ किसी भी प्रकार पर्याप्त नहीं कही जा सकतीं। किसी भी देश के औद्योगिक, आर्थिक विकास के साथ-साथ सामाजिक विकास का होना भी विशेष आवश्यक है। रोजगार की दृष्टि से इनका विशेष महत्व है। सामाजिक तथा लोकहित-कारी सेवा, शिक्षा, स्वास्थ्य, चिकित्सा आदि का भी भारी अभाव हमारी उन्नति में बाधक है। इन सेवाओं के विकास के द्वारा देश के आर्थिक, सामा-जिक एवं सांस्कृतिक स्तर को उठाया जा सकता है तथा जनसाधारण के लिए सामाजिक सुरक्षा की भी व्यवस्था की जा सकती है एवं इनके द्वारा बेरोजगारी को भी दूर किया जा सकता है। इनके माध्यम से शिक्षित एवं निपुण वर्ग के लिए अधिक रोजगार का प्रबन्ध किया जा सकता है।

(५) स्वयं खेती में रोजगार को बढ़ाने का अभी पर्याप्त स्थान है। लाखों एकड़ भूमि ऊसर अथवा बेकार पड़ी हुई है जिसे रासायनिक रीति से खाद देकर खेती के योग्य बनाया जा सकता है। वर्तमन परिस्थितियों में आधुनिक यंत्रों के द्वारा बड़े पैमाने से खेती करना संभवतः बेरोजगारी की समस्या को और भी अधिक जटिल कर दे। इसके स्थान पर सहकारी

खेती के द्वारा बेरोजगारी बहुत कुछ सीमा तक दूर की जा सकती है। खेती के साथ-साथ सहायक उद्योग भी चलाये जा सकते हैं, जैसे सुअर पालना, मुर्गी पालना, दूध उद्योग चलाना या अन्य प्रकार के कुटीर-उद्योग करना।

(६) जनता का ग्रामीण क्षेत्रों से उठकर नगर में आना भी बेरोजगारी का कारण बन जाता है, इस पर भी रोक लगनी चाहिए। सामुदायिक विकास योजनाओं को प्रश्रय मिलना चाहिए।

(७) पाठ्यक्रम तथा शिक्षा विधियों में आमूल परिवर्तन की विशेष आवश्यकता है, प्रयत्न इस प्रकार का किया जाना चाहिए जिससे कालिज और विश्वविद्यालय स्वावलम्बी स्नातक पैदा कर सकें। उनका राष्ट्रीय जीवन के साथ एकीकरण हो सके। शिक्षा सैद्धांतिक न होकर व्यावहारिक हो।

इस प्रकार के अनेक साधनों से बेरोजगारी की जटिल समस्या को सुलझाया जा सकता है और समाज तथा देश में सुख-शांति एवं वैभव सम्पन्नता लायी जा सकती है। 'बुभुक्षितः किं न करोति पाप" के आधार पर भूखा मनुष्य क्या नहीं कर सकता। भूखे व्यक्ति से किसी प्रकार की चारित्रिक दृढ़ता एवं आचरण की पवित्रता की आशा करना दुराशा मात्र है। बेरोजगारी समाज का अभिशाप है, शांति-सुख एवं सम्पन्नता का शत्रु है, विद्रोह या गृह कलह का पर्याय है। इसके दमन के लिए हम देश की नयी पीढ़ी का आवाहन करते हैं।

: ५ :

शिक्षित वर्ग की बेकारी-समस्या

बेकारी की समस्या भारत के लिए एकदम अपरिचित वस्तु नहीं, इतिहास के पृष्ठों से हमें पता चलता है कि बेकारी की समस्या कम या अधिक किसी न किसी रूप में सदा से रही है और इसे दूर करने में ही समाज

शास्त्रियों ने अपना अमूल्य मस्तिष्क खपाया है किन्तु परिस्थितियों वश द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति पर इस समस्या ने विकराल रूप धारण कर लिया है। श्रमिक वर्ग की बेकारी उतनी चिन्त्य नहीं है जितनी शिक्षित वर्ग की। श्रमिक वर्ग श्रम के द्वारा कहीं न कहीं सामयिक काम पाकर अपना काम चला लेता है, आवश्यकताएँ सीमित होने पर संतोष के साथ सूखी रोटी खाकर मानसिक स्वास्थ को बनाये रखता है, किंतु वर्तमान संसार की गतिविधि एवं नित-नवीन सुविधाओं से परिचित शिक्षित वर्ग जीविका के अभाव में शारीरिक एवं मानसिक दोनों व्याधियों का शिकार बनता है। व्यावहारिकता से शून्य पुस्तकीय शिक्षा के उपार्जन में अपने स्वास्थ को तो खो ही देता है, साथ ही शारीरिक श्रम से पराङ्मुख हो अकर्मण्य बन जाता है। परम्परागत पेशे में उसे एक प्रकार की झिझक का अनुभव होता है, उसका खोखला शैक्षिक स्तर गिरता है। शिक्षित वर्ग की बेकारी की समस्या पर प्रकाश डालते हुए लखनऊ के पत्रकार सम्मेलन में प्रधान मंत्री जी ने कहा था कि 'हर साल ६ लाख पढ़े-लिखे लोग नौकरी के लिए तैयार हो जाते हैं जब कि हमारे पास मौजूदा हालन में एक सैकड़े के लिये भी नौकरियाँ नहीं हैं।' पंडित जी के इस कथन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि शिक्षितों की माँग से कहीं अधिक पूर्ति होना ही इस समस्या का मूल कारण है। विश्वविद्यालय, कालेज, स्कूल प्रतिवर्ष अकर्मण्य बुद्धिजीवी कलम और कुर्सी से जूझने वाले बाबूओं को पैदा करते जा रहे हैं। नौकर शाही तो भारत से चली गई किंतु नौकर शाही की बू भारतवासियों के मस्तिष्क से नहीं गई। लार्ड मैकाले के स्वप्न की नींव भारतवासियों के मस्तिष्क में भर गई है। विश्वविद्यालय में उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिये आया हुआ विद्यार्थी आई० ए० एस० और पी० सी० एस० के नीचे तो सोचता ही नहीं, यही हाल हाई स्कूल और इन्टर वालों का है, ये छुट भैये भी पुलिस की सब-इन्सपेक्टरी और रेलवे की नौकरियों का दरवाजा खटखटाते रहते हैं। इन पंक्तियों का लेखक कई ऐसे संभ्रान्त परिवार के व्यक्तियों को जानता है जिनके घर में ही इतना

अधिक काम है कि वे नौकरी से तिगुना चौगुना अपने घर में ही कमा सकते हैं, कई व्यक्ति ऐसे हैं जिनके यहाँ लम्बे पैमाने पर खेती हो रही है, यदि वे अपनी शिक्षा का सदुपयोग वैज्ञानिक प्रणाली से खेती करने में करें तो देश का भाग्य ही सुधर जाय किंतु वे अभागे सौ-सवा-सौ की नौकरी में अपने घर से बहुत दूर रह कर ही अपने को भाग्यशाली समझ रहे हैं।

अतः आज इस बात की बहुत बड़ी आवश्यकता है कि स्वतन्त्र भारत के स्वतंत्रचेताओं के मस्तिष्क से पढ़ लिख कर छोटी मोटी नौकरी पा लेने का भूत निर्दयता पूर्वक निकाला जाय। आये दिन पत्र-पत्रिकाओं में पढ़ने को मिलता रहता है कि सरकार उच्च शिक्षा सम्पन्न व्यावहारिकता शून्य बौद्धिकता को अपेक्षाकृत अधिक मान्यता देने के पक्ष में बिल्कुल नहीं है, यहाँ तक कि कहीं कहीं इसे हतोत्साहित भी किया जाता है। कोरी बौद्धिकता की अपेक्षा ठोस शारीरिक श्रम की देश को इस समय अधिक आवश्यकता है। शिक्षा-मंत्री मौलाना आजाद का कथन है कि शिक्षित वर्ग की बढ़ती हुई बेकारी का कारण यही है कि तुलनात्मक रूप में जितने व्यक्तियों की आवश्यकता होती है उससे कई गुने अधिक हमें सरलता से मिल जाते हैं। मौलाना साहब विश्वविद्यालयों की शिक्षा पर प्रतिबन्ध लगाकर व्यावसायिक शिक्षा देने के पक्ष में हैं।

नई दिल्ली, २३ मई १९५६ को लोक सभा में एक प्रश्न का उत्तर देते हुए श्रम-मंत्री श्री खांडू भाई देसाई ने कहा कि भारत में बेकारों की संख्या सबसे अधिक पश्चिमी बंगाल में है। ३१ मार्च १९५६ तक बेकारी के दफ्तरों में यह संख्या पश्चिमी बंगाल में १,१४,८७१ थी, इसके बाद उत्तर प्रदेश में बेकारों की संख्या १,११,९८५ है। बेकारों को दफ्तरों की सहायता से ३१ मार्च १९५६ तक १७८५ व्यक्तियों को काम मिला। बेकारों की इस संख्या में शिक्षित बेकारों की ही संख्या अधिक है।

शिक्षित वर्ग की बेकारी को दूर करने के वर्तमान दोषपूर्ण शिक्षा प्रणाली में आमूल परिवर्तन करना आवश्यक है। व्यावहारिक जीवन से शून्य शिक्षा का बहिष्कार जितनी जल्दी किया जा सके, उतना ही देश के

लिए शुभ एवं कल्याणकारी है। शिक्षा सैद्धान्तिक न होकर पूर्णतः व्यावहारिक होनी चाहिए ताकि स्वालम्बी स्नातक पैदा हो सकें और देश की भावी उन्नति में योग दे सकें, न कि भारस्वरूप बनकर उसकी स्वाभाविक प्रगति में गले में बँधे भारी पत्थर सिद्ध हों। औद्योगिक शिक्षा प्रणाली में शरीर एवं मस्तिष्क का समान संतुलन है, अतः इस प्रकार की शिक्षा हमारे लिये लाभप्रद है।

शिक्षित वर्ग की बेकारी का एकदम से विकराल रूप धारण कर लेने का एक कारण द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के फलस्वरूप अनेक फ़ौजी कामों में लगे व्यक्तियों का बेकार हो जाना है क्योंकि उन्हें कहीं स्थानापन्न करने की गुंज़ायश थी ही नहीं। भारत में औद्योगिक विकास की प्रगति बड़ी ही मंद-गति से हो रही है, यह भी किसी सीमा तक बेकारी फैलाने की उत्तरदायी है। भारत में इंगलैंड की तुलना में केवल ४० पेशे हैं, जब कि वहाँ पर कुल मिलाकर १६०० के आसपास हैं।

वर्तमान बेकारी की विभीषिका को शिक्षा के ही मत्थे मढ़ना एक प्रकार से पूर्ण न्याय का गला घोंटना होगा। यह कहना कि वर्तमान बेकारी का भार अधिकांश रूप में शिक्षित वर्ग पर ही है, सत्य से दूर हट जाना होगा। अभी हमारे देश में शिक्षा का प्रचार हुआ ही कहाँ है। ३५७० लाख की जनसंख्या में साढ़े तीन लाख व्यक्ति ही स्नातक (ग्रैजुयेट) हैं, इस प्रकार हज़ार के पीछे एक व्यक्ति शिक्षित माना जायगा। अतएव 'माँग की अपेक्षा पूर्ति का बहुत अधिक होना' उपरोक्त मत त्रुटिपूर्ण है। सत्य तो यह है कि हमारे देश की कृषि और औद्योगिक प्रगति में अभी इतनी शक्ति नहीं आई कि वह रोजगारी की समस्या को सही रूप में हल कर सके।

हमारे यहाँ की कृषि-प्रणाली अभी वैज्ञानिक नहीं बन पाई, खेत टुकड़ों में बँटे हैं। रासायनिक खाद के अभाव में उनकी उर्वरा शक्ति क्रमशः क्षीण होती जाती है। अतः कृषक-पुत्रों को विवश होकर नौकरी का आश्रय लेना पड़ता है। दस व्यक्तियों के एक कुटुम्ब में खेती के द्वारा केवल आधे व्यक्तियों का ही भरण पोषण हो सकता है, शेष के लिए नौकरी के अति-

रिक्त कोई उपाय ही नहीं है, औद्योगिक शिक्षा के अभाव में, घरेलू उद्योग धंधों से अनभिज्ञ एकमात्र नौकरी ही शेष बचती है।

'व्यावसायिक शिक्षा का अभाव ही शिक्षित वर्ग की बेकारी का कारण है' ऐसा कहना भी न्यायसंगत नहीं ठहरता, क्योंकि इस प्रकार का शिक्षण तो वहीं बेकारी को दूर कर सकता है जहाँ पर कि सुनियोजित औद्योगिक प्रगति हो, इसके अभाव में व्यावसायिक शिक्षण विशेष महत्वपूर्ण सिद्ध नहीं होता।

उपाय :—शिक्षित वर्ग की बेकारी दूर करने के लिए विभिन्न विद्वानों ने अपने मत प्रकट किये हैं। वर्तमान शिक्षा प्रणाली को औद्योगिक शिक्षा प्रणाली में परिवर्तित करने के पक्ष में सभी एक मत हैं। इस समस्या को सुलझाने के लिए कई कमीशनों की स्थापना की गई है। कतिपय विद्वानों का सुझाव है कि उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों में कुटीर उद्योग धंधों एवं हस्त कौशल की शिक्षा अनिवार्य रूप से दी जानी चाहिए ताकि विद्यार्थी शिक्षा समाप्त कर लेने पर स्वतंत्र रूप से अपनी जीविका चला सके। सर्व-पल्ली राधाकृष्णन कमीशन कृषि-शिक्षण के पक्ष में है। वह प्राइमरी, उच्यतर माध्यमिक एवं उच्च शिक्षा, सभी में कृषि-शिक्षण को प्राथमिकता देने का हिमायती है।

ऐसा देखा जाता है कि जिस व्यक्ति का जिस ओर झुकाव होता है, उसके व्यक्तिगत गुणों के विकास के लिए पर्याप्त सुविधाएँ एवं उचित वातावरण नहीं मिल पाता। उपयुक्त परिस्थितियों के अभाव में कुशल इंजीनियरिंग की प्रतिभा वाले व्यक्ति को अध्यापकी करनी पड़ती है, वकील को डाक्टर बनना पड़ता है, चित्रकार, कवि, संगीतज्ञों को विवश होकर पेट-रोटी के लिए अपनी कला से पराङ्मुख हो कोई दूसरा धंधा अपनाना पड़ता है। इस प्रकार की राष्ट्रीय क्षति बहुत ही शोचनीय है। आज के प्रगतिशील सभ्य देशों में मनोविज्ञान के पंडित छात्रों की प्रारंभिक अवस्था से ही व्यक्तिगत रुचि एवं प्रवृत्तियों का अध्ययन करने लगते हैं और जिस ओर उनकी प्रतिभा एवं व्यक्तिगत गुणों का सर्वाधिक विकास संभव हो सकता

है उसी ओर उन्हें जाने की सम्मति देते हैं। यही कारण है कि यहाँ की अपेक्षा वहाँ कहीं अधिक मौलिक विचारक, विज्ञानवेत्ता, अन्वेषक एवं कलाकार पैदा होकर राष्ट्र की प्रतिभा में चार चाँद लगा देते हैं। वैयक्तिक गुणों के पूर्ण विकास के लिए हमें इसी पद्धति को स्वीकार करने में किंचित् हिचकिचाहट न होनी चाहिए। सबको अपनी प्रतिभा का पूर्ण विकास करने के लिए उचित वातावरण मिले, पर्याप्त सुविधाएँ सुलभ हों, ऐसा व्यापक प्रयत्न सरकार को शीघ्र ही करना चाहिए।

अपने यहाँ की प्राकृतिक स्थितियों, परिस्थितियों एवं उलझनों का हल यहीं की मिट्टी-पानी से निकालना श्रेयस्कर होगा। 'गाँवों के देश' भारत की समृद्धि संभवतः नागरिक पाश्चात्य पद्धति से पूर्णतः न हो सके, इसे भी न भूलना होगा, तभी हमारा सर्वांगीण विकास संभव है।

: ६ :

मृत्यु-कर

स्वतंत्र भारत की सरकार को वर्तमान समय में आर्थिक समस्याओं को सुलझाने के लिए अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है। देश के विभाजन एवं जनसंख्या की आशातीत वृद्धि के कारण नए सिर से असंख्य समस्याएँ दिन प्रतिदिन जन्म लेती जा रही हैं। आर्थिक असमानता के कारण धनिक वर्ग निरन्तर और अधिक धनी होता जा रहा है, तथा दरिद्र वर्ग बेकारी एवं बुभुक्षा की आग में जीवित जलता हुआ अपनी जिंदगी की घड़ियाँ पूरी कर रहा है। इन सब अभिशापों को मिटाने के लिए हमारे वर्तमान शासक जागरूक है, यह हर्ष का विषय है। अनेकों प्रकार की योजनाएँ कार्यान्वित की जा रही हैं जिससे लोक सेवा का कार्य सम्पन्न किया जा रहा है एवं दरिद्र वर्ग के जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने तथा उन्हें सब प्रकार की सुविधाएँ प्रदान करने की योजना हो रही है। इन सब कार्यों

के लिए सबसे बड़ी आवश्यकता रुपये की होती है। सरकार अनेकों प्रकार के टैक्स लगाकर आर्थिक असमानता को मिटा रही है। इन करों में मृत्यु-कर का विशिष्ट स्थान है और इस समय इसकी आवश्यकत्ता का अनुभव विशेष रूप से किया जा रहा है।

संसार के लगभग सभी प्रगतिशील देशों में यह कर प्रचलित है। सत्य तो यह है कि आर्थिक असमानता को दूर करने में इससे विशेष प्रोत्साहन मिलता है। ये दो प्रकार के कर होते हैं (१) भू-सम्पत्ति कर (२) मृत्यु-कर। यह कर किसी व्यक्ति विशेष की मृत्यु के पश्चात् उसकी छोड़ी हुई सम्पत्ति के हस्तान्तरण पर लगाया जाता है और मृत व्यक्ति के उत्तराधिकारियों से वसूल किया जाता है। संसार में मृत्यु-कर दोनों ही रूपों में प्रचलित है, परन्तु आधुनिक प्रवृत्ति भूसम्पत्ति कर को अपनाने की ओर विशेष है क्योंकि शासन की दृष्टि से सरल तथा उत्पादक होता है। ऐसे कर को प्रत्यक्ष रूप से मृत व्यक्ति की सम्पत्ति पर लगा दिया जाता है। पृथक-पृथक उत्तराधिकारियों के संबंध तथा उनमें से प्रत्येक को प्राप्त होने वाले भाग के विषय में किसी भी प्रकार की जाँच करना जरूरी नहीं होता।

मृत्यु करों का औचित्य—

(१) यह स्वयंसिद्ध है कि मरने वाले व्यक्ति की संपत्ति पर प्राकृतिक दृष्टि से भी राज्य का सबसे पहले अधिकार है। मरने के बाद किसी भी व्यक्ति का उसकी छोड़ी हुई संपत्ति पर अधिकार नहीं रहता, परन्तु जब वह अपनी इच्छा द्वारा किसी व्यक्ति को अपनी संपत्ति का उत्तराधिकारी बनाता है और सरकार इस अधिकार की रक्षा करती है तो उसे इन सेवाओं का प्रतिदान मृत्यु-कर के रूप में मिलना चाहिए। यदि राज्य न होता तो संभवतः पिता के मरने के पश्चात् उसकी संपत्ति पुत्र को न प्राप्त हो सकती परन्तु राज्य पुत्र के अधिकार को सुरक्षित रखकर उसे लाभ पहुँचाता है और अपनी इस सेवा के बदले में वह मृत्यु कर लेने का अधिकारी है।

(२) कुछ वर्तमान अर्थशास्त्रियों का मत है कि उत्तराधिकारी के रूप में

सम्पत्ति हस्तांतरित करने के पश्चात् उसमें विशेष कर देने की क्षमता आ जाती है, जिनका सरकार लाभ उठाती है।

(३) यह कर अनुत्पादित आय पर लगाया जाता है इसीलिए इसे आधुनिक समाजवादी प्रवृत्तियों के अनुसार अनुचित नहीं कहा जा सकता। उत्तराधिकारी के रूप में प्राप्त होने वाली आय उत्पादित नहीं है वह उसे अनायास ही मिल जाती है और ऐसी आय पर कर लगाना उचित ही है।

(४) ये कर समाज में आय के असमान वितरण को दूर करते हैं और इस प्रकार सामाजिक एवं आर्थिक न्याय की पूर्ण रक्षा करते हैं।

(५) शासन की दृष्टि से मृत्यु करों को अच्छा समझा जाता है। इन करों का लागू करना तथा इनकी दरों का निश्चित करना सरल होता है और इनकी उपेक्षा भी आसानी के साथ नहीं की जा सकती। इसके अतिरिक्त यह कर ऐसी वस्तुओं पर भी लगाया जा सकता है जो साधारणतया कर मुक्त होती हैं यहाँ तक कि मृत व्यक्ति द्वारा छिपाई गयी सम्पत्ति भी इनसे नहीं बच सकती।

दोष —

(१) मृत्यु-कर पूँजी को समाप्त कर देते हैं। उद्योगपतियों का कथन है कि मृत्यु करों को देने के पश्चात् उद्योग में लगाई गई पूँजी में काफी कमी आ जाती है क्योंकि जितनी संपत्ति पहले लगी हुई है उसका एक बड़ा भाग सरकार को दे देना पड़ता है। परन्तु इसका परिहार यह कहकर किया जा सकता है कि सरकार पूँजी का जो भाग लेती है, उसका वह सदुपयोग ही करती है, नए-नए उद्योगों में लगाकर उसकी उत्पादक शक्ति को बढ़ा देती है।

(२) मृत्यु-कर पूँजी के संचय को रोकता है क्योंकि जोड़े हुए धन का अधिकांश भाग इसके रूप में सरकार के पास चला जाता है फलस्वरूप संचय की प्रवृत्ति को आघात पहुँचाता है एवं इससे आर्थिक विकास में बाधा उत्पन्न होती है।

(३) मृत्यु-कर बड़ी-बड़ी उत्पादन इकाइयों को तोड़ देते हैं, जब कोई एक साझेदार मरता है तब उसकी सम्पत्ति का एक भाग सरकार ले लेती है और इस प्रकार व्यवसाय के विकास में बाधा पहुँचती है।

(४) मृत्यु कर परोपकार एवं दान की प्रवृत्ति को रोकते हैं। बहुत से व्यक्ति मरने के पश्चात् अपनी संपत्ति का उपयोग सार्वजनिक कल्याणकारी कार्यों में करने की इच्छा प्रकट करते हैं किन्तु मृत्यु कर के द्वारा उनकी मनोवृत्ति में आघात पहुँचता है।

(५) कहा जाता है कि मृत्यु-कर स्वयं अपने मूल पर कुठाराघात करता है। जितनी ही संपत्ति विशालकाय होगी उतनी ही इन करों के रूप में आय होगी परन्तु निरन्तर ऐसे करों के लगने से बड़ी-बड़ी सम्पत्तियाँ ही समाप्त हो जाती हैं और इस प्रकार अन्ततोगत्वा कर स्वयं अपनी उत्पादकता को नष्ट कर देता है।

निष्कर्ष—पक्ष और विपक्ष पर ध्यान देने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ऐसे कर आर्थिक सामाजिक तथा नैतिक सभी दृष्टिकोणों से उचित प्रतीत होते है। वर्तमान प्रगतिशील युग में ऐसे करों की महत्ता विवाद से परे है। जिसका संबंध अनुत्पादित आय से हो, राष्ट्र के सामाजिक और आर्थिक जीवन के विकास से हो, उसको हम किस प्रकार अनुचित कह सकते हैं। मृत्यु कर एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग का शोषण होने में रुकावट डालता है, और इस प्रकार आर्थिक असमानता को दूर कर समाज में आर्थिक एवं सामाजिक न्याय के आधार पर सुख-शांति तथा समृद्धि पैदा करता है।

: ७ :

भारतवर्ष में सामूहिक योजनाएँ

भारतवर्ष राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त करने के पश्चात् आर्थिक स्वतंत्रता प्राप्त करने की चेष्टा कर रहा है, केन्द्रीय एवं प्रान्तीय दोनों सरकारें

के सहयोग से उसने इस महान् यज्ञ का आरंभ किया है। दरिद्रता एवं बेकारी का दमन करने के लिए तथा आर्थिक विकास को पूर्ण बनाने के लिए समाजवाद, साम्यवाद अथवा अन्य अनेकों उपायों से जो सामूहिक प्रयत्न किये जाते हैं वे सब के सब सामूहिक योजनाओं के अन्तर्गत आते हैं। "है अपना हिन्दुस्तान कहाँ ? वह बसा हमारे गाँवों में" के अनुसार देश की ८२.५ प्रतिशत जनता गाँवों में निवास करती है। अतः एक ग्रामीण क्षेत्रों के सामाजिक, आर्थिक एवं नैतिक विकास के बल पर ही भावी भारत का स्वर्णिम युग निर्भर है। निस्संदेह इन योजनाओं का उद्देश्य भारत के सब साधनों को कार्यान्वित करके उनकी सहायता से एक ऐसे समाज का नए सिरे से निर्माण करना है जो अपनी आत्म-निर्भरता के प्रति पूर्ण रूप से ईमानदार हो। महात्मा गाँधी द्वारा 'सर्वोदय' की स्थापना का मूलाधार इन योजनायों के केन्द्र बिन्दु में स्थित है। गाँधी जी की पुण्य जयन्ती के ही अवसर पर (२ अक्टूबर सन् १९५२) राष्ट्र की शिक्षा, स्वास्थ्य, स्वच्छता, कृषि, सामाजिक तथा आर्थिक उद्देश्यों के पूर्ण विकास के लिए सामूहिक योजनाओं का उद्घाटन किया गया। वर्तमान समय में देश में ३०० सामूहिक योजनाओं को कार्यान्वित किया जा रहा है। यद्यपि ये अभी अपनी प्रयोगावस्था में हैं और कार्य करने की सतत जागरूकता तथा कार्य पद्धति की अपेक्षा रखती हैं, निकट भविष्य में जनता एवं राज्य के सम्मिलित सहयोग से बहुत कुछ सफलता इनके अधिकार में आ जायगी।

१. सामूहिक योजना और कृषि—देश को खाद्य सामग्री में पूर्ण रूप से स्वावलम्बी बनाने के लिए सामूहिक योजनाओं का कृषि क्षेत्र में विस्तार किया जावेगा। इसका उद्देष्य कृषि क्षेत्र में बंजर भूमि को खेती के योग्य बनाना, नहरों, नल-कूपों, कुओं, नदियों झीलों आदि से सिंचाई की व्यवस्था करना है। नवीन कृषि विधि की, उत्तम बीजों की, पशुचिकित्सा की तथा फल और तरकारी उत्पन्न करने की व्यवस्था करना भी इसका मुख्य उद्देश्य है। इस प्रकार की योजनाओं द्वारा देश में फैली व्यापक निर्धनता एवं बेकारी को दूर करने का प्रयत्न किया जा रहा है।

२. सामूहिक योजना और शिक्षा—इसके अन्तर्गत
(१) प्राइमरी शिक्षा की निःशुल्क अनिवार्य व्यवस्था,
(२) हाई स्कूलों और मिडिल स्कूलों की व्यवस्था,
(३) पुस्तकालय, वाचनालय एवं सामाजिक शिक्षा का प्रबंध,
(४) छोटी-छोटी शिक्षा संबंधी फिल्म-प्रदर्शन आदि सम्मिलित हैं।

३. सामूहिक योजना और प्रशिक्षण—इसमें वर्तमान शिल्पियों की कार्यपद्धति को अधिक उपयोगी एवं वैज्ञानिक बनाने के लिए औद्योगिक अध्यापन की व्यवस्था सम्मिलित है। कृषकों, कारीगरों, प्रबन्ध कर्मचारियों, निरीक्षकों, स्वास्थ्य-कार्यकर्ताओं एवं योजनाओं के कार्यवाहक अधिकारियों के प्रशिक्षण की व्यवस्था करना भी इसका उद्देश्य है।

४. सामूहिक योजना और स्वास्थ्य—
(१) स्वच्छता और सार्वजनिक स्वास्थ्य रक्षा की व्यवस्था,
(२) रोगियों के लिए चिकित्सा का प्रबन्ध, अस्पतालों की स्थापना,
(३) गर्भवती स्त्रियों की प्रारंभिक देखभाल और प्रसूति-गृहों का निर्माण।

५. रोज़गार—
(१) मुख्य या सहायक धंधों के रूप में ग्राम उद्योगों और कला कौशल को प्रोत्साहन।
(२) बेकारी दूर करने के लिए बेकारों को छोटे-मोटे काम में लगाना।
(३) हाथ से बनाई हुई वस्तुओं का स्थानीय हाट में ही खपत होने का प्रबंध करना।
(४) नागरिक क्षेत्रों में प्रशिक्षण स्कूलों द्वारा लोगों को काम देना।

६. यातायात एवं संदेशवाहन—
(१) ग्रामीण क्षेत्रों में यातायात के साधनों की उचित व्यवस्था।
(२) सड़क-निर्माण का कार्य।
(३) मोटरों द्वारा परिवाहन को प्रोत्साहन।
(४) डाक व्यवस्था का विकास।

७. सामाजिक कल्याण—

(१) स्थानीय व्यक्तियों के बुद्धि-बल तथा निरीक्षण शक्ति को बढ़ाने के लिए सांस्कृतिक सामग्री जुटाना।

(२) शिक्षा एवं मनोरंजन के लिए भाषण एवं चल चित्रों के प्रदर्शन की व्यवस्था।

(३) सहकारिता एवं सहायक आन्दोलन का संगठन।

(४) देहाती क्षेत्रों में मकान बनाने की अच्छी व सस्ती युक्तियों का प्रचलन एवं कुशल इंजीनियरों द्वारा उपयुक्त मानचित्रों का निर्माण।

योजनाओं के रूप—सरलता के लिए सामूहिक विकास योजना को दो वर्गों में बांटा जा सकता है :—

(१) मूल ग्रामीण सामूहिक योजना—इस रूप की प्रत्येक योजना में लगभग दो लाख व्यक्तियों के तीन सौ गाँव सम्मिलित हैं। इन योजनाओं का मुख्य उद्देश्य कृषि वृद्धि के साथ-साथ जनता के स्वास्थ्य शिक्षा एवं सड़क निर्माण का कार्य होगा। प्रत्येक योजना १०० गाँवों के तीन विभागों में विभाजित होगी।

(२) मिश्रित सामूहिक योजना—इसके अन्तर्गत प्रत्येक योजना में छोटे-छोटे उद्योगों एवं कृषि उन्नति पर ध्यान दिया जायेगा। ग्रामीण क्षेत्रों में नागरिक सुविधाओं की प्राप्ति भी इन योजनाओं का उद्देश्य है। इस प्रकार यह योजना ग्रामीण बनाम नागरिक समुदाय का विकास करने में अभूतपूर्व योग दे सकेगी।

विकास योजनाओं की कार्य प्रणाली—योजना को सफल बनाने के लिए तथा सुविधा के लिए इसे तीन विभागों में बाँट दिया गया है। प्रत्येक विभाग नौ सौ गांवों का होगा। अवशिष्ट दो भाग दूसरे वर्ष कार्य क्षेत्र में लाये जावेंगे, तीसरे वर्ष अनुमानतः तीनों विभागों का कार्य समाप्त हो जावेगा। प्रत्येक योजना पर लगभग ६५ लाख रुपये तीन वर्षों में खर्च होंगे।

योजनाओं की व्यवस्था—इसके लिए एक केन्द्रीय समिति की स्थापना की गयी है। नियोजन समिति के सदस्य ही प्रधान मंत्री के नेतृत्व में इस

केन्द्रीय समिति के सदस्य हैं। योजना की व्यवस्था के लिए केन्द्र के मंत्रियों की एक समिति है जो प्रधान प्रबंधक के नेतृत्व में कुशल व्यक्तियों की राय से योजनाओं को कार्यान्वित करेगी। प्रत्येक राज्य में मुख्य मंत्रियों के नेतृत्व में एक राज्य विकास समिति होगी। प्रत्येक योजना का एक प्रधान है जिसकी सहायता के लिए राज्य सरकारों के विकास विभाग होंगे। इसके अतिरिक्त एक योजनापरामर्श समिति होगी जिसमें विधान सभा के सदस्य तथा प्रतिनिधि जिला परिषद के चेयरमैन, योग्य कार्यकर्त्ता तथा प्रतिनिधि होंगे।

निष्कर्ष—इस प्रकार यदि सामूहिक योजनाओं को सफलता मिली तो आर्थिक स्वतन्त्रता के साथ-साथ महात्मा गाँधी का रामराज्य का स्वप्न भी पूर्ण होगा। जनता की आत्मनिर्भरता तथा पारस्परिक सहयोग से राज्य में बेकारी, दरिद्रता के स्थान पर सुख समृद्धि एवं मानवता का प्रादुर्भाव होगा, राज्य एवं जनता के बीच की खाईं पटेगी।

किसान धरती जोतेगा; बढ़ई, लोहार, उसका हल बनायेंगे; जुलाहे कपड़ा बुनेंगे; स्त्रियाँ घर-घर में चर्खा चलावेंगी; सूत कातेंगी; गाँव वाले स्वयं सफाई की परिभाषा बनायेंगे; बच्चों को शिक्षित एवं आदर्श नागरिक बनने की पूर्ण सुविधा होगी और आवश्यकता पड़ने पर समस्त जनता अपनी रक्षा के लिए एक राष्ट्र के रूप में उठ खड़ी होगी। इस प्रकार की धारणा राम राज्य के सम्बन्ध में बहुत पहले जो बापू ने की थी उस स्वप्न को सत्य में बदलने का श्रेय सामूहिक योजनाओं को ही मिले। ऐसा सोचकर हमें इन योजनाओं को पूर्ण रूप से सफल बनाने की साधना में तन मन से लग जाना चाहिए।

: ८ :

भारत में भिक्षुकों की समस्या

भारत देखने की उत्कट अभिलाषा लेकर जब कोई विदेशी सात समुद्र पार कर यहाँ के धार्मिक क्षेत्रों का पर्यटन करता है तो वाराणसी, पुरी,

प्रयाग, रामेश्वरम् के स्थलों में अन्य विशेषताओं के साथ-साथ उसे एक अन्य विचित्रता भी दिखलाई पड़ती है—वह है 'असंख्य भिक्षु समूह'। भिक्षुओं के दैन्य प्रदर्शन से घृणायुक्त खीझ भरी दया दिखाते हुए वे चार-छै पैसे फेंक देते हैं और एक विद्रूप भरी हँसी से कहने लगते हैं—यह है भिखारियों का भारत, यह है कीड़ों का कारागार, यह है मुसीबतों का महल भारत। विलायत वाले कहते हैं कि हमारे यहाँ भीख माँगने वाले को गोली मार दी जाती है। रूसी तीव्र स्वर में डांटते हुए कहते हैं—जो काम नहीं कर सकते उन्हें खाने का अधिकार नहीं है। किन्तु भारत के लिए क्या कहा जाय? भारत की मिट्टी ही आग और तूफान से न बनकर पानी और परोपकार से बनी है। यहाँ की संस्कृति, यहाँ के धर्मशास्त्र, यहाँ के आचार, सभी वस्तुएँ संसार से निराली हैं। यह बात नहीं कि वे हानिकारक हैं, भद्दी हैं, किन्तु समय की दौड़ में वे पिछड़कर रूढ़ियों की मुलम्मेबाजी से नकली और खोखली दिखाई पड़ती हैं। हमारा देश भारत धर्म सहिष्णु देश है, यहाँ धर्म की आड़ में न मालूम क्या-क्या हो जाता है? धार्मिकता के इस दुराग्रह से बुरे के साथ भले भी पिस जाते हैं। शास्त्र साक्षी हैं कि अपने पूर्वजों का अनुसरण करते हुए भूखे को भोजन, नग्न को कपड़ा, रोगी को औषधि एवं प्यासे को पानी देना ही हमारा पुनीत धर्म है; इसी से हमें अगले जन्म में सुख मिलेगा, परलोक बनेगा, मोक्ष मिलेगा।

हम यह नहीं कहते कि भूखे को दाने के बिना तड़पा-तड़पा कर मार डाला जाये, नग्न को ठिठुराकर मृत्यु को सौंप दिया जाए और इस प्रकार 'आत्मा का अपमान प्रेत और छाया से रति' की जाए। विचारणीय यह है कि दान देते समय हम यह ठहरकर सोच लें कि हमारा दान लेनेवाला पात्र योग्य है या अयोग्य। इस विचार के अभाव में लम्बे-चौड़े स्वस्थ व्यक्ति को आलसी-निकम्मा बनाने के हम उत्तरदायी ठहराए जायँगे और समाज का अभिशाप हमें कभी क्षमा न करेगा। जो वास्तव में सहायता की अपेक्षा रखते हैं, जिनका जीवन संकट में है, उन्हें सब प्रकार की सहायता पहुँचाना

तो प्रत्येक भारतीय का कर्त्तव्य ही नहीं अत्याज्य उत्तरदायित्व भी है। अन्य समस्याओं के साथ जुड़कर भारत की भिक्षु समस्या भी भारतवासियों के लिए चिन्ता का विषय बन गयी है। दुर्भाग्य से इस संक्रामक रोग के शिकार ५० लाख व्यक्ति हैं जिनसे देश को किसी भी प्रकार की आशा-उपलब्धि नहीं हो सकती। यह वर्ग स्वस्थ शरीर में कोढ़ की तरह है। हमारी आज की सामाजिक छीछालेदर में इसकी प्रमुख भूमिका काम कर रही है। कहीं भी जाइये, इस सभा के सदस्यों की उपस्थिति अनिवार्य रूप से होगी। आप बाजार में किसी घनिष्ट मित्र से बात करने में तन्मय हों किन्तु ये भले आदमी बिना किसी शिष्टाचार की चिन्ता किए आपको एक पैसा फेंक देने के लिए विवश कर देंगे। भिक्षु वृत्ति को अपनाने का प्रमुख कारण यह है कि यह पेशा सबसे अधिक सरल और लाभदायक पड़ता है। ये भिक्षुक समस्त कलाओं में निपुण होते हैं; दांवपेंच, गाना-बजाना, नाचकूद सभी कलाओं में ये पारङ्गत होते हैं और किसी न किसी रूप में आपकी सहानुभूति प्राप्त करने की ताक में रहते हैं। ये कई वर्गों में विभाजित होते हैं— (१) निराश्रय (२) गृहहीन वयस्क (३) लंगड़े, लूले, गूँगे और अन्धे (४) धार्मिक साधु सन्यासी (५) कोढ़ी और रोग ग्रस्त (६) भीख माँगने की कला सिखाए गए अबोध बच्चे। (७) व्यावसायिक भिक्षुक (८) हृष्ट-पुष्ट किन्तु काम चोर निकम्मे भिक्षुक।

भारतवर्ष में व्यवसाय के रूप में भिक्षुक-संघ होते हैं जो भिक्षुकों को अपने संघ में आमदनी का $\frac{1}{3}$ भाग देने की शर्त पर भरती कर लेते हैं और उन्हें भीख माँगने तथा लोगों की सहानुभूति प्राप्त करने की चालें सिखलाते हैं। इनका सरदार भिक्षा में मिली रकम का सबसे अधिक भाग लेता है। इनका निवास स्थान मंदिर, मस्जिद या धर्मशालाओं के आसपास होता है। ये भाग्यहीन भिक्षुक गाँवों में पैदा होते हैं और शहरों के टुकड़ों से पलकर गन्दी नालियों में मरते हैं। जब तक वे अपनी रोटी चला पाते हैं तब तक तो वे गाँवों में रहते हैं इसके बाद शहरों को चले आते हैं और एक भिक्षु किसी स्थान से परिचित होने के बाद वहाँ सुविधा देखकर अपने दस साथियों

को और बुला लेता है। इनके समुदायों में अनेक प्रकार के व्यभिचार एवं घृणा को भी शरमा देने वाली घटनाएँ प्रतिदिन घटती रहती हैं। थोड़ा पैसा पा जाने पर अनेकों प्रकार के दुराचार और व्यसनों को ये मुफ्त निमंत्रण देते हैं। गाँवों के कुछ दरिद्र कृषक भी परिस्थिति-वश फसल खराब हो जाने या सूखा पड़ जाने के कारण भिक्षोपजीवी होने को बाध्य हो जाते हैं। किसी-किसी भिक्षुक के पास जीवन भर भीख माँगने की कमाई हजारों रुपयों में आंकी जाती है। इस रहस्य का भंडाफोड़ उसकी मृत्यु के पश्चात् पुलिस द्वारा प्राप्त की गयी रकम से होता है। आए दिन समाचार पत्रों में हमें इस प्रकार की विचित्र खबरें मिलती ही रहती हैं।

यह समस्या निस्संदेह भारत की उन्नति में बाधास्वरूप है। इस (१) धार्मिक अंधविश्वास एवं दुराग्रह का निर्दयता के साथ राज्य द्वारा दमन होना चाहिये। (२) जो जन्मजात अपाहिज हैं उन्हें राज्य सब प्रकार की सुविधा देने का प्रयत्न करे। (३) वेकारी से लोग भीख मांगने को विवश होते हैं। वेकारी दूर होने से यह समस्या भी स्वयं सुलझ जायेगी। इसके लिए वेकार लोगों को अधिक से अधिक काम देकर उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति का प्रयत्न करना चाहिये। (४) शिक्षा का व्यापक प्रचार होने से लोगों को स्वयं इससे घृणा हो जायगी और वे भीख माँगना या भीख देना दोनों ही हानिकारक समझेंगे। इस प्रकार भिक्षुकों को इस व्यवसाय से आय न होने पर वे परिश्रम करने को वाध्य होंगे। नियमों के द्वारा भी इस समस्या को हल किया जा सकता है। भीख लेना या देना दोनों राज्य के द्वारा अपराध घोषित किये जाने पर भी इस प्रथा का लोप हो सकता है, किन्तु इसकी सफलता में इसलिए कुछ सन्देह है कि धर्म प्राण भारतवासियों के हृदयों से कई पीढ़ियों से जमा विश्वास हटाकर एक दूसरी भावना को उत्पन्न कर देना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। हर्ष का विषय है कि भिक्षुओं की बढ़ती हुई विभीषिका को रोकने के लिये सरकार वैधानिक कदम उठा रही है।

: ६ :

ग्रामोत्थान की योजनाएँ

महात्मा गांधी के शब्दों में 'भारत की आत्मा गाँवों में ही निवास करती है।' भारत की अधिकांश जनता का जीवन गाँव में कृषि पर ही निर्भर है। किंतु अशिक्षित होने के कारण जनता का नैतिक व सामाजिक ह्रास होता रहा। स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व ग्रामीण जनता जमींदारों के अत्याचारों और शोषण से पीड़ित रही। उनकी उन्नति व शिक्षा की ओर विशेष ध्यान न दिया गया। लेकिन स्वतंत्रता प्राप्त होने पर हमारे देश के प्रमुख राष्ट्रीय नेताओं ने इस बात की ओर विशेष ध्यान दिया कि अशिक्षित जनता द्वारा राष्ट्र का उत्थान होना असंभव है। क्योंकि अज्ञान ही सब बुराइयों का मूल है। ऐसी स्थिति में ग्रामोत्थान के लिए अनेकों प्रकार की नई-नई योजनाओं का निर्माण हुआ। 'राष्ट्रीय सरकार भी इस कार्य के लिये विशेष रूप से प्रयत्नशील है। जिसके फलस्वरूप भारत के नव-निर्माण के साथ ही साथ भारतीय जनता का वह भाग जो अशिक्षित एवं निराशा की लहरों में थपेड़े खा रहा था, उसके हृदय में एक नवीन चेतना, नया उल्लास एवं हर्ष तथा आत्मनिर्भरता की भावना का प्रादुर्भाव हुआ।

ग्रामों की दशा सुधारने के लिये सर्वप्रथम महात्मा गांधी के नेतृत्व में आत्मनिर्भरता का एक आदर्श उपस्थित किया गया। जिससे ग्रामवासियों को आशातीत लाभ हुआ और उनमें उत्साह तथा आत्म विश्वास जैसी सुंदर भावना का समावेश हुआ। १६३७ में एक ग्राम सुधार विभाग स्थापित किया गया, और प्रत्येक जिले में १० से लेकर १५ तक ग्राम सुधार केन्द्रों की स्थापना हुई। किसानों की क्षमता तथा कार्य कुशलता को बढ़ाने के लिए नई नई शिक्षाओं और कार्यों की योजना बनाई गई। क्योंकि किसानों को कृषि, कृषि इंजीनियरिंग, बाग़बानी, पशुपालन, समाज शिक्षा तथा 'स्वास्थ्य संबंधी' आधुनिक टेकनिकल सहायतायें दुर्लभ थीं। अतः इनकी उपयोगिता में वृद्धि करने तथा देश को समुन्नत बनाने के लिये एक विकास

कमिश्नर नियुक्त किया गया। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात विकास के कार्यक्रम बड़ी तीव्रता के साथ प्रारंभ हुए। ये कार्यक्रम दो भागों में विभाजित थे। प्रथम सरकार द्वारा निर्मित किये जाते थे, इनको विभागीय कार्यक्रम कहा जाता था। दूसरे प्रकार के कार्यक्रम का निर्माण जनता द्वारा ही होता था, इस प्रकार के कार्यक्रम को जन कार्यक्रम कहते हैं। ग्रामीणों के पूर्ण सहयोग द्वारा दोनों कार्यक्रमों में आश्चर्य जनक प्रगति एवं सफलता प्राप्त हुई। इसी लक्ष्य की पूर्त्ति के लिये उत्तर प्रदेश की सरकार ने १६४८ में इटावा में अग्रगामी विकास योजना की नींव डाली। कार्य में सहायता प्रदान करने के लिये ग्राम्य सहकारिता और प्रशासन संबंधी कुछ चुने हुए भारतीय विशेषज्ञ भी नियुक्त किये गये।

इस विकास योजना का मुख्य उद्देश्य ग्रामीणों को स्वावलंबी बनने की शिक्षा देना था। साथ ही आधुनिक यंत्रों द्वारा कृषि संचालन, व आर्थिक न्यूनताओं को दूर कर किसानों को कृषि तथा पशुपालन एवं स्वास्थ्य वृद्धि के नियमों में दक्ष बनाना था, जिससे वे शिक्षित हो सकें और अपने देश की आर्थिक स्थितियों को सुधार कर संपन्न बनाने में समर्थ हो सकें। इस प्रकार ग्रामीण संगठन ने एक आदर्श योजना का रूप धारण कर अपनी सफलता को प्रस्तुत करते हुए इस बात को प्रमाणित कर दिखाया कि वे किसी नये विचार को ग्रहण करने के सर्वथा योग्य हैं। इस नये एवं अद्भुत प्रोत्साहन से ग्रामीणों का संकुचित दृष्टिकोण व्यापक बन गया। फलतः कृषि के कामों में उनकी रुचि बढ़ती गई और उत्पादन में विशेष वृद्धि होने लगी।

देवरिया और गोरखपुर आदि स्थानों में भी इस योजना ने प्रशंसनीय कार्य किये। अन्य देशवासियों ने भी इनकी सराहना की। विशेषतया अमरीका की सरकार इस योजना से प्रभावित होकर भारत सरकार को टेक्निकल सहायता देने के लिए तैय्यार हो गई और देश में ५५ सामुदायिक योजनाएँ आरम्भ करने के लिये ५ करोड़ डालर की सहायता देना भी सहर्ष स्वीकार किया।

इन सामुदायिक योजनाओं का प्रमुख लक्ष्य ग्रामीणों की सामाजिक

एवं आर्थिक विकास करना ही था। साथ ही रचनात्मक कार्यों की ओर ग्रामीणों की रुचि उत्पन्न करना था। इस प्रकार योजना में जो कार्य क्रम बनाया गया उसके अंतर्गत ग्राम्य जीवन के प्रत्येक अंग के विकास का समुचित ध्यान रक्खा गया। अज्ञानता, बेकारी और अंधविश्वास को दूर करने के लिये भिन्न-भिन्न कार्यों की व्यवस्था की गई। इनमें प्रमुख कार्य ये हैं—शिक्षा, समाज शिक्षा, कृषि, सिंचाई, पशुपालन, जनस्वास्थ्य, यातायात, कुटीर-उद्योग-धन्धे आदि। इस प्रकार इस योजना की सहायता से हमारी अन्न के अभाव की समस्या दूर हुई क्योंकि बहुधा अन्न विदेशों से ही मंगाना पड़ता था, जिसमें बहुत सा रुपया व्यय हो जाता था। इस योजना में कृषि को ही प्रधानता दी गई; फलस्वरूप बहुत सी बंजर भूमि भी उपजाऊ बन गई। फल, तरकारी, इत्यादि उत्पन्न करने के लिये, रसायनिक खादों का प्रयोग आरंभ हुआ। किसानों ने खेती के नवीन आविष्कारों में विशेष दक्षता प्राप्त कर ली।

कृषि को उन्नत बनाने के लिये अनेकों प्रकार की सिंचाई की सुविधाएँ भी प्रदान की गईं, जिससे खेती केवल वर्षा पर ही निर्भर न रहे। सिंचाई के लिये कुआँ, तालाब, नहरों के अतिरिक्त नदियों तथा झीलों के उपयोग भी सम्मिलित किये गये। पशुओं की नस्ल सुधारने के लिये चिकित्सालयों का प्रबन्ध किया गया, क्योंकि खेती का सारा कार्य-भार इन पशुओं के सबल कंधों पर ही निर्भर है। यदि पशु ही स्वस्थ एवं सबल न हों तो खेती करना असम्भव है। पशुओं के अतिरिक्त जनता को भी संक्रामक बीमारियों से बचाने के लिये, एलोपैथिक, होम्योपैथिक औषधालयों की व्यवस्था की गई है। प्रसूतिका गृह स्थापित करने तथा शिशु कल्याण और सफ़ाई के साधनों की व्यवस्था में भी प्रगति हो रही है। यातायात की सुविधा के लिये सड़कों का निर्माण हो रहा है जो एक गाँव को दूसरे गाँव के निकट लाने में तथा गाँवों के आर्थिक विकास में विशेष रूप से सहायक सिद्ध होंगी। आर्थिक स्थिति को सम्पन्न बनाने के लिये स्थानीय कला-कौशल, उद्योग-धन्धों को पुनर्जीवन प्रदान किया जा रहा है, जिससे

किसान अपने अवकाश के समय को भी कार्यों में प्रयुक्त कर धनोपार्जन कर सकें।

अशिक्षित जनता को शिक्षित बनाने के लिये तथा प्रारंभिक शिक्षा की व्यवस्था करने के लिए हाई स्कूल, मिडिल स्कूलों, एवं प्रौढ़ पाठशालाओं की स्थापना हुई; जिसके अंतर्गत, समाज शिक्षा, प्रौढ़ शिक्षा, स्वास्थ्य रक्षा और सफाई आदि के नियम सम्मिलित किये गये। इसके अतिरिक्त खेल-कूद, आमोद-प्रमोद आदि अन्य मनोरंजन के साधनों को भी शिक्षा का विषय बनाया गया।

इस प्रकार सार्वजनिक हित के कार्यों की पूर्त्ति के लिये सहकारिता और आत्म सहयोग आंदोलन के संगठन की भी व्यवस्था विकास योजना के आधीन निर्मित की गई।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् हमारी राष्ट्रीय सरकार विदेशों से मैत्री स्थापित करने और विश्वशांति के लिये भी भरसक प्रयत्नशील है। १६५४ में चीन और तिब्बत की संधि स्वीकार करते हुए पंचशील की महत्ता स्वीकार की गई। भारत, चीन, सोवियट रूस, इन्डोनेशिया, यूगोस्लाविया आदि राष्ट्रों ने भी इन्हीं सिद्धान्तों को मान्यता दी। इस प्रकार भारत विश्वशांति एवं अहिंसा के अग्रदूत के रूप में अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्रों में भी अग्रगण्य रहा। अंतर्राष्ट्रीय सभाओं में सभी राष्ट्रों ने उसे मान्यता प्रदान की तथा आदर-पूर्वक उसकी बातों को सुना।

किन्तु उपर्युक्त समस्याओं के हल हो जाने पर भी अभी हमारी सभी समस्याओं का समाधान नहीं हो सका है, क्योंकि भारत एक विशाल देश है। अतः देश को समृद्ध बनाना तथा उसकी ३५ करोड़ जनता के जीवन स्तर को ऊँचा बनाना सुगम कार्य नहीं है। भारत सरकार भारतीय नागरिकों के जीवन को उन्नत बनाने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील है। आशा की जाती है कि भविष्य में भारत उन्नत के उच्च शिखर पर आसीन होगा क्योंकि इतने थोड़े समय में उसने अपनी अधिकांश समस्याओं को सफलता के साथ हल कर लिया है।

: १० :

विपत्तिग्रस्त मध्यम वर्ग

हमारे भारत में तीन वर्ग के व्यक्ति निवास करते हैं—

(१) उच्च वर्ग—राजा महाराजा, मिल मालिक, पूँजीपति एवं सामन्तवादी।

(२) **मध्यम वर्ग**—लेखनी और मस्तिष्क को लेकर काठ की कुर्सी पर जूझने वाले दयनीय बाबू लोग, वकील, डाक्टर, आदर्शवादी अध्यापक एवं व्यर्थ के प्रदर्शन में (स्टैंडर्ड मेन्टेन करने वाले) स्वास्थ्य धन आदि से खोखले साहब लोग। सम्पादक, कवि, नाटककार, अभिनेता, कलाकार, विचारक एवं समाज सुधारक।

(३) **निम्न वर्ग**—खेतों, मिलों, फैक्टरियों में काम करनेवाले मजदूर, शारीरिक परिश्रम पर जीनेवाला सर्वहारा वर्ग। शिक्षा, ज्ञान, सभ्यता, संस्कृति आदि सबसे शून्य केवल रोटी को ही ईश्वर मानने वाले पुच्छ विषाणहीन पशु।

उच्चवर्ग के लोगों को तो रोटी पानी की चिन्ता नहीं है, वे लोग तो दोनों हाथों में सोने के लड्डू लिए आते हैं और मरते समय भी रुपये पैसे लुटवाते हुए चले जाते हैं। निम्नवर्ग के लोग आधे पेट खाकर अपने भाग्य को कोसते हुए सन्तोष करके ही सो जाते हैं। 'सबसे भले विमूढ़ जिन्हें न व्यापै जगत गति' के अनुसार शिक्षा एवं वर्तमान ज्ञान-विज्ञान की सुविधाओं से कोरे होने के कारण वे केवल रोटी की ही फिक्र करते हैं। मर्यादा या लोक-लाज किस चिड़िया का नाम है, इससे अपरिचित होने के कारण हम भले मानुसों से वे खूब मजे में हैं। न तो उन्हें उजले कपड़ों की आवश्यकता पड़ती है और न अपने स्तर को सुरक्षित रखने के लिए व्यर्थ लोकलाज के बखेड़ों की। फटे-पुराने कपड़े चिपकाए एक निम्न वर्ग के परिवार के छोटे-बड़े स्त्री-पुरुष सुबह काम पर निकल जाते हैं और शाम तक प्रत्येक अपने खाने भर को ले ही आते हैं, अगले दिन की चिन्ता में वे दुबले नहीं होते।

रूखा-सूखा खाकर ठण्डा पानी पीते हैं और वेफिक्री से पैर पसारकर गाते हैं—

"तुम को मुबारक हों ऊँचे महल, हमको है प्यारी हमारी कुटिया", किन्तु बेचारे मध्यम वर्ग के व्यक्ति दो पाटों के बीच में गेहूँ की तरह पिस रहे हैं। उन्हें अपने बच्चों को शिक्षा भी दिलानी है, समाज में प्रतिष्ठा पाने के लिए व्यर्थ के प्रदर्शन भी करने हैं। उच्चवर्ग में थोड़ा स्थान पाने के लिए अपने को सजाना सँवारना भी है, निम्नवर्ग से बड़ा बनने के लिए साहबी बू भी उत्पन्न करती है किन्तु भीतरी शक्ति से शून्य होने पर मुलम्मेबाजी कब तक काम दे सकती है और इसी मुलम्मेबाजी से अनेकों समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं। सामाजिक रूढ़ियाँ, मृतक भोज, दहेज आदि प्रथाओं के निर्मम आघात से इस वर्ग की हड्डी-पसली चकनाचूर हुई जा रही है। यहीं पर इस बात की भी याद दिला देना अच्छा होगा कि समाज एवं युग के परिवर्तक प्रायः मध्यमवर्ग से ही प्रसूत व्यक्ति हुए हैं, यदि विश्वास न हो तो इतिहास से पूँछ देखिए। कला, धर्म, संस्कृति, साधना, शिष्टाचार एवं ज्ञान-विज्ञान के खोजी एवं प्रतिष्ठाता प्रायः मध्यमवर्ग के ही महान् मनस्वी रहे हैं। निम्नवर्ग में तो इतना दम नहीं और उच्चवर्ग वालों को इन सब व्यर्थ की बातों से क्या संबंध, उन सभों का तो संसार ही धरती से उठा हुआ किसी दूसरे लोक में स्थित है। बच रहा मध्यमवर्ग, मध्यम होने के कारण सम्पूर्ण उत्तरदायित्वों को इन्हें ही निभाना पड़ता है। मध्यमर्ग का विपत्ति ग्रस्त होने का अर्थ है—

(१) कला संस्कृति एवं ज्ञान-विज्ञान को सन्निपात।

(२) सभ्यता शिष्टाचार एवं समाज सुधार की भावना को यक्ष्मा।

(३) समाज की रीढ़ का टूटना।

सच पूँछा जाय तो इस संक्रामक रोग के पैदा करने वाले थे गौरांग महाप्रभु, इस श्रेणी विभाजन का सारा दोष मैकाले के इस स्वप्न के सिर मढ़ा जा सकता है कि 'अँग्रेजी पढ़े लिखे, अच्छे क्लर्क पैदा होंगे।' अँग्रेजी ढाँचे में ही उल्टे-सीधे कसे हुए ये बाबू लोग निरन्तर अपने मालिकों (My Lords)

की देखा देखी व्यर्थ की आवश्यकताओं को बढ़ाकर अनेक रोगों के शिकार होते गए। ये बेचारे उन गूंगे व्यक्तियों के समान हैं जिन्हें नंगा कर के अच्छी तरह से जी भर पीटा जाय किन्तु रोने-चिल्लाने की मनाही कर दी जाय, यही नहीं मुँह में कपड़े भी ठूँस दिए जायँ जिससे कि साँस भी न ले सके और घुट-घुट कर मरते हुए अपने आपको स्वयं मृत्यु को सौंप दें। आए दिन बेकारी के शिकार मध्यमवर्ग के ही अधकचरे व्यक्ति हैं। विश्वविद्यालय प्रत्येक वर्ष हजारों की संख्या में अकर्मण्य स्नातक उत्पन्न करते जा रहे हैं और इस प्रकार वे जीते जी मृत्यु की यंत्रणा में जल रहे हैं। गत महायुद्ध ने इस वर्ग को कुछ दिन तक सुखद स्वप्न में डुबा रक्खा था, मध्यमवर्ग के प्रायः सभी व्यक्तियों को कुछ न कुछ काम मिल गया था। बहती गंगा में हाथ धोने वाले इन लोगों ने भी जी भर मौजें उछालीं। ऊलूल-जलूल आवश्यकताओं को बढ़ावा दिया। स्वप्न ढलते देर न लगी, कटु सत्य सामने आया, युद्ध समाप्त हुआ, किन्तु साथ ही मँहगाई, बेकारी एवं मुद्रासंकोचन के रोग छोड़ गया और आज भी यह वर्ग इन सब से उलझा हुआ अपने भाग्य को कोस रहा है। समय ने जो सुख ऋण के रूप में दिया था उसने उसे ब्याज समेत लौटा लिया। देश विभाजन के द्वारा भी इस वर्ग को गहरा आघात पहुँचा। बहुत से व्यक्ति घर-बार से हीन हो गए। उन्हें दाने-दाने को मुहताज़ हो जाना पड़ा, उनका व्यवसाय छिना, घर बार छिने, गाँव, देश, जन्मभूमि छिनी, उनकी प्यारी पद मर्यादा छिनी। हाय वे बेचारे कहीं के न रहे!

हमें यह न भुला देना चाहिए कि यह वर्ग समाज रूपी शरीर के लिए रीढ़ की हड्डी के समान है जिस पर समाज का ढाँचा खड़ा है। इसमें किसी प्रकार के विकार उत्पन्न होने के अर्थ हैं—समाज का रुग्ण एवं विशृंखल होना, समाज की सभ्यता एवं समृद्धि तथा शांति का स्वप्न होना। यदि इस वर्ग की रक्षा ठीक समय में नहीं होती तो समाज के कर्णधार कान खोलकर सुन लें, भरी दोपहरी में ही हमारे सौभाग्य का सूरज सदा-सदा के लिए अस्त हो जाएगा।

इस रोग को दूर करने के लिए समाज सुधारकों ने अनेकों उपाय बताए

हैं। कुछ समाजशास्त्रियों का कहना है कि इनकी बेकारी पूर्णरूप में दूर कर दी जाय। कुछ की सम्मति है कि इनकी आय में आर्थिक वृद्धि न करके इतना बढ़ाया जाय कि जिससे वे अपनी समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति सुविधा के साथ कर सकें। सहायक समितियाँ इस मध्यमश्रेणी की सहायता करके पुण्य की भागी हो सकती हैं। दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति वाली वस्तुओं के भाव कंट्रोल के द्वारा स्थिर कर दिये जायँ।

कुछ लोगों की राय है कि सरकार इस वर्ग के साथ कर-निर्धारण की नीति में आवश्यक नरमी का वर्ताव करे जिससे कि कर का बोझ इन पर कम से कम पड़े।

संक्षेप में इनका सुधार निम्नलिखित उपायों से भी किया जा सकता है—

(१) इस वर्ग के लोगों को अधिक से अधिक स्वावलम्बी बनाया जाय।

(२) व्यर्थ की झूठी सामाजिक प्रतिष्ठा से संक्रामक रोग से इनकी रक्षा की जाय।

(३) उन्हें बौद्धिक एवं शारीरिक परिश्रम में समान भाग लेने को बाध्य किया जाय।

(४) सामाजिक अन्धविश्वास एवं रूढ़ियों से उद्धार हो।

(५) इनमें जीवन युद्ध के भीषण संघर्ष में लगन के साथ अडिग रहने की भावना पैदा की जाय।

हमें यह सदा याद रखना चाहिये कि यह वह वर्ग है जो हमारी (समाज की) शारीरिक, सांस्कृतिक, आध्यात्मिक भूख मिटाता है, केवल रोटी का मिल जाना ही अंतिम लक्ष्य नहीं है, पशु भी किसी न किसी प्रकार अपनी भूख मिटा लेते हैं। सबसे बड़ा लक्ष्य है—आध्यात्मिक बुभुक्षा की तुष्टि जो एक मात्र काम्य है, एक मात्र अंतिम लक्ष्य है और इस भूख के मिटाने वाले हैं, मध्यम श्रेणी के यशस्वी, मनस्वी मानवता के पुजारी नौनिहाल। इनकी रक्षा होनी चाहिये नहीं तो फिर—

तब पछताए होत का, जब चिड़ियाँ चुग गईं खेत।

: ११ :

भारत की आर्थिक उन्नति में कलों का महत्व

भारत की आर्थिक उन्नति में कलों की उपयोगिता स्वीकार करने के दो विरोधी मत साथ-साथ चल रहे हैं। कुटीर उद्योग-धन्धों के हिमायती एवं गान्धीवाद के पोषक इसे एक दम अनुपयोगी मानते हैं। वे यहाँ तक कहने को तैयार है कि वर्तमान भारत की दरिद्रता और बेकारी का कारण कलों को अपेक्षाकृत अधिक महत्व देना ही है। व्यवसाय तथा उत्पादन के साधनों का केन्द्रीकरण हो जाने से छोटे-मोटे उद्योग-धन्धों से अपनी जीविका चलाने वाले सहस्त्रों लाखों व्यक्तियों का बेकार हो जाना अवश्यंभावी है। दूसरे मत के समर्थक पाश्चात्य सभ्यता के औद्योगिक उन्नति की स्पर्द्धा करने को प्रस्तुत है। वे चाहते हैं कि कलों के द्वारा अन्य राष्ट्रों का आर्थिक उन्नति के सहयोग से जिस प्रकार जीवन-स्तर ऊँचा उठ रहा है उसी प्रकार भारत का भी जीवन-स्तर ऊँचा उठे। उद्योग धन्धों में हमारा भारत किसी दूसरे देश पर आश्रित न रहकर स्वावलम्बी बने। उद्योगधन्धों के केन्द्रीकरण के बिना देश की आर्थिक उन्नति होना असम्भव है। वर्तमान विज्ञान के युग में कौन व्यक्ति ऐसा कहने का दुस्साहस करेगा कि कलों का महत्व हानिकारक है। हमारा भारत कृषि प्रधान देश अवश्य है किन्तु कलों के समुचित उपयोग के बिना कितना ही कच्चा माल बाहर के देशों में चला जाता है और पक्के माल में बदल कर कई गुना मूल्य वसूल करता है, इससे राष्ट्र के धन और शक्ति का भी ह्रास होता है। यहाँ पर एक बात और भी ध्यान देने योग्य है कि यदि दूसरे देश कच्चे माल को लेना अस्वीकार कर दें तो उस विपिन्नस्थिति में हम कहीं के भी न रहेंगे। उस समय कलों के महत्व का अपमान करना मानो आलस्य, बेकारी, अकर्मण्यता, दासता एवं दरिद्रता को दावत देना होगा।

कलों के सहयोग से कच्चे माल का मूल्य वस्तु के रूप में बदल जाने पर कई गुना अधिक बढ़ जाता है। कच्चे माल को विदेशों में भेजने से राष्ट्रीय धन की भयङ्कर हानि होती है। हमारा सारा धन विदेशी पूंजीपतियों की

अलमारियों में चला जाता है। कलों की स्थापना से सारा देश का धन देश के पूँजीपतियों के ही हाथों में रहेगा जो पहले से कहीं अधिक सन्तोषप्रद एवं लाभदायक है। यह ध्यान रखना चाहिए कि देश में सेनाओं एवं आत्म-रक्षा के साधनों का विस्तार राष्ट्रीय धन पर ही शत प्रतिशत निर्भर है। कलों की उपेक्षा करने वाले राष्ट्र भविष्य में शोषण के शिकार होते हैं। कालान्तर में उन्हें शक्तिशाली राष्ट्रों का प्रभुत्व स्वीकार कर पराधीन होना पड़ता है। वर्तमान युग के संसार व्यापी राजनीतिक उत्पातों के मूल में कलों का असन्तुलित प्रयोग ही काम कर रहा है।

प्रमुख राजनीतिज्ञों एवं अर्थशास्त्रियों का कथन है कि आर्थिक स्वतंत्रता के बल पर राष्ट्रीय स्वतंत्रता की इमारत खड़ी रहती है। प्राकृतिक पदार्थों का वितरण भी सब राष्ट्रों में असमान पाया जाता है, किसी देश में कोयले की अधिकता है तो कहीं लोहे की, कहीं मिट्टी का तेल या पेट्रोल पैदा होता है तो कहीं गेहूँ या चावल, इसीलिए छोटी सी वस्तु के लिए भी एक राष्ट्र को दूसरे राष्ट्र के ऊपर निर्भर रहना पड़ता है। आश्चर्य होता है कि लोहे की वस्तुओं के निर्माण करने वाले उन्नतिशील राष्ट्रों को लोहे के लिए दूसरे देशों का मुंह ताकना पड़ता है, इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि राष्ट्र आर्थिक आत्मनिर्भरता के सिद्धांत पर चले। प्रतिदिन की वस्तुओं के लिए स्वयं स्वावलम्बी बने। प्राचीन काल में जबकि यातायात के साधन सुलभ न थे, लोगों की आवश्यकता बहुत सीमित थी प्रत्येक गाँव स्वतः एक आर्थिक इकाई होता था। लोहार, चमार, जुलाहे, नाई, धोबी, कृषक एक दूसरे के पारस्परिक सहयोग से अपनी समस्त आवश्यकताओं को पूरा कर लेते थे, किंतु समय बदला, कालान्तर में कलों के आविष्कार ने उत्पादन शक्ति में अत्यधिक क्षमता ला दी, सुन्दर एवं सस्ती होने के कारण उनका प्रचार भी खूब बढ़ गया। फलस्वरूप राष्ट्रीय कला-कौशल एवं कुटीर उद्योगों को आघात पहुँचा और हमें प्रतिदिन की आवश्यकता की वस्तुओं के लिए विदेशों पर निर्भर रहना पड़ा। यहाँ तक कि दाढ़ी बनाने वाले ब्लेड से लेकर खाने की छूरी, चम्मच के लिए भी हम विदेशों का मुँह टुकुर-टुकुर ताकते

रहे। इस प्रकार यह स्वतः सिद्ध हो जाता है कि भारत की आर्थिक उन्नति एवं स्वतंत्रता में कलों का कितना महत्त्वपूर्ण योग है। प्रत्येक वस्तु के दो पक्ष होते हैं, लाभ और हानि। कलों का महत्त्व हानि से सर्वथा शून्य नहीं है। यह कहा जाता है कि कलों के द्वारा उत्पादन की व्यवस्था करने से सहस्त्रों मनुष्य अपने उद्योग-धन्धों एवं कामों से वंचित हो जाते हैं, इससे राष्ट्र की आर्थिक शक्ति का ह्रास होता है। कलों की प्रतिद्वंद्विता में हाथ की बनी हुई वस्तुएँ कब तक टिक सकती हैं? निर्धनों और बेकारों में दिन प्रतिदिन दरिद्रता बढ़ती जाती है और इस प्रकार राष्ट्रीय शक्ति का भी दुरुपयोग होता है। उद्योग-धंधों का केन्द्रीकरण करने से उसमें भी अनेकों उलझनें उठ खड़ी होती है। एटम बम के इस युग में उद्योग-धंधों के असंख्य केन्द्रों को चुटकियों में नष्ट किया जा सकता है। उदाहरण गवाही दे रहा है कि अपने घरेलू उद्योग-धंधों के बल पर ही चीन पाँच वर्ष तक जापान की भीषण बमवर्षा होने पर भी सुरक्षित रहा।

समन्वय का मार्ग सदा सुखकर रहा है। क्यों न हम कलों का समन्वय घरेलू उद्योग-धंधों में कर लें। केन्द्रीभूत उद्योग-धन्धों के साथ घरेलू उद्योग धंधों का समन्वय कर लिया जाय। अधिक से अधिक मनुष्यों को काम दिलाने की दृष्टि से काम के घंटे कम किये जायँ। सौभाग्य का विषय है कि भारतवर्ष के पूँजीपति भी साहस करके उद्योग-धंधों के संग में उतरे हैं और आर्थिक स्वार्थों की परवाह न करते हुए राज्य की स्वार्थी नीति का सामना करते हुए अडिग रहे हैं। कानपुर, अहमदाबाद, बम्बई, टाटानगर आदि जैसे औद्योगिक नगर इसके प्रमाण स्वरूप हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट प्रमाणित हो जाता है कि आज के वैज्ञानिक युग में कलों की उपयोगिता राष्ट्र की आर्थिक शक्ति को सुदृढ़ बनाने के लिए एक शक्तिशाली माध्यम है। देश की आर्थिक उन्नति के शरीर में कलों का स्थान रीढ़ की तरह है, इसी के बल पर राष्ट्र की सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था एवं शक्ति टिकी हुई है। कलों का महत्व आर्थिक उन्नति के क्षेत्र में अक्षुण्ण है, निर्विवाद है, सर्वथा महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी है।

: १२ :

नारी जागरण पर एक दृष्टि

बीसवीं शदी क्रान्ति का संदेश लेकर आयी है। धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक सभी क्षेत्रों में क्रान्ति का तीव्र स्वर व्याप्त है। इस चतुर्मुखी जाग्रति के बीच नारी जागरण की चर्चा होना स्वाभाविक ही है। शताब्दियों से पददलित, शोषित एवं विष के घूँट पीने वाली नारी ने एक जबरदस्त अँगड़ाई ली है जिससे उसकी पराधीनता की कड़ियों के कुछ जोड़ चटख चटख कर टूट गए हैं, वह अन्यायी पुरुषों की ओर एक क्रोध एवं विद्रूप भरी दृष्टि फेंकते हुए तीव्र गति के साथ अपने पथ पर प्रगतिशील है। श्री बेनीपुरी की आवाज में उसे यों कह लीजिए—

नई नारी, हाँ नई नारी,
देखो वह अन्तरिक्ष पर अवतीर्ण हुई है नई नारी।
घूँघट को जिसने उलट दिया है, परदे को जिसने फाड़ फेंका है,
प्राचीरों को जिसने ध्वस्त पस्त कर डाला है, बंधनों को जो चूर-चूर कर चुकी है,

देखो, नई नारी वह खड़ी है।
नई नारी वह खड़ी है, पुरुषों से अपनी जगह मांगती हुई।
समाज से न्याय वसूल करती हुई, संसार को चुनौती देती हुई—
'आज तक मुझसे आँखें लड़ाया किये।
अब आओ मुझसे हाथ मिलाओ—
देखो, वह नई नारी सामने अन्तरिक्ष पर, जगमग कर रही है।

किन्तु यदि विवेकपूर्ण दृष्टि से देखा जाय तो वह जगमग-जगमग न होकर एक कुहासे का रूप बिखेर रही है। वह जागने का अभिनय कर रही है, ऊपर से तो वह जग गयी है किन्तु आन्तरिक निद्रा का मोह उसने अब भी नहीं छोड़ा, पतन की ओर ले जाने वाली उसकी कतिपय कमजोरियाँ

अब भी कमसिन और युवा हैं। यद्यपि वह स्वत्व एवं स्वाभिमान की बात करने में किसी तरह की झिझक एवं लज्जा का अनुभव नहीं करती, अपने अधिकारों को पुरुषवर्ग से ब्याज समेत लौटा लेने की धुन में तत्परता के साथ अड़ी है किन्तु इन सब विशेषताओं के होते हुए भी उसके अंदर एक ऐसी दुर्बलता छिपी हुई है जिसे वह लाख प्रयत्न करने पर भी नहीं जीत पाती और उस मोह के चरणों में अपनी समस्त जाग्रति न्यौछावर कर देती है। वह तितलियों की तरह अपने पंख रंगकर, कपोलों में मेंहदी का त्यौहार रचाए वाह्य त्वचा के कृत्रिम सौंदर्य को सुरक्षित करने के कृत्रिम प्रयत्न में सिर से पैर तक डूबी हुई है। वह अपने को असंख्य मुद्राओं में मनुष्य की वासना-भरी आँखों में क्रम-क्रम से बिठा कर देखने का मोह अब भी नहीं छोड़ पा रही है। इस पथभ्रष्ट बहकी हुई प्रवृत्ति के मूल में उसकी युगों-युगों की दासता एवं दुर्बलता अब भी सुरक्षित है।

घर की चहारदीवारी के अन्दर घुट-घुट कर जीने वाली अशिक्षित घूँघट की गुड़िया को देखिये। ऊपर से नीचे तक बोझीले गहनों में मढ़ी, आँख, कान, नाक आदि को बेढंगे भद्दे तरीकों से सजाए एवं छिपाए पुरुषों के लिए एक खिलौना बनी हुई है। उसके सी-सी करने में सुधा की सीसी ढरक जाती है। दूसरी ओर अप्टूडेट उच्च शिक्षा प्राप्त नई नारी को देखिये—

ललाट पर बिजली कौंधती है, आँखों से विद्युत धाराएँ निकल रही हैं
भुजाएँ विद्युत मालाएँ हैं, अंगुलियाँ विद्युत-शलाकाएँ
प्रशस्त उन्नत वक्षस्थल, बिजलियों का केन्द्रस्थल !

अनेक प्रकार के कृत्रिम साधनों से अपने को सब प्रकार से सजाए सँवारे, बनावट के ही मसाले से जिसका निर्माण हुआ है, चेहरे पर पाउडर, ओठों में लिपिस्टिक, नाखूनों में पालिश, बालों में दो नागिनियाँ पाले, वैनिटी बैग हिलाते शत सहस्र बिजलियों को शरमाती हुई यह नयी नारी है, जागरूक, सजग, जागरण की प्रतिमा, क्रांति की अग्रदूत। इन दो रूपों में एक विभिन्नता अवश्य है, नये युग की नारी निर्भीक एवं साहसी होने के कारण

प्राचीन युग की नारी से वरेण्य है। सामाजिक एवं राजनीतिक कार्यों में भाग लेने वाली, राष्ट्र के पुनर्निर्माण में योगदान देने वाली आधुनिक नारी की हम मुक्त कंठ से प्रशंसा करते हैं। उसमें कम से कम इतना साहस तो अवश्य है कि अपने ऊपर डोरे डालने वाले की चप्पलों से अच्छी-खासी हजामत बना सके। किन्तु इतना होते हुए भी सबसे बड़ी दुर्बलता जिस पर वह अब तक भी विजय नहीं पा सकी है और प्राचीन नारी की तरह बल्कि उससे भी दो कदम पीछे चली गयी है वह है पुरुषों को मोहने के लिए अपने आपको सजाने-सँवारने की प्रवृत्ति। पुरुष स्त्री को और स्त्री पुरुष को अपनी ओर आकृष्ट करने की प्रवृत्ति स्वभाव से ही लिये है किन्तु इसकी भी एक सीमा है जिसका अतिक्रमण करने से सौंदर्य का मापदण्ड बिगड़ता है। कृत्रिम साधनों द्वारा स्वाभाविक सौंदर्य को आच्छन्न कर देने में सौंदर्य वृत्ति समझने की भूल को प्रश्रय मिलता है। बाहरी सौंदर्य प्रसाधनों में निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं, कृत्रिम शृंगार के ढंग सदैव बदलते रहते हैं, वस्त्राभूषणों के नए-नए डिजायनों का निर्माण होता रहता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि पुरुष को आकर्षित करने की जो प्रवृत्ति प्राचीन युग की नारी में थी वही समान अंशों में या उससे भी बढ़कर नयी नारी में भी है। नारी समस्याओं की लेखिका श्री प्रेमकुमारी दिवाकर का कथन है कि 'आधुनिक नारी ने निस्संदेह बहुत कुछ प्राप्त किया है पर सब कुछ पाकर भी उसके भीतर का परम्परा से चला आया हुआ यह कुसंस्कार नहीं बदल रहा है। वह चाहती है कि रंगीनियों से सज जाये और पुरुष उसे रंगीन खिलौना समझकर उससे खेले, वह अभी भी अपने को एक रंगबिरंगी तितली बनाये रखना चाहती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि जब तक उसकी यह आन्तरिक दुर्बलता दूर न होगी, उसके मानस का नवसंस्कार न होगा, उसका भीतरी व्यक्तित्व न बदलेगा, तब तक नारीत्व की पराधीनता व दासता के विषवृक्ष के जड़ पर कुठाराघात न हो सकेगा और सच्चे अर्थों में नारी की स्वत्व शालीनता प्रतिष्ठित न हो सकेगी।'

प्राचीन युग में यूथ विवाह की प्रथा प्रचलित होने के कारण समाज

या कुटुम्ब में माता की सत्ता सर्वोपरि थी, धीरे धीरे जीवन संघर्ष की समस्या जटिल होने के कारण कबीले आपस में लड़ने लगे और विजयी क़बीला पराजित कबीले के धन, पशुधन और स्त्री धन पर अधिकार करने लगा। इस प्रकार स्त्री भी एक प्रकार का धन समझी जाने लगी। फलतः स्वामिनी दासी बनी, शारीरिक बल से निर्बल पाकर पुरुष वर्ग उस पर मनमाना अधिकार करता गया और उसकी प्राकृतिक दुर्बलताओं से खूब लाभ उठाया। अनेकों प्रकार के विधानों की सृष्टि कर उसके व्यक्तित्व का लोप ही कर दिया। 'पिता रक्षित कौमारे, भर्तारक्षति यौवने' के द्वारा उसको पूर्ण रूप से पराधीन बना दिया गया। वह घर की चहारदीवारी में बन्द हो गयी। पूर्णतः पुरुष पर आश्रित हो गयी, एक मात्र भोग्या बन गयी और इस प्रकार से वह केवल पुरुष को रिझाने के लिए एक मात्र खिलौना ही रह गयी। उसके समस्त हावभाव, सजाव शृङ्गार स्वयं उसकी आत्म तुष्टि के लिए न होकर पुरुष को रिझाने के कृत्रिम साधन मात्र रह गये और यह घातक विष उसकी नस-नस में, पोरों-पोरों में समा गया। वस्त्राभूषण का मोह, सौंदर्य वृद्धि की कृत्रिमता एवं शृङ्गार प्रियता के दुराग्रह में वह निरन्तर उलझती गयी। पुरुष का दृष्टिकोण भी जो इतना उदात्त था कि—

नारी तुम केवल श्रद्धा हो विश्वास रजत नग पग तल में।
पीयूष स्रोत सी बहा करो, जीवन के सुन्दर समतल में॥

नारी की चमक-दमक को देखकर उन्मत्त एवं दूषित हो गया और उसे खिलौना समझकर मनमाना खेलने लगा। इस प्रकार नारी में अपने आपको उपभोग की वस्तु समझने की जो भूल है जब तक वह न सुधरेगी तब तक यह जागरण केवल ऊपरी दिखावा मात्र है, एक कुहासा है जो समय पाकर छिन्न-भिन्न भी हो सकता है। नारी की इस परम्परागत दुर्बलता के मूल में देश की वर्तमान स्थिति के प्रति एक कटु व्यंग्य भी छिपा हुआ है। इस संक्रांति काल में जब लाखों स्त्री-पुरुषों के पास अपनी लाज ढकने के लिए भी कपड़े का घोर अभाव है, पेट की आग अस्मत के छीटों से बुझाई

जाती है, अर्थ संकट के भीषण रोग में सब लोग ग्रस्त हैं। ऐसी संकट की घड़ियों में राष्ट्र की सम्पत्ति का एक बड़ा भाग अनुत्पादक शृंगार साधनों में लुटा दिया जाय जिसका कि कोई निर्माणकारी मूल्य भी नहीं है। यह बात वस्तुतः हमारे लिये कलंक एवं अभिशाप का विषय तैयार करती है और उस नारी के प्रति जो अपने को देशभक्त, जागरूक एवं राष्ट्र की कर्त्तव्य परायणा नागरिक होने का दम भरती है, एक विद्रूप भरी हँसी हँसती है। इस अपव्यय को अपराध ही नहीं देश द्रोह तक मानने की भी भूल न होनी चाहिये।

श्रीमती दिवाकरजी का अंतिम मत यह है कि 'आज की नारी ने करवट बदली है। अपनी सदियों की दासता को वह मिटा डालना चाहती है। अपने जन्मसिद्ध मानवीय अधिकारों को जो उससे छीन लिये गये हैं फिर पा लेने के लिये वह बेचैन है। वह पुरुष की दासी नहीं, उसकी ही तरह एक मानव व्यक्ति, राष्ट्र व विश्व की एक नागरिक बनकर उसे सहयोग देना चाहती है। उसे अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व को लेकर आग्रह है और यह सब हलचल, यह मानसिक और बौद्धिक मन्थन, वह कसक और बैचेनी, सब शुभ है। उसमें कहीं कुछ अति या विकृति भी हो तो यह स्वाभाविक है! आखिर यह आन्तरिक काल ही है। आधुनिक नारी निर्माण प्रक्रिया के बीच में है। वह अभी बन नहीं पाई है, बन रही है। पर जहाँ ये शुभ लक्षण हैं, वहाँ भीतर ही भीतर जो कामिनी व मोहिनी बनकर पुरुष को रिझाने की, और उसके लिये रंगबिरंगे कपड़ों व गहनों से लदने की तथा कृत्रिम शृंगार साधनों द्वारा अपने को सजाने की दुर्बलता उसे घुन की तरह खा रही है जो पुरुष के आमोद-प्रमोद व भोगविलास की सामग्री बनने और उससे इठलाने का संस्कार जो उसके मन मस्तिष्क को पीढ़ी दर पीढ़ी बहकाता रहा है और बहका रहा है उसे मिटाने की ओर उसकी दृष्टि नहीं है। इस दुर्बलता को उसे समझना है। वह बहुत व्यापक है, एक बड़े स्तर पर है, साथ ही वह बहुत सूक्ष्म भी है। अनजाने में ही वह यह काम कर रही है। पैनी दृष्टि से उसे ढूँढ निकालने और जड़मूल से नष्ट करने का

महत्कार्य उसे करना है। जब तक यह आधार भूत परिवर्तन न होगा, जब तक यह क्रांति न होगी, तब तक यह प्रगति के नाम पर वाह्य चाकचिक्य आखों में भले ही चकाचौंध कर दे पर नारी की वास्तविक प्रतिष्ठा होना तो दूर, सच्चे अर्थों में नारी जागरण होना भी एक अनहोनी बात है।'

: १३ :

हिन्दू समाज में नारी का स्थान

'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता।'

× × ×

नारी तुम केवल श्रद्धा हो, विश्वास रजत नग पग तल में।
पीयूष स्रोत सी बहा करो, जीवन के सुन्दर समतल में॥

× × ×

'अबला जीवन हाय, तुम्हारी यही कहानी —
आँचल में है दूध और आँखों में पानी।'

× × ×

तुम्हारे अधरों का रस प्राण वासना तट पर पिया अधीर।
अरी ओ माँ हमने है पिया, तुम्हारे स्तन का उज्ज्वल क्षीर॥

× × ×

मानवता है मूर्तिमती तू, भव्य भाव भूषण भंडार।
दया क्षमा ममता की आकार, विश्व प्रेम की है आधार।
तेरी करुण साधना का माँ, है मातृत्व स्वयं उपहार।

× × ×

देवि, माँ, सहचारि, प्राण॥

किसी देश की सभ्यता-संस्कृति एवं उन्नति का मूल्यांकन वहाँ के नारी वर्ग की स्थिति को देखकर ही किया जाता है, जो राष्ट्र स्त्री को केवल भोजन पकाने एवं बच्चे पैदा करने का साधन मात्र समझते हैं वे दुर्भाग्य

से अभी सभ्यता संस्कृति तथा शिष्टता की दौड़ में बहुत पीछे हैं। हमारा प्राचीन बौद्धिक युग साक्षी है कि उस समय स्त्रियाँ केवल संतान की जन्मदात्री एवं पाकशाला की देवी के रूप में ही प्रतिष्ठित न थीं वरन् पुरुष के साथ उसके प्रत्येक सामाजिक एवं धार्मिक कार्यों में समान भाग लेने की अधिकारिणी थीं। याज्ञवल्क्य की सहधर्मिणी मैत्रेयी और कात्यायनी इस प्रकार विवेक की सीमा तक पहुँच चुकी थीं जहाँ उन्होंने आध्यात्मिक धन के आगे लौकिक धन की सर्वथा उपेक्षा की। हमारी संस्कृति के अधिष्ठाता मनु का कथन है कि 'जो पति है वही अभिन्न रूप से पत्नी है, जहाँ स्त्रियों का पूजन होता है वहाँ देवता निवास करते हैं, जहाँ उनकी प्रतिष्ठा नहीं होती वहाँ सब क्रियाएँ निष्फल हो जाती हैं। अनेक कल्याणों की भाजन नारियाँ पूजनीय हैं, ये गृह की ज्योति हैं, प्रजापति ने प्रजा की उत्पत्ति एवं विस्तार के लिए इनकी सृष्टि की है, ये गृहलक्ष्मी के रूप में मान्य हैं। प्रजा को जन्म देना या मातृत्व ही नारी जीवन की पूर्ण सार्थकता है, उसका नित्य भरण-पोषण करना और उसे सदैव संतुष्ट रखना प्रत्येक पति का पुनीत कर्त्तव्य है। स्त्री की प्रसन्नता ही संपूर्ण परिवार की प्रसन्नता, शांति एवं समृद्धि है।'

कोई भी धार्मिक अनुष्ठान बिना पत्नी के सहयोग से पूर्ण नहीं होता था। श्री राम ने सीता की अनुपस्थिति मे राज्याभिषेक के अवसर पर उनकी स्वर्णमयी प्रतिमा की स्थापना करके ही काम चलाया था। प्राचीन काल में स्त्रियाँ विद्या अध्ययन एवं धार्मिक कार्यों में भाग लेने के साथ-साथ रण-क्षेत्र में भी पति को सहयोग देती थीं। देवासुर संग्राम में कैकेयी ने अपने अनुपम पराक्रम एवं युद्ध कौशल से दशरथ को चकित कर उनसे दो वरदान प्राप्त किये थे। प्राचीन काल में उनकी पृथक सत्ता थी, भले ही उन्होंने उस पर पतिव्रत धर्म का कवच पहन लिया रहा हो किन्तु उनका व्यक्तित्व पूर्ण रूप से सुरक्षित था। वे विवाहों में अपनी इच्छा से पति चुन सकती थीं और इस योग्य थीं कि अपनी भलाई-बुराई भली प्रकार से सोच सकें। अपनी विद्वता के बल से द्रोपदी की तरह पतियों को भी

अच्छी सीख देने को सर्वदा प्रस्तुत रहती थीं। स्वभाव से भावुक, संवेदनशील होने के नाते प्रेम एवं आत्म-बलिदान की भावना से वे पुरुषों का दासत्व स्वीकार कर लेती थीं किन्तु कालांतर में वही सेवा भाव उनके लिए घातक बन गया। उन्होंने अपने पैरों में खुद कुल्हाड़ी मारी। उसने प्रेमवश अपने को समर्पित कर दिया, किन्तु निर्दयी पुरुष ने उसे बन्धनों से जकड़ दिया—

वह काँपी, वह सहमी, वह सहमी वह सरकी,
तुमने झटपट छाती से लगा लिया,
उसने अंग ढीले किये, तुम्हारी फौलादी भुजाएँ कसती गईं कसती गईं,
पीड़ा से उसने सिसकी ली, सिसकी में तुमने मजा पाया,
"जाके सी-सी करने में सुधा सीसी सी ढ़रकि जात।"
वह प्रेम विभोर आँखें मूँदे खड़ी थी तुम बंधनों के सृजन में लगे थे,
आँखें खुली तो उसने पाया जिसे भुजपाश समझा था वह नाग पाश है।
जबान पर शब्द मत ला, आँखों में आँसू मत ला, भवों से
मुस्कराए जा, ललाट से हँसे जा, नहीं तो यह फण यह फुफकार,
अलिंगन की भूखी नारी नाग फांस में जकड़ी थी!
आलिंगन बन्धन बन गया! (नयीनारी—बेनीपुरी)

स्त्रियों ने गृहलक्ष्मी होने का जो भार सेवाभाव से अपनाया था वही उनकी कायरता एवं पुसंत्वहीनता समझ कर पुरुष ने उन्हें निराश्रिता एवं अबला की संज्ञा दी। सहधर्मिणी के स्थान पर वे केवल दासी एवं वासना पूर्ति की साधना बन गयीं। चहारदीवारी में बन्द करके उनकी स्वतन्त्रता का बुरी तरह दुरुपयोग किया गया। यहाँ तक कि :—

पितारक्षति कौमारे, भर्ता रक्षति यौवने।
पुत्रश्च स्थविरे भारे, न स्त्री स्वांतन्त्र्यमर्हति॥

'अपनी शारीरिक कमजोरियों के कारण स्त्रियाँ सदा ही पुरुषों की दास रही हैं। स्त्रियों को समानता का यह अधिकार आदि युगों के पुरुषों ने उनके सौंदर्य पर मुग्ध होकर दिया था या उनकी प्रखर मेधाशक्ति का लोहा मान

कर, कहा नहीं जा सकता। किन्तु वे इस गौरव पद पर अधिक दिनों तक अधिष्ठित नहीं रह सकीं। कोई भी स्वाभिमानी महिला ऐसी पुस्तक को जला डालना चाहेगी जिसमें (उपर्युक्त श्लोक में) उसकी जाति को सदा दासता में रखने का इतना बड़ा जाल रचा गया हो। हमारे तुलसीबाबा ने तो कमाल किया है। 'अधम ते अधम, अधम अतिनारी' 'तिय अधर बुधि' 'नारी स्वभाव सत्य कवि कहहीं, अवगुण आठ सदा उर रहहीं' आदि उद्‌गारों के द्वारा जब उन्हें संतोष नहीं हुआ तो यह मार्शल-ला जारी कर दिया कि 'ढोल गवाँर शूद्र पशु नारी, ये सब ताड़न के अधिकारी।' भला इस गुस्ताखी का भी कोई ठिकाना है? खैर यह तो हुई स्त्रियों की समाज में स्थिति, अब उनका कर्त्तव्य पति देव के बारे में क्या है, यह भी हमारे बाबा से पूछिये। वह कहते हैं—'वृद्ध रोगवश जड़ धनहीना; अन्ध बधिर, क्रोधी अतिदीना, ऐसेहु पतिकर किय अपमाना, नारिपाव जमपुर दुखनाना।" माशाल्लाह। न जाने बाबा का यह सदुपदेश किसी पढ़ी-लिखी युवती की नजरों से गुजरा है कि नहीं। निस्संदेह यदि उसमें थोड़ी भी रहस्य रसिकता होगी तो खूब हँसे बिना वह नहीं रहेगी। किन्तु वह हँसा करे। आज इस प्रकार के साहित्य को पढ़कर ही उसकी समूची जाति दासता का टीका अपने मस्तक पर लगाए सानंद घूमती है। भारतीय स्त्रियाँ अपने सुंदर ललाट पर सिंदूर का बिंदु लगाती हैं—क्या यह गुलामी का टीका नहीं है?' (बेनीपुरी)।

भारतीय स्त्री की अवनति का सबसे प्रधान कारण है उसकी 'आर्थिक पराधीनता'। एक-एक पैसे के लिये उसको पुरुष की कृपा को देखनी पड़ती है। इस आर्थिक स्वतंत्रता के अपहरण ने उसे अवनति के गर्त में डाल दिया है। पाश्चात्य नारियाँ स्वावलम्बिनी होने के नाते अधिक सुखी हैं, उनको पग-पग पर आर्थिक कठिनाइयों एवं बंधनों की यंत्रणा नहीं भोगनी पड़ती। आर्थिक पराधीनता के साथ-साथ परम्परागत रूढ़ियों ने भी उनकी उन्नति को क्षयग्रस्त बना रक्खा है। इसके अतिरिक्त पर्दा प्रथा, अनमेल विवाह, उच्च शिक्षा का अभाव, कन्या पक्ष का नीचा समझा जाना,

विधवाओं की हीन दशा, बहु विवाह एवं स्त्रियों का उत्तराधिकार से वंचित होना भी उनकी अवनति के कारण हैं।

(१) **पर्दा प्रथा**—यह पुरुष वर्ग द्वारा नारी जाति की गौरव रक्षा में असमर्थता, ईर्ष्या भाव की पुष्टि तथा संयम के अभाव का सूचक है। पुरुष वर्ग जितना ही निर्बल होता गया और दूसरों की दासता स्वीकार करता गया उसने अपनी हीनता ग्रंथि को ढीला करने के लिए उसका बदला अबलाओं से लिया। सौभाग्य से शिक्षा के प्रचार से यह प्रथा उठती जा रही है।

(२) **अनमेल विवाह**—स्वयंवर की प्रथा का लोप हो जाने के कारण कन्याओं से मुक्ति पाने के लिये, आर्थिक दशा के हीन होने से, उनको बूढ़े या अयोग्य वरों के साथ व्याह दिया जाने लगा। कुलीनता के ढोंग ने इसे और भी अधिक बढ़ावा दिया।

(३) **उच्च शिक्षा का अभाव**—शिक्षा केवल जीविका का साधन समझी जाने से स्त्रियों के लिये इसकी कोई आवश्यकता नहीं समझी गयी। किन्तु पुरुषों के योग्य जीवन सहचरी बनने तथा उनके जीवन को उदात्त एवं गौरव पूर्ण बनाने के लिये प्रत्येक भारतीय नारी का सुशिक्षित होना इस युग की मांग है।

(४) **कन्या पक्ष का नीचा समझा जाना**—कन्या का पिता केवल विनय और शील के कारण आगन्तुक अतिथियों के आगे विनीत बनता हैं। नारी वर्ग की ही भाँति उस शील और विनम्र भाव ने हीनता की ग्रंथि पड़ जाने से वास्तविकता का रूप धारण कर लिया। दहेज जो पहले प्रेम, आदर, प्रतिष्ठा का द्योतक था अब केवल कर्ज और भारस्वरूप बन गया। इन्हीं अभिशापों के कारण कन्या का जन्म शोक का कारण समझा जाने लगा। एक समय तो ऐसा भी था कि कन्या को जन्मते ही मार डाला जाता था।

(५) **विधवाओं की हीन दशा**—वैधव्य स्त्री के लिए सबसे बड़ा अभिशाप है उनको विवाहादि शुभ कार्यों में सम्मिलित न होने देना, उन्हें जीवित नरक की यंत्रणा में जलाना तथा युवावस्था में अपनी तीव्र भावनाओं

एवं उमङ्गों की हत्या करने की सीख देना अत्यंत क्रूरता है। विधवा विवाह को सब प्रकार से प्रश्रय देना ही इस युग की पुकार है।

(६) **बहु विवाह**—एक स्त्री से पुत्र न होने के कारण नरक के भय ने तथा सम्पत्ति का उत्तराधिकारी प्राप्त करने की इच्छा ने बहु विवाह की प्रथा को जन्म दिया था किन्तु कालान्तर में इस प्रथा के मूल में वासना की भावना ही रह गयी और बहु विवाह उपभोग की दृष्टि से किया जाने लगा। समय के साथ इस प्रथा में कुछ शिथिलता आ गयी है जो हर्ष का विषय है।

(७) **उत्तराधिकार से वंचित होना**—विवाहित पुत्रियाँ तो दूसरे के घर जाती हैं किन्तु अविवाहित और विधवा कन्याओं को उत्तराधिकार का कुछ भाग मिलना न्यायोचित है। हिन्दू कोड बिल भारतीय नारी वर्ग की उत्तराधिकार संबंधी हीनताओं तथा अन्य विषमताओं को दूर करने के लिए सतत प्रयत्नशील है।

इसके अतिरिक्त स्त्री जाति की स्वयं की अपनी कुछ दुर्बलताएँ हैं। मातृत्व की उपेक्षा कर रात-दिन सजाव शृंगार वाह्य चमक-दमक में डूबी रहना ही उनकी अवनति का कारण बन गया है। पश्चिमी सभ्यता के फेर में पड़कर रात दिन तितलियों की तरह धरती को छोड़कर किसी काल्पनिक सौंदर्य लोक का स्वप्न देखना ही उनके पतन की पहिली मंजिल है। इस विषय में उन्हें अपने आत्मबल को अधिक बढ़ाना चाहिए। कपोलों और अधरों पर पाउडर, लिपिस्टिक की लाली न लगाकर स्वास्थ्य की लाली पैदा करनी चाहिए। नारीवर्ग के अभ्युदय के लिए पुरुष को सब प्रकार की सहायता अपेक्षित है। उसे नारी के व्यक्तित्व को सब प्रकार से विकसित करने का प्रयत्न करना चाहिए। दोनों एक दूसरे के जीवन संगी बन आत्म समर्पण की पावन-भावना के द्वारा दाम्पत्य जीवन की धरती पर ही स्वर्ग का निर्माण कर सकते हैं—

जग जीवन मानव के संग हो मानवी प्रतिष्ठित।
प्रेम स्वर्ग हो धरा मधुर, नारी महिमा से मंडित॥

: १४ :

राष्ट्र निर्माण की योजना

राष्ट्र का आवश्यक अंग जनता है। जनता के सहयोग से ही राष्ट्र का निर्माण और उसकी प्रगति होती है। किसी भी राष्ट्र का वास्तविक अर्थ देश की भूमि और क्षेत्रफल आदि का विस्तार नहीं होता, प्रत्युत राष्ट्र की संपन्नता एवं जनता का सुख ही राष्ट्र का यथार्थ रूप है। अतः राष्ट्र को समुन्नत बनाने के लिये जनता की सहयोगपूर्ण भावना का प्रयत्नशील होना अत्यन्त आवश्यक है। समय समय पर राष्ट्रीय नेताओं द्वारा भी जनता से सहयोग देने की प्रार्थना की जाती है। यह राष्ट्रीय नेता हमारे देश का नेतृत्व करते हैं, जनता द्वारा ही इनका निर्वाचन होता है, निर्वाचन के उपरांत जनता इन्हीं नेताओं को राष्ट्रीय प्रगति संबंधी सभी उत्तरदायित्व सौंप देती है। ऐसी स्थिति में जनता के लिये यह नितांत आवश्यक है कि वह राष्ट्र-हित के कार्यों में पूर्ण सहयोग प्रदान करे, यदि वह ऐसा नहीं करती तो वह स्वयं अपना ही अहित करती है।

राष्ट्र के उत्थान के लिये जनता को शारीरिक, मानसिक एवं आर्थिक सहयोग देने पड़ते हैं। इनमें से यदि वह किसी एक सहयोग द्वारा ही काम ले, दूसरे को उपयोग में न लाए तो यह कल्पना करना कि राष्ट्र उन्नति के शिखर पर अग्रसर हो रहा है, बिल्कुल निर्मूल सिद्ध होगा। जैसे हम किसी अन्य राष्ट्र से ऋण के रूप में रूपयों की माँग करें तो इसका तात्पर्य यही होता है कि हमने अपनी स्वतंत्रता को उसके हाथों बेंच दिया या उसकी कृतज्ञता के भार को स्वीकार कर लिया। दूसरे शब्दों में उसे अपनी राष्ट्रीय प्रगति को स्थिर करना होता है। कुछ वर्षों पूर्व भारतवर्ष भी विदेशों से ऋण लेता रहा किन्तु अब उसने स्वयं अपने देश में ही ऋण लेने वाली योजना चालू कर ली; विदेशियों से ऋण लेना बन्द कर दिया। भारतवर्ष की इस आत्मनिर्भरता एवं स्वावलंबी अर्जित शक्ति ने अन्य राष्ट्रों के आगे उसके अतीत के गौरव को और भी बढ़ा दिया। भविष्य में इस बात की

आशा की जाती है कि भारत भी विश्व के प्रगति शील राष्ट्रों के सन्मुख कभी पीछे नहीं हट सकेगा।

भारत को समृद्ध एवं शक्ति शाली बनाने वाली योजनाओं में 'राष्ट्रीय योजना ऋण' सर्व श्रेष्ठ योजना है। इस योजना में आशातीत सफलता प्राप्त हुई है और भविष्य में होने की संभावना की जाती है। इसी विश्वास के आधार पर पं० जवाहर लाल नेहरू जी ने अपने भाषण में कहा कि "यह एक ऐसा मौका है जब कि हम यह सिद्ध करें कि हम स्वावलंबी होकर अपने पैरों पर खड़े हो गये हैं। और किसी भी दिशा से आने वाली आँधियाँ और तूफान हमारे कदमों को डगमगा न सकेंगे; तथा हमने अपनी राष्ट्रीय समृद्धि बनाने का दृढ़ निश्चय कर लिया है। इस प्रकार हम बिना किसी भेद भाव के संपूर्ण विश्व से सहयोग और मैत्री बनाये रखने के अपने आदर्श को कायम रख सकेंगे। संसार युद्ध के लिये वातावरण बनाने एवं तैय्यारियाँ करने में व्यस्त है। परमाणु बम आज के अशान्त विश्व का सब से बड़ा प्रतीक है। क्या हम और इस आसुरी प्रकृति के इस विशाल और शक्तिशाली दैत्य के समक्ष झुक जायेंगे। यह वह सवाल है जिसे हममें से प्रत्येक को अपने आप से पूछना है और फिर एक निश्चित उत्तर प्राप्त करना है। जवाब स्पष्ट है किन्तु इसका उस समय तक कोई अर्थ नहीं है जब तक हम इसे क्रियात्मक रूप नहीं देते और इस राष्ट्र की संपूर्ण संपत्ति, जनशक्ति और मानसिक शक्ति से हम एक बहुत बड़े सहयोग के आधार पर अपने देश का पुनर्निमाण नहीं करा लेते।"

बात बिल्कुल सत्य है, यदि हमारी भावनाओं का प्रासाद मजबूत एवं सुदृढ़ ईटों द्वारा निर्मित नहीं होगा तो वह निश्चय ही किसी न किसी दिन तूफानों एवं प्रलय की आँधियों में विलीन हो जायगा। अतः राष्ट्र निर्माण एवं एकता की सुन्दर भावना की कल्पना करना ऐसा ही होगा जैसे कोई मरु भूमि में कमल उत्पन्न होने की कल्पना करे। इसलिये जब तक हमारे विचारों में दृढ़ता न होगी तक तक हमारे लिये किसी भी क्षेत्र में सफलता प्राप्त करना एक दुस्तर कार्य होगा। सफलता के दर्शन तो उसी

समय हो सकते हैं जब हम किसी कार्य के प्रति तन, मन, धन, इन तीनों शक्तियों को लेकर संलग्न हो जायँ। कार्य के प्रति यही संलग्नता हमें राष्ट्र के नव निर्माण में भी पूर्ण रूप से सहयोग प्रदान करेगी। हमारे देश में राष्ट्र के कुछ नागरिकों ने श्रमदान योजना का निर्माण किया है। इस योजना का सम्बन्ध शारीरिक सहयोग से है। योजना के फलस्वरूप बड़े-बड़े पाठशाला भवन, पुस्तकालयों और सड़कों का निर्माण हुआ है। इस प्रकार श्रमदान द्वारा हमें अनेकों प्रकार के लाभ प्राप्त हुए और हमारी सुविधाओं में भी विशेष वृद्धि हुई है। श्रमदान में होने वाली आर्थिक सहयोग की पूर्ति 'राष्ट्रीय योजना ऋण' द्वारा पूरी की जा रही है। 'राष्ट्रीय योजना ऋण' एक ऐसी संस्था है जो जनता को कार्य प्रारम्भ करने के सहयोगी समितियों की भाँति रूपया देती है किन्तु उसमें उसकी लागत की सभी पूंजी सुरक्षित रहती है और जनता के सुख-समृद्धि में निरंतर वृद्धि होती रहती है।

राष्ट्रीय योजना ऋण के अन्तर्गत अनेकों प्रकार की विशेषतायें हैं। हमारी राष्ट्रीय सरकार जितना रुपया ऋण के रूप में लेती है, वह हमारे हित सम्बन्धी कार्यों में ही व्यय करती है। हमारा यह सर्व प्रथम कर्त्तव्य होना चाहिये कि हम अपने लाभ के कार्यों में सरकार को पूरा सहयोग दें। यद्यपि ऋण के रूप में लिये गये रुपयों के व्याज में वृद्धि होती जायगी तथापि इस वृद्धि के साथ ही साथ हमें अनेकों प्रकार के अन्य लाभ भी प्राप्त होंगे। ये लाभ इस प्रकार हैं :—

१—हमारी राष्ट्रीय प्रगति शीलता में वृद्धि होगी ।

२—विदेशियों के ऋण से हमारा राष्ट्र मुक्त हो जायगा।

३—हमारी लगाई हुई पूँजी सुरक्षित रहेगी।

४—व्याज के रूप में दिये गये रूपयों से धन में वृद्धि होगी। इस प्रकार राष्ट्रीय योजना ऋण में व्यय किये जाने वाले धन पर साढ़े तीन रुपये सैकड़ा व्याज दिया जायगा और यह सारा धन पूरी रकम के साथ १६ अप्रैल १६६४ को ऋण दाता को वापस कर दिया जायगा। ऋण में प्राप्त धन सिंचाई और यातायात पर व्यय होगा।

अतः राष्ट्रीय ऋण योजना का संचालन केवल दान देने से ही नहीं हो सकता, वरन् यह योजना तभी सुचारु रूप से प्रगति कर सकती है जब हम अन्य लोगों को भी उत्साहित करें और वे भी इसके प्रति विशेष रूप से जागरूक होकर पूर्ण रूप से सहयोग प्रदान करें।

: १५ :

स्वतंत्र भारत की शिक्षा पद्धति

मनुष्य न तो केवल बौद्धिक प्राणी है और न आहार निद्रा भय मैथुन से संबंध रखने वाला कोरा पशु। बुद्धि और हृदय के समन्वय से निर्मित मनुष्य ही वास्तविक मनुष्य कहलाने का अधिकारी हो सकता है। मनुष्य के सर्वांगीण विकास के लिए ऐसी शिक्षा की आवश्यकता है जो मनुष्य की बौद्धिक एवं रागात्मक वृत्तियों का समान विकास कर सके। स्वतंत्र भारत की शिक्षा-पद्धति का निर्माण इसी रूप-रेखा पर होना चाहिए।

लार्ड मैकाले के स्वप्न के आधार पर निर्मित ब्रिटिश शासन कालीन शिक्षा ने केवल क्लर्क और बाबू ही उत्पन्न किये और उनके मस्तिष्कों को इतना संकुचित बना दिया कि वे शिक्षा को नौकरी के साधन के अतिरिक्त और कुछ समझ ही न सके। उस समय की शिक्षा केवल परीक्षा मात्र उत्तीर्ण करने तक सीमित थी, व्यावहारिक दृष्टि से जीवन की कठिनाइयों को हल करने तथा सफल बनाने की क्षमता का उसमें अभाव था। देश के स्वतंत्र होने पर हमें एक ऐसी शिक्षा पद्धति की नितान्त आवश्यकता है जो देश के लिए आदर्श नागरिक, कमठ कार्यकर्त्ता एवं भावी सेनानी उत्पन्न कर सके; प्रत्येक व्यक्ति की सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक एवं कलात्मक शक्तियों के विकास में पूर्ण योग दे सके और भारत को उन्नतिशील देशों की श्रेणी में रखने का प्रयत्न कर सके। उसके लिए हमें वर्तमान शिक्षा पद्धति में आमूल परिवर्तन करने होंगे।

संघीय विचार समिति की वयस्क शिक्षा कमेटी ने एक विराट योजना बनायी है जो तीन वर्ष के अन्दर शिक्षा का ५०% प्रचार कर देना चाहती है। एक दूसरी समिति ने भारत में सेकंडरी (उच्चतर माध्यमिक) शिक्षा की योजना का निर्माण किया है। तीसरी समिति विश्वविद्यालयों के माध्यम की समस्या को सुलझा रही है। १९४८ में श्री बी० जी० खेर की अध्यक्षता में एक अन्य समिति का निर्माण हुआ है जो सम्पूर्ण भारत भर में बेसिक शिक्षा का व्यापक प्रचार करना चाहती है। वह १६ वर्षों के अंदर अनिवार्य बेसिक शिक्षा को तीन अवस्थाओं में सम्पूर्ण भारत में कार्यान्वित करना चाहती है। इस योजना के व्यय का भार ७०% प्रत्येक प्रान्तीय सरकार को वहन करना पड़ेगा और ३०% संघीय सरकार देगी। १९४८-४९ में देहली राज्य में पंचवर्षीय बेसिक शिक्षा योजना का कार्य प्रारंभ हुआ। इस योजना के अन्तर्गत १५० नए प्रारंभिक विद्यालय खुले हैं। वर्तमान प्रारंभिक तथा मिडिल स्कूल जिला बोर्ड की संरक्षकता में चल रहे हैं। प्रत्येक मील की सीमा में एक प्राइमरी स्कूल बनाने की योजना इसके द्वारा पूरी की जा रही है। सर्वपल्ली श्री राधा कृष्णन् की अध्यक्षता में नौ व्यक्तियों का एक विश्वविद्यालय कमीशन निर्मित हुआ है जो वर्तमान विश्वविद्यालय शिक्षा पद्धति में सुधार करना चाहता है। यह कमीशन विश्वविद्यालय की वर्तमान शिक्षा पद्धति के दोषों को दूर कर उसे इस प्रकार जीवनोपयोगी बनाना चाहता है जिससे विश्वविद्यालय से उच्च नैतिक स्तर वाले, कर्मठ, आदर्श युवक उत्पन्न हों और जिनकी शिक्षा प्रजातंत्रीय भारत के लिए उपयोगी सिद्ध हो।

मनोविज्ञान एवं वैज्ञानिक अनुसंधानों के पूर्ण विकास में योग देने एवं उनके हितचिन्तन के लिये एक अन्य समिति बनी है जो मनोविज्ञान एवं वैज्ञानिक अनुसंधानों को अधिक से अधिक व्यावहारिक बनाने के लिए सतत जागरूक है। शारीरिक शिक्षा के पूर्ण विकास के लिए एक संघीय प्रशिक्षण विद्यालय की स्थापना सम्बन्धी योजना बनी है। एक राष्ट्रीय वृहत् पुस्तकालय की स्थापना के लिये भी एक समिति का निर्माण हुआ है। औद्योगिक

शिक्षाओं को सब प्रकार से प्रश्रय देने के लिए देश में अनेक प्रकार के विद्यालयों की स्थापना होने की चर्चा चल रही है। इस समय सैद्धांतिक शिक्षा के स्थान पर इस प्रकार की व्यावहारिक एवं औद्योगिक शिक्षा की बहुत आवश्यकता है जो पढ़े-लिखे व्यक्ति को इस योग्य बना सके कि वह नौकरी के पीछे न दौड़कर स्वतंत्र रूप से अपनी जीविका चला सके और अपनी आंतरिक एवं बौद्धिक प्रतिभा का सर्वांगीण विकास कर सके।

परिगणित एवं पिछड़ी हुई जातियों की शिक्षा-दीक्षा के लिए भारत सरकार अनेक छात्रवृत्तियाँ दे रही है और उन्हें सब प्रकार से प्रोत्साहित कर रही है ताकि वे लोग भी सबके समान अपने व्यक्तित्व का विकास कर सकें। भारत के शिक्षा मंत्री श्री मौलाना अबुलकलाम आजाद की अध्यक्षता में एक ललित कला एकाडमी की स्थापना की गयी है और उसमें तीन शाखाएँ हैं—

(१) कला (२) संगीत (३) नृत्य एवं नाट्य

पुरातत्त्व विभाग की भी स्थापना की गयी है जो भारत की अनेक प्राचीन वस्तुओं की खोज में व्यस्त है। इसके द्वारा अपनी संस्कृति एवं सभ्यता की गौरपूर्ण खोज की जा रही है। मानव शारीरिक विज्ञान के विकास के लिए भी अनेक प्रकार के प्रयत्न किये जा रहे हैं। नयी देहली के लेडी इरविन कालेज में गृह विज्ञान की शिक्षा के लिये व्यापक प्रबन्ध किया गया है। सङ्घीय सरकार के संरक्षण में 'विश्व भारती' को भी सब प्रकार से सक्षम बनाने के लिये प्रयत्न किये जा रहे हैं। वहाँ पर उच्च सांस्कृतिक कला, नृत्य, सङ्गीत, हस्तकला आदि की शिक्षा दी जा रही है।

भारत सरकार की यह विराट योजना है कि देश में फैली व्यापक ८५ प्रतिशत अशिक्षा को कम से कम समय में दूर कर सके। अखिल भारतीय शिक्षा समिति की सिफारिश से अनिवार्य बेसिक शिक्षा को ६ वर्ष से ११ वर्ष की आयु तक प्रचलित किया जा रहा है और देश की आधी जनसंख्या को शिक्षित बनाने के लिये तीन वर्ष की वयस्क शिक्षा की योजना

बन रही है। मिल मालिक, मिल में काम करने वाले श्रमिकों के बच्चों की निःशुल्क शिक्षा का प्रबन्ध कर रहे हैं। रेडियो, फिल्म प्रदर्शन एवं अन्य उपायों से सुदूर ग्रामों में शिक्षा का प्रचार हो रहा है। प्रौढ़ों की शिक्षा का प्रबंध भी हो रहा है और उनके लिये पुस्तकालय तथा वाचनालय स्थापित हो रहे हैं।

ध्यान में यह रखना है कि हमें देश की भावी पीढ़ी को इस प्रकार की शिक्षा देनी चाहिये जिससे वे शिक्षा को केवल जीविका का साधन न समझ कर अपनी आध्यात्मिक एवं बौद्धिक प्रतिभाओं का पूर्ण विकास कर देश को उन्नतिशील बनाने में योग दे सकें।

: १६ :

स्त्री शिक्षा का महत्त्व एवं उनके योग्य पाठ्यक्रम

वर्तमान समय में अर्थ समस्याओं के साथ स्त्री शिक्षा की समस्या भी अपनी ओर देश के कर्णधारों का ध्यान विशेष रूप से आकर्षित कर रही है। भावी भारत को उन्नतिशील देखने की इच्छा रखने वाले समस्त विचारक इसका हल शीघ्र से शीघ्र खोजने में व्यस्त हैं। इतिहास बताता है कि संसार में जितने भी युग परिवर्तक महापुरुष हुये हैं उनके जीवन-निर्माण में उनकी माताओं का विशेष हाथ रहा है। बालक का सब से बड़ा जीवन-शिक्षक तो उसकी माँ होती है और माँ की एक-एक बात पुत्र के लिये पत्थर की लकीर के समान है। कोई भी देश अपने नौनिहालों को सुशिक्षित माँ की शिक्षा से वञ्चित कर उन्नति के स्वप्न देखने का व्यर्थ ही श्रम करता है।

भारत के प्राचीन काल के शिक्षण विद्यालय व्यावहारिक दृष्टि से अपनी उन्नति की चरम सीमा पर थे। धर्म प्राण देश होने के नाते भौतिक आवश्यकताओं के साथ-साथ यहाँ सदा से आध्यात्मिकता को विशिष्ट स्थान

दिया जाता रहा और उच्च ब्रह्मविद्या की शिक्षा का पवित्र द्वार स्त्री-पुरुषों के लिए समान रूप से खुला रहता था। वैदिक कालीन नारियों में पुरुषों की भाँति ही शिक्षा का प्रचार था। वे पुरुषों के साथ ऋचाओं की रचना करती थीं। गार्गी, मैत्रेयी, मदालसा आदि विदुषियाँ स्त्री जाति का मस्तक आज भी ऊँचा किये हैं। प्राचीन भारत ने दार्शनिक कवि, विचारक, तत्त्ववेत्ताओं के रूप में उच्च श्रेणी के मूल्यवान स्त्री रत्न संसार को भेंट किये थे।

मध्ययुग स्त्री वर्ग के लिए अभिशाप, शोषण, दासत्व का संदेश लेकर आया। अनेकानेक आर्थिक एवं सामाजिक विषमताओं की शिकार बनी स्त्रियाँ निरंतर पतित होती गयीं। सौभाग्य से वर्तमान युग जागरण का सन्देश लेकर उनके लिए शिक्षा का उपहार लाया और उनकी प्रतिभा के चहुँमुखी विकास के लिए व्यापक क्षेत्र प्रस्तुत करने का प्रयत्न कर रहा है। प्रश्न यह है कि स्त्री शिक्षा की क्या रूप रेखा हो? हम यह बात गर्व के साथ कह सकते हैं कि आज का महिला समाज, अपने उत्तरदायित्वों एवं कर्त्तव्यों के प्रति निरन्तर जागरूक हो रहा है। समाज और राष्ट्र के हित में योग देने को अपने को सब प्रकार से योग्य बना रहा है और युग-युग की स्त्री सुलभ दुर्बलताओं को तिलांजलि देकर पुरुषों के साथ प्रत्येक क्षेत्र में अपने व्यक्तित्व का विकास करने को कटिबद्ध है। आजकल हमारे विश्वविद्यालयों, कालेजों और स्कूलों में सह-शिक्षा के रूप में या पृथक रूप से जो स्त्री शिक्षा दी जाती है वह व्यावहारिक दृष्टि से स्त्रियों के लिए कम उपयोगी है। बहुत से लोगों को यह शिकायत करते भी सुना जाता है कि पढ़ी-लिखी लड़कियाँ सुयोग्य गृहिणी नहीं बन सकतीं। पाश्चात्य प्रभावों के कारण दूषित हमारी आज की शिक्षा-दीक्षा हमें अपने आपको समझने में बहुत कम सहायता पहुँचाती है। भौतिकवादी खोखली विचारधाराओं एवं भोगवादी प्रवृत्तियों की मृगतृष्णा में व्याकुल स्नातिकाएँ अपनी उच्च शिक्षा का उपयोग व्यावहारिक जीवन में समुचित रीति से नहीं कर पातीं। स्कूलों और कालेजों में जो विषय आजकल पढ़ाये जाते हैं उनका महिलाओं के जीवन

से कोई सम्बन्ध नहीं है। वे केवल परीक्षा उत्तीर्ण करके पेट भरने के साधन मात्र हैं। उनसे गार्हस्थित जीवन की उलझनें सुलझाने में किसी प्रकार की सहायता नहीं मिलती। स्त्री शिक्षा में गृह विज्ञान, स्वास्थ्य विज्ञान, शिशु पालन, सङ्गीत एवं चित्रकला सम्बन्धी विषयों का समावेश होना चाहिये जिनका उपयोग वे अपने भावी जीवन एवं संतति के हित के लिए करके देश के लिए योग्य सेनानी निर्माण कर सकें। इस विषय में अब किसी को रत्ती भर भी सन्देह नहीं है कि स्त्रियाँ भी पुरुषों की भाँति शिक्षक, वकील, जज, डाक्टर एवं वायुयान-चालिका तक हो सकती हैं। अहिल्याबाई, लक्ष्मीबाई, रजिया आदि वीरांगनाओं से हमारा इतिहास जगमगा रहा है। सरोजिनी नायडू, मीरा, महादेवी, सुभद्रा कुमारी की स्वर लहरियों से माँ भारती का प्रकोष्ठ गुंजित हो रहा है। विजयलक्ष्मी जी संयुक्त राष्ट्र संघ की सभानेत्री के पद पर प्रतिष्ठित हो कर विश्व के सम्पूर्ण महिला समाज का मस्तक ऊँचा कर चुकी हैं। अतः हमें नारी प्रतिभा के सर्वांगीण विकास के योग्य व्यापक क्षेत्र का निर्माण करना है।

पाठ्यक्रम को निश्चित करने के पूर्व स्त्रियों के कार्य-क्षेत्र पर भी कुछ विचार कर लेना न्याय संगत होगा। स्त्रियों का अधिकांश समय प्रायः घर के ही कामों में बीतता है जिन्हें तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—

(१) निर्माण कार्य—खाना बनाना, पहनने के कपड़े सीना।

(२) स्वच्छता का कार्य, घर की सफाई, सजावट, रंगाई-कढ़ाई, चित्रकारी आदि।

(३) शिशु का लालन-पालन, रोगी परिचर्या आदि।

इससे यह स्पष्ट पता चलता है कि स्त्रियों के लिए इस प्रकार की शिक्षा की परम आवश्यकता है जो उनके उपयुक्त कार्यों की पूर्ति कर सके। साधारण चिकित्सा, प्राथमिक सहायता, शरीर विज्ञान, कपड़ों की कटाई-सिलाई, बुनाई, चित्रकला, सङ्गीत कला तथा पाक विज्ञान का पूर्ण ज्ञान होना नितान्त आवश्यक है। प्रयाग महिला विद्यापीठ ने इन सब आवश्यकताओं को दृष्टि

में रखकर अपने पाठ्यक्रम को अधिक से अधिक उपयोगी बनाने का प्रयत्न किया है। दीक्षांत समारोह के अवसर पर सुश्री महादेवी जी की प्रशंसा करते हुये राष्ट्रपति ने कहा था कि आपने बालिकाओं के हाथ में लेखनी के साथ बन्दूक भी पकड़वा दी। हाई स्कूल और इण्टरमीडियट के पाठ्यक्रम में भी आंशिक परिवर्तन करके उसे स्त्रियोपयोगी बनाने का प्रयत्न किया गया है।

संक्षेप में सिलाई, स्वास्थ्य विज्ञान, पाकविज्ञान, आदर्श जीवन चरित्रों की शिक्षा, गणित, अर्थशास्त्र, भूगोल, नागरिकशास्त्र, साहित्य, सङ्गीत, चित्रकला, आदि के साथ-साथ धार्मिक शिक्षा का प्रबन्ध भी होना चाहिए। उच्च कोटि के नारी रत्नों की चरितावली का निर्माण कर मनोवैज्ञानिक ढङ्ग से बालिकाओं को चरित्र निर्माण का महत्वपूर्ण पाठ पढ़ाना अत्यन्त आवश्यक है। इस प्रकार से जीवन को अधिक से अधिक सफल बनाने वाली शिक्षा को पाकर ही महिलाएँ आदर्श गृहिणी के साथ-साथ आदर्श माताएँ बनकर देश के लिये आदर्श नागरिकों का निर्माण कर सकती हैं। साथ ही गृह-गृह में सुख, शांति, स्वच्छता, एवं स्वास्थ्य का सुन्दर समन्वय करके इस धरती पर ही स्वर्ग उतार ला सकती हैं।

: १७ :

संयुक्त राष्ट्र संघ

युद्ध से संत्रस्त विश्व, शांति का अभिलाषी हो रहा है और यह शांति एक मात्र सङ्गठन पर आधारित है। अन्तर्राष्ट्रीय पारस्परिक सङ्घर्षों के कारण जब-जब यूरोप के देशों में विशृंखलता एवं अस्तव्यस्तता आयी है तब-तब उन्होंने सङ्गठित होकर शांति स्थापित करने की इच्छा से आपसी वैमनस्य को दूर कर प्रेम-भावना का विस्तार किया है। १६ वीं शताब्दी में इस प्रकार के अनेक शांतिपूर्ण प्रयत्न किये गये थे। १६१४-१८ के प्रथम

विश्वयुद्ध के पश्चात पारस्परिक समझौते के द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय युद्धों को रोकने के लिये 'लीग आफ नेशन' (राष्ट्र संघ) की स्थापना हुई थी, जिसके संस्थापक संयुक्त राष्ट्र अमरीका के अध्यक्ष विल्सन साहब थे। किन्तु दुर्भाग्यवश इसे विशेष सफलता न मिल सकी। कारण कि स्वयं अमरीका ने ही इस के आदेशानुसार चलने से इंकार कर दिया था और इस प्रकार 'लीग आफ नेशन' दो बड़े प्रसिद्ध तानाशाह हिटलर और मुसोलिनी को दुर्बल राष्ट्रों का शोषण करने से न रोक सकी।

द्वितीय विश्व महायुद्ध की क्रूरता, निर्दयता, दुर्दमनीयता को देखकर पुनः एक बार मानवता कांप उठी। सब लोग इस बर्बरता से त्राण पाने के लिये शांति और सङ्गठन की कामना करने लगे। फलस्वरूप तीन बड़ों, चर्चिल, रूजवेल्ट, स्टैलिन की पारस्परिक सहकारिता से २४ अप्रैल १६४५ को 'संयुक्त राष्ट्र संघ' का जन्म हुआ जिसका प्रथम अधिवेशन सेन फ्रांसिसको में किया गया।

संयुक्त राष्ट्र संघ का सङ्गठन एवं उद्देश्य—संयुक्त राष्ट्र संघ का मुख्य उद्देश्य शांति, सुरक्षा एवं बलवान राष्ट्रों के शोषण से दुर्बल राष्ट्रों के हितों की रक्षा करना तथा सम्पूर्ण विश्व के सामान्य जीवन स्तर को अधिक से अधिक सुखदायी बनाना है। लीग आफ नेशन का क्षेत्र संकुचित था, उसके उद्देय भी सीमित थे क्योंकि वह विश्व जनीन होने की अपेक्षा यूरोप के हितों की ओर विशेष ध्यान रखती थी। यही कारण है कि उसे सफलता न मिल सकी, किन्तु संयुक्त राष्ट्र सङ्घ में अधिकांश एशियाई राष्ट्र भी सम्मिलित हैं। दो बड़े बलवान राष्ट्र अमरीका और रूस के बीच पारस्परिक समझौता एवं शांति स्थापित करने के लिए भारत महत्वपूर्ण सहयोग दे रहा है। सत्य बात तो यह है कि कोई भी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था एशिया की उपेक्षा करके आज के युग में न तो अधिक दिन जी सकती है और न फल-फूल सकती है।

संयुक्त राष्ट्र संघ में कई राष्ट्रों के सदस्यों से मिलकर एक जनरल असेम्बली बनी है। सुरक्षा परिषद में पाँच बड़े राष्ट्र अमरीका, रूस, ब्रिटेन

चीन और फ्रांस है। इसके अतिरिक्त अनेक शाखाएँ, उपशाखाएँ हैं जैसे विश्व स्वास्थ्य संघ (The World Health Organization), अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय (International Court of Justice)। खाद्य एवं कृषि संघ अन्न के अभाव से पीड़ित राष्ट्रों को अन्न पहुँचा कर महत्वपूर्ण सहयोग देता है। इस प्रकार सामूहिक रूप से उन सबों का एक मात्र लक्ष्य है—

(१) सम्पूर्ण राष्ट्रों के बीच पारस्परिक मैत्री भाव उत्पन्न करना।
(२) निर्धन राष्ट्रों को पूंजी एवं खाद्यान्न द्वारा सहायता पहुँचाना।
(३) दुर्बल राष्ट्रों के हितों की रक्षा करना, ताकि बलवान राष्ट्र उनका शोषण न कर सकें। उनकी स्वतंत्रता का अपहरण न कर सकें।
(४) सम्पूर्ण देश के सामान्य जीवन स्तर में वृद्धि करना।

यद्यपि इस प्रकार के विचार वस्तुतः बड़े ही महत्व के हैं और मानवता के कल्याण की वृद्धि करने वाले हैं किन्तु दुख इस बात का है कि संघ को कार्य कारिणी की शक्ति पर ही अधिक से अधिक निर्भर रहना पड़ता है। इस प्रकार जनता की शंकाएँ अब भी पूर्ववत ज्यों की त्यों हैं। लीग आफ नेशन को इस लिए समाप्त हो जाना पड़ा था कि वह शक्तिशाली राष्ट्रों पर अपना प्रभुत्व जमाने में असमर्थ थी। बलवान राष्ट्र उसकी कुछ भी परवाह न करके अपनी मनमानी करते थे। संयुक्त राष्ट्र संघ भी उसी विपन्न परिस्थिति का सामना कर रहा है। बलवान राष्ट्रों से निर्बलों की पूर्ण रक्षा नहीं हो पा रही है। वे अपने धन शक्ति एवं प्रभुत्व के बल पर संयुक्त राष्ट्र संघ पर छाये हुए हैं। इस प्रकार संघ के वास्तविक लक्ष्य की पूर्ति के अभाव में उसकी सार्थकता व्यर्थ सिद्ध होती है। इसमें संदेह नहीं कि कोरिया की समस्या में संयुक्त राष्ट्र संघ का निष्पक्ष व्यवहार अवश्य प्रशंसनीय रहा है, किन्तु संसार इससे विशेष संतुष्ट नहीं रहा क्योंकि एक स्थान पर कहा गया था कि वहाँ अमेरिकन शक्तियाँ लड़ रही थीं। इसके अतिरिक्त राष्ट्र संघ ने शीघ्रता से कोरिया की समस्या को सुलझाया, क्योंकि इसमें अमेरिका का व्यक्तिगत स्वार्थ था। उतनी शीघ्रता से काश्मीर की समस्या को अब तक भी नहीं

सुलझाया गया क्योंकि इसमें अमेरिका का कोई निजी लाभ नहीं है। इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप से संयुक्त राष्ट्र संघ में अमेरिका की प्रभुता कितनी अधिक है, यह स्वतः सिद्ध हो जाता है।

त्रुटियाँ—उपर्युक्त प्रमाणों में संयुक्त राष्ट्र संघ की निष्पक्षहीनता एवं सदस्यों के बीच पारस्परिक मतैक्य स्पष्ट रुप से प्रकट हो जाता है। उदाहरण स्वरूप चीन जो पाँच बड़ों में से एक है, लाल झंडे के नीचे है और संयुक्त राष्ट्र संघ चीन के साम्यवादी देश होने के कारण उसकी सदस्यता की समस्या को सुलझा रहा है। पूंजीवादी अमेरिका और साम्यवादी रूस (जो कृषकों और श्रमिकों का देश है) के बीच जो विरोधी भावना है वह स्वतः स्पष्ट है। संयुक्त राष्ट्र संघ को च्यांग-काई-शेक का देश स्वीकार होना चाहिये या साम्यवादियों का, यह विचारणीय है।

जब तक रूस एक शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में है और इतनी सामर्थ्य रखता है कि जो भी मन्त्रणाएँ उसके हितों की व्यक्तिगत पूर्ति नहीं करतीं उनको वह ठुकरा सकता है, तब तक संयुक्त राष्ट्र संघ की जटिल समस्या को सुलझाना टेढ़ी खीर है और इस प्रकार इस मत वैभिन्न के बीच संयुक्त राष्ट्र संघ लक्ष्यहीन नक्षत्र की भाँति भटकता रहता है।

यही कारण है कि कभी-कभी व्यंग्यात्मक ढंग से लोग इसे 'असंयुक्त राष्ट्र संघ' भी कह बैठते हैं। व्यंग्य किसी सीमा तक पर्याप्त मार्मिक एवं तीखा है। कारण स्पष्ट है क्योंकि इसके संगठन में दो शक्तिशाली दलों या राष्ट्रों का उग्र व्यक्तित्व सो रहा है। उन दोनों की दो विपरीत दिशाएँ हैं, उनकी मान्यताओं में आकाश-पाताल का अन्तर है। एक ओर एशियाई देश रूस एवं उसके अनुयायी हैं, दूसरी ओर एंग्लो अमेरिकी दल हैं। आशंका इसी बात की है कि संयुक्त राष्ट्र संघ के दो ये विभिन्न दल कहीं आपस में लड़-झगड़कर तृतीय विश्व महायुद्ध का मसाला न तैयार कर दें।

त्रुटियों का निराकरण—कुछ विचारकों का मत है कि संयुक्त राष्ट्र संघ से ऐशिया के अग्रणी रूस को निकाल दिया जाय किन्तु ऐसा होना न तो संभव है और न उचित ही। यदि संयुक्त राष्ट्र संघ से रूस को निकाल

दिया जायगा तो वह अपनी अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति खो देगा। एक दूसरी सम्मति इस प्रकार है कि जिन एकाध शक्तिशाली राष्ट्रों के विचार बहुमत से मेल न खाते हों या सर्वजनहिताय न हों उनकी उपेक्षा कर दी जाय। तभी सच्चे रूप में प्रजातंत्र की रीति का पालन होगा। विश्व अत्यंत वृहत् है और उसमें दो विभिन्न विचारों वाले अमेरिका और रूस के लिए अपने-अपने विचारों को प्रयोग करने का व्यापक क्षेत्र है। दोनों को अपनी-अपनी मान्यताओं को उड़ने की जगह दीजिए। प्रत्येक देश अपने आप स्वतंत्र एवं विचार-शील हो, उसके व्यक्तित्व पर किसी का फौलादिया भारी भरकम मुलम्मे वाला व्यक्तित्व थोपा न जाय। किन्तु बुद्धि साथ नहीं देती कि ये दो समानान्तर रेखाएँ किस विन्दु पर मिलेंगी। संयुक्त राष्ट्र संघ का केवल यही एक उद्देश्य होना चाहिए कि वह प्रत्येक देश के आदर्शों, विचारों एवं मान्यताओं के लिए खुले एवं निरभ्र आकाश की व्यवस्था करे। यही मानवता के प्रति उसकी सब से बड़ी सेवा होगी।

: १८ :

प्रान्तीयता

एक कुशल राजनीतिज्ञ ने कहा है कि यदि एक ही घर में विभिन्न विचारों के कारण एकता का अभाव हो, तो वह घर बहुत दिनों तक नहीं चल सकता। पतन के किनारे पर खड़ा वह अपने मरने की राह देखता रहता है। तुलसीदासजी ने इन्हीं विचारों की पुष्टि इस प्रकार की है—

जहाँ सुमति तँह सम्पति नाना।
जहाँ कुमति तहँ विपति निदाना॥

एकता ही समृद्धिशीलता एवं उन्नति की नींव है। प्रान्तीयता एक ऐसी संकुचित तुच्छ भावना है जो अन्य प्रान्तों की विशेषताओं एवं सुन्दर गुणों की उपेक्षा करके अपने प्रान्त के दोष को भी प्रान्तीयता के चश्मे के कारण

सुन्दर रूप में देखती है। इस घातक भावना के शिकारी के दोष स्वार्थी लोग तो न अच्छी से अच्छी योग्यता की परवाह करते हैं और न प्रतिभा की। हर एक को वे इसी प्रान्तीयता के स्वार्थी तराजू से तौलकर "बारह बाट अठारह घाट" कर देते हैं। क्या व्यापार, क्या साहित्य क्षेत्र, क्या सरकारी नौकरियाँ, सभी में इस तुच्छ स्वार्थ का बोलबाला है।

भारत, विभाजन के पश्चात् भी एक विशाल छोटा महाद्वीप है, जो कि भाषा, वर्ग एवं धर्मगत विभिन्न अनेकताओं के कारण छोटे-छोटे प्रान्तों में बंटा हुआ है। कहने की आवश्यकता नहीं है कि भारत का साहित्यिक अतीत काल (वीरगाथाकाल, भक्तिकाल, रीतिकाल) इन्हीं तुच्छ स्वार्थों से पीड़ित था। छोटे-छोटे राजे-महाराजे अपने भाई का ही खून पीने में बड़ी बहादुरी समझते थे और इस प्रकार अपनी शक्ति का दुरुपयोग कर उन्होंने भारत को मिट्टी में मिला दिया। यही फूट की भावना भारत में अंग्रेजों के आने एवं राज्य स्थापित करने की शतप्रतिशत उत्तरदायी है। धूर्त अंग्रेजों ने भी हमारी इस दुर्बलता से काफ़ी लाभ उठाया। सदैव प्रान्तीयता के मैं-मैं तू-तू में हमें उलझाये रक्खा। फल यह हुआ कि हमारी सद्बुद्धि को लकवा मार गया, हमारे विवेक को सन्निपात हो गया और हमारी भावी उन्नति परतंत्रता की शृंखला में जकड़ दी गयी। हम सब प्रकार से असहाय बना दिये गए। इस प्रकार की संकुचित एवं घातक प्रान्तीयता का फल यह हुआ कि एक प्रान्त के व्यक्ति दूसरे प्रान्त के योग्य से योग्य व्यक्ति को भी उपेक्षा एवं द्वेष की दृष्टि से देखने लगे। नौकरियों के विषय में योग्यता को ताक पर रखकर प्रान्तगत स्वार्थ सम्बन्धों से नाता जोड़ा गया। अब भी सरकारी नौकरियों में उसी प्रान्त के निवासी को प्राथमिकता दी जाती है, यहाँ तक कि वह एक विशेष योग्यता मानी जाती है। इस प्रकार की तुच्छ भावना अब अपनी चरम सीमा पर पहुँच गयी है।

भारत के चोटी के नेताओं और विद्वानों ने कभी भी इस अस्वस्थ प्रान्तीयता को प्रश्रय नहीं दिया, उन्होंने सदैव निष्पक्षता, एकता एवं सहयोगिता को बढ़ावा दिया है। व्यक्तित्व, योग्यता एवं प्रतिभा का निष्पक्ष होकर

उन्मुक्त हृदय से स्वागत किया है, भले ही वह विभिन्न वर्ग, धर्म एवं भाषा से संबंध रखता हो। गोस्वामी तुलसीदास पर उत्तर प्रदेश ही नहीं गर्व करता, उनका सब पर अधिकार है। सभी प्रान्त के लोग उनकी महानता के उपासक हैं। महाराणा प्रताप, शिवाजी, लक्ष्मीबाई, चन्द्रशेखर आजाद, आज भारत भर के निवासियों के हृदय-सम्राट् बने बैठे हैं यद्यपि अभी इस भावना में पूर्ण व्यावहारिकता नहीं आ पाई। जिस दिन इस प्रकार की कल्याणकारी भावना का उदय जन-जन के मन में हो जायगा वह दिन हमारे लिए एक त्यौहार बन जायगा। हमारी उन्नति, समृद्धिशीलता एवं विकास का पर्व बन जायगा। हम प्रत्येक भारतवासी से उस पवित्र एवं शुभ दिवस को शीघ्र से शीघ्र वर्तमान पर खींच लाने की प्रार्थना करते हैं। क्या ही अच्छा हो कि प्रान्तीयता को राष्ट्रीयता में बदल दिया जाय। प्रत्येक भारतवासी सर्वप्रथम भारत का आदर्श नागरिक है चाहे वह बंगाली, महाराष्ट्रीय, मद्रासी, पंजाबी, बिहारी, कोई भी हो। भारत की सर्वांगीण उन्नति इसी पवित्र भावना पर आश्रित है।

भारत के विधान के अन्तर्गत भारत में कहीं भी रहनेवाले और किसी भी धर्म के अनुयायी को समान मानकर नागरिकता का अधिकार दिया गया है, क्योंकि यदि प्रान्तीयता को थोड़ा भी प्रश्रय दिया जाय तो सम्पूर्ण राष्ट्र को एक संघ के रूप में कैसे परिणित किया जा सकता है। यह संकुचित भावना न केवल आन्तरिक शासन में बाधा पहुँचावेगी अपितु समाज एवं देश में अनेकानेक संक्रामक रोगों को पैदा करेगी जो देश के स्वास्थ्य को समूल नष्ट कर देंगे।

प्रान्तीयता की संकुचित भावना का निदान एक सामान्य भाषा के निर्माण से हो सकता है जो विभिन्न प्रान्त के निवासियों के विचार-विनिमय, आचार- विचार, सभ्यता-संस्कृति तथा साहित्य और कला को एकसूत्र में बाँध सके। सौभाग्य से हिन्दी को राष्ट्रभाषा का प्रतिष्ठित पद प्राप्त हुआ है और उसे बड़ी कर्मठता एवं योग्यता से इस गुरुतर उत्तरदायित्व का पालन करना है। यह एक ऐसा शक्तिशाली माध्यम है जो सम्पूर्ण भारत के कोने-कोने में बिखरी अपार जनराशि को एक सूत्र में बाँधकर सबके लिए समान

रूप से उन्नति का द्वार उन्मुक्त करेगी। प्रान्तीयता की संकुचित भावना का जन्म तो वहाँ होता है जहाँ एक प्रान्त के निवासी संकुचित स्वार्थों में बँध कर अपने साहित्य एवं व्यापार की उन्नति एवं विकास के लिए अनुचित उपायों को काम में लाकर दूसरे प्रान्त के हितों का गला घोंट देते हैं। जब प्रत्येक भारतवासी यह समझ लेगा कि सब की उन्नति से ही भारत की उन्नति है उसी दिन प्रान्तीयता की समाप्ति हो जायगी और वह दिन हमारे लिए परम सौभाग्य का होगा। इसलिए हमारा पुनीत कर्तव्य है कि हम हिन्दी राष्ट्रभाषा को तो सीखें ही, साथ ही कम से कम एक और प्रादेशिक भाषा (बंगाली, मराठी, गुजराती) अवश्य सीखें।

साहित्य और कला किसी एक की बपौती नहीं है। उस पर सब का अधिकार है। रवीन्द्रनाथ बंगाल के ही नहीं पंजाब और गुजरात के भी हैं, प्रेमचन्द, प्रसाद, पन्त, निराला, महादेवी पर उत्तर प्रदेश एवं हिन्दी भाषी ही गर्व नहीं करते अपितु सम्पूर्ण भारत अपने को धन्य मानता है। इस प्रकार के सांस्कृतिक स्वस्थ विचारों का उदय जन-जन में करने की परम आवश्यकता है। भारत की प्रत्येक प्रादेशिक भाषाओं की उत्तम कृतियों का अनुवाद हिंदी में शीघ्र होना चाहिए और हिन्दी के उत्तम ग्रंथ प्रत्येक प्रादेशिक भाषा में अविलम्ब अनूदित हो जाँय। कुछ ऐसे सामान्य तत्त्वों पर विशेष रूप से बल दिया जाय जो अखिल भारतीय महत्व के हों, जो प्रान्तीयता के स्थान पर राष्ट्रीयता के बीज बो सकें।

हमें उस दिन की धैर्य के साथ प्रतीक्षा करनी है जब कि भारत के निवासी अपनी संकुचित प्रान्तीयता के मोह में न पड़कर भारत की राष्ट्रीयता को पुष्ट करने में अपनी समस्त शक्ति का आवाहन कर एक स्वस्थ विवेक-शील ज्ञान का प्रचार करेंगे। कन्याकुमारी से लेकर एवरेस्ट की चोटी तक के वातावरण को एक ही प्रकार के समुन्नत विचार, एक ही प्रकार की एकता, एक ही प्रकार की सामूहिक हितैषणा की स्वस्थ श्वास की उच्छवासों में पिरोना पड़ेगा। निसंदेह, बापू का स्वप्न तभी पूरा होगा, उसी दिन सच्चे अर्थों में भारत में राष्ट्रीय त्यौहार मनाया जायगा।

: १६ :

भारत में शरणार्थी समस्या

अखण्ड भारत का 'भारतवर्ष और पाकिस्तान' इन दो भागों में विभाजन हुआ। किन्तु दुर्भाग्य से यह समस्या शांति और अहिंसात्मक ढंग से सुलझाने के बजाय सांप्रदायिकता की ओट में भयंकर दानवता एवं भीषण बर्बरता में उलझती गयी। भारत और पाकिस्तान इन दो राज्यों की स्वतंत्र स्थापना के पश्चात् हिन्दू और मुसलमानों के हृदयों में धधकती हुई विद्वेषाग्नि भयंकर लपटों में परिणित हो गयी। दोनों राज्यों में अल्पसंख्यकों की स्थिति संकट में थी। उनका जीवन, जीविका एवं धर्म सभी विपत्तिग्रस्त थे। विभाजन के पूर्व ही सांप्रदायिक भावनाएँ वातावरण को विषाक्त बना रही थीं। नोवाखाली की घटना इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। यह घटना मानवता के मुख का कलंक है। अन्ध धार्मिकता में पड़कर जो-जो अत्याचार अल्पसंख्यकों के ऊपर किये गये उससे एक बार दानवता भी कांप उठी। सैकड़ों, हजारों घर उजड़ गये, हजारों माताओं-बहिनों का सुहाग सिसककर रह गया, नववधुओं के लाज के बोल खुलने के पहिले ही उनका स्वर्णिम संसार लुट गया! दुधमुँहे बच्चों ने एक-एक बूंद पानी के लिए तरस-तरस कर हिचकियों में दम तोड़ दिया। बेचारे अल्पसंख्यकों की प्यारी जन्मभूमि छुटी, उनकी जायदाद संपत्ति लुटी, सबसे बहुमूल्य लाज सम्मान धूल में मिल गया। वे सब प्रकार से कंगाल होकर राह के भिखारी हो गये।

श्री बलराज कोमल की 'अकेली' शीर्षक कविता में सम्पूर्ण शरणार्थियों की दीनता, विवशता एवं युग-युग की करुणा सिमटकर एक ठौर एकत्रित हो गयी है—

अजनबी! अपने कदमों को रोको जरा, जानतीं हूँ तुम्हारे लिये गैर हूँ
फिर भी ठहरो जरा, सुनते जाओ ये अश्कों भरी दास्तां
साथ लेते चलो ये मुजस्सिम फुगां, आज दुनिया में मेरा कोई भी नहीं
मेरी अम्मी नहीं, मेरे अब्बा नहीं, मेरी आपा नहीं, मेरे नन्हे से मासूम भैय्या नहीं

मेरी अस्मत की मगरूर किरनें नहीं, वह घरौंदा नहीं जिसके साये तले लोरियों के तरन्नुम को सुनती रही, फूल चुनती रही, गीत गाती रही, मुस्कराती रही, आज कुछ भी नहीं.....................................
भूख मिटती नहीं तन पे कपड़ा नहीं, आस मादूम है आज दुनियाँ में मेरा कोई भी नहीं, आज दुनियाँ में मेरा कोई भी नहीं। अजनबी अपने कदमों को रोको जरा, सुनते जाओ ये अश्कों भरी दास्ताँ साथ लेते चलो ये मुजस्सिम फुगां, मेरी अम्मी बनो, मेरे अब्बा बनो, मेरी आया बनो, मेरे नन्हें से मासूम भैया बनो मेरी अस्मत की मगरूर किरनें बनो, मेरे कुछ तो बनो ! मेरे कुछ तो बनो ! ! मेरे कुछ तो बनो ! ! !

भारत और पाकिस्तान दोनों राज्यों के अल्पसंख्यकों ने शरणार्थी बन कर रहने का ठिकाना ढूंढ़ा, पेट की रोटी चलाने के लिए चार चनों की खोज की। पाकिस्तान से हिन्दू और सिक्ख शरणार्थी बनकर भारतवर्ष आए और इसी प्रकार भारतवर्ष से अल्पसंख्यक मुसलमान पाकिस्तान गए। इस प्रकार के विनिमय में किसी निश्चत योजना के अभाव से शरणार्थियों को बहुत बड़ी हानि उठानी पड़ी। उनको कौड़ियों का मुँहताज बनना पड़ा। उनको एक-एक गज जगह मिलना कठिन हो गया। संपत्ति लुट जाने से उनके नौनिहाल एवं माताएँ बहिनें खून के आँसू पी-पीकर दिन काटने लगीं। शरणार्थियों की समस्या इतनी उग्र हो गयी कि सरकार अनथक प्रयत्न करने पर भी उस पर काबू न पा सकी। केवल साढ़े तीन महीने के बीच लगभग ५० लाख हिन्दू और ३७ लाख मुसलमान इस दुर्घटना के शिकार हुए। दोनों सरकारों ने भवन, सुरक्षा, भोजन, जीविका आदि में शरणार्थियों की सहायता की तथा उन्हें सब प्रकार की सुविधाएँ प्रदान की किंतु उनकी कठिनाइयों के हिमालय के आगे ये सुविधाएँ मिट्टी के घरोंदे के समान थीं।

शरणार्थियों को स्थान एवं सुविधाएँ देने के लिए भारत सरकार ने मन्त्रणालय की स्थापना की। शरणार्थियों की जनगणना हुई और वे ग्रामीण तथा नागरिक, इन दो वर्गों में विभाजित किये गये। इस प्रकार का विचार इस धारणा से किया गया था कि वे शरणार्थी जो पाकिस्तान के नगर-क्षेत्रों

से आये हैं उन्हें भारत में नगरों में ही टिकाया जाय तथा ग्रामीण क्षेत्रों से आए शरणार्थियों को ग्रामों में स्थान दिया जाय किन्तु व्यावहारिक रूप में इसमें अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न हो गयीं। कारण कि पाकिस्तान के ग्रामीण क्षेत्रों से आये शरणार्थियों ने जीविका का साधन मिलने की सुविधा के विचार से भारत के नगरों में ही रहना स्वीकार किया, शहरी शरणार्थी तो पहले से ही नगरों में रहने के अभ्यस्त थे। परिणाम यह हुआ कि भारत के बड़े-बड़े नगरों की तङ्ग गलियों एवं चप्पा-चप्पा भूमि मोरी के कीड़ों की तरह शरणार्थियों से भर गयी। स्वच्छ हवा एवं खुली जगह के अभाव में अनेकों बीमारियों का जन्म हुआ। देश का स्वास्थ्य, संबल तथा शक्ति का जितना ह्रास हुआ वह वर्णन से परे है। कुछ लोगों ने इस प्रकार भी सोचा था कि भारत आने वाले शरणार्थियों को भारत छोड़कर पाकिस्तान जाने वाले मुसलमानों के मकानों में ठहराया जाय किन्तु आने वालों की संख्या जाने वालों से ड्योढ़ी थी, इस स्थिति में शेष लोगों के लिये स्थान-स्थान पर शरणार्थी-शिविरों की स्थापना की गयी। पश्चिमी पाकिस्तान से आए बहुत बड़ी संख्या में शरणार्थी पूर्वी पञ्जाब में टिके। यहाँ तक कि राजधानी में ही शरणार्थियों की संख्या पाँच लाख थी।

पूर्वी पाकिस्तान से आए शरणार्थियों की समस्या इतनी गंभीर नहीं थी जितनी कि पश्चिमी पाकिस्तान के शरणार्थियों की। पूर्वी बङ्गाल से आये शरणार्थियों ने पश्चिमी बङ्गाल में प्रवेश कर समस्या को और भी अधिक गम्भीर बना दिया। सरकार ने इस निरन्तर आगमन पर रोक लगानी चाही किन्तु असफल रही, क्योंकि पूर्वी पाकिस्तान में अपने को अरक्षित एवं सङ्कट में समझकर अल्पसंख्यकों ने भारत आने में ही कल्याण समझा। पाकिस्तान की सांप्रदायिकता एवं धार्मिक अंधनीति के कारण सम्पूर्ण अल्पसंख्यकों ने अपना विश्वास खो दिया था। इसीलिये समस्या निरंतर गूढ़ होती गयी। इस प्रकार के पारस्परिक गमनागमन से पाकिस्तान को पर्याप्त क्षति उठानी पड़ी। आर्थिक दृष्टि से भी उसे पर्याप्त धक्का पहुँचा जो कि पूरा होने में पर्याप्त समय लेगा। पाकिस्तान से आये हिन्दू शरणार्थी अनेकों कलाओं

में पारंगत, बुद्धि व्यवसायी, औद्योगिक शिक्षण से सम्पन्न तथा कुशल नागरिक थे। दूसरी ओर भारत से पाकिस्तान पहुँचने वाले अहिन्दू शरणार्थी अशिक्षित अभिमानी एवं उजड्ड थे। सांस्कृतिक दृष्टि से भी पाकिस्तान को कम हानि नहीं उठानी पड़ी है।

प्रथम पञ्चवर्षीय योजना में यह निश्चय किया गया कि वे घरबार वालों को, १८०००० मकान रहने के लिये दिये जायँ, उसी समय सरकार ने ६८००० मकान बनवाये और १९५२ तक ३८००० और मकान बनवाने का निश्चय किया। स्थूल रूप से यह अनुमान लगाया गया कि शरणार्थियों में से रोजगार के दफ्तर के द्वारा दो लाख व्यक्तियों को काम मिल चुका है। शरणार्थियों को छोटा-मोटा व्यापार करने के लिये भारत सरकार ने दस करोड़ रुपये बतौर ऋण के स्वीकार किया जो १,४८००० व्यक्तियों को दिया गया। आंशिक रूप से अन्य सहायताएँ भी दीं गयी। ३४००० दुकानें दी गयीं तथा २७००० दूकानें और बनवाने की योजना बनी। काँग्रेस के भूतपूर्व सभापति श्री पुरुषोत्तमदास टंडन ने स्पष्ट घोषणा की कि शरणार्थियों को दी जाने वाली सहायता उनकी अपेक्षित सहायता से बहुत कम है। पाकिस्तान से भारत आने वाले शरणार्थी ३५०० करोड़ की जायदाद वहाँ छोड़ आये हैं जबकि सरकार ने यहाँ केवल ७५ करोड़ ही उनके लिये व्यय किया है। शरणार्थियों की भयङ्कर क्षति को देखते हुये यह सहायता बहुत ही अल्प है। इस शरणार्थी समस्या का हल इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है कि अल्पसंख्यकों के हृदयों में पारस्परिक मित्रता एवं भाई-चारे के द्वारा इस प्रकार के विश्वास उत्पन्न कर दिये जांय जिससे वे अपने को असुरक्षित न समझें। साम्प्रदायिक भावनाओं को भावुकतावश अधिक न उभाड़ा जाय। अल्पसंख्यकों से घृणा करने के बजाय प्रेम किया जाय और सगे संबंधी की तरह उनका आदर किया जाय तथा उनके अभावों को भरसक पूरा करने का प्रयत्न किया जाय। क्रूर अत्याचारों के शिकार होने के कारण उनमें जो एकहीनता की गांठ पड़ गयी है और वे अपने को सब प्रकार से असहाय समझ रहे हैं उस आत्मगौरव की भावना को जगाकर नष्ट किया जाय

तथा भारत के गणतंत्र के आदर्श नागरिक होने की भावना को प्रत्येक शरणार्थी के मन में प्रबुद्ध किया जाय। इधर पुनः यह समस्या उठ खड़ी हुई है। १६ मार्च १९५६ के आस पास का समाचार है। राजधानी में बताया गया है कि पूर्वी बंगाल से आने वाले शरणार्थियों की संख्या बढ़ती जा रही है। उनकी सुव्यवस्था के लिए सरकार ने १३० शिविर स्थापित किये हैं। लगभग एक सहस्र विस्थापितों को प्रतिदिन बसाया जा रहा है। ऐसे शरणार्थियों की संख्या लगभग ४७ हजार तक पहुँच चुकी है। केन्द्रीय पुनर्वास मंत्रालय ने आगामी वित्तीय वर्ष में इनकी सुव्यवस्था पर ६ करोड़ २ लाख रुपये व्यय करने का निर्णय किया है।

: २० :

निरन्तर बढ़ती जनसंख्या की समस्या

एक समय था जब कि भारत आर्थिक दृष्टि से पूर्ण स्वतंत्र एवं सम्पन्न था और यहाँ के निवासी अपनी जीविका कमाने में पूर्ण स्वावलम्बी थे। कुटीर उद्योग धन्धों का प्रचार भारत के गाँवों में घर-घर था, सब लोग अपनी आवश्यकता की वस्तुएँ स्वयं बना लेते थे और पारस्परिक विनिमय के द्वारा पूर्ण सन्तुष्ट थे। उस समय न तो निरन्तर बढ़ती हुई जनसंख्या की समस्या उत्पन्न हुई थी और न बेकारी और भुखमरी का अटल साम्राज्य था। किंतु अंग्रेज़ों की कूटनीतिज्ञता ने भारत की आर्थिक सम्पन्नता का सत्यानाश कर दिया। उन्होंने कुटीर उद्योग-धन्धों को मूल से उखाड़ फेंका। उसके स्थान में यांत्रिक सभ्यता का प्रसार हुआ। फलस्वरूप देश के उद्योग-धन्धे शिथिल पड़ गये। भयंकर बेकारी और दरिद्रता की लहर एक सिरे से दूसरे सिरे तक फैल गयी। इस प्रकार सोने की चिड़िया भारत देश अपने ही घर में दाने-दाने को तरसने लगा।

अँग्रेज शासकों को भारत की आर्थिक संपन्नता से विशेष मोह नहीं था।

वे तो इसे खोखला बनाने में लगे थे। अधिक से अधिक जितना शोषण संभव था उतना इसको दुहने में उन्होंने कोई कोर-कसर न उठा रखी। आर्थिक संपन्नता के महान् उत्तरदायित्व से वे सर्वथा पृथक रहे। उन्होंने यहाँ तक कहने का साहस किया कि भारवासियों की दरिद्रता का मुख्य कारण उनके शासन की त्रुटियाँ न होकर निरन्तर बढ़ती हुई जनसंख्या है। यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया कि भारत अत्यधिक जनसंख्या से पीड़ित है क्योंकि यहाँ की उत्पादन शक्ति में इतनी क्षमता नहीं है कि निरन्तर बढ़ती हुई जनसंख्या को पेटभर भोजन जुटा सके।

यहाँ पर हमें वास्तविक वस्तुस्थिति पर ठीक-ठीक विचार करना है। जब यह कहा जाता है कि भारत अत्यधिक जनसंख्या से संत्रस्त है तो इसका यही अर्थ निकलता है कि यहाँ की बढ़ती हुई आबादी का पोषण करने के लिए उत्पादन के साधन पर्याप्त नहीं हैं। दूसरे शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं कि आनुपातिक ढंग से उत्पादन के साधनों एवं जनसंख्या में पर्याप्त वैषम्य है साथ ही इसे भी नहीं भुला देना है कि प्रकृति की उदारता में कोई कमी नहीं आयी है। विचारकों का अनुमान है कि निरन्तर बढ़ती हुई जनसंख्या के भार से एक वर्ग मील जोतने योग्य भूमि में ५३३ व्यक्ति हैं और सम्पूर्ण देश में समष्टि रूप से एक वर्ग मील में २५५ व्यक्ति हैं। विद्वानों का कथन है कि पूर्ण विकसित एवं उन्नतिशील देश में प्रति वर्ग मील में २५० व्यक्ति होने चाहिए। यदि इस कसौटी पर भारत को कसा जाय तो इसमें कोई भी अत्युक्ति नहीं है कि भारत अत्यधिक जनसंख्या से आक्रान्त है। ऊपर के आंकड़ों से सिद्ध हो चुका है कि भारत संसार के प्रगतिशील देशों के सम्मुख कितना पिछड़ा हुआ है।

यहाँ के निवासी ऋण के बोझ से त्रस्त हैं एवं भूमि निरन्तर बढ़ती हुई जनसंख्या के भार से आक्रान्त है। यह भारत का दुर्भाग्य है। इसमें कोई संदेह नहीं कि प्रकृति के साधनों में कोई दरिद्रता नहीं है। वे असंख्य हैं, अत्यधिक उपयोगी एवं मूल्यवान हैं, किन्तु उनका उपयोग ठीक-ठीक वैज्ञानिक पद्धति से नहीं हो पा रहा है। इसके अभाव में वे अनुपयोगी एवं व्यर्थ

पड़े हैं। फलस्वरूप हम सैद्धांतिक रूप से अत्यधिक जनसंख्या के शिकार हैं। हमारे यहाँ दरिद्रता, बेकारी एवं अभावों की अमावस्या है। यदि उर्वर भारत भूमि से प्राप्त प्राकृतिक साधनों का औद्योगिक एवं कृषि कार्यों में पर्याप्त उपयोग किया जाय तो यह समस्या बड़ी सरलता के साथ सुलझ सकती है। देश फिर उसी प्रकार वैभव एवं आर्थिक सुखों से संपन्न हो सकता है। यह अभाव तभी तक कष्टदायी है जब तक ये आर्थिक उपयोगी साधन अनुपयोगी हैं, एवं कार्य में परिणत न किये जाने के कारण व्यर्थ पड़े हैं।

निरन्तर बढ़ती हुई जनसंख्या की समस्या का सुलझाना परमावश्यक है, क्योंकि यह राष्ट्र की उन्नति में बाधा पहुँचा रही है। उसकी प्रगति में चट्टान की तरह अडिग है। यदि हम राष्ट्र के प्रासाद को पूर्ण रूप से पुष्ट एवं वैभव संपन्न देखना चाहते हैं तो हमें इस ओर विशेष ध्यान देना पड़ेगा, तथा इस भीषण समस्या को हल करने के व्यावहारिक प्रयोग करने पड़ेंगे। (१) संतति निग्रह के द्वारा यह समस्या कुछ सीमा तक सुलझायी जा सकती है। इस प्रकार का निग्रह जनसंख्या में विरोध उत्पन्न करेगा किन्तु इस सीमा तक ही पहुँचकर हमें संतोष नही कर लेना है। (२) हमें शिक्षा का व्यापक प्रसार करना पड़ेगा ताकि शिक्षित जनता व्यर्थ बच्चे पैदा करने की हानि को समझ जाय। (३) देश में जो आर्थिक एवं प्राकृतिक साधन उपलब्ध हैं उनका उपयोग समुचित एवं उत्तम ढंग से इस प्रकार किया जाना चाहिए जिससे वे अधिकतम उपयोगी सिद्ध हो सकें। (४) देश की संपत्ति एवं उत्पादन का विभाजन इस प्रकार न्यायोचित पद्धति से किया जाना चाहिए, ताकि प्रत्येक को भरण-पोषण की पूर्ण सुविधा हो, उनका मानसिक एवं सांस्कृतिक स्तर रहन-सहन के साथ ऊँचा उठे। (५) भारत की जनसंख्या का अधिकतम भाग कृषिजीवी है। इस प्रकार भूमि की उत्पादन क्षमता पर अत्यधिक दबाव पड़ता है। अच्छा यह होगा कि जनसंख्या का विभाजन औद्योगिक उद्योग-धन्धों, व्यापारों एवं दूसरे सामाजिक कार्यों में हो जाय, ताकि देश का सर्वांगीण विकास हो। साथ ही भारत

वासियों की प्रतिभा का भी चहुँमुखी विकास हो (६) भारत में अत्यधिक जनसंख्या की समस्या केवल एक सुनिश्चित आर्थिक योजना के अभाव में उठ खड़ी हुई है। यदि देश के सम्पूर्ण उत्पादक साधन एवं एक निश्चित योजना के अनुसार कार्यान्वित किये जायँ तो कोई कारण नहीं कि पुनः भारत सब प्रकार के साधनों से सम्पन्न न हो जाय। (७) अंधरूढ़ियों, अंधविश्वासों एवं अशिक्षा का दमन भी उन्नति के मार्ग में सहायक सिद्ध होगा।

: २१ :

भारत में नदी योजना

प्राकृतिक शक्तियाँ अपने में अपरिमित सृजन और संहार का संसार छिपाये रहती हैं। यदि बुद्धिमत्ता के साथ उन शक्तियों की उद्दंडता का प्रयोग व्यावहारिक क्षेत्र में कर दिया जाय तो वही दानवता, मानवता के मस्तक पर मंगल बिन्दु बन कर चमक उठती है। किसी भी प्राकृतिक शक्ति को लीजिए—उदाहरणस्वरूप नदियों की प्रखर धारा और उस अपरिमित शक्ति के आगे जहाँ बड़े-बड़े पर्वतों का विशाल व्यक्तित्व भी चूर-चूर हो जाता है, जिनकी भीषण बाढ़ मनुष्यता के लिए अभिशाप बनकर आती है और अपने पीछे भयंकर दरिद्रता, बेकारी, पीड़ा एवं अनेकों रोग छोड़कर एक विद्रूप भरी हँसी हँसते हुए चली जाती है। दामोदर और कोसी नदियों के कारण जन समूह को क्या-क्या आपत्तियाँ नहीं उठानी पड़ीं, कैसे-कैसे मुसीबत के दिन नहीं मोल लेने पड़े। उनके सोना उगलने वाले खेत नष्ट-भ्रष्ट हो गए। उनकी सुन्दर शस्य संपदा नष्ट-भ्रष्ट हो गयी, वे घर-बार से रहित हो गए किन्तु वही अभिशाप एक निश्चित योजना के अन्तर्गत कार्यान्वित होने पर वरदान बन गए। भारत के स्वतंत्र होने पर यह चिंता भी एक गंभीर समस्या के रूप में सामने आयी कि नदियों के बाढ़ की भीषण दानवता एवं प्रखर अबाध जलधारा को मानव कल्याण के लिए किस प्रकार अधिक से

अधिक उपयोगी बनाकर कार्य रूप में परिणत किया जाय। किस प्रकार उसकी संहारात्मक शक्ति का सृजन शक्ति में सुन्दर उपयोग हो। प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत इस प्रकार की अनेकों नदी योजनाएँ बनायी गयीं। नदियों एवं बड़ी-बड़ी जलधाराओं में विशाल बाँध बनवाने की योजना बनी, पानी शक्ति से बिजली पैदा करने की योजना का निर्माण हुआ जिससे लोगों का जीवन-स्तर अधिक ऊँचा हो सके और प्राकृतिक शक्ति का भी मानव कल्याण में अधिक से अधिक उपयोग हो सके।

वर्तमान समय में भारतवर्ष केवल दो उपायों से अपने आर्थिक-स्तर को ऊँचा उठा सकता है। वे हैं (१) कृषि (२) उद्योगशालाएँ। स्वतंत्रता के पूर्व कृषि को लोग उपेक्षा की दृष्टि से देखते थे। अँग्रेज शासकों ने कभी भी कृषि की उन्नति के लिए विशेष ध्यान नहीं दिया। विदेशी व्यापार को प्राथमिकता एवं बढ़ावा देकर वे भारत की आर्थिक संपन्नता को खोखला बनाते गये। इस प्रकार कृषि प्रधान भारत देश निरन्तर दरिद्र होता चला गया। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् सब से प्रथम कर्त्तव्य एवं उत्तरदायित्व सरकार पर कृषि सम्बन्धी पड़ा। क्योंकि यहाँ के निवासियों में ८५% का पेट खेती से ही भरता है। कृषि को अधिक उपयोगी बनाने के अर्थ हैं ८५% लोगों के रहन-सहन एवं सामाजिक-स्तर को ऊँचा उठा देना। इसीलिए प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत व्यय किये जाने वाले कुल रुपयों में से आधे से अधिक रुपया कृषि सम्बन्धी उन्नतियों में व्यय किया गया है।

प्रान्तीय सरकारों ने भी सिंचाई सम्बन्धी सुविधाएँ प्रदान कर के कृषि की उन्नति में आंशिक रूप से सहयोग दिया है किन्तु वे सहयोग बिखरे से हैं। साथ ही इस बात की ओर भी ध्यान देना है कि सिंचाई की योजना की सफलता को केवल पानी देने तक ही सीमित नहीं रखना है। केवल इसी एक पूर्ति से देश का अधिक कल्याण नहीं होगा। जब नदियों में बाँध बाँधने की योजनाएँ कार्यान्वित की जा रही हैं तो साधारणतया यही सोचा जाता है कि इस नदी की जलधारा को इस प्रकार मोड़ दिया जाय जिससे सिंचाई के लिए अधिक से अधिक पानी प्राप्त हो सके, अनुपजाऊ भूमि को उर्वर

बनाया जा सके और भूमि की उत्पादन शक्ति को अधिक से अधिक बढ़ाया जा सके। बाँध की सहायता से नदियों की भीषण बाढ़ को रोकने के लिए कोई गंभीर प्रयत्न नहीं किये गये। नदियों की जल शक्ति का जितना अधिक उपयोग अपेक्षित था उतना न किया जा सका। विद्युत् शक्ति न उत्पन्न कर सिंचाई तक ही उसे सीमित रख प्रायः सरकार को हानि ही उठानी पड़ी। क्योंकि जितना व्यय इस पर किया जाता था उससे मिली हुई आय बहुत कम थी। हर्ष का विषय है कि केन्द्रीय सरकार ने इस ओर विशेष ध्यान दिया है। उसने कृषि एवं सिंचाई सम्बन्धी सुधारों के लिए एक कमीशन की नियुक्ति की है, साथ ही सेन्ट्रल टैक्नीकल पावर बोर्ड की भी स्थापना की है। ये दो विभाग नदी योजना से सम्बन्धित हैं तथा प्रांतीय सरकारों को समय-समय पर तत्संबंधी सूचना भी देते रहते हैं। इन्हीं की संरक्षकता में अनेकों नदियों में बाँध बँधवाने की योजना कार्यान्वित की जा रही है; सबसे बड़ा लाभ इन योजनाओं से यह है कि वह एकाकी न होकर एक दूसरे से संबंधित है। वह केवल कृषि की उन्नति तक ही सीमित न होकर उद्योग-धन्धे, जहाजी प्रगति, स्वास्थ्य, बाढ़ निग्रह, विद्युत् उत्पादन तथा वैज्ञानिक पद्धति से भूमि को अधिक से अधिक उर्वर बनाने की ओर प्रगतिशील है। इससे भारत का भविष्य आर्थिक दृष्टि से बहुत ही उज्ज्वल दिखाई पड़ रहा है। आर्थिक उन्नति होने पर लाखों, करोड़ों व्यक्तियों के जीवन-स्तर में आशातीत सुधार होगा, जो सुख समृद्धि एवं प्रगति का प्रतीक होगा।

नदी योजना के द्वारा सबसे बड़ा लाभ यह है कि नदियों की बाढ़ जो संहारात्मक होने के कारण देश की लाखों, करोड़ों की संपत्ति और शक्ति को मटियामेट कर देती है वही अब सृजनात्मक तरीके से लाखों, करोड़ों की संपत्ति पैदाकर देश को वैभवशाली बना देगी। कृषि और उद्योग दोनों क्षेत्रों में इससे पर्याप्त उन्नति होने की आशा है। इस प्रकार 'एक पंथ दो काज' वाली कहावत इस योजना की उपयोगिता को स्पष्ट सिद्ध कर रही है। नदी योजना के द्वारा केवल बाढ़ का ही निग्रह नहीं होगा बल्कि भूमि अधिक उर्वर होकर सुख शांति एवं समृद्धि की उत्तम फसलें उगाने लगेगी। हमारे

यहाँ के अर्थशास्त्री इसके लिए सतत प्रयत्नशील हैं कि जिस प्रकार 'टेनीज-वैली अथारिटी' के द्वारा अमेरिका समृद्धिशाली बन सका है, उसी प्रकार नदी योजना के द्वारा भारत भी वैभवशाली बने। अमेरिका से ही प्रेरणा ग्रहण करके यहाँ के कुशल प्रयोगकर्त्ता नदी योजना को कार्यान्वित कर रहे हैं। इस योजना के द्वारा जो विद्युत् शक्ति उत्पन्न की जाती है वह कई दृष्टियों से हमारे लिये पूर्ण लाभप्रद है। उसकी महत्ता स्वयं अपने तक सीमित न रहकर कृषि की उत्पादन क्षमता को बढ़ाने के लिए एक अभूतपूर्व योग जुटाती है। भूमि की बंजरता एवं अनुर्वरता को समाप्त कर अधिक उपयोगी तथा उपजाऊ बनाने में सहायता पहुँचाती है। इस प्रकार के अनेकों हितकारी कार्य प्रजा की आर्थिक स्थिति को सुखमय तथा उन्नतिपूर्ण बनाने एवं उसके जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने में सतत जागरूक हैं। पारस्परिक सहयोग की भावना से प्रेरित होकर अधिक से अधिक सुख एवं स्वतंत्रता का उपभोग करने का अवसर प्रदान करना ही प्रजातंत्रीय शासन का प्रमुख लक्ष्य है।

इस प्रकार की समस्त योजनाओं का मूलाधार प्रजा का अधिक से अधिक कल्याण है। इसके द्वारा अनेकों व्यावसायिक-शालाएँ खुलेंगी, लोगों को जीविका यापन के लिये काम मिलेगा। वर्तमान और भविष्य की बेकारी दूर होगी। क्योंकि उन प्रयोग शालाओं एवं व्यावसायिक केन्द्रों में काम करने वाले सैकड़ों, हजारों कुशल यंत्र संचालकों की आवश्यकता पड़ेगी। इस प्रकार पारस्परिक सहयोग की भावना से संपादित किया हुआ राष्ट्र निर्माण का कार्य देश के लिये सौभाग्य की घड़ियाँ लाएगा; वर्तमान की कठिनाइयों एवं चिन्ताओं से मुक्त कर एक ऐसे स्वर्णिम भविष्य का निर्माण करेगा जिसमें प्रत्येक व्यक्ति का जीवन-स्तर ऊँचा हो सके और उसकी सर्वांगीण प्रतिभा का पूर्ण विकास हो सके; प्रत्येक व्यक्ति को उसके अनुकूल काम मिल सके; उसके सपनों के लिए स्वच्छन्द खुला आकाश मिल सके। इस प्रकार की योजनाओं से न केवल भौतिक सुधार ही होगा अपितु, हमारा नैतिक-स्तर भी अधिक परिष्कृत हो सकेगा। प्रजातंत्रीय शासन का वह

मधुर फल लायेगा जिससे हमारे तन मन पूर्ण तृप्त हो जायेंगे। हमारे हृदय और मस्तिष्क के पूर्ण विकास के लिये जो क्षेत्र इस प्रकार की योजना तैयार कर रहे हैं उनकी जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी है। दामोदर और कोसी नदियों में इस प्रकार की योजना कार्यान्वित की जा चुकी है। हमें पूर्ण निश्चिंतता के साथ आशा करनी चाहिए कि बाढ़ और अकाल से अब मानवता को अभिशाप के दिन नहीं देखने पड़ेंगे। जो नदियाँ अभी तक शोक और संताप लाया करती थीं वही अब आनंद और उल्लास की राशियाँ बिखेरा करेंगी।

: २२ :

सैनिक शिक्षा का महत्व

आज के अणु बम के युग में कोई भी राष्ट्र सैनिक शिक्षा की उपेक्षा करके नहीं जी सकता। पं० नेहरू ने कहा था कि शांति लाने के लिए कभी-कभी युद्ध अवश्यंभावी हो जाते हैं। इस प्रकार इस युग में युद्धों का होना भी अस्वाभाविक नहीं। ये युद्ध अप्रत्यक्ष रूप से शांति की स्थापना करने वाले हैं। युद्धों के इस संघर्षपूर्ण युग में सैनिक शिक्षा का स्वतः कितना महत्व बढ़ जाता है यह विदित ही है। आज का युग महात्मा यीशु, गौतम, गाँधी का नहीं वरन् उस पर तो चर्चिल और हिटलर की खूँख्वार आवाज छायी हुई है। समाज में, देश या संसार में, मानव वेष में सदैव डरावने और हिंसक व्याघ्र एवं भेड़िये रहे हैं, और सदैव वर्तमान रहेंगे। उनके तीखे नखों से सुरक्षा की संभावना के लिये सैनिक शिक्षा अनिवार्य है। आन्तरिक एवं वाह्य रक्षा के लिए इसका महत्व अत्याज्य है। हम अपनी सैनिक शक्ति का दुरुपयोग निर्बल राष्ट्रों की स्वतंत्रता अपहरण में नहीं करना चाहते और न लूट-खसोट कर अपना घर भरना चाहते हैं। हम स्वयं अपने बचाव के लिए, अपनी स्वतंत्रता की रक्षा के लिए एवं शांतिपूर्ण जीवन

बिताते हुए न्याय पथ पर चलने की आशा लेकर सैनिक शिक्षा का महत्व स्वीकार कर रहे हैं। दूसरे शब्दों में हिटलर या मुसोलनी ऐसी दुर्दान्त बर्बर शक्तियों की ईंट का जवाब पत्थर से देने के लिए सैनिक शिक्षा की अनिवार्यता अपने आप सिद्ध हो जाती है।

वे दिन अब अतीत के आड़ में छिप गए जब कि दो वीर आमने-सामने लड़ते हुए न्याय पथ से एक तिल भी नहीं हटते थे। अस्त्र रहित प्रतिद्वन्दी को देखकर वीर स्वयं अस्त्र फेंक देते थे। राम-रावण एवं अर्जुन-भीष्म के युद्ध कौशल के वे दिन अब लद गए। अब तो जो जितना ही छल, बल, कूटनीतिज्ञता एवं निर्दयता के साथ युद्ध-कौशल दिखला सके वही शक्तिशाली राष्ट्र कहलायेगा। आज के युग के न्याय, सत्य, ईमानदारी एवं पारस्परिक सुहृदयता की परिभाषा नये ढंग से की जाने लगी है। नाजी जर्मनी ने युद्ध-कला में नए-नए प्रयोग किये हैं जो धूर्तता, मक्कारी, छलबल, एवं कूटनीति से अनुप्राणित हैं। विज्ञान के वरदान से आज ऐसे-ऐसे अस्त्र बन गए हैं जो कुछ ही समय में समूची मनुष्य जाति को नष्ट-भ्रष्ट करने का दम रखते हैं। ऐसे-ऐसे घातक युद्ध-कौशलों का जन्म हो चुका है जो निर्दयता के साथ निरीह शिशुओं की मासूम हिचकियों को तोड़ सकते हैं। इस अणु-परमाणु बम के युग में जो जितनी ही निर्दयता, कूटनीतिज्ञता, धूर्तता एवं मक्कारी के साथ अपना पार्ट अदा कर सकता है वही सभ्य है, शिष्ट है, प्रशंसनीय है और आज का इतिहास उसी की गाथा गाने में अपना गौरव समझता है।

सैकड़ों वर्षों की पराधीनता के पश्चात् भारत ने अपनी खोई हुई स्वतंत्रता प्राप्ति की है। युग-युग की तंद्रा की शृंखलताएँ तड़क-तड़क कर टूट गयी हैं और आज वह अपने को स्वच्छंद और आकाश की तरह उन्मुक्त अनुभव करता है। किन्तु इतना ध्यान रखना चाहिये कि वर्षों की कड़ी साधना एवं तपस्या के पश्चात जो स्वतंत्रता उसे उपलब्ध हुई है वह पूर्ण रूप से सुरक्षित नहीं है, चारों ओर से हिंसक लोलुप भेड़िये लुब्ध दृष्टि से उसको देख रहे हैं। इस स्वतंत्रता की थाती की जागरूकता के साथ रक्षा

करने के लिए यह पूर्ण आवश्यक है कि देश में सैनिक शिक्षा का व्यापक प्रसार हो। एक सबल शक्तिशाली सैनिक दल तैयार किया जाय जो देश के बाहरी और भीतरी संघर्षों एवं आक्रमणों से रक्षा कर सके। इसी भावना से प्रेरित होकर भारत सरकार ने इधर अपना ध्यान आकर्षित किया है तथा अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित और पूर्ण प्रशिक्षित राष्ट्रीय सेनाएँ रख छोड़ी हैं। सम्पूर्ण सुगठित शरीर वाले १७ से ३५ वर्ष के प्रत्येक युवा व्यक्ति के लिए सैनिक शिक्षा अनिवार्य कर देनी चाहिये ताकि वह अपनी शक्ति को सुदृढ़ बनाते हुए व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से राष्ट्र की शक्ति को विशेष रूप से बलशाली बना सके। कहा जाता है कि स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मन निवास करता है, देश के शक्तिशाली स्वस्थ नागरिक अपनी शारीरिक शक्ति का सुन्दर विकास करते हुए देश के प्रति पूर्ण उत्तरदायित्व का पालन कर सकेंगे। अपने नैतिक एवं सांस्कृतिक स्तर को ऊँचा उठाते हुए देश को सांस्कृतिक एवं नैतिक दृष्टि से उन्नति के शिखर पर आसीन कर सकेंगे।

भारत सरकार ने श्री हृदयनाथ कुँजरू के सभापतित्व में बनी हुई 'राष्ट्रीय सैनिक छात्र कमेटी' के सुझावों पर अपनी पूर्ण सहमति दे दी है तथा ३०००० व्यक्तियों को सीनियर कोर्स के लिए फौजी, सामुद्रिक, वैमानिक ट्रेनिंग देने के लिये योजना बनाई है। जूनियर कोर्स के सैनिक छात्रों का अखिल भारतीय कोटा लगभग १,३५१४३ निश्चित हुआ है। इन राष्ट्रीय फौजों का संगठन प्रादेशिक आधार पर हुआ है—जैसे (१) उत्तर प्रदेश (२) मध्य प्रदेश (३) पूर्वी पंजाब (४) बम्बई (५) मद्रास (६) बिहार, उड़ीसा (७) पश्चिमी बंगाल (८) आसाम। ये फौजें देश को वाह्य आक्रमणों एवं हवाई आक्रमण के खतरों से बचाने के लिए उत्तरदायी होंगी। साथ ही युद्ध के लिए सैनिक प्रदान करने के कर्त्तव्य पालन में भी तत्पर रहेंगी। आवश्यकता पड़ने पर देश की आन्तरिक सुरक्षा के लिये ये राष्ट्रीय फौजें स्थायी फौजों को आंशिक या पूर्ण रूप से सहायता प्रदान करेंगीं। इन सब के अतिरिक्त भारत के नवयुवकों को सैनिक प्रशिक्षण ग्रहण करने का आंशिक अवसर प्रदान करेंगीं ताकि जब कभी भी कोई आवश्यकता पड़

जाय, वे कटिबद्ध रहें और भारत की पूर्ण रूप से रक्षा कर सकें। आशा की जाती है कि भारत की राष्ट्रीय फौजें तीन वर्ष के भीतर ही प्रशंसनीय दक्षता, कार्यकुशलता एवं सराहनीय उन्नति को प्राप्त कर लेंगी।

यद्यपि आज का भारत, बापू के सपनों की ही नींव पर बना है तथा आज भी वह अहिंसा, अस्तेय, दया, क्षमा को अपनाये हुए चल रहा है किन्तु इस लूट-खसोट के युग में संसार की जटिलताएँ हमें शान्त न रहने देंगीं। हमें अपनी इच्छाओं के विरुद्ध, शक्ति के बल पर शत्रुओं एवं बुराइयों का डटकर विरोध करने के लिए बाध्य होना पड़ेगा, अन्यथा हम सदैव के लिए इतिहास के पृष्ठों से लुप्त हो जायेंगे। 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' की कहावत सभी युगों में किसी न किसी रूप में चरितार्थ होती रही है। बड़े और शक्तिशाली प्राणी सदैव छोटों एवं निर्बलों को अपने भोजन का ग्रास बनाने को कटिबद्ध रहे हैं। जब तक सारा संसार एक सिरे से लेकर दूसरे सिरे तक गाँधी, मसीह तथा बुद्ध के सिद्धान्तों के अनुसार व्यावहारिक रूप से चलने को बाध्य नहीं होता तब तक शांति-शांति चिल्लाना निर्बलता का प्रतीक होगा। अतः सबल राष्ट्रों के शोषण के ग्रास न बनने के लिए हमें सब प्रकार से अपने को सैनिक शक्ति की दृष्टि से सुदृढ़ बनाने के लिए बाध्य होना पड़ेगा।

यदि हम चाहते हैं कि आज के युद्ध-प्रिय कूटनीतिज्ञ संसार की राजनीति में भाग लें, न्याय की रक्षा करते हुए सबल राष्ट्रों के बलशाली पंजों से निर्बल राष्ट्रों की स्वतंत्रता एवं गौरव की रक्षा करें, तो हमें अपने को सैनिक शक्ति की दृष्टि से पूर्णतः परिपूर्ण बना लेना पड़ेगा। आज के भौतिक युग में बुराइयों का शमन दण्ड-नीति से ही होना संभव है क्योंकि प्रत्येक राष्ट्र अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित हो, अपनी शक्ति को नित्यप्रति बढ़ाता हुआ ललचायी गृद्ध दृष्टि से अपने निर्बल पड़ोसी राष्ट्र के भाग को हड़प जाने की घात लगाये बैठा है। इसलिए यह अनिवार्य रूप से आवश्यक हो जाता है कि हम अपनी सैनिक शक्ति को यथाशक्ति बलशाली एवं सुदृढ़ बनावें।

मध्यभारत की सरकार ने सैनिक शिक्षा के लिए एक लाख रुपये का अनुदान स्वीकार किया है और अगले पाँच वर्षों में पचास हजार रुपये और

देना स्वीकार किया है नागपुर विश्वविद्यालय में स्नातक कक्षाओं में सैनिक शिक्षा देने का प्रबन्ध किया है। इस योजना के अन्तर्गत नागपुर, जबलपुर, एवं अमरावती में सैनिक प्रशिक्षण केन्द्र खोले जायँगे, जिनमें १३८० छात्रों को शिक्षा दी जायगी। इसी प्रकार पूर्वी पंजाब ने ११ लाख रुपये स्वीकार किये हैं। भारत के सेनाध्यक्ष ने अत्यन्त आधुनिकतम वैज्ञानिक रीति से सैनिक शिक्षा देने का निर्णय किया है, ताकि हम संसार के सभ्य एवं शिक्षित राष्ट्रों के आगे गर्व के साथ खड़े हो सकें। स्मरण रहे कि यह सैनिक शिक्षा हमें अपनी तथा अपनी स्वतंत्रता की रक्षा के लिए दी जा रही है, न कि निर्बल राष्ट्रों की स्वतंत्रता का अपहरण करने के लिए। हम न्याय का पूर्ण पालन करते हुए अपनी शक्ति के सहारे संसार में पूर्ण शांति स्थापित करने के पक्ष में हैं।

: ३२ :

धर्म निरपेक्ष राज्य

(The Secular State)

स्वतंत्र विचारों एवं स्वतन्त्र चेतना से अनुशासित इस युग में व्यावहारिक निष्पक्षता एवं धर्म निरपेक्षता आज के युग की देन है। मध्य युगीन सामन्तीय विचारधाराओं के विरुद्ध अपनी स्वतन्त्र सत्ता और जागरूकता का उद्घोष करती हुई, मानवजाति को धार्मिक, आध्यात्मिक, नैतिक एवं जन्मसिद्ध विचार स्वातंत्र्य के अधिकार प्रदान करती हुई यह सबको उन्नति करने का समान अवसर देती है। अन्य सांसारिक उद्देश्यों की प्राप्ति की तरह भौतिकता के प्रति विशेष आग्रह इसके सारभूत आधार हैं। इसीलिए प्रत्येक प्रजातंत्रीय राष्ट्रों में इस व्यावहारिकता को अब स्वीकार किया जाने लगा है एवं इसे मान्यता मिलने लगी है। धर्म निरपेक्ष राज्य की परिभाषा में वही राज्य आता है जो अपने नागरिकों के धार्मिक विश्वासों एवं रीतिनीतियों

में किसी प्रकार की बाधा पहुँचाए बिना भौतिक सुख संपन्नता को प्रदान करने में सहायता पहुँचाता है। राजनीति को धार्मिक समस्याओं से तटस्थ रखकर अपना कार्य संपादित करता है, साथ ही इस प्रकार के राज्य में धार्मिक विश्वासों एवं मान्यताओं के कारण वहाँ की राजनीति एवं शासन कार्यों में किसी प्रकार की बाधा नहीं उपस्थित होती। अल्पसंख्यकों की धार्मिक मान्यताओं पर किसी प्रकार की राजनैतिक उलझनें एवं विवशताएँ नहीं थोपी जातीं। कोई भी व्यक्ति राज्य के द्वारा किसी धर्म या मत विशेष को स्वीकार करने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता। उदाहरणस्वरूप प्राचीन काल में रोमन, कैथॉलिक, प्रोटेस्टेन्ट देशों में अपना प्रभुत्व स्थापित करने के साथ ही वहाँ की सामाजिक एवं धार्मिक मान्यताओं पर भी अपनी छाप विशेष बल-पूर्वक छोड़ने के आदी थे, ठीक यही स्थिति प्रोटेस्टेन्ट लोगों की कैथॉलिक देशों पर थी। औरङ्गजेब का अत्याचारी शासन प्रसिद्ध ही है। उसने सांप्रदायिकता की आड़ लेकर हिन्दुओं पर जजिया कर लगा दिया था, किन्तु धर्म निरपेक्ष राज्य में इस प्रकार के भेद-भावों को किसी प्रकार की भी मान्यता नहीं दी जाती। इस राज्य के नागरिक अपने अधिकारों का चाहे वे राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक किसी प्रकार के भी हों, स्वतन्त्रता के साथ उपभोग करने के लिये पूर्ण रूप से मुक्त हैं। किन्तु यदि उनकी स्वतन्त्रता उच्छृङ्खलता में परिणित होकर राज्य की शांति एवं सुरक्षा को भंग करती है, तो राज्य उन पर अंकुश लगाने के लिए विवश हो जाता है।

धर्म निरपेक्ष राज्य के आदर्श एवं सिद्धान्त ईश्वर प्रभुत्व सम्पन्न दैवी राज्यों के सिद्धान्तों से जिनमें पादरी, मुल्लाओं व पंडितों की धार्मिक रूढ़ियों का ही अटल साम्राज्य रहता था, बिल्कुल भिन्न होते हैं। ईश्वर प्रभुत्व राज्य (Theocratic State) के अत्याचारों की कहानियों से आज का युग भलिभाँति परिचित है। एक समय वह था जबकि पोप लोगों का इसाई समाज पर इतना अंधाधुन्ध अधिकार था कि मरते समय जब तक वे मृतक का पर्याप्त धन लेकर परवाना न लिख देते थे तब तक उसे स्वर्ग में प्रवेश करने का अधिकार नहीं मिलता था। इस प्रकार के अन्धविश्वासी राज्य

में पंडित, पादरी और मौलवी अपने को ईश्वर के प्रतिनिधि घोषित करते थे और दृढ़ बन्धनों से समाज को कसते हुए मनमाना कर वसूल कर उसे भयभीत किये हुए थे। उस समय मानवीय भावनाओं को कुचलकर प्राकृतिक जड़ उपादानों की पूजा होती थी। पन्त जी ने लिखा है—

संग सौध में हो शृङ्गार मरण का शोभन,
नग्न क्षुधातुर वास विहीन रहे जीवित जन।
शव को हम दें रूप, रंग आदर मानव का ?
मानव को हम कुत्सित चित्र बना दें शव का ?
भूल गये हम जीवन का संदेश अनश्वर
मृतकों के हैं मृतक जीवितों का है ईश्वर ?

उस समय के शास्त्र एवं धार्मिक पुस्तकें भी इसी प्रकार की अन्ध श्रद्धा एवं रूढ़ियों से मिलकर बनी थीं। उनकी जड़ मरणोन्मुख मान्यताओं के बोझ से समाज की रीढ़ टूट रही थी। पादरी अपनी इच्छाओं एवं आदेशों को ईश्वर की इच्छाएँ एवं आदेश कहकर समाज के भार बन रहे थे। उस समय स्वतंत्र विचार चिन्तन एवं स्वतन्त्र रूप से व्यक्तित्व के विकास करने को ग्रहण लग चुका था। उस समय की सम्पूर्ण राजनीति मन्दिर, मस्जिद एवं गिर्जाघरों के कठमुल्लों के हाथ की कठपुतली बनी हुई थी। यह तो स्पष्ट ही है कि इस प्रकार की अन्धविश्वासी ईश्वर-प्रभुत्वता अत्याचारी एवं स्वच्छन्दवादी शासकों को मनमाना अत्याचार करने के लिये उत्तम अवसर प्रदान करती है। वे स्वयं अपने को दूसरा ईश्वर मानने लगते हैं और अपने को ईश्वर का प्रतिनिधि मानते हुए जन्मसिद्ध अधिकारों को मनवाने के लिये प्रजा को बाध्य करने लगते हैं। भले ही उन अधिकारों से प्रजा के प्राण घुटते हों, किन्तु इसकी उन्हें परवाह क्या ? इतिहास साक्षी है। अँग्रेजी इतिहास में ट्यूडर काल में यही विपिन्न स्थिति थी। इस प्रकार के अत्याचारों से मुक्ति दिलाने का एक मात्र श्रेय धर्म निरपेक्ष राज्य को ही है। क्योंकि यह राष्ट्र गिर्जाघरों के हाथ की कठपुतली न बनकर उन्हें मनमाना नचाता रहता है, इस प्रकार के राष्ट्रों में अन्धी धार्मिकता राजनीति

पर हावी नहीं होने पाती। प्रजातंत्र की उल्लसित भावना ईश्वर प्रभुत्ववादी राज्यों का घोर विरोध करती है क्योंकि अंततोगत्वा प्रजातंत्र की पुकार प्रजा की पुकार है, ईश्वर की नहीं। लिंकन ने प्रजातंत्र की परिभाषा करते हुए स्पष्ट लिखा है कि 'प्रजा का राज्य प्रजा के द्वारा प्रजा के लिए'। आधुनिक युग में प्रजा की पुकार में ही ईश्वर की पुकार को ढूंढने का प्रयत्न किया जाता है।

स्वतंत्र भारत व्यावहारिक धर्म निरपेक्ष राज्य के सिद्धांतों पर अपना विकास कर रहा है। हमारा विधान भारत को सार्वभौम गणतंत्र राष्ट्र घोषित करता है तथा हमारे भारत की शासनपद्धति में प्रजातंत्र की आत्मा का निवास है। हमारे विधान की २५वीं-२६वीं धाराओं में स्पष्ट उल्लेख है कि धर्म संबंधी मामलों में राष्ट्र किसी भी व्यक्ति के विचारों पर किसी भी प्रकार का नियंत्रण नहीं करता। उसे अधिकार है कि वह चाहे जिस किसी धर्म का पालन करे। दूसरे शब्दों में उसे पूर्ण रूप से धार्मिक-स्वतन्त्रता प्राप्त है। साथ ही किसी भी धर्म के अनुयायी को अपने धर्म के पालन में समान रूप से अधिकार दिये गये हैं। धर्म किसी भी राजनीतिक विषय में रुकावट नहीं डालता। धर्म और राजनीति समानान्तर रेखाओं पर चलते हुए अपना-अपना स्वतंत्र विकास करते हैं। इस प्रकार व्यावहारिक धर्म निरपेक्ष राज्य के लिए ये गुण अनिवार्य रूप से आवश्यक हैं। इन्हीं की सहायता से विभिन्न धर्मानुयायियों, अल्पसंख्यकों एवं भिन्न-भिन्न जातियों के नागरिकों में पारस्परिक प्रेम की भावना का उदय होता है। उनमें सद्भावनाओं का जन्म होता है। सद्भावनाओं के जन्म लेने से राज्य में सुख-शांति एवं समृद्धि का आगमन होता है। पाकिस्तान से तुलना करने पर हमारे भारत की महत्ता का पता स्पष्ट रूप से चल जाता है, वहाँ पर अल्पसंख्यकों का जीवन अब भी सुरक्षित नहीं है, उन्हें पूर्ण रूप से अपनी सुरक्षा के प्रति विश्वास नहीं है। क्योंकि वह राज्य विशेष रूप से ईश्वर-प्रभुत्ववादी है।

व्यावहारिक धर्म-निरपेक्ष राज्य की विशेष महत्ता न समझते हुए अर्ध शिक्षित व्यक्ति इसे धर्मविरोधी राष्ट्र के नाम से पुकारते हैं। किन्तु यह उनकी

समझ का फेर है क्योंकि व्यावहारिक धर्म निरपेक्ष राज्य कभी भी किसी धर्म का विरोध या उपेक्षा नहीं करता, वरन् सबको अपने-अपने धर्म पालन का सुअवसर देता है, यह अवश्य है कि वह किसी धर्म विशेष की वकालत नहीं करता। भारत में कितनी ऐसी जातियाँ हैं जो ईश्वर की सत्ता में विश्वास नहीं करतीं, किन्तु राज्य कभी भी उन पर या उनके स्वतंत्र विचारों पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं लगाता।

इस प्रकार यह स्पष्ट रूप से सिद्ध हो जाता है कि व्यावहारिक धर्म-निरपेक्ष राज्य के प्रत्येक नागरिक को अपने व्यक्तित्व का स्वतंत्र रूप से विकास करने का सुन्दर अवसर मिलता है। उसकी धार्मिक, सामाजिक राजनीतिक, विचारधाराओं में किसी प्रकार की पराधीनता नहीं लादी जाती। प्रत्येक व्यक्ति को आध्यात्मिक उन्नति करने का, अपनी मानसिक चेतनाओं को विकसित करने का, अपने व्यक्तिगत विचारों को व्यक्त करने का सुअ-अवसर दिया जाता है। इस प्रकार वह अपनी प्रतिभा को यदि उसमें शक्ति है तो, सर्वतोन्मुखी बनाते हुए राष्ट्र का एक आदर्श नागरिक कहलाने का अधिकारी बन सकता है।

: २४ :

जमींदारी उन्मूलन एवं उसका प्रभाव

हमारे जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने के लिए सबसे अधिक आवश्यक सुधार भूमि संबंधी अधिकारों में परिष्कार करने की आवश्यकता थी। इस विषय में प्रायः समस्त अर्थशास्त्री एकमत हैं कि धनी और दरिद्र वर्ग के बीच की लम्बी-चौड़ी खाई पाटने के लिये तथा कृषि से प्राप्त आय में समानता लाने के लिये एक ऐसे नियम की आवश्यकता है जिससे राष्ट्रीय धन का वितरण समानुपातिक ढंग से हो सके। इसके लिए आधुनिक समय के अनुकूल भूमि संबंधी आवश्यक सुधार होना आवश्यक है। भूमि का

स्वामित्व एक ऐसा क्लिष्ट प्रश्न है जिसे वास्तविकता की दृष्टि से सुधार एवं परिष्कृत करना परमावश्यक है।

भूमि संबंधी अधिकारों के नियमों में जो दोष थे वे सब के सब निर्धन कृषकों पर बोझ बन कर टूटते थे। उन नियमों का ढाँचा ही कुछ इस प्रकार बना था कि जो अन्न के उपजाने वाले अन्नदाता कृषक थे, जो रात-दिन जाड़े, गर्मी, बरसात में घोर परिश्रम करके अनाज पैदा करते थे और जिनकी गाढ़ी कमाई से सारे समाज का निर्वाह होता था वही किसान अपने परिश्रम के फल का समुचित उपभोग नहीं कर पाते थे। स्वयं सबको भोजन देते हुए भी वे भूखे पेट सो जाते थे। वे बेचारे सिर से पैर तक ऋण में ही डूबे रहते थे। उनके बारे में यह कहावत प्रसिद्ध थी कि वे बेचारे ऋण में ही पैदा होते थे, ऋण में ही पलते थे, और ऋण में ही मर जाते थे। यदि देखा जाय तो हमारे देश में आनुपातिक रूप से उन भूमि-धारियों की संख्या अपेक्षाकृत कम है, जो स्वयं खेती करते हैं और अपने हाथ से हल चलाते हैं। भारतवासियों की दरिद्रता का मुख्य आधार पूर्ण रूप से मनुष्य निर्मित ही न होकर प्रकृति पर ही आश्रित है। यदि भारतीय कृषक चाहते हैं कि उनकी आर्थिक स्थिति में सुधार हो, वे अपने को ऋण के भार से मुक्त कर सकें तो उन्हें आधुनिकतम वैज्ञानिक ढंग से कृषि कार्य करना होगा। प्रकृति की जड़ शक्तियों पर एक मात्र आश्रित न रहकर विज्ञान के वरदानों से लाभ उठाना होगा।

अब हमें इस बात पर विचार करना है कि हमारे देश में पाए जाने वाले भूमि संबंधी अधिकारों के प्रचलन की क्या स्थिति है, उसके कितने प्रकार हैं, इसके अध्ययन के पश्चात् ही हम कृषि संबंधी सुधारों के विषय में सोचने के अधिकारी हो सकते हैं। भारतवर्ष में इसके दो प्रकार पाये जाते हैं। (१) जमींदारी प्रथा (२) रैयतवाड़ी प्रथा। पहली प्रथा का प्रचलन उत्तरी भारत में है और दूसरी का दक्षिणी भारत में। भूमि का ६५% जमींदारी के अन्तर्गत है और शेष ३५% रैयतवाड़ी में सम्मिलित है। रैयतवाड़ी में भूमि का मालिक किसान होता है और मालगुजारी देने में सरकार से उसका

सीधा संबंध होता है। जमींदार रूपी मध्यस्थ की उसे आवश्यकता नहीं पड़ती। ज़मींदारी प्रथा में किसान मालगुजारी जमींदार की मध्यस्थता से सरकार को देता है उसका सरकार से कोई सीधा संबंध नहीं होता इसलिए वह ज़मींदार की स्वेच्छाचारिता एवं मनमाने अत्याचारों के शिकार बना रहता है। जमींदार उसके खून-पसीने की कमाई का अधिक से अधिक भाग हड़पने की घात लगाये बैठा रहता है। सबसे बड़ा दोष इस प्रथा में यही है कि ज़मींदार भूमि के स्वामी तो बने रहते हैं किन्तु खेती का काम अपने हाथ सें करने में अपना अनादर समझते हैं। वे गाँवों से दूर अपने खेतों को छोड़े हुए शहरों के आनन्द का उपभोग करते हैं तथा किसान के घोर परिश्रम का फल स्वयं भोगते हैं। अपनी जमीन किसानों को जोतने को दे देते हैं और उनसे लगान लेने के साथ ही साथ आधी पैदावार भी बँटा लेते हैं। इस प्रकार उन्हें बिना हाथ पैर डुलाये पर्याप्त आय यों ही मुफ्त में हो जाती है। बेचारे किसानों के हिस्से में रात-दिन ताबड़तोड़ परिश्रम करने पर भी इतना नहीं पड़ता जिससे कि वे अपने बच्चों को भर पेट खिला सकें। शिक्षा-दीक्षा की तो बात करना ही पाप है। जमींदार भूमि से विशेष संबंध न रखने के कारण उसके सुधार में भी कोई ध्यान नहीं देते। फल यह होता है कि अच्छी खाद और खूराक के अभाव में भूमि का निरंतर शोषण होता जाता है और उसकी उर्वरता में क्रमागत ह्रास होने लगता है। क्रमशः पैदा-वार घटती जाती है। उस भूमि को जोतने वाले किसान भी यह सोचकर कि यह साल-दो-साल बाद दूसरे के हाथ में चली ही जाना है, उसे उपेक्षा की दृष्टि से देखते हुए अधिक से अधिक दुहने का प्रयत्न करते हैं। यदि कुछ सुधार करना भी चाहते हैं तो निर्धन होने के कारण असमर्थ हो जाते हैं। वह समय अब बहुत दूर गया जबकि भूमि आवश्यकता से बहुत अधिक थी और जनसंख्या अपेक्षाकृत कम थी। उस समय लोग गहरी खेती न करके विस्तृत खेती करते थे किन्तु अब तो जनसंख्या पहले से दूनी हो गयी है और निरन्तर बढ़ती ही जा रही है जब की भूमि की मात्रा उतनी ही है और उस पर भी उपयोगिता की दृष्टि से "क्रमागत ह्रास" का नियम लागू हो रहा

है। इस प्रकार अपनी बढ़ती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति केवल एक इसी ढंग से हो सकती है कि गहरी खेती की जाय और भूमि की उर्वरता को स्थिर रखने के लिए अधिक से अधिक वैज्ञानिक खाद एवं खूराक पहुँचायी जाय।

भारतवर्ष किसानों का देश है। यहाँ की ८५% जनता का एकमात्र व्यवसाय खेती करना है। धनी एवं निर्धन लोगों के बीच की दूरी कम करने के लिए कांग्रेस सरकार ने जो सबसे अधिक महत्वपूर्ण कदम उठाया है वह है 'जमींदारी उन्मूलन'। अब सरकार और किसान के बीच में रक्तशोषक जमींदार की कोई आवश्यकता नहीं है, किसान सरकार से सीधा संबंध रखता है तथा कोई भी कृषक दसगुना लगान जमाकर के भूमिधर या भूमि का स्वामी बन सकता है। भूमि के अधिकार उसके वही होंगे जो अब तक जमींदारों को प्राप्त थे। अब उसे कोई उसकी भूमि से अधिकार-च्युत नहीं कर सकता। उसका भूमि पर एक मात्र एकाधिकार होगा।

जमींदारी उन्मूलन के लाभ या प्रभाव—

(१) किसान का भूमि पर स्वामित्व हो जायेगा। उसकी इस आशंका का अन्त हो गया है कि भूमि हमारे हाथ से छिन जायगी। अपनत्व की भावना आ जाने पर वे भूमि की उर्वरता बढ़ाने का अथक प्रयत्न करेंगे। इस प्रकार भूमि का निरंतर शोषण रुक जायगा; उसमें स्थिरता आ जायगी।

(२) किसान के घोर परिश्रम का फल दूसरे के अधिकार में न जाकर स्वयं उसे ही प्राप्त होगा। उसे अपनी गाढ़ी कमाई का सुन्दर फल मिलेगा। जमींदारी उन्मूलन का अर्थ है देश की ८५% जनता की आर्थिक स्थिति में महत्वपूर्ण उन्नति होना। उसके जीवन-स्तर का ऊँचा होना। भरपेट रोटी मिलने पर वे अपने बच्चों की शिक्षा-दीक्षा का उत्तम प्रबन्ध कर सकेंगे। शिक्षित संतानें देश के नैतिक आदर्शों की रक्षा करते हुए उसे स्वावलम्बी एवं उन्नतिशील राष्ट्र बना सकेंगी।

(३) समाज में धनी और निर्धनों के बीच की लम्बी-चौड़ी खाई अपने आप ही पट जायगी। आर्थिक असमानता दूर हो जाने पर समाज में पूर्ण रूप से सुख एवं शांति की संभावना है।

(४) राष्ट्रीय धन का वितरण न्यायपूर्ण तो होगा ही, साथ ही यह भी आशा की जाती है कि किसानों की स्थिति में आर्थिक एवं नैतिक लाभ की दृष्टि से महत्वपूर्ण परिवर्तन होगा जो उनके जीवन-स्तर को सुखमय बनाने के लिए पूरी-पूरी सहायता करेगा।

(५) हमें यह भली भाँति समझ लेना चाहिये कि जमींदारी उन्मूलन के बिना हम कोई ऐसी जबरदस्त क्रांति करके परिवर्तन नहीं उपस्थित कर सकते जिससे कि समाज का वर्तमान आर्थिक ढाँचा ठीक-ठीक काम करने लगे।

इस प्रकार यह स्पष्ट दिखाई पड़ता है कि जमींदारी उन्मूलन से भारत की जनता का अधिकतम भाग अपनी कमाई के सुखों का न्यायोचित ढंग से उपभोग कर सकेगा जिसे कवि सोहन लाल द्विवेदी बहुत पहले आँसू पोंछते हुए कहा करते थे—

ये नभ चुम्बी प्रासाद-भवन, जिनमें मंडित मोहक कंचन।
ये चित्रकला कौशल दर्शन, ये सिंह पौर तोरन वन्दन।
गृह टकराते जिनसे विमान, गृह जिनका सब आतंक मान,
शिर झुका समझते धन्य प्राण, ये आनबान, ये सभी शान,
वह तेरी दौलत पर किसान ! वह तेरी मेहनत पर किसान !
वह तेरी हिम्मत पर किसान ! वह तेरी ताकत पर किसान !
ये बड़े-बड़े साम्राज्य, राज युग-युग से आते चले आज।
ये सिंहासन ये तख्त ताज, ये किले दुर्ग गढ़ शस्त्र साज।
इन राज्यों की ईंटें महान, इन राज्यों की नीवें महान।
इनकी दीवारों की उठान, इनकी प्राचीरों के उड़ान।
वह तेरी हड्डी पर किसान ! वह तेरी पसली पर किसान।
वह तेरी आंतों पर किसान ! नस की ताँतों पर रे किसान।
तुमरो सुभाष है भासमान, तुमसे मोती का बढ़ा मान।
तू ज्योति जवाहर की महान, उड़ता नभ पर अपना निशान !
वह तेरी ताकत पर किसान, वह तेरी कूवत पर किसान !
वह तेरी जुरअत पर किसान, वह तेरी हिम्मत पर किसान।

: २५ :

समाचार पत्र

आज के वैज्ञानिक युग की कई देनों में से समाचारपत्र भी एक देन है। संसार के राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय जीवन में 'प्रेस और प्लेटफार्म' का प्रभाव अत्यन्त महत्वपूर्ण है। समाचार पत्रों के माध्यम से प्रेस समस्त देशों की जनता एवं सरकार पर अपना शक्तिशाली प्रभाव छोड़ते हैं। आज के व्यस्त जन संकुल युग में जबकि यातायात के साधन एवं आने-जाने के उपाय इतने उन्नतिशील एवं द्रुतगति पूर्ण हो गये हैं हमारे जीवन को ढालने एवं तदनुकूल निर्माण करने में समाचार पत्र अपना एक विशिष्ट व्यक्तित्व रखते हैं। नगरों में प्रातःकाल होने के पूर्व ही समाचार पत्र विक्रेता कौतूहल उत्पन्न करनेवाली आकर्षक वाणी से चिल्ला-चिल्ला कर सड़कों पर दौड़ने लगते हैं, समाचार पत्र पाठन का व्यसन कुछ लोगों को इस सीमा तक हो जाता है कि प्रातःकाल की चाय समाचार पत्र के अभाव में उन्हें फीकी एवं नीरस लगती है, जी ऊबने सा लगता है और एक अभाव सा खलने लगता है। गाँवों के शिक्षित व्यक्ति भी साप्ताहिक या दैनिक समाचारपत्र पाने की उत्कट अभिलाषा में पोस्टमैन के आगमन की घोर प्रतीक्षा में पलक पांवड़े बिछाये बैठे रहते हैं।

समाचार पत्र हमें केवल विभिन्न प्रकार के समाचार ही नहीं देते अपितु संपादकीय टिप्पणियों के द्वारा राजनीतिक एवं अन्य प्रकार की पेचीदी गुत्थियों को सुलझाने की दृष्टि भी देते हैं किन्तु हमें यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि प्रत्येक समाचार पत्र का अपना दृष्टिकोण होता है, अपनी रीति-नीति होती है, उन्हीं नियमों एवं नीतियों से अनुशासित होकर वह चलता है यही कारण है कि एक ही समस्या को हल करने के लिए विभिन्न प्रकार के समाचारपत्र अपने-अपने दृष्टिकोणों के अनुसार विभिन्न सुझाव रखते हैं। भारत, अमृत पत्रिका, हिन्दुस्तान, नव-जीवन, स्टेट्समैन, लीडर आदि प्रमुख समाचारपत्रों के अपने-अपने सिद्धान्त हैं, कभी-कभी इन लोगों में पारस्परिक मतैक्य भी हो जाता है।

समाचार पत्र को हाथ में लेने के साथ हम तुरंत उसके मुखपृष्ठ पर दृष्टि डालते हैं। उस दिन की सबसे प्रमुख घटना मोटे टाइप में समाचारपत्र के मुख पृष्ठ पर छपी होती है। उसी पृष्ठ पर उससे कम महत्वपूर्ण घटनाओं एवं समाचारों को स्थान दिया जाता है किन्तु ये घटनाएँ अंतिम पृष्ठों के समाचारों से कहीं अधिक विशेषता रखती हैं। अँग्रेजी समाचारपत्रों में दूसरे पृष्ठ पर हमें विविध विज्ञापनों से भेंट करनी पड़ती है जो वाणिज्य, व्यवसाय, नौकरी, विवाह एवं नीलाम संबंधी सूचनाओं से पूर्ण रहते हैं। इस विषय में इतना जोड़ देना महत्वपूर्ण होगा, कि समाचार पत्रों में विभिन्न प्रकार के सच्चे-झूठे विज्ञापन निकलते रहते हैं। औषधियों आदि के आकर्षक विज्ञापन तो प्रायः धूर्तता पर ही टिके होते हैं। समाचार पत्रों के संपादक विज्ञापन का खर्च पाकर उनकी वास्तविकता का बिना पता लगाए ही उन्हें छाप देते हैं। उच्चस्तर के समाचार पत्र में स्थान पाने से उनकी महत्ता और भी अधिक बढ़ जाती है, फल यह होता है कि उनकी लपेट में गरीब अपढ़ रोगियों के साथ शिक्षित व्यक्ति भी फँस जाते हैं। अतः आवश्यक है कि इस प्रकार के विज्ञापनों की वास्तविकता का प्रमाण-पत्र पा चुकने के बाद ही उन्हें पत्र में स्थान दिया जाय। विज्ञापन-पृष्ठ के पश्चात् संपादकीय लेख होता है जो कि समाचार पत्र का विशेष महत्वपूर्ण अंश है। उस दिन की या गत विभिन्न पेचीदी समस्याओं पर विद्वान् संपादक सूक्ष्म दृष्टि डालते हुए तर्कपूर्ण शैली से सुझाव प्रस्तुत करता है, यदि पत्र किसी विशेष दल का प्रतिनिधित्व नहीं करता तो उस स्थिति में उसकी सम्मतियाँ अधिक निष्पक्ष, तटस्थ एवं न्यायपूर्ण होती हैं अन्यथा उल्टे-सीधे तर्कों एवं प्रमाणों से वह अपने सिद्धान्तों को दूसरों पर थोपने का प्रयत्न करता हुआ दिखाई पड़ता है। कुछ स्थान समाचार पत्र में कानूनी विषयों एवं न्यायालय की विज्ञप्तियों को दिया जाता है, स्थानीय समाचारों को आगे वाले पृष्ठ में सम्मान के साथ स्थान दिया जाता है, पूरा पृष्ठ स्थानीय समाचारों के लिए सुरक्षित रहता है। उसी पृष्ठ में स्थानीय सिनेमाओं के कार्यक्रमों की भी चर्चा रहती है साथ ही विभिन्न जातीय, सामाजिक, साहित्यिक, राजनीतिक

गोष्ठियों के कार्यक्रमों का उल्लेख रहता है। विश्वविद्यालय संबंधी सूचनाएँ भी प्रायः यहीं जमा दी जाती हैं। आगे वाले पृष्ठ में विभिन्न जिलों के समाचार रहते हैं जैसे मध्यप्रदेश, विंध्य प्रदेश, मध्यभारत-समाचार। इसके पश्चात् क्रीड़ा जगत्, ऋतु सूचना, वाणिज्य व्यवसाय, संपादक के नाम पत्र, बाजार भाव आदि की विभिन्न सूचनाओं से पूरा पृष्ठ भरा रहता है। अंतिम पृष्ठ को आज के युग की सबसे अधिक आकर्षक चर्चा 'सिनेमा जगत की कौतूहल-पूर्ण खबरों' से प्रेम के साथ सजाया जाता है। प्रति सप्ताह प्रत्येक समाचार-पत्र एक अतिरिक्त साहित्यिक-अंक प्रकाशित करते हैं जिसमें विविध विषयों पर लेख, कविताएँ, कहानी, पहेली प्रतियोगिता एवं बच्चों के लिए हल्की-फुल्की सामग्री रहती है। दैनिक मूल्य में ही साप्ताहिक अतिरिक्त साहित्यिक सामग्री देकर समाचार पत्र अपने पाठकों का मनोरंजन करते हुये उनकी ज्ञान-वृद्धि करते हैं। भारतवर्ष के लिए समाचार पत्रों का प्रकाशन अधिक पुरानी घटना नहीं है। इस समाचार-संसार में सर्वप्रथम प्रकाशित होनेवाला पत्र 'समाचार दर्पण' था जो विविध समाचारों को प्रतिबिम्बित करता था। किसी भी समस्या को गहराई के साथ हल करने की क्षमता का इसमें अभाव था। इसके पश्चात् प्रेस की दिन प्रति दिन उन्नति होती गई और उसके साथ ही पत्रकारिता की भी। अमृतबाजार पत्रिका (जो अब तक ८८ वर्ष देख चुकी है) ने इस क्षेत्र में एक अद्भुत प्रगति का परिचय दिया। इस प्रकार हमारी राष्ट्रीय चेतना को उद्बुद्ध करने में आज के समाचार पत्रों ने महत्वपूर्ण योग दिया है।

शिक्षित व्यक्तियों में समाचार-पत्र पढ़ने की एक उत्कण्ठा होती है वही उत्कंठा एक व्यापारी, खिलाड़ी और राजनीति में भाग लेनेवाले के पास जाने पर आवश्यकता में परिणित हो जाती है। एक प्रोफेसर के लिए समाचार पत्र मनोरंजन का साधन हो सकता है। आज के युग में समाचार पत्रों से सम्पर्क न रखने का अर्थ है 'कूप मंडूक होना' और इसे इस युग का कोई भी प्रगतिशील व्यक्ति पसन्द न करेगा। यदि हम जानना चाहते हैं कि संसार के कोने-कोने में कहाँ क्या हो रहा है, हमें किस प्रकार वर्त-

मान परिस्थितियों के अनुसार अपने को ढालना चाहिये, विज्ञान के नित नये वरदानों से हम किस प्रकार अपने जीवन को अधिक से अधिक सुखी बना सकते हैं तो इन सबकी पूर्ति करने का ठेका आज के संसार में समाचार पत्रों ने ले रक्खा है, यह हमें जान लेना चाहिये।

किसी भी समाचार पत्र का सर्वप्रथम मुख्य उद्देश्य जनता को संसार के किस कोने में कहाँ क्या हो रहा है, इसका सही-सही ज्ञान कराना होना चाहिये। जो समाचार पत्र अपने किसी निश्चित संकुचित उद्देश्य की स्वार्थ-पूर्ति के लिए भ्रमात्मक बातों का प्रचार करके जनता को पथभ्रष्ट करते हैं वे विश्वासघाती हैं। देशद्रोही क्या दूसरे होते हैं? समाचार पत्रों को अपने बलिष्ठ व्यक्तित्व का अच्छी प्रकार से ज्ञान होना चाहिये, यह तो वे जानते ही हैं कि आज के इस युग में जनता के जीवन को बनाने-बिगाड़ने, उठाने-बैठाने एवं उभारने-दाबने में वे कितना बड़ा हाथ रखते हैं, न केवल राजनीतिक, सामाजिक दृष्टि से 'अपितु व्यापारिक एवं स्वास्थ्य संबंधी उद्देश्यों से भी। स्वयं राष्ट्र के जीवन में समाचार पत्रों का विशिष्ट स्थान है क्योंकि जनता और सरकार के बीच में समाचार पत्र ही तो दुभाषिए के रूप में हैं। वे सरकार की उचित अनुचित कार्यवाहियों की आलोचना करके प्रजावर्ग का पथ प्रशस्त करते हैं, जनता के मनोभावों का सही विश्लेषण उपस्थित कर सरकार को तदनुसार काम करने के लिये बाध्य करते हैं। समाचार पत्रों के द्वारा ही जनता की राजनीतिक शक्ति एवं चेतना में वृद्धि होती है। जीवनस्तर के ऊँचा होने के साथ-साथ उसमें आदर्श नागरिक बनने के गुणों का विकास होता है। समाचार पत्र मानवता की अत्यन्त सच्चाई के साथ सेवा कर सकते हैं। संसार के किसी कोने में भूचाल, अकाल या बाढ़ के कारण आयी असामयिक दुखद घटना को समाचार पत्र ही हमें सुनाकर पीड़ित व्यक्तियों की सहायता के लिये बाध्य करते हैं। किसी कोने या पास-पड़ोस में फैली संक्रामक बीमारियों से बचाव के लिये पहले से हमें चेतावनी दे देते हैं किन्तु इस प्रकार के समाचार पत्र के वरदान अभिशाप में भी बदल सकते हैं, समाचार पत्र अपनी किसी निश्चित संकुचित नीति के झोंके

में आकर जनता की सांप्रदायिक भावनाओं को उभाड़कर रक्त की नदियाँ बहवा सकते हैं। सरकार और जनता में पारस्परिक मनमुटाव करवा सकते हैं एवं इस प्रकार सारे देश के भाग्य को अपनी मुट्ठियों में ले सकते हैं। सुख, शांति एवं समृद्धि को दूभर कर सकते हैं। दलबंदी को प्रश्रय देकर, फूट के बीज बोकर अशांति, आपत्ति एवं अमानवीय व्यवहारों को आमन्त्रित कर सकते हैं।

किन्तु हमें कहना यही पड़ेगा कि यदि समाचार पत्र अपनी अपरिमित शक्ति का सदुपयोग राष्ट्र निर्माण एवं कल्याण में करें तो वे राष्ट्र के अभ्युत्थान में अपनी महत्वपूर्ण सेवाएँ जोड़ सकते हैं।

: २६ :

बिना तार के संवाद प्रसारण

(Broadcasting)

विज्ञान ने आधुनिक समाज को असंख्य सुविधाएँ एवं आश्चर्य प्रदान किये हैं किन्तु रेडियो के बराबर किसी अन्य ने मानव समाज को उतनी सुख-सुविधा, मनोरंजन एवं लाभ नहीं पहुँचाए। बिना तार के संवाद प्रसारण के माध्यम से आज तक मानव समाज ने जितना लाभ उठाया है उतना किसी भी युग में किसी भी वैज्ञानिक वरदान से उसे नहीं मिल सका था। यह कहना अत्युक्तिपूर्ण न होगा कि रेडियो ने हमारे आधुनिक जीवन में एक अद्भुत क्रान्ति ला दी है। सात समुद्र पार के राष्ट्रों, वहाँ की जनता एवं उनके आचार-विचारों में प्रशंसनीय सम्मिलन कराने के लिए रेडियो ने भीष्म प्रतिज्ञा की है। यदि रेडियो का प्रयोग सही-रूप से किया गया तो निस्सन्देह वह शांति के स्वप्न को यथार्थता का स्वरूप देगा। रेडियो का आविष्कार विज्ञान की मंजिल न होकर रास्ते के पत्थर का मील है, टेलीविजन उसका दूसरा मील चिन्ह है। बिना तार के संवाद प्रसारण की आयु अभी केवल तीस वर्ष की है। सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक मारकोनी ने सर्वप्रथम बिना

तार की सहायता से संवाद प्रसारित करने का सफल प्रयोग किया था। साधारणतया तार के द्वारा समाचार सूक्ष्म बिजली के पोले तारों द्वारा आते थे किन्तु इसमें मारकोनी ने बिना तार की सहायता के एक प्रकार की विद्युत् लहरों के द्वारा संवाद प्रसारण की योजना कार्यान्वित की। एरियल (aerials) की सहायता से भेजने और पानेवाले के पास समाचार बड़ी सरलता के साथ पहुँच जाने लगे। इस प्रकार तीस वर्षों के अन्तर्गत बिना तार के संवाद प्रसारण की कला ने सभ्यता के हर एक क्षेत्र में एक अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की। रेडियो के द्वारा हम केवल सुदूर देश से प्रसारित की गयी ध्वनि को ही सुन सकते हैं किन्तु टेलीविजन में तो जो व्यक्ति प्रसारित कर रहा है उसका वास्तविक चित्र भी देख सकते हैं। इस प्रकार टेलीविजन विज्ञान का आधुनिकतम प्रयास एवं रेडियो का परिष्कृत संस्करण है। रेडियो हमें दिन भर की थकान के पश्चात् श्रवण सुखद मनोरंजन प्रदान करता है, न केवल सस्ता मनोरंजन ही अपितु शिक्षा संबंधी अमूल्य सुविधाएँ प्रदान करता है। अत्यधिक व्यस्त व्यक्ति जो समाचार पत्र के लिए दस-पंद्रह मिनट नहीं दे सकता, रेडियो उसको चुने हुए मुख्य-मुख्य समाचार बहुत कम समय में बड़ी सरलता के साथ बता देता है। समाचार पत्र की तरह न तो रेडियो उसके मस्तिष्क का बोझ बनता है और न आँखों का अलग्योझा। सबसे बड़ा वरदान जो रेडियो के द्वारा इस युग को प्राप्त हुआ है वह है अशिक्षा दूर करने का सफल प्रयत्न। रेडियो के अतिरिक्त इतने बड़े लम्बे चौड़े पैमाने पर कम खर्च में कोई भी साधन शिक्षा के प्रचार में सफल नहीं हो सके हैं। इसके द्वारा गाँवों के अपढ़ किसानों को बड़ी सरलता के साथ खेती को उन्नतिशील बनानेवाले उन अचूक उपायों से जानकारी करायी जाती है जो उनके पिछड़े मस्तिष्क में सफलता के साथ बैठ जाते हैं। स्वास्थ्य, व्यापार, इतिहास, भूगोल, राजनीति, दर्शन, साहित्य, विज्ञान सभी बातों की सामयिक एवं अर्वाचीन-प्राचीन चर्चा रेडियो के द्वारा की जाती है जो सारे संसार के लोगों को एक ही साथ बहुत सस्ते दामों में मिल जाती है। रेडियो अपने-अपने विषयों के अधिकारी विद्वानों से विश्वविद्यालय वार्ता के अन्तर्गत महत्वपूर्ण

विषयों पर व्याख्यान माला का आयोजन करके जो विद्वतापूर्ण व्याख्यान देश-विदेश के विद्यार्थियों के लिए प्रसारित करता है उसके व्यय का क्या कुछ अनुमान लगाया जा सकता है ? यह रेडियो की ही कृपा है कि भारत के एक पिछड़े हुए ग्राम में बैठा हुआ कोई एक छात्र कैम्ब्रिज के अधिकारी विद्वान के भाषण को घर बैठे सुन लेता है जो संभवतः पहले तीन चार हजार रुपये में मिल पाता। संयुक्त राष्ट्रों ने अन्तर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय के निर्माण की एक योजना बनाने का प्रस्ताव किया था। जिससे विभिन्न-विभिन्न विषयों पर संसार के चोटी के विद्वानों से उनके अधिकृत विषयों पर व्याख्यान प्रसारित करने की योजना कार्यान्वित की जाय। जिन विषयों को विद्यार्थी विश्वविद्यालयों में उबा देने वाले समझकर छोड़ देते हैं उन्हीं को रेडियो की मनोरंजक शैली के द्वारा भलीभाँति पचा लेते हैं। रेडियो के द्वारा धार्मिक वार्ताएँ भी प्रसारित की जाती हैं। एक हिन्दू कुरआन की सूक्ष्म से सूक्ष्म बातों से अवगत हो जाता है, बाइबिल का पंडित हो जाता है। गीता के उपदेशों को सुनकर एक मुसलमान भी निष्काम कर्मयोगी बनने का प्रयत्न करने लगता है, यह सब सुलभ साधन हमें रेडियो ही एकत्र करता है। इस प्रकार रेडियो एक विद्यार्थी के लिए विद्वान शिक्षक है, रोगी के लिए कुशल डाक्टर या वैद्य है, खिलाड़ी के लिए उसका हार्दिक मित्र है, धार्मिक श्रोताओं के लिए पुरोहित व्यास है, व्यापारी के लिए विज्ञापन का साधन है एवं रागरंग में मस्त रहनेवाले के लिए प्राणों से भी प्यारा आँखों का तारा है जो सीलोन (लंका) की रिकार्डिंग एवं पाकिस्तान की गजलें तक ही अपने संसार को सीमित रखता है।

रेडियो का भविष्य अत्यन्त उज्ज्वल है। हम भारतवासी इसकी अमूल्य देन से अब भी भरपूर लाभ उठाने में पिछड़े हैं। रेडियो ने इतने बड़े विस्तीर्ण संसार को संवादप्रसारण की कला के द्वारा एक बड़े कुटुम्ब में परिणित कर दिया है किन्तु इस क्षेत्र में हमारा भारत कितना पिछड़ा हुआ है, हमें कभी न भूलना चाहिए। छत्तीस करोड़ आबादी वाले भारत में केवल एक दर्जन रेडियो स्टेशन ही स्थापित हो पाए हैं जब कि

भारत की २/३ आबादी वाले रूस में पाँच सौ रेडियो स्टेशन हैं। भारत सरकार इस दिशा में विशेष प्रयत्नशील है और निकट भविष्य में अधिक संख्या में रेडियो स्टेशन बनवाने का प्रयत्न कर रही है।

रेडियो भी समाचार पत्रों की तरह दुधारी तलवार हैं। यदि एक ओर यह शिक्षा, स्वास्थ्य, ज्ञान विज्ञान की सुविधा प्रदान करता है तो दूसरी ओर भ्रामक प्रचार के द्वारा संसार के विभिन्न राष्ट्रों में पारस्परिक द्वेष के बीज भी बो सकता है, भयंकर रक्तपात कराने का उत्तरदायी हो सकता है। जनता के मस्तिष्क को गलत प्रचार के द्वारा विषाक्त बना सकता है। यह पिछले युद्धों द्वारा भली भाँति सिद्ध हो चुका है। जर्मनी के महान् हिटलर ने रेडियो का दुरुपयोग इसी अर्थ में किया था। अपने संकुचित एवं त्रुटिपूर्ण उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए उसने जो भ्रामक प्रचार किया उसके द्वारा जर्मनी को विप्लव का मरणान्तक उपहार मिला।

यदि रेडियो को, विज्ञान के इस अनुपम वरदान को, मानवता की अर्चना के लिए नियोजित करना है तो हमें इस विषय में पूर्ण रूप से सतर्क एवं जागरूप रहना पड़ेगा ताकि इसकी शक्ति का दुरुपयोग न होने पावे। हम इसकी असीम व्यापक कल्याण भावना को क्षुद्र संकुचित स्वार्थपूर्ण दृष्टियों में न बांधे यदि हमने ऐसा कर लिया तो निस्संदेह रेडियो का यह वरदान सम्पूर्ण मानवता के लिए सुख शांति एवं समृद्धि का स्वर्णिम प्रभात लाएगा जिसके आलोक में युग-युग की दरिद्रता, अशिक्षा एवं अंधकारमयी रजनी का सम्पूर्ण पाप नष्टभ्रष्ट हो जाएगा।

: २७ :

विज्ञापन

जब समाचार पत्रों में सर्वसाधारण के लिए कोई सूचना प्रकाशित की जाती है तो उसको विज्ञापन कहते हैं। यह सूचना नौकरियों से संबंधित

हो सकती है, खाली मकानों को किराये पर उठाने के संबंध में हो सकती है किसी औषधि के प्रचार से संबंधित हो सकती है, शादी व्याह से लेकर पहेली प्रतियोगिता तक, अचार मुरब्बे से लेकर अफगान स्नो एवं कामिनियाँ हेयर आयल तक जितनी भी प्रचार संबंधी सूचना समाचार पत्रों में प्रकाशित होती हैं वह सब विज्ञापन की श्रेणी में आती हैं। कुछ लोग विज्ञापन की निस्सारता पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं कि यदि कोई वस्तु यथार्थ रूप में अच्छी है तो वह बिना किसी विज्ञापन के अपनी अच्छाई के कारण जनता में प्रचार पा जायगी इसी प्रकार बुरी वस्तु विज्ञापन की सहायता पाकर भी भंडाफोड़ होने पर बहुत दिनों तक नहीं टिक पाएगी किन्तु इस युग में जब कि हमारे संबंधों का क्षेत्र इतना विस्तीर्ण एवं व्यापक हो चुका है विज्ञापनों का होना अनिवार्य हो जाता है। किसी अच्छी वस्तु की वास्तविकता से परिचय पाना आज के विस्तीर्ण संसार में विज्ञापन के बिना नितान्त असंभव है, विज्ञापन ही वह शक्तिशाली माध्यम है जो हमारी आवश्यकता की मनोवांछित वस्तुएँ ला जुटाते हैं। यदि कोई व्यक्ति या कम्पनी किसी वस्तु का निर्माण करती है तो उसे हम उत्पादक कहते हैं जो अपनी वस्तु को बेंचने के लिए उत्सुक रहते हैं। दूसरी ओर बनी हुई वस्तुओं को खरीदने के लिए जो व्यक्ति होते हैं वे उपभोक्ता कहलाते हैं। बनी हुई वस्तुओं को पैसों से खरीदकर वे अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कर संतोष प्राप्त करते हैं। इस प्रकार विज्ञापन उत्पादक और उपभोक्ता के बीच मध्यस्थता का काम करता है, वह उत्पादक को उपभोक्ता के सम्पर्क में लाता है तथा माँग और पूर्ति में सन्तुलन स्थापित करता है।

एक समय वह था जब कि समाचार पत्रों का अभाव था, विज्ञापन शब्द से लोग अपरिचित थे। किसी वस्तु की अच्छाई का विज्ञापन मौखिक परंपरा के द्वारा होता था, एक व्यक्ति से दूसरे, तीसरे, चौथे तक बात पहुँचते-पहुँचते अपना संकुचित क्षेत्र तैयार कर लेती थी। उस समय लोगों की आवश्यकता भी सीमित थी, लोग किसी वस्तु के अभाव की तीव्रता का अनुभव भी नहीं कर पाते थे। किन्तु विज्ञान की नवीन प्रगति के साथ

दिन प्रतिदिन हमारी आवश्यकताएँ बढ़ रही हैं साथ ही हमारे रहन-सहन का स्तर भी बढ़ रहा है, किसी वस्तु की आवश्यकता हमारे लिए विभिन्न दृष्टिकोणों से आव्श्यक, सुविधाजनक एवं भोगविलासपूर्ण हो सकती है किसी देश के राष्ट्रीय जीवन निर्माण में विज्ञापन महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। विज्ञापन के उचित प्रयोग से विभिन्न वस्तुओं के निर्माता ग्राहकों के सम्पर्क में आते हैं। विज्ञापन के अभाव में समाचार पत्रों की रोचकता समाप्त हो जाती है। लोग जिस वस्तु की खोज में रहते हैं विज्ञापन के द्वारा ही उसे कम खर्च में सुविधा के साथ प्राप्त कर लेते हैं यही विज्ञापन की पूर्ण सार्थकता है। विज्ञापन के द्वारा कोई भी व्यक्ति अपने व्यापार एवं व्यवसाय में समृद्धिशाली हो सकता है। इसी प्रकार राष्ट्र की समृद्धि व्यापार वाणिज्य, कृषि एवं उद्योग के क्षेत्र में सस्ते प्रभावपूर्ण विज्ञापनों पर आश्रित रहती है। आज का आधुनिक संसार विज्ञापन का संसार है। यदि हम किसी समाचार पत्र के पृष्ठ उलटें तो हमें विभिन्न प्रकार के विज्ञापन हमारा स्वागत करते हुए दृष्टिगोचर होंगे। विभिन्न विचित्र मुद्राओं के चित्र, आकर्षक भाव पूर्ण शैली, लालसा एवं कौतूहल उत्पन्न करने वाले ढंग बरबस हमें मोह लेते हैं। भाग्य का निर्माण करने वाले विज्ञापन, प्रेमज्वर से लेकर मुकदमें के मलेरिया बुखार को गारंटी के साथ दूर करने का दम भरते हुए दिखलाई पड़ते हैं। यदि हम किसी बड़े नगर की मुख्य सड़कों से निकलें तो हमें असंख्य आकर्षक विज्ञापन हमारा ध्यान खींचते हुए दिखलाई पड़ेंगे। सिनेमा और थिएटर भवनों से लेकर विद्या के पवित्र मन्दिर विश्वविद्यालय की गंभीर दीवारों में हमें काम सम्बन्धी एवं सिनेमा की प्रसिद्ध अभिनेत्रियों के कामोद्दीपक चित्र मिलेंगे। यह विज्ञापन का संसार इतना आकर्षक बना दिया जाता है कि एक संयमी और चतुर व्यक्ति भी इस आकर्षण में अपने को बाँध देता है। विज्ञापनबाजी के विभिन्न साधन हैं, समाचार पत्र, पोस्टर्स, रेडियो, सिनेमा, स्क्रीन, एवं एजेन्टों के द्वारा किसी वस्तु का विज्ञापन किया जाता है। वाशिंग कंपनियों के द्वारा भी धुले हुए कपड़ों के साथ छोटे-छोटे कागज के टुकड़ों में छपे विज्ञापन भेज दिए

जाते हैं। विज्ञापन का एक आधुनिकतम तरीका अमरीका आदि प्रगतिशील देशों में इस प्रकार का है। जैसे यदि कोई कम्पनी किसी नये साबुन, तेल आदि का निर्माण करती है तो जनता में उस साबुन या तेल का नामकरण करने के लिए चार पाँच हजार के पुरस्कार के सहित एक विज्ञापन प्रकाशित करवा देती है। जनता के द्वारा भेजे गए नामों में जो प्रतिशत के हिसाबसे सबसे अधिकहोते हैं, एवं एक दूसरे से मिलते हैं, सबसे अधिक प्रिय एवं प्रचलित नामों में से एक को चुनकर उस साबुन या तेल का नामकरण कर दिया जाता है, जैसे ही बाजार में वह वस्तु आती है, अधिकांश जनता अपना चुना हुआ प्रिय नाम पाकर उसी वस्तु को खरीद लेती है इस प्रकार चारपाँच हजार रुपये के पुरस्कार के द्वारा उनके विज्ञापन का क्षेत्र अत्यधिक विस्तीर्ण हो जाता है। हमारे यहाँ लक्स पहेली प्रतियोगिता में सम्मिलित होने के लिये प्रवेश शुल्क लक्स साबुन के ऊपर का कवर ही माँगा जाता है इस प्रकार से उनकी एक लक्स साबुन की प्रति प्रतियोगी के हिसाब से बिक्री हो ही जाती है। विज्ञापन को यदि हम व्यापार की आत्मा कहें तो अत्युक्ति न होगी।

विज्ञापन के द्वारा व्यापार बढ़ता है, किसी वस्तु की मांग बढ़ती है, बिक्री में वृद्धि होती है एवं सबकी वृद्धि के साथ रहन-सहन का स्तर बढ़ता है। फिल्मी संसार तो पूर्ण रूप से विज्ञापन के ही सहारे जीता है। यदि किसी खेल के बनाने में चार लाख रुपये खर्च किये जाते हैं तो कम से कम उससे आधे रुपये उस खेल के विज्ञापन में अवश्य खर्च किये जाते हैं, निकम्मे खेलों के प्रचार में तो कभी-कभी लागत के बराबर रुपया विज्ञापन में खर्च होता है। आज के युग में कोई भी व्यापार विज्ञापन से वंचित होकर फल फूल नहीं सकता। विज्ञापन के अभाव में अच्छी से अच्छी वस्तु भी मिट्टी के मोल नहीं बिक पाती। अपरिचित रहने के कारण अच्छी से अच्छी औषधियाँ भी अपने जीवन की निस्सारता में सिर धुनते हुए घुन को पौष्टिकता प्रदान करती है।

विज्ञापन से लाभ के अतिरिक्त हानियाँ भी हैं। सच्चाई एवं ईमान-

दारी के अभाव में विज्ञापन देश की समृद्धि एवं सर्वसाधारण की उन्नति में, विश्वास में, व्यवहार में एक प्रकार की शंका सी पैदा कर देते हैं। धूर्तता के साथ वास्तविक ईमानदारी भी पिसती है अतएव बहुत आवश्यकता है कि सरकार इस प्रकार के छली और प्रवंचक विज्ञापनदाताओं के प्रति कड़ा से कड़ा व्यवहार करे। औषधि संबंधी विज्ञापनों को छापने के पूर्व समाचार पत्रों के संपादक उस औषधि की परीक्षा कर लें। इन दोषों के दूर हो जाने पर विज्ञापन हमारे व्यापार को स्पृहणीय स्वस्थता प्रदान करेंगे इसमें किसको सन्देह हो सकता है।

: २८ :

हड़ताल

आए दिन प्रायः यत्र-तत्र सर्वत्र हड़ताल होने की चर्चाएँ सुनाई पड़ती हैं। हड़ताल आधुनिक युग में एक प्रकार से अनिवार्य हो गई है। शायद ही कोई ऐसा दिन खाली जाता हो जब की समाचार पत्र के पृष्ठ हड़ताल की सूचनाओं से शून्य रहते हों। संसार के किसी न किसी भाग में किसी न किसी प्रकार की हड़ताल चालू ही रहती है चाहे वह मजदूरों की हो, चाहे रेलवे कर्मचारियों की, चाहे कालेज या विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों की। आधुनिक औद्योगिक प्रगति ने भय उत्पन्न करने वाली जिस समस्या को जन्म दिया है वह है पूंजी और परिश्रम में पारस्परिक संघर्ष। दूसरे शब्दों में मिल मालिकों और मजदूरों में आपसी तनातनी। दोनों के सम्मिलित प्रयास से उत्पादन होता है इसे तो सभी स्वीकार करते हैं। किन्तु दोनों में समान वितरण न होने के कारण कटुता उत्पन्न होती है। पूंजीपति उत्पादित वस्तु के विक्रय में हुए लाभ का रुपये में बारह आने लेकर चार आने मजदूरों को देना चाहते हैं या देते हैं जबकि उनका अधिकार आठ आने पर है, इन्हीं चार आनों की प्राप्ति के लिए हड़तालें होती हैं। मजदूर कहते हैं कि यह हमारे

रक्त और पसीने की कमाई है, इस पर हमारा न्यायतः अधिकार है। हमें हमारा भाग मिलना ही चाहिए। हमारी ही कमाई से मिल मालिकों को अजीर्ण रहे और हमारी आँतें भूख के मारे कुलबुलाने लगें। पूँजीपति शिक्षित, सभ्य, धनी एवं सुसंगठित होने के कारण ही हम पर मनमाना अत्याचार करते हैं इसीलिए न, कि हम असभ्य, निर्धन, अशिक्षित एवं छितरे हुए हैं। हमारी और उनकी लड़ाई शेर बकरी की तरह है किन्तु जिस दिन हममें संगठन हो जायगा, हमें अपने अस्तित्व का सही-सही ज्ञान हो जायगा हम 'एकता ही बल है' इस सिद्धान्त को भलीभाँति जान जायँगे, उस दिन हमारी चोटों से बड़े-बड़े साम्राज्यों की भी नीवें उखड़कर मिट्टी में मिल जायँगी। मजदूर या कर्मचारी वर्ग जिस उपाय का अवलम्बन कर पूँजीपतियों या मालिकों से लड़ते हैं उसे हड़ताल कहते हैं। जब कर्मचारी या मजदूर वर्ग संगठित और एक होकर अन्याय और शोषण के प्रति चाहे वह व्यापार में हो या नौकरियों के क्षेत्र में खुली चुनौती देते हुए अपने शोषित एवं कुचले हुए अधिकारों की माँग करते हैं, पेटभर रोटी माँगते हैं, तन ढकने को कपड़ा माँगते हैं, रहने को निवास माँगते हैं और एक मनुष्य की तरह रहने-बसने की सुविधाएँ माँगते हैं वहीं से हड़ताल के स्वरूप का निर्माण प्रारंभ हो जाता है। विज्ञान की प्रगति एवं औद्योगिक सभ्यता के फलस्वरूप हड़ताल ने सर्वहारावर्ग में एक क्रांतिकारी परिवर्तन ला उपस्थित किया है। किसी उद्योग को चलाने के लिए कारखाने या उद्योग में पूंजी और परिश्रम का न्यायपूर्ण सम्मिश्रण होना आवश्यक है और फल का समान वितरण होना भी अनिवार्य है किन्तु जब मजदूरों के द्वारा किये गए परिश्रमजनित फलों का अधिकतम अंश पूंजीपति हड़प लेते हैं तभी अनेक प्रकार की रुकावटें एवं समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं। हड़ताल संबंधी यह संक्रामक रोग आजकल सम्पूर्ण संसार में फैला हुआ है। जब इस प्रकार की समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं तब हड़ताल के सिवा मजदूरों के लिए कोई चारा ही नहीं रह जाता। उनको (पूंजीपतियों को) यह भी समझाने का प्रयत्न किया जाता है कि बिना मजदूरों के तुम्हारी पूँजी और मशीनरी का कुछ भी मूल्य नहीं है।

मजदूरों के बल पर ही समस्त उत्पादन टिका हुआ है इसलिए मजदूरों का तो यह जन्मसिद्ध या न्यायसिद्ध अधिकार ही है कि उनके ताबड़तोड़ परिश्रम का समुचित एवं भरपूर फल उन्हें मिले। लाभ के हिस्से में उनका भी भाग होना अत्यंत आवश्यक है। जब पूंजीपति मजदूरों को उनके परिश्रम का उचित फल देना अस्वीकार कर देते हैं तब मजदूरों को विवश होकर हड़ताल करनी पड़ती है। हड़ताल होने से उत्पादन बन्द हो जाता है, उत्पादन बन्द होने से, देश की आवश्यकताओं की पूर्ति न होने से असन्तोष उत्पन्न हो जाता है, मशीनें और पूँजी बेकार पड़ी रहती हैं। उस स्थिति में मजदूरों के परिश्रम का वास्तविक मूल्यांकन होता है, अन्त में मजदूरों की माँगें कम या अधिक अंशों में स्वीकार कर ली जाती हैं और हड़ताल समाप्त हो जाती है। अब संसार के प्रत्येक भाग के मजदूरों में जागृति और चेतना आ गयी है एवं वे अपना और अपने परिश्रम का वास्तविक मूल्य समझने लगे हैं साथ ही वे शोषक वर्ग से चुनौती के स्वरों में अपने न्यायपूर्ण एवं प्राकृतिक अधिकारों की माँग कर रहे हैं। १९१८ की महान् क्रान्ति ने जिसने रूस को साम्यवादी बना दिया है, इस प्रकार की चेतना में चार चाँद लगा दिये हैं। मजदूरों ने संगठित होकर अपने सङ्घ स्थापित कर लिये हैं और वे जागरूकता एवं मुस्तैदी के साथ बिना किसी कृतज्ञता के अपने परिश्रम के फल के अधिकार को माँग रहे हैं। इस प्रकार के शक्तिशाली माध्यम द्वारा मजदूरों की युगों-युगों से कुचली शोषित, अपहृत सुविधाएँ अब उन्हें प्राप्त हो रही हैं।

हड़ताल के कई रूप होते हैं। कुछ हड़तालें तो अहिंसात्मक उपायों या सत्याग्रह में विश्वास करती हैं, कुछ भीषण रक्तपात एवं तुरंत ही निर्णय करके छीना झपटी में ही अपना कल्याण देखती हैं। इस प्रकार की हड़तालों का स्वरूप बहुत ही उग्र और तूफानी होता है। इसमें मशीनें तोड़ दी जाती हैं, काम करने के औजारों को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया जाता है तथा दोनों ओर (पूंजीपतियों या मिल मालिकों एवं मजदूरों में) भीषण रक्तपात तक हो जाता है। इन हड़तालों का परिणाम विशेष कल्याणकारी एवं शुभ नहीं होता क्योंकि अन्ततोगत्वा इनमें राष्ट्रीय शक्ति या धन का दुरुपयोग तो होता ही

है। अहिंसात्मक उपायों के द्वारा कार्यान्वित की गयी हड़तालें बड़ी शांति के साथ अपने अभीष्ट को प्राप्त कर लेती हैं, न इसमें किसी प्रकार की शारीरिक क्षति होती है और न आर्थिक, इस प्रकार की हड़तालों में पूँजीपतियों की दृष्टि में मजदूरों के प्रति एक प्रकार की सहानुभूति एवं प्रेम भावना पैदा हो जाती है। महात्मा गाँधी द्वारा प्रचारित भूख हड़ताल का लक्ष्यवेध अमोघ होता है, विरोधी पक्ष पर इसका प्रभाव जबरदस्त पड़ता है, आजकल हड़ताल का प्रायः यही लोकप्रिय रूप प्रचलित है। कॉलेज और विश्वविद्यालय के छात्र भूख हड़ताल को ही अपने हितों की रक्षा के लिए पूर्ण उपयोगी समझते हैं। आधुनिक वैज्ञानिक युग में भूख हड़ताल को जितनी सफलता प्राप्त हुई है उसे देखकर महान् आश्चर्य हुआ है।

हड़ताल की सफलता अधिकांश रूप में हड़ताल करनेवालों की एकता एवं संगठन की भावना पर निर्भर है। संगठन होने के साथ-साथ उनके पास एक ऐसा कोष होना चाहिए जो कि हड़ताल के समय उनकी सहायता कर सके। कर्मचारियों या मजदूरों की हड़तालें अपनी मजदूरी में वृद्धि करने के संबंध में होती हैं किन्तु उनकी हड़ताल से केवल उस समय उनकी ही आर्थिक हानि नहीं होती वरन् सामाजिक जीवन में भी विशृंखलता आ जाती है। उदाहरण-स्वरूप डाकखाने के कर्मचारी यदि हड़ताल कर दें तो हड़ताल के दिनों तक हमारी चिट्ठी-पत्री आनी बन्द हो जायँगी, इससे हमें कितनी असुविधा का सामना करना पड़ेगा, इसका अनुमान आसानी से लगाया जा सकता है। मेहतरों की हड़ताल से सारे शहर में भयंकर गंदगी और बीमारी फैलने की शत-प्रतिशत संभावना हो सकती है। यदि बिजलीघर के कर्मचारी दुर्भाग्यवश हड़ताल कर दें तो सब लोगों को अँधेरे की ही शरण में जाना पड़े।

हड़ताल से जहाँ कई लाभ हैं वहाँ वह अपने पीछे अनेकों कठिनाइयाँ भी छोड़ जाती है। हड़ताल करने वाले तो इसमें पिसते ही हैं, गेहूँ के साथ घुन को भी पिसना पड़ता है, हड़ताल में भाग न लेनेवाले भी संदेह के कारण कष्ट के भागी हो जाते हैं। हड़ताल में भाग लेने वालों के लिए

तो यह समय अग्नि परीक्षा का होता है। जीवन और मृत्यु का प्रश्न होता है, यदि कभी अभाग्यवश हड़ताल असफल हो गयी तब तो उनका ईश्वर ही मालिक है। वे अपनी नौकरियों से निकाल दिये जाते हैं, पेट की आग में उनको तथा उनके लड़के-बच्चों को तड़प-तड़पकर मरना पड़ता है। कभी-कभी प्रायः यह भी देखा जाता है कि कुछ स्वार्थी एवं अपना मतलब गांठने वाले नेता लोग भी मजदूरों को अशिक्षित एवं मूर्ख समझकर उनका पक्ष तो ले लेते हैं किन्तु अपना स्वार्थ-सिद्धि हो जाने पर उन सिंह के मुख में छोड़कर भाग निकलते हैं। ऐसे रंगे सियारों से भोले-भाले मजदूरों को सदैव सावधान रहना चाहिए तथा उनके उत्तेजक व्याख्यानों के लपेट में सहसा न आकर शान्त चित्त से अपने हित-अनहित पर विचार करना चाहिए। सबसे महत्वपूर्ण काम है मजदूरों में शिक्षा का प्रचार का। जब वे भली प्रकार से शिक्षित हो जायँगे, अपने कर्त्तव्य एवं अधिकारों से पूर्णतः परिचित हो जायँगे तब सहसा वे किसी के चगुल में नहीं आ सकते। समय ने पूँजी-पतियों को सुझा दिया है कि वे दिन अब गये जब मजदूरों पर मनमाना अत्याचार होने पर भी किसी प्रकार का असन्तोष नहीं प्रकट किया जाता था अब तो सबसे भाईचारे के व्यवहार से ही रहने में पूर्ण कुशलता है। पूँजीपति भी अब यह अनुभव करने लगे हैं कि यदि कर्मचारियों को भरपेट रोटी खाने को मिले, जीवनयापन की सारी सुविधाएँ हों उनके लिए शिक्षा का प्रबंध हो तो उनसे बदले में विशेष परिश्रम एवं कार्यक्षमता की आशा की जा सकती है, वे पहले से अधिक परिश्रम एवं चतुरता के साथ अपना काम सुंदरता के साथ कर सकते हैं। इसीलिए अधिकांश मिल मालिक अब इनके पक्ष में हैं और वे चाहते हैं कि इनके लिए रहने के निवास जो बनवायें जायँ वह साफ हवादार और स्वस्थप्रद हों, इनकी आमदनी इतनी हो जिससे वे पौष्टिक भोजन कर अपने स्वास्थ्य को अधिक से अधिक दिनों तक स्थायी रख सकें उनके बच्चों के लिए स्कूल हों, मुफ्त दवा का प्रबन्ध हो, बुढ़ापे में पेंशन मिलने की सुविधा हो, इस प्रकार दोनों ओर से विशेष समझौता करने पर बड़ी शान्ति के साथ यह भीषण समस्या सुलझाई जा सकती है।

: २६ :

प्रचलित अन्धविश्वास

संसार के प्रत्येक कोने में चाहे वह सभ्य हो या असभ्य एवं पिछड़ा, समान या आंशिक रूप में अन्धविश्वास प्रचलित है। कारण मनुष्य अपने भाग्य-अवसर पर अपनी सारी झंझटें छोड़कर मुक्त हो जाना चाहता है। मनोविज्ञान का मसौदा भी कुछ इसी प्रकार का है। जो भी कार्य भाग्य, अवसर, यंत्र-मंत्र, टोने-टोटके के ऊपर निर्भर रहकर अपने को सफल बना पाते हैं वे सब अन्धविश्वास की सीमा में आते हैं। मनुष्य की सीमित बुद्धि को देखते हुए यह स्वाभाविक ही है कि वह एक टिकाव चाहता है भले ही उनकी नींव पुष्ट न हो, कहना नहीं होगा बेबुनियादी अन्धविश्वास अधकचरी-बुद्धिवालों के लिए शक्तिशाली नींव का निर्माण करते हैं। जब मानव अपनी सीमित बुद्धि से परे कोई काम देखता है तो तुरंत वह किसी अज्ञात दैवी शक्ति पर विश्वास करने लगता है एवं अपनी सहायता के लिए उसका आवाहन करता है, भले ही वह अज्ञात दैवी शक्ति उसके अन्तर की ज्योति हो किन्तु इसको सोचने-विचारने का उसके पास समय या बुद्धि ही कहाँ ? सफलता प्राप्त होने पर सम्पूर्ण श्रेय उसके परिश्रम को न मिलकर उसी अज्ञात शक्ति या भाग्य को दिया जाता है इस प्रकार विवेकशून्यता एवं भाग्यवादिता द्वारा पोषण पाकर अन्धविश्वास तगड़े होते जाते हैं। जहाँ मूर्खता का साम्राज्य होता है वहाँ अन्धविश्वासों की तानाशाही खूब चलती है। प्रगतिशील एवं वैज्ञानिक प्रकाश से आलोकित देशों में भी किसी न किसी रूप में बहुरूपिये वेषों में इन अन्धविश्वासों की पूजा हो ही जाती है। लगभग संसार के सारे प्रगतिशील देश अब भी भाग्य पर विश्वास करते देखे जाते हैं। यह अंध-विश्वास नहीं तो फिर क्या है ? यद्यपि यह अपने परिष्कृत रूप में है।

अन्धविश्वासों के कई प्रकार होते हैं। कुछ तो जातिगत होते हैं, कुछ धर्म संबंधी होते हैं, कुछ सामाजिक होते हैं और कुछ तो ऐसे विश्वजनीय होते हैं कि सब देशवासी उनका स्वागत करते हैं। इन अन्धपरम्पराओं या

रूढ़ियों के चलने का इतिहास भी कम मनोरंजक नहीं है। इस पर प्रकाश डालते हुए 'अद्भुत क्रांति' के विद्वान् लेखक श्री हरिशंकरजी जोशी ने लिखा है कि 'मेरे पड़ोस में एक गाँव है, वहाँ एक दिन एक व्यक्ति के घर में श्राद्ध हो रहा था। बीच में एक बकरी का बच्चा खुलकर श्राद्ध की भूमि-रसोई में कूद पड़ा। भोजन भी छू गया, श्राद्ध भी भ्रष्ट समझा गया। मरे या बकरी के शव की तो छूत नहीं, पर जीवित जो शव से शुद्ध है उस से रसोई छू गई, खैर ? दूसरा भोजन बनाया गया, श्राद्ध का दुबारा आयोजन करने के पहले बकरी के बच्चे को एक डलिया के तले ढककर रख दिया गया। अब सतर्कता के लिए प्रत्येक बकरी वाला श्राद्ध के दिन बकरी के बच्चों को डलिया के तले ढककर रखने लगा। दिन बीतते गये, लोग इस सतर्कता का कारण भूल गये। कई लोगों ने बकरी पालने का धंधा छोड़ अन्य कार्य भी संभाल लिया। पर श्राद्ध के दिन बकरी के बच्चे को ढकने की प्रथा बन गई। अब किसी के पास बकरी हो न हो, बकरी के बच्चे हों न हों, उसे श्राद्ध के दिन की इस बकरी के बच्चे को डलिया के तले ढकने की प्रथा को निभाने के लिए, दूसरे के यहाँ से बकरी का बच्चा और डलिया उधार लाना आवश्यक हो गया। अब बकरी वालों की चल पड़ी। लगे ऐंठने मनमाने पैसे, बकरी उधार देने के लिये भी। अब इस गाँव में श्राद्ध तब तक नहीं हो सकता जब तक कहीं से बकरी के बच्चे को लाकर डलिया के तले न रखा जाय। जो कोई विद्वान् वहाँ जाकर श्राद्ध कराने में बकरी के बच्चे को डलिया के तले नहीं ढक पायेगा, सब कहेंगे, इसे तो श्राद्ध कराना नहीं आता। ऐसी लाखों रूढ़ियों को हटाने के लिए क्या उपाय हो सकता है ? भारतीयों का समस्त जीवन, वेदों उपनिषदों, कर्मकाण्डों, स्मृतियों, पुराणों, देशीय तथा लौकिक रूढ़ियों से शासित होता है, कहीं-कहीं ठोस सत्य भाषा के जाल में, कहीं भावनाओं के अन्धकार में, कहीं अन्धकार के दिखावे में तिरोहित हुआ मिलता है, पर हमारा समाज इन तथ्यों को न समझकर उनको रूढ़िरूप में अपनाकर अब केवल अन्ध परम्परा का दास बन गया है। किसी रीति या परम्परा को उसके महत्व द्वारा, तथ्यों द्वारा मानना ज्ञान है, और उसे न

समझकर उसका किसी असंगत फलादि की लिप्सा या फलाभाव के डर से अपनाना केवल अन्धपरम्परा या अज्ञानमात्र है। यह वैज्ञानिक युग है, होना यह चाहिए था कि हम एक बार फिर इन रूढ़ियों के तथ्यों को समझने का यत्न करते पर हो यह रहा है कि हम विज्ञान को इन रूढ़ियों के अज्ञान का सहायक बना रहे हैं। यह भारी विडम्बना है। दुर्भाग्य से भारत का अधिकांश भाग जादू-टोना, जंत्र-मंत्र एवं भाग्य पर पूर्ण विश्वास करता है और इन विश्वासों की नींव इतनी दृढ़ गढ़ी हुई है कि उसे उखाड़ना साधारण खेल नहीं है। यात्रा में चलते समय, हल जोतते समय, खेत काटते समय, विद्या-पाठ प्रारंभ करते समय यहाँ तक कि सोते जागते भारतवासी शकुन एवं ग्रहनक्षत्रों की आँखों जीते हैं। यदि कहीं चलते समय किसी ने जुकाम के कारण छींक दिया तो वे वहाँ जाना ही स्थगित कर देते हैं या थोड़ी देर के लिए रुक जाते हैं क्योंकि छींक के कारण उनके काम-सिद्ध होने में बाधा समझी जाती है। भरा हुआ पानी का लोटा यदि असन्तुलन के कारण हाथ से गिर पड़े तो उसे वह भारी अपशकुन समझते हैं। अकारण सोने के पाने या खोने को भी वे भावी आपत्ति की सूचना समझते हैं। यदि किसी ग्रामीण किसान की गाय या भैंस दूध देना बन्द कर दे तो वे किसी मवेशी डाक्टर से विचार विमर्श करने के बजाय पंडित जी महाराज से ग्रहदशा पूंछने लग जाते हैं या फिर टोने-टोटके करने लग जाते हैं जिनका गाय के दूध न देने से कोई सीधा सम्बन्ध स्वप्न में भी सिद्ध नहीं हो सकता। उनका दृढ़ विश्वास रहता है कि किसी दुष्ट आदमी या भूत प्रेत ने गाय पर कुदृष्टि कर दी है एवं ईर्ष्यावश दूध को कील दिया है। इस प्रकार के कितने ऐसे सैकड़ों रोगों की दवा भी इन्हीं अंधविश्वासों के द्वारा मिलती है। हिन्दुस्तान की मिट्टी ही कुछ ऐसी है। यहाँ के अधकचरे लोगों को जाने दीजिए, अच्छे-अच्छे पढ़े-लिखे लोगों के मस्तिष्क में भी अंधविश्वास इतना घर कर गया है कि अच्छी से अच्छी वैज्ञानिक सुविधा को भी उसके आगे वे प्राथमिकता नहीं देते। आश्चर्य की बात तो यह है कि अंधविश्वासों से उन्हें कभी-कभी घाटा होने के बजाय लाभ हो जाता है, पता नहीं, इसमें कोई

मनोवैज्ञानिक रहस्य है या नहीं ? मैं आपबीती बता रहा हूँ। मुझे अर्द्धांगि हो गई थी, इसमें शरीर के आधे भाग में छोटे-छोटे दाने निकलते हैं, लोगों का कहना है कि यदि उनका ठीक इलाज न किया गया तो वे आधे शरीर में पैर से लेकर चोटी तक हो जाते हैं, दाने बहुत ही पीड़ा पहुँचाते हैं। रोग प्रतिदिन सवा गुना बढ़ता ही जाता है। विश्वविद्यालय की डिस्पेंसरी में तथा और भी कई स्थानों पर अच्छे-अच्छे कुशल डाक्टरों से दवा करायी किन्तु दाने घटने के बजाय बढ़ते ही चले गये। विवश होकर मैं अपने घर चित्रकूट चला गया, अपने इस विचित्र रोग की चर्चा पास-पड़ोस में की, सौभाग्य से एक कुम्हार इस रोग की दवा करनेवाले मिल गये। वे केवल जंगलों से बीने हुए उपलों की राख से रोग को ठीक करते थे। मैं तो इसे एक खिलवाड़ समझता रहा किन्तु आश्चर्य तो तब हुआ जब उनके एक बार राख के लगाने से सारे दाने लजवन्ती की तरह लजाकर मुरझा गये। वे राख लगाने के साथ कुछ मन्त्र भी पढ़ते जाते थे। तर्क का आश्रय लेने में इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि खुले आकाश के नीचे गाय का गोबर अपने आप सूखकर जो उपले के रूप में बदल जाता है उसी में कुछ न कुछ वैज्ञानिक तथ्य होगा। पता नहीं मैं कहाँ तक सही रास्ते पर हूँ। पीलिया रोग की दवा भी बहुत कुछ झाड़-फूंक पर आधारित है और वह आश्चर्यजनक लाभ पहुँचाती है। हो सकता है कि इसमें मनोविज्ञान का दृढ़ विश्वास सम्बन्धी तथ्य छिपा हो। कहा भी है—

यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी।

आज का युग विज्ञान का युग है आज वही वस्तु खरी ठहरायी जा सकती है जो तर्क की तीखी आँखों से आँखें मिला सके। विज्ञान में विश्वास और भावना को देशनिकाला दे दिया जाता है। उसका सारा व्यक्तित्व 'क्यों और कैसे' के सिद्धान्तों पर टिका हुआ है। गाय के दूध न देने पर वैज्ञानिक तुरन्त यह विचारना प्रारंभ कर देगा कि किन कारणों के आ जाने से इस प्रकार का व्यवधान उपस्थित हुआ है, उन कारणों का पता लगा लेने पर वह दवा के द्वारा उन्हें ठीक करने का प्रयत्न करेगा, गाय के शरीर में जिस

पौष्टिक तत्वों की कमी हो गयी है उन्हें पुष्टकारी भोजन एवं औषधि से पूरा किया जायगा। हमारे यहाँ अंधविश्वासों की वृद्धि का एक कारण वैज्ञानिक ज्ञान का अभाव है। हमारे यहाँ के पुरुषार्थी अपने ऊपर, विश्वास न करके भाग्य के ऊपर सब कुछ छोड़ देते हैं। पग-पग पर उसे ईश्वर, धर्म, भाग्य, ग्रह, नक्षत्र आदि में सानकर मटियामेट कर देते हैं। कहते हैं यदि सुअर के ऊपर कौवे को बैठे हुए कोई देखले तो उसको निकट भाविष्य में बहुत बड़ी आपत्तियों का सामना करना पड़ता है, यहाँ तक कि उसका कोई न कोई निकट सम्बन्धी मर जाता है या वह स्वयं काल का ग्रास बनता है। दुर्भाग्यवश इस प्रकार के दृश्यों को देखने के लिए दूर जाने की जरूरत नहीं पड़ती क्योंकि गाँवों में गन्दगी के कारण सुअर और कौवों का एकाधिकार तो रहता ही है और जहाँ ये दोनों होंगे वहाँ एक दूसरे पर अवश्य बैठेगा, जहाँ आग होगी वहाँ धुआँ होगा ही। इस दृश्य को देखनेवाला अपने को बहुत अभागी समझता है। मजे की बात तो यह है कि अंधविश्वासी बुद्धि ने इस रोग की अचूक दवा भी ढूँढ़ निकाली है। जिस घर का कोई व्यक्ति इस दृश्य को देखता है उसके घर वाले उसे जीते हुए भी मृत मान लेते हैं तथा उसके मरने की सूचना अपने सब से निकटतम संबंधी के पास भेज देते हैं, ऐसा वह इसलिए करते हैं कि उस व्यक्ति के अचानक मरने का समाचार सुनकर वहाँ उसके नाम पर रोना-पीटना एवं चूल्हा जलना बंद हो जाता है। ऐसा करने से उसके जीवन एवं आयु में आयी बाधा टल जाती है। ग्रामीण बन्धु अपनी विशेष शब्दावली में उसे 'विशेष टलना' कहा करते हैं। मरने का समाचार भेजने के पश्चात ही इतना अन्तर देकर कि वे उसके नाम पर रो ले, वास्तविकता का भंडा फोड़ कर दिया जाता है। गाँवों में इस प्रकार के बीसियों दुहरे पत्र पढ़कर मैंने अशिक्षित बंधुओं को सुनाये हैं। भारत में सूर्यग्रहण के संबंध में जो अंधविश्वास प्रचलित है उसकी छीछालेदर करते हुए श्री एलडस हक्शले ने लिखा है कि भारतवासी इतनी बड़ी संख्या में एक होकर भारत को शत्रु के चंगुल से छुड़ाने को एकत्र नहीं हो सकते जितना कि वे सूर्य को राहु से मुक्त करने के लिए इकट्ठे होते हैं। इस प्रकार की चेता-

वनी हमारे लिए बहुत ही चोट पहुँचाने वाली और झकझोर कर जगा देने वाली है। परन्तु इस प्रकार के कतिपय अंधविश्वासों का भी अपना सामाजिक महत्व है। भारत में हर एक प्रकार के अंधविश्वास के पीछे एक न एक धार्मिक कथा अवश्य जुड़ी हुई है। भूकंप आने का कारण पृथ्वी को धारण करने वाले शेष भगवान का कन्धा बदलना माना जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि यह विश्वास बहुत ही भावुक एवं कवित्व पूर्ण है किन्तु विज्ञान के खोजियों के यथातथ्य सत्य के पता लगाने में यह विशेष क्या कुछ भी सहायता नहीं करता इस अंधविश्वासों से लाभ और हानि दोनों हैं, एकादशी के उपवास का महत्व धार्मिक दृष्टि से कुछ भी हो, स्वास्थ्य की दृष्टि से तो इस लाभ में किसी के दो मत नहीं हो सकते। आवश्यकता इस बात की है कि जो भी मान्यताएँ एवं विश्वास विज्ञान से दूर हट कर कोरी कविता एवं भावना से भरकर अंधविश्वास बन गए हैं उनका वैज्ञानिक विश्लेषण करके जीवन को उन्नतिशील बनाने में उपयोगी बनाया जाय।

: ३० :

गाँवों की चारित्रिक और आर्थिक दशायें

कविवर सोहनलाल द्विवेदी की कविता की एक पंक्ति है **'है अपना हिन्दुस्तान कहाँ? वह बसा हमारे गाँवों में।'** ठीक ही है, हमारे भारत का वास्तविक स्वरूप कलकत्ता और बम्बई के विद्युत्-ज्योति से आलोकित राज मार्गों में नहीं है, आकाश से मौन-संभाषण करने वाली उच्च अट्टालिकाओं में नहीं है, बड़े-बड़े तीर्थ स्थानों के स्वर्णिम मंदिरों, अजन्ता एलोरा की चित्र-विचित्र गुफाओं एवं विराट वैभव के प्रदर्शक वाजिद अलीशाह की नगरी लखनऊ में नहीं है। यदि भारत का सच्चा स्वरूप देखना है तो वहाँ जाना पड़ेगा जहाँ की फौलादी धरती पर दिन रात एक करके घोर परिश्रम करने वाला निर्धन कृषक पेट भर अन्न खाये बिना ही भूखा सपनों के संसार

में खो जाता है, जिनकी ललनाएँ अंजन के अभाव में कोरी आँखों से ही हावों का प्रदर्शन करके रह जाती हैं। 'पुरवधुओं का क्या हो शृंगार, जो त्रिका रईसों रावों में।' अपना भारत गाँवों का देश है, देश की ८०% जनता इन्हीं गाँवों में मरती-खपती जीवन के दिन पूरे करती है। भारत की वास्तविक संस्कृति, यहाँ के आचार-विचार, यहाँ की सभ्यता एवं शिष्टाचार, यहाँ का रहन-सहन, वेष-भूषा एवं बात-व्यवहार की बानगी यदि आप लेना चाहते हैं तो मैं आपको सच्ची सलाह देता हूँ कि आप भारत के सूदूर कोने में बसे किसी ग्राम में चले जाइये, आपको अपनी सामग्री की खोज करने में इधर-उधर अधिक भटकना न पड़ेगा। उपन्यास-सम्राट प्रेमचन्द जी के उपन्यास वास्तविक भारत का चित्रण करने एवं परिचय कराने में आपका वफादारी के साथ, साथ देंगे। हमारे गाँवों में अब भी भारत का अनुपम अतीत विद्यमान है। विषैली पाश्चात्य सभ्यता की कुदृष्टि से उसकी कमनीयता अब भी कलुषित नहीं हुई।

पाश्चात्य सभ्यता के आदान-प्रदान से भारत के नगर अपनी वास्तविकता को छोड़कर विदेशीपन में रङ्ग गये हैं। खाने के चम्मच से लेकर बाल बनाने वाले अस्तुरे तक में विदेशीपन आ गया है। बात-बात में खोखले प्रदर्शन ने अड्डा जमा लिया है। वह सादगी, वह विनम्रता, वह एक दूसरे के प्रति अपनत्व की भावना इन सब का एक प्रकार से अकाल पड़ गया है, सब अपनी-अपनी धुन में मस्त हैं किसी को किसी से बात करने का अवकाश नहीं, पता नहीं किस अभेद्य लक्ष्य संधान के लिए इतनी व्यस्तता व्यर्थ मोल ली जा रही है। 'परोपकाराय सतां विभूतयः' का पाठ पुस्तकों के पृष्ठों में सिमट कर सो गया है। भारत की प्राचीन मर्यादा, अनुपम आदर्श एवं पुनीत आतिथ्य सत्कार की भावना का आज के भारतीय शहरों से देश निकाला हो चुका है। लोगों के रहन-सहन, चरित्र एवं आदर्शों में एक महान् परिवर्तन उपस्थित हो गया है, सौभाग्य से यह संक्रामक रोग अभी तक गाँवों में पूर्णतः नहीं पहुँच पाया है, आंशिक रूप तो इसका आगमन हो चुका है। आदर्श अपनत्व एवं परोपकार की

भावना, श्लाघनीय आतिथ्य सत्कार एवं भारत की प्राचीन मर्यादा अपने में अब भी भारतीय संस्कृति को संजोये हुए है।

भारतवर्ष के गाँवों के निवासी प्रायः कृषक बन्धु ही होते हैं जो कृषि के अतिरिक्त गृह-उद्योग तथा अन्य साधारण व्यवसाय करके अपनी जीविका चलाते हैं। उनके जीवन-स्तर एवं रहन-सहन का ढङ्ग दरिद्रता के कारण निम्न रहता है। शिक्षा की समुचित व्यवस्था के अभाव में अधिकतर लोग अशिक्षित रह जाते हैं, संसार की नित नवीन प्रगति से कोरे रह जाते हैं। कुछ घाटा तो उन्हें इस रूप में अवश्य उठाना पड़ता है किन्तु आज की सभ्यता की सबसे बड़ी देन 'कृत्रिमता' छल, छद्म एवं खोखले प्रदर्शन के विषैले कीटाणु उनकी सादगी के स्वास्थ्य को नष्ट नहीं कर पाते।

ग्रामीण बन्धु 'सत्यं ब्रूयात् प्रियं' ब्रूयात के समर्थक होते हैं। मिठाई में कुनैन की गोलियाँ लपेटकर देने की शिष्टता का सौभाग्य से उनमें अभाव रहता है। उनकी बातचीत में कृत्रिम बुद्धि जनित घिसी पिटी पंक्तियाँ न होकर हृदय की सहज स्नेहमयी भावना रहती है। बुद्धि के देश से हटकर हृदय के कोमल कलित कुञ्जों में उनकी आत्मा निवास करती है। अभ्यागत का आदर सत्कार करना वे खूब जानते हैं। उन्हें अपने पूर्वजों पर गर्व रहता है। रंतिदेव, हरिश्चन्द्र, दधीचि की पवित्र परम्परा को सम्हालने में वे प्राणपण से प्रयत्नशील रहते हैं। 'शीतल जल फल-फूल समय जनि चूकौ साईं' के आदर्श को पचाकर अपने जीवन में अच्छी प्रकार उतार लेते हैं।

ग्रामीण, बात का विश्वास करते हैं, तर्क से उनकी तनातनी रहती है। रामायण की चौपाइयों को कार्य रूप में जितना वे लाते हैं उतना एक सिद्धांतवादी महामहोपाध्याय सैद्धांतिक रूप में नहीं ला सकता—

पर हित सरिस धर्म नहिं भाई, पर पीड़ा सम नहिं अधमाई।
नहिं असत्य सम पातक पुंजा, गिरि सम होइ कि कोटिक गुंजा।
रघुकुल रीति सदा चलि आई, प्राण जायें पर बचन न जाई।

यद्यपि अब गाँवों में कुछ ऐसी हवा चल गयी है कि विषैले संक्रामक कीटाणु वहाँ के स्वस्थ्य वातावरण को अस्वस्थ बना रहे हैं किन्तु नागरिक

जीवन की तुलना में वे अभी नगण्य हैं। अशिक्षित ग्रामीण बन्धु बात के पक्के होते हैं, सत्य एवं मिष्ट भाषी होते हैं किन्तु कभी-कभी दुराग्रही एवं हठी भी हो जाते हैं। दुराग्रह एवं हठ शास्त्र का पाठ वे आल्हा एवं उसकी अनेक लड़ाइयों से सीखते हैं। बुद्धि के अधकचरे होने के कारण वे कल्पना को सत्य समझ लेते हैं, छोटी सी छोटी बातों में व्यर्थ टेक रखने एवं ऊपरी दिखावे की मर्यादा को निभाने में अपने धन, बल, जन और समय का घोर दुरुपयोग करते हैं। यही कारण है कि वे जीवन पर्यन्त अपाद मस्तक ऋण में डूबे रहते हैं। उनकी इसी दयनीयता पर दया करके किसी अर्थशास्त्री ने कहा है कि वे ऋण में जन्म लेते हैं, ऋण में पलते हैं और ऋण में ही समाप्त हो जाते हैं।

गाँवों में आचरण एवं चरित्र संबंधी शुद्धता नगरों की अपेक्षा अब भी अधिक अंश में सुरक्षित है। 'मातृवत् परदारेषु परद्रव्येषु लोष्टवत्' का आदर्श उनका पथ-प्रदर्शक होता है। तुलसीदास जी की चौपाइयों के अनुसार अपने जीवन-साँचे को ढालने का प्रयत्न करते हैं। धर्म के प्रति उनकी एकाकी आस्था रहती है। धर्म के नाम पर आप चाहे उनसे कुछ भी करवा लीजिए—

मोहिं अतिशय प्रतीति मन केरी, जेहि सपनेहु पर नारि न हेरी।
जिनके लहहिं न रिपु रन पीठी, नहिं लावहिं परतिय मन दीठी॥
मंगल लहहिं न जिनके नाहीं। ते नरवर थोरे जग माहीं॥

वैज्ञानिक प्रगति के अभाव में ग्रामीण लोग प्राचीन परम्परा के पोषक होते हैं। परम्परागत मान्यताओं को वे अवश्य मानते हैं भले ही वे देशकाल से मेल न खाती हों। इस प्रकार व्यर्थ के कार्यों में अपव्यय भी पर्याप्त होता है। अंधविश्वास गाँव वालों की उन्नति में गले में बँधी चक्की के समान है। इस प्रकार गाँव वाले आधुनिकता से शून्य अपनी प्राचीन परम्परा आचार-विचार एवं अन्धविश्वासों के पोषक होकर कूप-मंडूकवत् जीवन व्यतीत करते हैं।

इनकी आर्थिक स्थिति बड़ी दयनीय होती है। कृषि मुख्य व्यवसाय

है किंतु कृषि के साधन पुराने एवं अवैज्ञानिक हैं, जिनकी प्रगति आज के उन्नतिशील वैज्ञानिक युग में अत्यन्त मन्द है। प्रकृति की कृपा-कोर उनके सौभाग्य दुर्भाग्य का लेखा-जोखा तैयार करती है। अहर्निशि परिश्रम करने पर भी वे पेट भर अन्न एवं तन ढकने को वस्त्र के लिए तरसते रह जाते हैं। उनकी गाढ़ी कमाई का अधिकांश जमींदारों एवं व्याज खाने वाले सेठ साहूकारों की जेब में जाता है। जमींदारी-उन्मूलन से यह समस्या कुछ सुलझ गयी है। कृषि-प्रणाली में वैज्ञानिक सुधारों को सम्मिलित करना परमावश्यक हैं। ट्रैक्टर एवं अच्छी खाद के प्रयोग से कृषि में उन्नतिशीलता लाने से कृषक बन्धुओं की दरिद्रता दूर की जा सकती है। अशिक्षित होने के कारण अच्छे बीजों को प्राप्त करने तथा सरकार द्वारा प्रदत्त सुविधाओं (सहकारी समितियों) से लाभ उठाने में किसान वंचित रह जाते हैं और इस प्रकार अपने हाथों ही अपनी भाग्य-लिपि लिखते हैं।

अवकाश के क्षणों में किये जाने वाले घरेलू उद्योग-धंधो की स्थिति भी अत्यन्त दयनीय है। अँग्रेजों ने मशीनों को जन्म देकर इन उद्योग-धंधों की जड़ काटकर आर्थिक उन्नति की रीढ़ ही तोड़ दी थी। संतोष का विषय है कि अपनी सरकार पुनः नए सिरे से कुटीर उद्योगों एवं घरेलू उद्योग-धंधों को बढ़ावा दे रही है। इनकी उन्नति होने पर किसानों की आर्थिक स्थिति में निश्चित रूप से वृद्धि होगी। सहकारिता द्वारा गाँव की आर्थिक दशा को सुधारा जा सकता है। सिंचाई की समुचित व्यवस्था के द्वारा उपज को दुगुना-चौगुना बढ़ाया जा सकता है। गाँवों की सर्वाङ्गीण उन्नति के लिए सबसे पहली आवश्यकता 'शिक्षा प्रसार' ही है। शिक्षा के अभाव में ही अन्धविश्वास, अपव्यय, रूढ़िवादिता, मुकदमेबाजी एवं गृह कलह के भीषण रोग उठ खड़े होते हैं। शिक्षा के व्यापक प्रसार से ये अपने आप दूर हो जायँगे। प्रौढ़ शिक्षा तथा स्त्री शिक्षा की योजना को कार्यान्वित करना भी परमावश्यक है। आए दिन समाचार पत्रों के माध्यम से गाँवों में हुए भीषण रक्तपात की घटनाएँ पढ़ने को मिलती हैं। गाँव वाले एक-एक बीघे ऊसर खेत के पीछे हजारों रुपये वकील-बैरिस्टरों को भेंट चढ़ा

देते हैं। स्वयं तो सत्तू नमक बांधकर पैदल कचहरी तक चल कर आते हैं, उनके बच्चे जाड़े की रातों में पुआल में घुसकर सी-सी करते हुए रात काटते हैं, किन्तु उन्हीं की गाढ़ी कमाई से उनकी मूर्खता के कारण वकील-बैरिस्टर चैन की वंशी बजाते हैं। शिक्षा के अभाव में अदूरदर्शिता के कारण भाई-भाई की हत्या कर डालता है, और स्वयं जीवन पर्यन्त कारागार में रहता है। इस प्रकार दो फलते-फूलते परिवार मिट्टी में मिल जाते हैं। स्वर्ग-सी सुहानी गृहस्थी रौरव नरक बन जाती है।

उचित शिक्षा के प्रचार से गाँव वालों की स्थिति में सुधार किया जा सकता है। भारतवर्ष के गाँवों में भारतीय संस्कृति की आत्मा निवास करती है, सरल जीवन, सादगी, स्नेह सच्चरित्रता के वातावरण को शिक्षा का स्वस्थ रक्त देकर पुनः उर्ज्वसित् बनाया जा सकता है। पर्याप्त शिक्षा एवं आर्थिक जीवन में सुधार करके भारत के गाँव पुनः इन्द्र के नन्दन निकुँज बन सकते हैं, उनके सामने आज की पश्चिमी-पालिश वाले नगर एक क्षण भी नहीं ठहर सकते। किन्तु आवश्यकता है नए सिरे से, वैज्ञानिक रीति से भारतीय संस्कृति की प्राण प्रतिष्ठा करने की, ताकि पुनः गाँवों की मृतात्मा इस संजीवनी शक्ति को पाकर लहलहा उठे और हम पुनः इकबाल के स्वरों में स्वर मिलाकर गर्व से कह सकें—

सारे जहाँ से अच्छा हिन्दोस्तां हमारा।
हम बुलबुले हैं इसकी यह गुलसितां हमारा॥

: ३१ :

ग्रामीण उद्योग-धन्धे एवं उनकी प्रगति

गाँवों के निवासियों का मुख्य व्यवसाय खेती करना है। किन्तु वर्ष में कुछ महीने ऐसे होते हैं जबकि उनके पास खेती का काम नहीं रहता। उस समय उन्हें घरेलू उद्योग-धंधों को अपनाना पड़ता है। यह भी ध्यान

रखने की बात है कि गाँवों के शत-प्रतिशत निवासी कृषक ही नहीं होते। उनमें कुछ लुहार और बढ़ई होते हैं जो किसानों के हल या लकड़ी की चीज़ें बनाते हैं और इसके बदले में उन्हें अनाज दिया जाता है। गाँव का नाई वर्ष भर किसान के बाल बनाता है और उसे भी किसान की पैदावार से कुछ भाग मिल जाता है। इसी प्रकार जूते बनाने वाला चमार, कपड़े बुनने वाला जुलाहा एवं टोकरी बनाने वाला आदि के पृथक-पृथक भाग किसान की कुल उपज में सम्मिलित रहते हैं। ग्रामीण उद्योग-धंधों के अंतर्गत घरेलू उद्योग-धंधे आते हैं जो इस प्रकार हैं—

(१) कपड़े का उद्योग-धंधा—रेशम, रुई, ऊन के कपड़े बुनना; दरी, कंबल, मोजे बुनना।

(२) चमड़े का धंधा—खाल उधेड़ना, चमड़ा पकाना, जूते बनाना।

(३) बीजों से तेल निकालना, बर्तन बनाना, खेती के औजार बनाना, ताले बनाना।

(४) लकड़ी का काम, खिलाई का धंधा, लकड़ी-खपच्ची का कागज और कपड़े के खिलौने बनाना, टोकरियाँ एवं पंखे बनाना। कुर्सी चारपाई आदि बनाना।

ग्रामीण उद्योग-धंधों में कपास से कपड़ा बनाने का धंधा सबसे प्रधान एवं महत्त्वपूर्ण है। किसान पहले कपास को खेत में पैदा करता है, उसे वहीं साफ करता है तथा रुई के रूप में धुन कर तैयार करता है, फिर चरखे के द्वारा बारीक सूत बनाया जाता है। सूत तैयार हो जाने पर देशी करघे पर कपड़ा बुना जाता है। इस काम में लगने वाली सभी वस्तुएँ गाँव की ही बनी होती हैं, बाहर से किसी भी वस्तु को माँगने की आवश्यकता नहीं पड़ती। यहाँ तक कि सूत बुनने वाले करघे के बनाने में भी गाँव के लोहार और बढ़ई के अतिरिक्त किसी अन्य की सहायता अपेक्षित नहीं होती। इस प्रकार करघे का बुना हुआ कपड़ा बहुत सस्ता पड़ता है और सबसे अच्छी बात तो यह है कि पैसा गाँव के ही भाई की जेब में जाता है, इस पैसे से गांव के बच्चे पलते हैं। इस उद्योग को प्रोत्साहन मिलना चाहिए। प्रायः देखा जाता

है कि करघे के द्वारा तैयार किया हुआ कपड़ा जो देखने में खुरदुरा मालूम पड़ता है, हम खरीदने में हिचकिचाते हैं एवं मिल के बने चिकने कपड़े को तुरंत खरीद लेते हैं। यहीं पर हम भूल कर बैठते हैं। यदि हम करघे के कपड़े को प्रोत्साहन दें तो करघे में बुनने वाले जुलाहे भी अच्छे-अच्छे कीमती औजार रखने लगें जिसके सहारे वे मिल के मुँह से निकले कपड़े के समान ही स्वच्छ चिकना कपड़ा तैयार कर सकें। ढाके की मलमल तो प्रसिद्ध ही है, किस मिल में इतना दम है कि उस तरह की महीन मुलायम मलमल बुन सके।

दूसरी बात यह भी है कि गाँव के जुलाहों को सरकार से तैयार किया हुआ सूत मिलता है। यह सूत मिलों में तैयार होता है और बहुत दिनों तक इधर-उधर सूती कपड़े की मिलों के लिए रक्खा रहता है। जब वहाँ उसकी कोई आवश्यकता नहीं रह जाती तब वह सरकार द्वारा जुलाहों को दे दिया जाता है। इस प्रकार जो सूत जुलाहों को मिलता है वह काफी दिनों तक सीलन में रक्खे रहने के कारण कमजोर पड़ जाता है, बचा हुआ खराब माल ही प्रायः उनको मिल पाता है। इसके साथ ही पक्का रंग बनाने का सामान और अच्छी माड़ी की समुचित व्यवस्था भी नहीं रहती। इसीलिए वे मजबूत कपड़ा बनाने में असमर्थ रहते हैं। बड़े पैमाने पर बनने के कारण मिल का कपड़ा छोटे पैमाने वाले जुलाहों के कपड़े से औसतन बहुत कम व्यय में तैयार होता है और उनसे कहीं अच्छा एवं टिकाऊ होता है। इस स्थिति में अधिक मूल्य देकर निकम्मी वस्तु लेना कोई भी पसन्द नहीं करता। इन्हीं कारणों से ग्रामोद्योग की प्रगति में इतनी शिथिलता आ गयी है।

ग्रामीण उद्योग-धंधों को उन्नतिशील बनाने के लिए सरकार का यह प्रमुख कर्त्तव्य होना चाहिए कि वह जुलाहों को उनकी आवश्यकतानुसार उत्तम श्रेणी का सूत दें। साथ ही अन्य आवश्यक वस्तुएँ भी भरपूर मात्रा में देने का प्रयत्न करें। इन सभी वस्तुओं का मूल्य कम से कम होना चाहिए ताकि जो कपड़ा जुलाहे तैयार करें उसकी लागत मिल के बने कपड़े से कम ही पड़े। इस धंधे को बढ़ावा देने के लिए कुछ अच्छे कारीगरों या संस्थाओं

को, जो इस व्यवसाय में दक्ष एवं अनुभवी हों, सरकारी सहायता मिलनी चाहिए। 'सहकारिता' के सहारे विक्रय-भंडार खोल देने से इन धंधों में परोक्ष रूप से प्रगति पैदा की जा सकती है। इन सब कामों का निरीक्षण करने वाला एक सरकारी निरीक्षक भी हो जो कपड़े की बुनाई, एवं मूल्य निर्धारण तथा विक्रय की जांच करता रहे। इस प्रकार के कुछ दृढ़ कदम उठाने से कपड़ा उद्योग को उन्नतिशील बनाकर देश की आर्थिक व्यवस्था एवं दयनीय स्थिति में सुधार किया जा सकता है।

गाँव वाले बहुत सी हाथ की बनी वस्तुओं को बनाने में पूर्ण कुशल होते हैं एवं थोड़े से व्यय में सभी काम कर सकते हैं। कृषि संबंधी वस्तुओं को गाँव के लोहार और बढ़ई बनाते ही हैं। किन्तु यह काम प्रायः थोड़ा ही होता है, बाकी समय उन्हें बेकार बैठे-बैठे खो देना पड़ता है। सरकार को सोचना चाहिए कि उन्हें कारीगरी सिखाकर उनसे शहरों की आवश्यकता की वस्तुएँ तैयार करवायें। इस प्रकार से उनके श्रम का भी सदुपयोग हो जायगा एवं उनकी आर्थिक स्थिति भी सुधर जायगी। गाँवों में टोकरियाँ, डलियाँ, बेंत तथा बाँस के बक्स आदि भी बनाये जाते हैं। गाँव वाले इन सब वस्तुओं को बहुत ही कलात्मक ढंग से सजाकर बनाना जानते हैं किन्तु उनकी बिक्री के साधन न होने के कराण निराश होकर चुप बैठ जाते हैं। आवश्यकता इस बात की है कि उनके हाथों से बने हुए सामान को नगर के बाजारों में खपाने के साधन प्रस्तुत हों। इस प्रकार माल की खपत होने से वे अत्यधिक उत्साहित होकर दुगने बल से नए-नए ढंग की वस्तुएँ बनाने लगेंगे।

चमड़े का काम करने वालों की भी गाँवों में कमी नहीं होती परन्तु वे केवल फटे-पुराने जूतों को सीने, पुर को जोड़ने तथा घुड़सवारों की जीनों की मरम्मत करने तक ही सीमित होते हैं। उनके पास कला तो होती है किन्तु उसके लिए समुचित क्षेत्र नहीं होता। यदि सरकार उनको कुछ पूँजी दे, उनके लिए चमड़े आदि का प्रबंध कर दे तो वही अकर्मण्य चर्मकार चमड़े की अच्छी-अच्छी कलात्मक वस्तुओं का निर्माण करके राष्ट्रीय सम्पत्ति को बढ़ा सकते हैं।

गाँवों में वर्तन बनाने वाले ठठेरे और तमेर भी बसते हैं उनको भी पीतल, ताम्बा आदि धातु का वितरण करके सरकार वर्तन बनवा सकती है। आवश्यकता इस बात की है कि सरकार उन्हें अच्छे-अच्छे नमूने के वर्तन बनाने की शिक्षा दे। कुशल प्रशिक्षण का प्रबन्ध होने पर यही तमेर और ठठेरे हाथ से बनी हुई सस्ती और टिकाऊ वस्तुएँ बना सकते हैं।

लकड़ी-खपची तथा कागज और कपड़े के खिलौने बनाना, रस्सी बटना, गुड़ बनाना, बीजों से तेल निकालना, मिट्टी के वर्तन बनाना तथा खिलौने और ईंटें थापना भी गाँवों के मुख्य उद्योगों में सम्मिलित हैं। यदि इन सब उद्योग-धन्धों को सरकार की उचित सहायता मिले तो उनकी उन्नति के द्वारा गाँवों की आर्थिक दशा में क्रान्तिकारी परिवर्तन उपस्थित किया जा सकता है। गाँवों के किसान, जुलाहे, लोहार, बढ़ई, चमार और टोकरी बनाने वालों के व्यवसाय में यदि उन्नति हो जाय तो सारा गाँव उन्नति के शिखर पर पहुँच जाय। परन्तु यह तभी सम्भव है जब कि गाँव वाले बड़ी जागरूकता एवं उत्तरदायित्व के साथ अपने कर्त्तव्य का पालन करें और जनता एवं सरकार द्वारा उन्हें समय-समय पर प्रोत्साहन प्राप्त होता रहे। कुछ अन्य समस्याएँ भी उठ खड़ी होती हैं उनका निराकरण होना भी आवश्यक है—

(१) कच्चे माल की प्राप्ति का ढंग अवैज्ञानिक है, विशेषतया सूत और पीतल आदि का कच्चा माल बनाने वाले किसी तरह अपना माल खपाना चाहते हैं। दूसरी ओर पक्का माल तैयार करने वाले किसी प्रकार की छाँट नहीं करते। परिणामस्वरूप शिल्पी अच्छी चीजें पाने से वंचित रह जाता है।

(२) ठीक ढङ्ग का कच्चा सामान पाने की कोई समुचित व्यवस्था नहीं है। होता यह है कि औने-पौने जिस मूल्य पर वस्तु मिलती है खरीद ली जाती है। कच्चा माल खरीदने वालों में प्रतिस्पर्द्धा का अभाव है, जहाँ थोड़ी बहुत प्रतिस्पर्धा है वहाँ उधार कर्ज चलते रहने के कारण बेचने वालों को कोई विशेष लाभ नहीं हो पाता।

(३) पक्का माल बनवाने वाले परिश्रम नहीं करते, इससे शिल्पी को उत्तमोत्तम नमूने नहीं मिल पाते। फल यह होता है कि वस्तुएँ निकम्मी और बेढङ्गी निकलती हैं।

(४) अनुभवी लोगों के अभाव में किस वस्तु की कहाँ कितनी खपत है इसका ठीक-ठीक निर्णय नहीं हो पाता। इसका परिणाम यह होता है कि जिन चीजों की बिक्री की जाती है वह इतनी अधिक मात्रा में बनती है कि माँग से पूर्ति अधिक होने पर स्वभावतः लाभ होने की कोई गुञ्जाइश नहीं रह जाती।

इन कतिपय दोषों को दूर करने के लिए सरकार ने इस ओर ध्यान दिया है। सरकार के उद्योग-धंधे के विभाग ने इन धंधों के विशेषज्ञ नियुक्त किये हैं जो समय-समय पर उचित सम्मति देते रहते हैं। साथ ही इन उद्योग-धंधों से पैदा हुई वस्तुओं की खपत के लिए लखनऊ में उसने अपनी केन्द्रीय दुकान 'गवर्नमेंट आर्ट ऐंड क्राफ्ट इम्पोरियम' खोल रक्खी है। उसका मुख्य काम यह भी है कि काम करने वालों के लिए नये-नये नमूने तैयार करावे तथा सस्ते से सस्ते दामों में उनका वितरण करे।

इस प्रकार गाँव के ये मुख्य उद्योग-धंधे सरकार की देख-रेख तथा पारस्परिक सहकारिता की भावना से फलफूल कर देश की आर्थिक व्यवस्था को उन्नतिशील बनाने में उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं।

: ३२ :

साक्षरता-आन्दोलन

भारतवर्ष की उन्नतिशीलता में सबसे अधिक बाधा डालने वाली यहाँ की घोर अशिक्षा है। यहाँ शिक्षा का प्रचार बहुत कम है; अशिक्षा की इस प्रतियोगिता में कदाचित् ही संसार का कोई देश भारत की स्पर्द्धा कर सके! किन्तु यह कोढ़ आज का नहीं है, सैकड़ों हजारों वर्षों

की तिरस्कृत भावना इसके पीछे सिसक रही है। प्राचीन धर्म व्यवस्थापकों एवं समाज के कर्णधारों की कृपा से एक अत्यन्त अल्पसंख्यक वर्ग (ब्राह्मण) अध्ययन अध्यापन का पवित्र काम करता रहा है और बहुसंख्यक अशिक्षित निरक्षर भट्टाचार्य जन समुदाय को मनमाना अपनी अँगुलियों से नाचता रहा है। बलिहारी है उस मनीषी की बुद्धि को जिसने यह नियम बनाया कि यदि शूद्र शास्त्र सुने तो उसके कान में शीशा पिघला कर डाल दो। धर्म का एकमात्र ठेकेदार ब्राह्मण वर्ग संभवतः यह अत्यंत अनुचित समझता था कि शूद्र वर्ग भी पढ़-लिख कर उसके मनमाने धर्म के आंतरिक भेदों को समझे, इसीलिए शूद्रों को शिक्षा के अमृत से वंचित रखा गया और वे पुच्छ विषाणहीन पशु की तरह नारकीय जीवन बिताने लगे।

मुसलमानी शासकों को अपने भोग-विलास से ही अवकाश नहीं था, वे किसलिए व्यर्थ में यह बखेड़ा सर पर उठाते। किन्तु पारस्परिक पत्र व्यवहार में हस्ताक्षर का अभाव तो खटकता ही रहा। फल स्वरूप अँगूठा लगाने की प्रणाली को जन्म दिया गया। कितनी लज्जा की बात है कि हमारे देश की अधिकांश जनता आज भी इस भीषण रोग से आक्रान्त है। स्त्रियों में तो शिक्षा का घोर अभाव है। परिणाम भी हम लगे हाथों भुगत रहे हैं, नित नयी निकम्मी संतानें पैदा हो रही हैं और अशिक्षित माँ का संरक्षण पाकर भूमि के लिए भार बन रही हैं।

अँग्रेजों के आगमन के साथ शिक्षा के व्यापक प्रचार भी आए। नगर की मध्यवर्गीय जनता ने इस ओर महत्वपूर्ण काम किये परन्तु इतने प्रयत्नों के होने पर भी शिक्षा का प्रचार समाज के निचले स्तर और ग्रामीण बन्धुओं में न हो सका। इतना प्रभाव अवश्य पड़ा कि उनकी आवश्यकता का तीव्र अनुभव लोगों को हुआ। दृष्टिकोण में भी विचित्र परिवर्तन आया। ब्राह्मण, शूद्र सभी समान भाव से विद्या पढ़ने पढ़ाने के अधिकारी समझे जाने लगे। देश के नेताओं एवं स्वामी विवेकानन्द ऐसे समाज सुधारकों की ओजस्वी वाणी ने अशिक्षा को दूर करने एवं शिक्षा के व्यापक प्रचार

में पूर्ण सहयोग देने में कोई कोर-कसर न उठा रक्खी। स्वामी विवेकानन्द जी ने तो स्पष्ट स्वरों में कहा कि "चांडाल को विद्या पढ़ाने की जितनी आवश्यकता है उतनी ब्राह्मण को नहीं। यदि ब्राह्मण के लड़के को एक शिक्षक चाहिये तो चांडाल के लड़के के लिये दस क्योंकि प्रकृति ने जिसे स्वभावतः तेजस्वी नहीं बनाया है, उसकी ही अधिक सहायता करनी पड़ेगी। तेल लगाये हुए मनुष्य को तेल देना पागलपन है। दरिद्र, पददलित, अज्ञ ये ही तुम्हारे ईश्वर हैं।" पूज्य बापू ने शिक्षा प्रचार के लिए निरन्तर प्रयत्न किये। कांग्रेस के हाथ में सरकारी शक्ति आने पर इस दिशा में एक व्यापक 'साक्षरता आन्दोलन' उठ खड़ा हुआ। लगभग सभी प्रांतों के शिक्षित लोगों ने दूने उत्साह के साथ इस आन्दोलन में भाग लिया। इस आन्दोलन का मुख्य उद्देश्य देश की कोटि-कोटि मूक पशुवत अशिक्षित जनता को साक्षर बनाना था। हमारे प्रदेश में भी सन् १९३८ में शिक्षा प्रसार विभाग की स्थापना की गयी तथा १५ जनवरी को इसके द्वारा शिक्षा प्रसार योजना का कार्य प्रारम्भ हुआ। माननीय शिक्षा मंत्री श्री सम्पूर्णानन्दजी ने इस योजना को कार्यान्वित करने में महत्वपूर्ण सहयोग दिया। जनता को साक्षर बनाने के लिये गाँवों-गाँवों में रात्री पाठशालायें एवं प्रौढ़ स्कूल खोले गये एवं प्रत्येक प्रौढ़ को ५, ६ माह की निःशुल्क शिक्षा देने की व्यवस्था की गयी ताकि वह इतने समय में थोड़ा पढ़ना-लिखना और काम चलाऊ गणित सीख सके। सब से बड़ी समस्या उन प्रौढ़ों की परिपक्व मोटी बुद्धि को सुधारना था। उनमें शिक्षा के प्रति एक प्रकार का चाव उत्पन्न करना था। इसके लिए इस प्रकार की नयी-नयी रोचक पुस्तकों की आवश्यकता थी जिनमें उनके दैनिक जीवन में काम आने वाली बातों की चर्चा हो। गाँव के कृषक मजदूर दिन भर मेहनत-मजदूरी खेती-बारी में व्यस्त रहते थे. अतएव प्रौढ़ पाठशालाएँ प्रायः रात को ही चलती थीं। सरकार ने इस योजना को सफल बनाने के लिये व्यापक प्रचार किया। यहाँ तक कि पुरस्कार के रूप में साक्षर बनाने के लिए प्रति व्यक्ति एक-एक रुपया दिया। स्कूलों, कालेजों तथा विश्वविद्यालय के छात्र-छात्राओं एवं अनुभवी

अध्यापकों ने इस पुण्य कार्य में बड़ी लगन के साथ भाग लिया एवं 'अशिक्षा का नाश हो' 'शिक्षा का प्रचार हो', 'अँगूठा लगाना पाप है' आदि नारों का व्यापक प्रचार किया। इसका शुभ परिणाम यह हुआ कि हजारों लाखों की संख्या में लोग अपना हस्ताक्षर करना सीख गए। साक्षरता की पहली सीढ़ी 'हस्ताक्षर' को इस प्रकार से सफलता के साथ पार किया गया। अब प्रश्न यह था कि जिस स्थान पर हम पहुँच चुके हैं उस से आगे ही बढ़ा जाय, पीछे हटना तो सारी सफलताओं पर पानी फेरना होगा। साक्षरता को अक्षुण्ण रूप से बनाये रखने की साधना कम कठिन न थी। प्रौढ़ को थोड़ा बहुत पढ़ा देने से भी वह कुछ दिन बाद इसे भूल जायगा क्योंकि उसका वातावरण ही ऐसा है। अतएव आवश्यकता इस बात की थी कि उसमें पढ़ाई के प्रति चाव उत्पन्न किया जाय, समाचार पत्र एवं किस्से, कहानियाँ, रामायण आदि की पुस्तकों के प्रति आकर्षण बढ़ाया जाय। इसके लिए पुस्तकालय एवं वाचनालय स्थापित किये जायँ। सरकार की ओर से प्रत्येक पुस्तकालय को ३०० के लगभग हिन्दी, उर्दू दोनों भाषाओं की ग्रामीण जीवन से सम्बन्धित पुस्तकें दी गईं। प्रत्येक पुस्तकालय एक केन्द्रीय गाँव में स्थापित था जिसके ५ से ८ मील की सीमा के अन्तर्गत ५ शाखायें थीं। पुस्तकालय के अध्यक्ष इनकी प्रत्येक शाखा में प्रति महीने २५-३० पुस्तकें एक सन्दूक में भरकर भेज देते थे और पिछली पढ़ी हुई पुस्तकें लौटा लेते थे। इस प्रकार ३०० पुस्तकें जो केन्द्रीय ग्राम पुस्तकालय को सरकार की ओर से मिलती थीं वे बारी-बारी से आसपास के गाँवों में पढ़ ली जाती थीं। प्रत्येक पुस्तकालय से संयुक्त एक वाचनालय भी होता था जिसको सरकार की ओर से एक मासिकपत्र तथा दो साप्ताहिक भेजे जाते थे। पुस्तकालय का अध्यक्ष समाचार पत्रों को पढ़कर सुनाता था।

इसके अतिरिक्त इस प्रसार योजना के अनुसार गैर सरकारी पुस्तकालयों एवं वाचनालयों को सरकारी सहायता भी दी जाती है। सरकार साक्षरता के प्रचार के प्रति विशेष रूप से जागरूक है। प्रारंभिक शिक्षा को तो प्रत्येक व्यक्ति के लिए अनिवार्य करने की योजना बन रही है। गत दो चार वर्षों

की अपेक्षा शिक्षा में अब दूनी प्रगति दिखलाई पड़ रही है। प्रत्येक वर्ष सरकार की ओर से 'साक्षरता दिवस' मनाया जाता है। लोगों से ऐसे प्रतिज्ञा पत्रों पर हस्ताक्षर कराए जाते हैं जिनके अनुसार उन्हें अगले वर्ष में कम से कम एक व्यक्ति को अवश्य साक्षर बनाना पड़ता है। स्कूल विद्यालयों के छात्र एवं अध्यापक सुदूर गाँवों में जाकर शिक्षा के गुण बताते हैं, निरक्षर होने में क्या-क्या हानियाँ उठानी पड़ती हैं इस पर प्रकाश डालते हैं। साथ ही वे उन्हें अपने हस्ताक्षर करना सिखलाते हैं। पहले साक्षरता-दिवस के पुनीत अवसर पर कुछ ऐसा उत्साह देखने में आया था मानो सब लोग उत्साह की बलि वेदी पर अशिक्षा की आहुति देने जा रहे हों। साक्षरता-आंदोलन की इसी सराहनीय प्रगति को देखकर 'हंस' पत्रिका ने अपने सम्पादकीय में सरकार के इस साक्षरता-प्रचार की इस प्रकार प्रशंसा की थी।

'अपने प्रान्त में कांग्रेस सरकार द्वारा शिक्षा प्रसार का जो काम प्रारंभ हुआ था, वह बराबर जारी है और खुशी की बात यह है कि उसका सुफल भी दृष्टिगोचर हो रहा है। साक्षर-प्रचार की जो रिपोर्ट उस विभाग के आफिसर श्री श्रीनारायण जी चतुर्वेदी ने प्रकाशित की है, उससे विदित होता है कि एक वर्ष में ढाई लाख व्यक्ति इस विभाग द्वारा साक्षर बनाये गये। यद्यपि यह संख्या बहुत उत्साहवर्द्धक नहीं फिर भी बुरी नहीं है। जो व्यक्ति गाँवों में साक्षर होते जाते हैं उनको साक्षर बनाये रखने की आवश्यकता की ओर हमारा ध्यान जाना जरूरी है। इसके लिए गाँव-गाँव में पुस्तकालय खोलने की आवश्यकता है। सरकार की ओर से करीब १२५० नये पुस्तकालय और ३६०० वाचनालय खोले गये हैं और ५०० पुस्तकालयों को मदद दी गई है। पर यह सब प्रांत की बढ़ती हुई मांग को पूरा नहीं कर सकते। अभी और बहुत जरूरत है।'

अमेरिका के द्वारा सहायता प्राप्त कुछ मिशनरी भारत में शिक्षा प्रचार कर रहे हैं एवं प्रौढ़ों को पढ़ा रहे हैं। मिस्टर लाबैक ने संसार की ७३ भाषाओं में कुशल शिक्षा-शास्त्रियों द्वारा प्रौढ़ों के लिए पाठ्य पुस्तक तैयार

करायी हैं। सारे संसार में उनकी यह शिक्षा प्रसार सम्बन्धी योजना चल रही है यद्यपि उन्हें कुछ लोग शंका की दृष्टि से देखते हैं किन्तु यह काम यदि विश्व-बन्धुत्व की प्रेरणा से किया जा रहा है तो इसका परिणाम निश्चित रूप से शुभ होगा।

: ३२ :

गाँव के पटवारी के कर्त्तव्य तथा उनका महत्व

पटवारी को अब 'लेखपाल' के नाम से भी पुकारा जाता है। यह एक वेतन-भोगी राज्य कर्मचारी होता है। साधारणतः इसकी योग्यता मिडिल कक्षा के बराबर होती है, किसी समय इसको केवल बीस-तीस रुपया वेतन मिलता था। अब इनका वेतन सत्तर रुपये के लगभग कर दिया गया है, एवं इसके लिए प्रायः दसवीं कक्षा उत्तीर्ण कर्मचारी ही आते हैं। गाँव का लेखपाल इसके अतिरिक्त भी किसानों से पुरस्कारस्वरूप थोड़ी-बहुत आय कर लेता है। यद्यपि वेतन और पद को देखते हुए इस कर्मचारी का स्थान निम्नकोटि का है किन्तु इसका पद अत्यंत महत्वपूर्ण होता है। एक पटवारी के अधिकार में तीन-चार छोटे या एक बड़ा गाँव होता है। पटवारी जिन चार-पाँच गाँवों में अपना कार्य करता है वह 'जिन्सवार' होता है। पटवारी के पास इस तथ्य का लेखा रहता है कि किस किसान के खेत में किस समय कौन सी फसल बोयी गयी है। रबी और खरीफ़ दोनों फसल का, हर एक के खेत का विवरण, उसके पास पंजिका (रजिस्टर) में ब्यौरेवार लिखा रहता है। उस पंजिका को देखकर यह सरलता से पता लगाया जा सकता है कि कौन से व्यक्ति ने क्या बोया है। पटवारी स्वयं खेतों का निरीक्षण करने जाता है तथा वहाँ के समस्त खेतों के मानचित्र अपनी पंजिका में बनाकर क्षेत्रफल लिख लेता है।

जिन कापियों में पटवारी अपनी समस्त वस्तुएँ लिखता है उन्हें

खतौनी, खेवट और स्याहा कहते हैं। खतौनी में वह किसानों के खेतों की लम्बाई, चौड़ाई लगान का विवरण आदि लिखता है। गाँव में सब किसानों के पास कुल कितने खेत हैं। हर एक खेत के स्वामी का नाम उसके पास इसी खतौनी में लिखा रहता है। खेतों के प्रकार का भी वर्णन उसके पास रहता है। किस व्यक्ति के पास कितनी सीर और कितनी मौरूसी जमीन है इसका पूर्ण विवरण पटवारी से प्राप्त किया जा सकता है।

पटवारी के पास गाँव का तथा हर एक किसान के खेत का मानचित्र भी रहता है। साथ ही गाँव के बाग, तालाब, कुएँ, बावलियों आदि का यथास्थान उल्लेख रहता है। गाँव की कुल जनसंख्या का विवरण भी एक ओर लिखा रहता है। इस प्रकार गाँव की सारी जमीन और जनसंख्या का पूर्ण लेखा-जोखा पटवारी के पास रहता है एवं वह इन सबका पूर्ण ज्ञान रखता है।

खेवट में पटवारी खतौनी की प्रतिलिपि रखता है ताकि आवश्यकता पड़ने पर या खतौनी के खो जाने पर वह काम आ सके। स्याहा में पटवारी लगान चुका देनेवाले और न चुकाने वाले लोगों का हिसाब रखता है। इस तरह वह जमाबंदी भी करता है। वह लगान चुकाने की रसीद भी देता है। इन सबसे यह ज्ञात होता है कि पटवारी, किसान और सरकार के मध्य लगान लेने और देने में एक महत्त्वपूर्ण कार्य संपादित करता है। ढाई-तीन-सौ पटवारियों पर एक कानूनगो होता है, कार्याधिक्य के कारण वह किसी गाँव की इतनी सूक्ष्म जानकारी नहीं रख सकता जितनी की एक पटवारी रखता है। कानूनगो के ऊपर तहसीलदार होता है।

पटवारी का महत्त्व उसके पास के विवरण और मानचित्रों के कारण है। एक क्षण में यह सरलता के साथ जाना जा सकता है कि अमुक गाँव में जनसंख्या, उपज और लगान का क्या हिसाब है। इसी प्रकार की अन्य सभी बातें पटवारी की पंजिकाओं और मानचित्रों की सहायता से जानी जा सकती हैं।

जब कभी किसी व्यक्ति का आपस में या सरकार से खेत सम्बन्धी

कोई झगड़ा खड़ा हो जाता है उस समय साक्षी के लिए पटवारी को तहसील में मानचित्रों और पंजिकाओं के साथ उपस्थित होना पड़ता है। जो कुछ उसकी पंजिका में लिखा होता है उसी को पूर्ण सत्य एवं प्रामाणिक माना जाता है। यही कारण है कि वह खेत सम्बन्धी झगड़ों में किसानों से मनमानी रुपया ऐंठ लेता है क्योंकि जो कुछ वह अपनी पंजिकाओं में लिख देता है उसका महत्व बढ़ जाता है।

सरकार को लगान और उसकी अदायगी की सूचना एवं पूर्ण विवरण पटवारी से ही ज्ञात होता है। साधारण पद होते हुए भी राज्य की आय और व्यवस्था संबंधी कामों में पटवारी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। उसकी कही हुई बातें अधिकारियों को पूर्ण रूप से मान्य होती हैं। पटवारी के अधिकार में जितना क्षेत्र (गाँव) रहता है, यह उसका कर्त्तव्य एवं उत्तरदायित्व है कि वह समय-समय पर उन गाँवों का स्वयं चलकर निरीक्षण करे और अपनी आँखों देखी बातों को अपने रजिस्टर में लिख ले परन्तु प्रायः देखने में यह आता है कि जमींदार लोग कुछ घूँस इत्यादि देकर दूसरे का खेत अपने या अपने किसी संबंधी के नाम अनुचित रीति से लिखवा लेते हैं। कभी-कभी वे किसान जो १२ वर्ष तक किसी खेत को जोतने के अधिकारी हैं, १२ वर्ष पूरा होने के पहले ही पटवारी के अनाचार के कारण वेदखल कर दिये जाते हैं और खेत उनके अनजाने में दूसरे के नाम पर लिख दिया जाता है ताकि १२ वर्ष पूर्ण होने पर वे खेत के स्वामी न बन सकें। यह सब पक्षपातपूर्ण कार्य पटवारी लोभ वश करते रहते हैं। कभी-कभी तो यह अत्याचार इतना बढ़ जाता है कि बेचारा निर्धन और अशिक्षित किसान पटवारी की शठता और कुचेष्टाओं के कारण अपने खेत से वेदखल कर दिया जाता है और उसके बच्चे दाने-दाने को तरस कर रह जाते हैं। पटवारी चुपके से रजिस्टर में खेत के पुराने मालिक का नाम बदल देते हैं और किसान सर पटक कर रह जाते हैं। इस प्रकार की घटनाएँ गाँवों में घटती ही रहती हैं।

निष्कर्ष यह निकलता है कि गाँव में पटवारी का स्थान अत्यंत महत्वपूर्ण होता है। किसानों के प्रति उसके कर्त्तव्य एवं अधिकार भी अगणित

होते हैं। आवश्यकता इस बात की है कि यदि वह सत्यनिष्ठा, ईमानदारी एवं जागरूकता के साथ अपने उत्तरदायित्व का पालन करे तो किसान और सरकार दोनों की यथेष्ट भलाई हो सकती है। उसे निष्पक्ष और निर्लोभी होकर अपने कर्त्तव्यों का अच्छी प्रकार से पालन करना चाहिए। कुछ रुपयों के लोभ में पड़कर पक्षपाती बनकर किसी असहाय किसान का पेट न मारना चाहिए क्योंकि ऐसा करके न वह केवल अपना चरित्र भ्रष्ट करता है वरन् राष्ट्रघात के पाप का भी भागी बनता है।

: ३४ :

कृषि सुधार के मुख्य उपाय और साधन

भारतवर्ष की अधिकांश जनता की जीविका एक मात्र कृषि पर अवलम्बित है इसीलिए भारत को कृषि प्रधान देश कहा गया है परन्तु इतना होते हुए भी इस देश की उपज अन्य देशों की उपज की अपेक्षा प्रायः कम है। यहाँ कृषियोग्य उपजाऊ भूमि और अनुकूल जलवायु प्रचुर मात्रा में प्राप्त है। यदि वैज्ञानिक ढंग से खेती की जाय तो इस भूमि की उपज से अन्य देशों को भी खाद्य सामग्री दी जा सकती है परन्तु होता यह है कि अपने घर में ही पूरा नहीं पड़ता। अन्य देशों से खाद्य सामग्री मँगा कर कमी पूरी की जाती है। पर्याप्त साधन होते हुए भी हमें क्यों दूसरे देशों के आगे हाथ फैलाना पड़ता है इसके भी कई कारण हैं—

भारत सैकड़ों वर्षों से पराधीनता की बेड़ियों में जकड़ा रहा, अँग्रेजों ने यहाँ के निवासियों को कभी सुख और सन्तोष की साँस नहीं लेने दी, राजनीतिक एवं आर्थिक स्वतंत्रता का अपहरण कर वे जनता को पेट-रोटी के धन्धे में उलझाये रहे, कभी भी इस प्रकार का अवसर न दिया कि वे उठकर संसार की वैज्ञानिक प्रगति को देखें। परिणाम यह हुआ कि बहुसंख्यक भारतीय किसानों की दशा प्रतिदिन दयनीय होती चली गयी। आज के

इस प्रगतिशील युग में जब कि संसार अपने पिछले स्थान से बहुत आगे बढ़ गया है, भारतीय किसान ज्यों के त्यों उसी पुराने स्थान पर खड़े हैं। उनके खेती करने के ढंग पुराने, अवैज्ञानिक एवं परिश्रम साध्य हैं। नए-नए कृषि के यंत्र, अच्छी खाद, कृषि विज्ञान के नए-नए अविष्कार तथा अच्छे बीजों का उनको कोई ज्ञान नहीं है। यही कारण है कि पर्याप्त भूमि और अनुकूल जलवायु होते हुए भी उपज अत्यन्त न्यून होती है।

विज्ञान के वरदान से कृषि की उन्नति के लिए वर्तमान समय में अच्छे से अच्छे हल आविष्कृत हो चुके हैं जिनके द्वारा भूमि कम समय और कम परिश्रम में अच्छी प्रकार से जोती जा सकती है। प्राचीन पद्धति से एक हल बैल जितनी देर में एक बीघा जमीन जोतता था उतनी ही देर में एक ट्रैक्टर आठ बीघा भूमि अधिक गहराई से जोत देता है। बैल के बारे में अनिश्चितता भी रहती है, हो सकता है कि बैल खरीदे जाने के थोड़े दिन बाद किसी बीमारी से मर जाय, इसके साथ ही उस बैल की देख-भाल और खाने-पीने का प्रबन्ध भी होना चाहिये। इसलिये आजकल हल बैल से खेत जोते जाने के मिथ्याग्रह को छोड़कर ट्रैक्टर का प्रयोग किया जाय तो कम समय में बहुत अधिक कार्य आसानी से हो सकता है। एक ट्रैक्टर का मूल्य कई हजार रुपये होता है जो भारत के एक किसान की साधारण सामर्थ्य से बहुत अधिक पड़ता है। इस समस्या को हल करने के लिये गाँवों में 'सहकारिता' का आश्रय लेना अनिवार्य है।

सरकार का यह कर्त्तव्य है कि वह प्रत्येक गाँव में सहकारी समिति की स्थापना करे ताकि वे आपस में मिलकर कुछ धन एकत्रित कर लें। सब लोग अपनी-अपनी भूमि नाप लें, फिर उसकी सम्मिलित जुताई-बुवाई करवा डालें, ऐसा करने से उस ट्रैक्टर की उपयोगिता बढ़ जायगी, समय और व्यय की भी बचत होगी। पृथक-पृथक रूप से न तो सभी किसान ट्रैक्टर खरीद सकते हैं और न उसका उपयोग कर सकते हैं क्योंकि एक किसान के खेत कई पृथक-पृथक क्षेत्रों में विभाजित रहते हैं और वे छोटे-छोटे टुकड़ों में होते हैं। अगर अलग-अलग ट्रैक्टरों से खेती की जायगी तो वह विशेष लाभप्रद सिद्ध

न होगी और अनावश्यक व्यय भी होगा परन्तु सहकारी कृषि के द्वारा जब फसल तैयार होकर बिकने को प्रस्तुत होगी तब अपनी-अपनी भूमि की नाप से अपने-अपने भाग का लाभ प्रत्येक कृषक प्राप्त कर लेगा। इस प्रकार की सहकारिता से भ्रातृत्व एवं मेल की भावना बढ़ेगी तथा काम भी अच्छी प्रकार से हो सकेगा।

कृषि के लिए अच्छे-अच्छे पुष्ट बीजों का होना परमावश्यक है। जब अच्छे बीज बोये जायँगे तभी खेत में अच्छी फसल पैदा होगी। इस प्रकार के उत्तम श्रेणी के प्रौढ़ परीक्षित बीजों की प्राप्ति का उपाय सरकार के द्वारा ही सुलभ हो सकता है। सरकार का कर्तव्य है कि उत्तम श्रेणी के प्रौढ़ परीक्षित बीज किसानों में बाँटे ताकि उनसे स्वस्थ फसल उत्पन्न हो सके।

अच्छी फसल के लिए स्वस्थ बीजों के साथ वैज्ञानिक खाद की भी बड़ी आवश्यकता है क्योंकि जब तक ठीक समय पर रासायनिक खाद न डाली जायगी भूमि से पैदावार अच्छी नहीं हो सकती। अतः उत्तम कोटि की खाद का प्रबंध होना भी आवश्यक है। विदेशी खाद के अतिरिक्त गाँवों में दूर-दूर पर गड्ढे खुदवाकर उसमें खाद को सुरक्षित करना चाहिये। अच्छी खाद फसल की बाढ़ को बढ़ावा देती है। अच्छी खेती के लिए सिंचाई की बहुत आवश्यकता होती है। भारतीय कृषक मानसून की कृपा कोर पर ही अपनी भाग्यलिपि का निर्माण करते हैं। समय पर वर्षा न होने के कारण खेत सूख जाते हैं, इसलिए सिंचाई के लिए नहर, कुआँ आदि का समुचित प्रबन्ध होना चाहिए। सिंचाई की सुव्यवस्था सरकार की ओर से होनी चाहिए। सिंचाई की उचित व्यवस्था होने से खेती को हानि होने या सूखने की आशंका कम रहती है। कभी-कभी अत्यधिक वर्षा हो जाने के कारण फसल सड़ जाती है। ऐसे दयनीय समय में सरकार को चाहिए कि किसानों का लगान माफ़ कर दे और उनकी सहायता के लिए तकावी बँटवावे। खेतों को सदैव प्रयोग में लाना भी हानिप्रद है क्योंकि इस प्रकार से उसकी समस्त उर्वरताओं का शोषण हो जाता है। उन्हें कुछ समय के लिये विश्राम की

सांस लेने के लिए 'परती' छोड़ देना चाहिए ताकि वे फिर से नवीन शक्ति का सृजन कर लें।

कृषि उन्नति के लिए सरकार को चाहिए की आधुनिक आविष्कार और कृषि सुधार संबंधी प्रमुख बातों का किसानों में प्रचार करे। प्रशिक्षण के लिए कृषि संबंधी ज्ञान रखने वाले अनुभवी कर्मचारी भेजे जायँ। कृषि शिक्षा के स्कूलों की स्थापना हो तथा क्रियात्मक रूप से शिक्षा देने की पूर्ण व्यवस्था हो। गाँवों के बालकों के लिए कृषि शिक्षा अनिवार्य कर देनी चाहिए ताकि वे भविष्य में कृषि को ही अपना मुख्य व्यवसाय समझें और वैज्ञानिक ढंग से खेती करके राष्ट्रीय समृद्धि में वृद्धि करें।

अशिक्षित किसानों को कृषि संबंधी नवीन आविष्कारों एवं नए यंत्रों का ज्ञान चलचित्रों के प्रदर्शन द्वारा कराना चाहिए तथा उनकी उपयोगिता से भी उन्हें परिचित कराना चाहिए। यह सब कार्य राज्य सरकार द्वारा होना संभव है। सहकारिता कृषि उन्नति की रीढ़ है, इस पर विशेष बल देना चाहिए। इसी के आधार पर पाश्चात्य देश कृषि के क्षेत्र में उन्नतिशील हैं। सहकारिता की भावना को प्रोत्साहन मिलना ही चाहिए।

सरकार अच्छी उपज के लिए प्रतियोगिता का प्रबन्ध करे। अधिक से अधिक अच्छी फसल पैदा करनेवाले को पुरस्कृत करे, इस प्रकार से स्वभावतः कृषि में उन्नति हो सकती है। स्पर्द्धा की भावना से समृद्धि को समुन्नत बनाया जा सकता है।

: ३५ :

सह-शिक्षा का महत्व

सह-शिक्षा से तात्पर्य छात्र और छात्राओं के एक साथ एक कक्षा में बैठकर एक ही अध्यापक अथवा अध्यापिका द्वारा शिक्षा प्राप्त करने से है। अँग्रेजी में इसे 'को-एजूकेशन' (co-education) अर्थात् 'साथ-साथ शिक्षा'

कहते हैं। स्त्री, पुरुष का आधा अंग मानी गयी है, स्त्री को शिक्षा से वंचित रखने का अर्थ है अपने आधे अंग को काटकर फेंक देना। इस बीसवीं शताब्दी में कदाचित् ही कोई ऐसा व्यक्ति होगा जो स्त्री-शिक्षा की उपयोगिता न स्वीकार करता हो। हम यह नहीं चाहते कि स्त्रियाँ खूब पढ़-लिखकर जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पुरुषों के साथ प्रतिद्वन्द्विता करने का दम भरें फिर भी उनको सुयोग्य आदर्श सहचरी बनाने के लिए उच्च शिक्षा की व्यवस्था करनी ही होगी।

सहशिक्षा का प्रचलन प्राचीन भारत में कहीं न था, एकाध स्थलों को छोड़कर भारतीय सभ्यता में इस प्रकार की चर्चा का सर्वथा अभाव है। स्वामी दयानंद जी ने तो इसका घोर विरोध करते हुए लिखा है कि छात्र और छात्राओं के विद्यालय पृथक-पृथक होने चाहिए तथा उनके बीच में पर्याप्त दूरी भी हो। ब्रह्मचर्य काल में लड़के और लड़कियों को आपस में वार्तालाप करना वर्जित है क्योंकि इनको घी और अग्नि के समान माना गया है। यह स्वप्न में भी असंभव नहीं है कि अग्नि के पास पहुँचकर घी अपने को सुरक्षित रख सके। स्त्री का आकर्षण इतना मोहक होता है कि मनुष्य का चंचल मन उसके सम्मुख मोम की तरह द्रवित होने लगता है एवं वह अपने कर्त्तव्य से च्युत हो जाता है। ब्रह्मचर्य काल में यदि विद्यार्थी अपने कर्त्तव्य से गिर जाता है तो वह जीवन भर मूढ़ ही बना रहता है और उसके जीवन का विकास रुक जाता है। हमारे धर्म व्यवस्थापक मनु ने तो यहाँ तक कहा है कि ब्रह्मचारी को ब्रह्मचर्य काल में स्त्री के दर्शन नहीं करने चाहिए, कबीर ने नारी को विष की खान माना है, उन्होंने उसकी छाया तक को घातक माना है। कहा भी है—

नारी की छाईं परत, अन्धा होत भुजंग।
कबीर कहो तिन हाल क्या, नित नारी के संग॥

ये तो हुईं पुरानी गाथाएँ, जो उस युग, वातावरण और परिस्थितियों के अनुकूल थीं, अब इस प्रकार के कथन उपहास के साधन बनकर रह गये हैं। हमारे यहाँ सह-शिक्षा का प्रचलन पाश्चात्य सभ्यता के सम्पर्क से हुआ।

भारत में अँग्रेजी शासन के कारण शिक्षा प्रणाली पर अँग्रेजी प्रभाव पड़ने से सह-शिक्षा का भी प्रादुर्भाव होना स्वाभाविक था। इसका प्रचलन एवं प्रचार वर्तमान शिक्षा प्रणाली से मेल खाने के कारण नित प्रति बढ़ता ही जा रहा है।।प्रश्न यह उठता है कि सह-शिक्षा को प्रोत्साहित किया जाय या नहीं। लड़कियों को लड़कों के साथ-साथ शिक्षा दी जाय अथवा पृथक प्रबंध किया जाय। घर पर भी शिक्षा देने का प्रबन्ध हो सकता है, किन्तु उसमें व्यय बहुत पड़ेगा। एक व्यक्ति भिन्न-भिन्न विषयों के पढ़ाने के लिये भिन्न-भिन्न शिक्षक का प्रबन्ध नहीं कर सकता तथा एक ही अध्यापक विभिन्न विषयों को एक सी सफलता के साथ पढ़ा भी नहीं सकता। जीवन की व्यावहारिकता में जिन सामाजिक गुणों की अपेक्षा होती है तथा जिनके अभाव में मनुष्य मनोवैज्ञानिक सन्तुलन खो बैठता है उन गुणों का यथेष्ट विकास घर पर होना असंभव है। लड़कियों की प्रारम्भिक शिक्षा के लिए तो पृथक स्कूलों की व्यवस्था है क्योंकि प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त करने वाली लड़कियों की संख्या अधिक है और उन पर किया गया व्यय पूरा-पूरा फल दे देता है किन्तु उच्च शिक्षा प्राप्त करनेवाली लड़कियों की संख्या कम है। उनके लिए पृथक रूप से योग्य अध्यापक रखना अत्यन्त व्यय साध्य है। इसे कौन स्वीकार करेगा कि अपनी पुत्रियों या बहिनों को उच्च शिक्षा देकर भी उन्हें विशेषज्ञ अध्यापकों की योग्यता से वंचित रखा जाय। योग्यतम अध्यापिकाओं को तैयार करने के लिए उन्हें योग्यतम अध्यापकों के सम्पर्क में लाना ही पड़ेगा।

एकांगी दृष्टिकोण वाले प्रायः सह-शिक्षा के विरुद्ध आंदोलन करना प्रारम्भ कर देते हैं। हमें आज की समस्याओं को हल करने के लिए प्राचीन चश्मे से देखना बन्द कर देना चाहिये। आज के युग की परिस्थितियों एवं वातावरण के बीच ही हम अपनी समस्याओं का सही हल खोज सकते हैं। क्या हम प्राचीन धार्मिक सभ्यता एवं अन्धरूढ़ियों में फँसकर सह-शिक्षा के विरुद्ध आंदोलन प्रारम्भ कर दें या इसे ज्यों का त्यों ग्रहण कर अपनी उन्नति का साधन स्वीकार कर लें? यह वस्तुतः विचारणीय प्रश्न है। यदि हम

पहली बात के समर्थक बनते हैं तो इसके पहले हमें शांत चित्त से सोच लेना चाहिये कि क्या हमारा आंदोलन इस प्रगतिशील पाश्चात्य सभ्यता से प्रभावित युग में सफल हो सकेगा ? क्या हमारी बात मानकर छात्र और छात्राएँ सह-शिक्षा के विरुद्ध आंदोलन प्रारम्भ कर देंगे ? फिर यदि हम स्वयं ही अपने आंदोलन के प्रति दृढ़ विश्वासी नहीं हैं तो फिर व्यर्थ में समय का गला घोंटने से क्या लाभ ? इससे हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि वर्तमान प्रगति के युग में, जबकि संसार के स्त्री और पुरुष पारस्परिक सहयोग की भावना लेकर अपने-अपने जीवन-पथ पर सफलता के साथ आगे बढ़ रहे हैं उस समय सह-शिक्षा के विरुद्ध स्वर ऊँचा करने का तात्पर्य अपने को १८ वीं या १९ वीं शताब्दी में घसीटकर ले जाना होगा।

भारतीय विद्वानों ने एकमत से सह-शिक्षा का खंडन नहीं किया है। हमारे प्राचीन ग्रंथों में इस प्रकार के अनेकों प्रमाण मिलते हैं कि उच्च शिक्षा प्राप्ति के लिये स्त्रियाँ भी पुरुषों के साथ ऋषियों एवं आचार्यों से दीक्षा लिया करती थीं। भवभूति के उत्तर रामचरित में हमको सह-शिक्षा संबंधी एक उदाहरण मिलता है जो इस बात का पुष्कल प्रमाण है कि यदि सह-शिक्षा नाम की कोई वस्तु न होती तो भवभूति तपस्विनी आत्रेयी के मुख से यह न कहलाते कि वाल्मीकि जी के तपोवन में लव और कुश की प्रखर बुद्धि के कारण उनके साथ समान रूप से पाठ नहीं चल सकता। आत्रेयी के द्वारा यह पूँछे जाने पर कि वे वाल्मीकि के तपोवन को छोड़कर अगस्त्य आदि ऋषियों से ब्रह्म विद्या की दीक्षा लेने क्यों आई, वे उत्तर देती हैं—

लव और कुश की बुद्धि बड़ी प्रखर एवं कुशाग्र है, उनकी धारणाशक्ति अत्यंत प्रबल है। ऐसे मेधावी छात्रों के साथ हमारा पाठ नहीं चल सकता।

कुछ भी हो, सभी चीजों के गुण-दोष होते हैं, उसके पक्ष-विपक्ष के समर्थकों की भी संसार में कमी नहीं है। अपने-अपने पक्ष की समीचीनता प्रमाणित करने के लिए पक्षी-विपक्षी खींचातानी मचाते हुये सत्य से कुछ दूर जा पड़ते हैं। वस्तुतः सत्य दोनों के बीच किसी मध्य बिंदु में सिमटा रहता है। सत्य की संज्ञा उसे दी जानी चाहिये जिसमें अवरुद्धता न आकर चेतनता

बनी रहे, जिसमें स्थिरता न आकर तरलता तरङ्गित हो। प्रगति शीलता स्वयं एक आकर्षण है। जो जीवन को शुष्कता और नीरसता की ओर ले जाने वाला आदर्श अपने आदर्शत्व को लेकर बैठा रहे, वह हमारे किसी काम का नहीं। मनोविज्ञान का मत है कि बचपन में जब मानव का मन और उसकी ज्ञानेन्द्रियाँ परिपक्व अवस्था में नहीं होतीं उस समय उन पर अच्छी बातों की अपेक्षा बुरी बातें सुगमता से छा जाती हैं। सह-शिक्षा आकर्षण की वस्तु होने के नाते दिन प्रतिदिन बढ़ रही है। विचारणीय है कि लक्ष्य पर पहुँचकर यह हमें मृत्यु के मुँह में तो न पटक देगी। इसका परिणाम किस सीमा तक नयी पीढ़ी के लिए शुभ होगा ? क्या यह ऊपरी चमकदमक हमारे अंतर के वाह्य-स्तर को ही छूकर मुरझा जाती है या इसमें प्राणतत्त्व को तरल बना देने की संजीवनी भी सन्निहित है। यदि यह आकर्षण मिथ्या, अस्वाभाविक एवं केवल मुलम्मा मात्र है तब तो इसे निश्चित रूप से संयम की श्वास में सुला देना चाहिए और यदि इस में वास्तविकता, स्वाभाविकता एवं संजीवनी शक्ति है तब तो इसका मुक्त कंठ से स्वागत होना चाहिए। हमें प्राचीन रूढ़ियों एवं धर्मान्ध प्रथाओं का गला घोटना ही पड़ेगा। हमें अपने बच्चों के भावी जीवन को उनके ही हाथों में सौंपकर निपुण निरीक्षकों की भाँति तटस्थ रह कर उन पर सूक्ष्म दृष्टि रखने की साधना करनी ही पड़ेगी। ऐसा करने से हमारे बच्चों में आत्मविश्वास की भावना दृढ़ होगी। उनमें अपने पथ का स्वयं निर्माण करने की क्षमता आएगी। बच्चों को अपनी दकियानूसी इच्छाओं के बंधन में बाँधकर चलाना मानो उनकी बाढ़ रोक देना है। वर्तमान युग की जाग्रति का संदेश है कि हमें उन्हें मुक्त करना ही पड़ेगा, हमें उन्हें आर्थिक, सामाजिक एवं पारिवारिक स्वतन्त्रता देनी ही पड़ेगी। शिक्षा सम्बन्धी स्वतन्त्रता में सह-शिक्षा भी आ जाती है।

प्रकृति के स्वभावानुसार अप्राप्य वस्तु के प्रति आकर्षण और प्राप्य वस्तु के प्रति विरक्ति का भाव होता है। इस दृष्टि से सह-शिक्षा पर व्यभिचार को प्रश्रय देने के दोषारोपण का स्वयं परिहार हो जाता है। नित्य साथ रहनेवाली वस्तु के प्रति मिथ्या आकर्षण तो स्वभावतः समाप्त हो जाता है।

दूर-दूर रहकर चलने से ही व्यभिचार को बढ़ावा मिलता है। सह-शिक्षा में साहचर्य की भावना उदित होने से व्यभिचार को कोई स्थान ही नहीं है। शुद्ध प्रेमांकुर को हम व्यभिचार में नहीं बदल सकते। यह तो मानव-जीवन की प्राकृतिक प्रवृत्तियों के अन्तर्गत आता है जो जीवन में किसी भी समय अंकुरित हो सकती हैं। साहचर्य की भावना से उत्पन्न हुआ अनुराग का अंकुर विवाह बंधन में अनबूझ पहेली की भांति अनिर्दिष्ट दिशा से आए हुए गुप्त दान के प्रेमांकुर से कहीं अधिक टिकाऊ एवं स्थायी होता है। साहचर्य की प्रेम-भावना न तो जीवन की भयंकर भूल है और न व्यभिचार का विष। यदि सह-शिक्षा में दूषित यौन-भावना का जन्म हो सकता है तो एक साथ रहनेवाले युवा भाई-बहनों में विकार क्यों नहीं उत्पन्न होते। विकार एकमुखी न होकर द्विमुखी होते हैं, इस कठिन परिस्थिति में दोनों के स्वभावों एवं चरित्रों में सन्तुलन स्थापित करना सचमुच महान् उत्तर-दायित्व का कार्य है। सह-शिक्षा से दूसरा आदर्शपूर्ण लाभ यह होता है कि इससे पारस्परिक स्पर्द्धा का उदय होता है जिससे छात्र-छात्राएँ आश्चर्य-जनक उन्नति करते हैं। स्वभाव से कोमल होने के कारण बहुधा लड़कियाँ ललित-कलाओं में प्रवीण होती हैं एवं लड़के गणित, ज्यामिति आदि विषयों में पारंगत। इस प्रकार सह-शिक्षा के माध्यम से दोनों एक दूसरे की तन्म-यता की मात्रा बढ़ाते रहते हैं। दोनों एक दूसरे की दृष्टियों में स्वच्छ और सुन्दर जंचने के प्रयत्न में सतत जागरूक रहते हैं। सह-शिक्षा के द्वारा स्त्री पुरुष एक दूसरे के गूढ़ स्वभावों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन करने के लिए पर्याप्त समय पा जाते हैं जो भविष्य में उनकी जीवन-यात्रा में बहुत लाभप्रद सिद्ध होता है। प्राचीन सड़ी-गली परम्पराओं के पोषक, धर्म की आड़ लेकर समाज, संस्कृति एवं शिष्टाचार के नाते व्यभिचार का भय दिखलाकर सह-शिक्षा का विरोध करते हैं किन्तु वह प्रारम्भ ही गल्तियों से करते हैं। इस ओर उनका ध्यान ही नहीं जाता कि प्रतिबन्धों से ही व्यभिचार को बल मिलता है और अन्ध-विश्वास, अशिक्षा एवं अवनति का स्वास्थ्य बनता है। सह-शिक्षा में पली छात्रा अपने पथ का निर्माण करने में पूर्ण समर्थ

होती है एवं अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास कर के देश, समाज, जाति एवं निज की कीर्ति को उज्वल बना सकती है आज के प्रगतिशील युग में स्त्री को मुक्त करके उसे अपना पथ स्वयं खोजने के लिए छोड़ देना चाहिए। वे दिन अब लद गए जबकि इस प्रकार के श्लोक लिखे जाते थे—

पिता रक्षति कौमारे, भर्ता रक्षति यौवने।
पुत्रश्च स्थविरे भावे, न स्त्री स्वातंत्र्यमर्हति ॥

यदि स्वेच्छा से स्त्रियों को मुक्त न किया गया तो वे स्वयं मुक्त हो जायँगी। समय उन्हें मुक्त कर रहा है। अच्छा यही होगा कि दोषी बनने के बजाय देश, जाति, समाज की प्रतिष्ठा एवं उन्नति के लिए स्त्री पर लगाये गये प्रतिबन्ध हटा लिये जायँ और उसके लिए स्वच्छन्द आकाश का पथ खोल दिया जाय। सह-शिक्षा के द्वारा ही हम इस लक्ष्य के निकट पहुँचकर अपने नीड़ का निर्माण कर सकते हैं। नारी के व्यक्तित्व से समन्वित होने पर ही हमारे व्यक्तित्व में पूर्णता आ सकती है तभी हम पंतजी के स्वरों में गर्व से गा सकते हैं—

प्रेम स्वर्ग हो धरा मधुर, नारी 'महिमा से मंडित।
नारी-मुख की नव किरणों से, युग प्रभात हो ज्योतित ॥

: ३६ :

ग्राम-पंचायत व्यवस्था के गुण-दोष

प्राचीन भारत की उन्नतिशीलता के कई कारणों में से एक कारण ग्राम के पंचायत व्यवस्था का सुसंगठित प्रबन्ध होना भी था। अँग्रेजों के आने से इस प्रणाली में शिथिलता आ गयी, बड़े-बड़े न्यायालयों की स्थापना हुई, ग्रामीण बन्धुओं का सारा सुख और चैन नोटों की गड्डियों में बदलकर वकीलों और बैरिस्टरों की जेबों में जाने लगा। भारत निरन्तर दरिद्र होता गया। सौभाग्य से भारत को स्वतंत्रता मिली, अपनी सरकार का निर्माण

हुआ। पंचायत प्रथा को पुनः प्रोत्साहन मिला, अपने राज्य उत्तर प्रदेश की सरकार ने ग्रामोन्नति के लिए ग्राम-पंचायतों की स्थापना की। जिस समय ग्राम-पंचायत अधिनियम धारा सभा के द्वारा पारित होकर सामने आया, लोगों के हर्ष का नारापार न रहा। समस्त राज्य में इस बिल का हृदय से स्वागत हुआ। ग्राम-पंचायत व्यवस्था गाँवों में लागू कर दी गई। इसके सुचारु रूप से चलने के लिए बड़े से बड़े और छोटे से छोटे प्रत्येक गाँव में ग्राम-पंचायत के विभाग खोले गए। अधिकारियों की नियुक्ति हुई। ग्राम-पंचायत के प्रधान चुने गये। सरकार का लाखों रुपयों का व्यय हुआ।

ग्राम-पंचायत की स्थापना के द्वारा एक महत्वपूर्ण कार्य की पूर्ति की गयी है। अशिक्षा के कारण गाँवों में पारस्परिक कलह होते ही रहते हैं, निर्धन किसान छोटी-छोटी बातों में बात का बतंगड़ खड़ा कर देते हैं, एक-एक बीघे जमीन के लिए भाई-भाई के रक्त का प्यासा हो जाता है। वे अपने पसीने की गाढ़ी कमाई अदालतों को देकर स्वयं भूखे-प्यासे रहते हैं, उनके बच्चे जाड़े की रातों में सी-सी करते दूसरे दिन की बाट जोहते रहते हैं। गाँवों में दरिद्रता एवं रोगों का घोर साम्राज्य है। सरकार ने भारत को जो वस्तुतः गाँवों का ही देश है, इस रोग से मुक्त करने का विचार किया है। गाँवों में अनेक प्रकार की अन्य कठिनाइयाँ भी ग्रामीण बन्धुओं को झेलनी पड़ती हैं। उन्हें बहुत सी ऐसी आवश्यकताएँ रहती हैं जिन्हें वे ही हल कर सकते हैं क्योंकि वहाँ की समस्याओं को नगर के वातावरण में पलनेवाला कोई अधिकारी ठीक से नहीं समझ सकता। इस प्रकार गाँवों को न्यायालयों से पूरा-पूरा लाभ नहीं होता। बिना ग्रामीण बन्धुओं की सहायता के सब कुछ करने का दम भरना एक हिमाकत मात्र है।

गाँवों में कृषि संबंधी सुविधा, लोगों की आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिए विकास सम्बन्धी योजनाएँ, समाज सेवा और नैतिक स्तर को ऊँचा करना, धन की बचत करना, सहकारिता की उपयोगिता समझना एवं उसकी सहायता से अपनी सारी समस्याओं को हल कर लेना ही ग्राम-पंचा-

यत का मुख्य उद्देश्य है। जिस उद्देश्य को लेकर इस व्यवस्था की स्थापना हुई है उसका भविष्य अत्यन्त ही उज्ज्वल है। परन्तु इस व्यवस्था में जहाँ असंख्य गुण हैं वहाँ पर दर्जनों दोष भी हैं।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् ग्राम-पंचायतों की स्थापना करना ही ग्रामीणों के लिए वास्तविक स्वतंत्रता देना है। दिसम्बर सन् १९४७ में उत्तर प्रदेश की सरकार ने ग्राम-पंचायत-अधिनियम को स्वीकृत किया। ग्राम-पंचायत की स्थापना से ग्रामीणों को सच्चा स्थानीय स्वराज्य मिला। सभी वयस्क ग्राम सभा के सदस्य होने के अधिकारी हैं। केवल विक्षिप्ती, अपराधियों और दिवालियों को यह अधिकार नहीं मिलता। सभापति और उप सभापति का चुनाव इन्हीं सदस्यों में से होता है। गाँव सभा वर्ष में दो बार रबी और खरीफ फसल के समय अपनी बैठकें करती हैं। उस सभा की कार्यकारिणी 'ग्रामपंचायत' के नाम से पुकारी जाती है। इस कार्य-कारिणी सभा के सदस्यों का चुनाव भी गाँव सभा के ही सदस्य करते हैं।

ग्राम-पंचायत बहुत सी ग्रामीण समस्याओं को हल करती है। सड़कों का निर्माण एवं मरम्मत, चिकित्सा और चिकित्सालयों की स्थापना, प्राइ-मरी स्कूलों की स्थापना, तालाब, कुएँ आदि बनवाना, सिंचाई के साधन प्रस्तुत करना आदि मुख्य कार्य इसे करने पड़ते हैं। जन-गणना, पशु-गणना, कृषि उन्नति, ग्राम सुधार सम्बन्धी और जन सेवा के अन्य कार्य भी यही ग्राम-पंचायत करती है। दुर्भिक्ष के समय जनता की सहायता करती है। सरकारी ऋण दिलाना और उसको उचित प्रयोग करने की व्यवस्था करना भी इसी का कार्य है। सामाजिक सेवा के कार्य जैसे पुस्तकालय और वाच-नालय की स्थापना, सार्वजनिक रेडियो का प्रबन्ध करना, जिला बोर्ड को ग्राम सुधार के लिए आवश्यक सुझाव देना और उसे अपने दायित्व का पालन करने के लिए उत्साहित करना भी ग्राम पंचायत के कार्यों में सम्मिलित है। इस प्रकार ग्राम-सम्बन्धी सभी कार्य करने का अधिकार ग्राम-पंचायत को है। ग्राम-पंचायत अपने गाँव के झगड़ों का निपटारा करने के लिए एक पंचायती न्यायालय का निर्माण करती है। पंचों की नियुक्ति निर्वाचन द्वारा

होती है। ग्राम-पंचायत सार्वजनिक निर्माण और व्यवस्था के अतिरिक्त ग्रामीणों के लाभ के लिए कृषि संबंधी सभी उन्नति के कार्य करती है। खाद और बीज का उत्तम प्रबन्ध करती है। पशुओं का नस्ल-सुधार करती है और उनके रोग की रोक-थाम का भी उचित प्रबन्ध करती है। मेला लगवाती है और उसका प्रबन्ध करती है। हाट लगवाती है और चरागाहों का भी प्रबन्ध करती है। इस प्रकार ग्रामीणों की उन्नति संबंधी जितने भी कार्य हो सकते हैं, ग्राम-पंचायत उन सब को करती है।

ग्राम प्रबन्ध जितनी उत्तमता एवं कम खर्च से ग्रामीण लोग कर सकते हैं उतना नगर के पढ़े-लिखे उच्च शिक्षा प्राप्त अधिकारी नहीं। ग्रामीण लोग अपने यहाँ की जटिल परिस्थितियों की नस-नस से परिचित रहते हैं एवं उनको क़म से कम समय में तथा कम से कम पैसे में किस युक्ति से हल किया जा सकता है यह भी भली भाँति जानते हैं। दूसरी ओर नागरिक अधिकारी उनकी आवश्यकताओं की तह तक नहीं पहुँच पाते। वे नहीं जानते कि यहाँ की कैसी-कैसी समस्याएँ होती हैं, कौन-कौन से संकटों का सामना करना पड़ता है। साथ ही यह पंचायत उन्हीं गाँव वालों के चुनाव से बनती है अतएव ग्रामीण जिन्हें सबसे कुशल एवं अनुभवी समझेंगे उन्हीं को ग्राम-पंचायत का सदस्य बनायेंगे। इनमें जो लोगों का विश्वास प्राप्त किये हैं और अनुभवी लोग हैं, वे ही पदासीन होकर अपने गाँव को नंदन-वन बना सकते हैं। यह भी आवश्यक है कि इसपर सरकारी नियंत्रण हो। यदि सब कुछ इन्हीं पंचायतों पर छोड़ दिया जाय तो ये स्वेच्छाचारी हो जायँगी और फिर इस व्यवस्था में दोष आ जायगा। परन्तु अधिक नियंत्रण या अनुचित हस्तक्षेप भी नहीं होना चाहिए अन्यथा कार्यकर्त्ता अपने कार्य को सुगमता पूर्वक न कर सकेंगे।

ग्राम-पंचायत व्यवस्था ग्रामीणों के लाभ के लिए बनाई जाती है। यदि लोग ईमानदारी और सच्चाई एवं सेवा की भावना से कार्य करेंगे तो कुछ ही समय में ये गाँव अपना कलेवर ही बदल देंगे। सब प्रकार की उन्नति से गाँव, गाँव न रह कर स्वर्ग बन जायँगे परन्तु ऐसा होना बाएँ हाथ का

खेल नहीं है। सरकार के अधिकारी आजकल सभी जन कार्यों में अनुचित हस्तक्षेप और प्रभाव डालते हैं। कुछ लोग अनुचित रीति से धन कमाते हैं। ठेके पर दी गयी वस्तुओं के द्वारा घूस खाते हैं। इन सब दुराचारों का परिणाम यह होता है कि कार्य ठीक से नहीं हो पाता और व्यय भी बहुत हो जाता है। आजकल प्रायः देखा जाता है कि पंचायत अदालत में सरपंच लोग चुपके से किसी दल से धन लेकर अपना निर्णय उसके पक्ष में देकर न्याय का गला घोंट देते हैं। इससे पंचायत पर से ईमानदार व्यक्तियों की आस्था उठ जाती है।

ग्राम पंचायत निस्सन्देह एक लाभप्रद संस्था है परन्तु जब तक ग्रामीण बन्धु शिक्षित नहीं हो जाते और अपने उत्तरदायित्व को नहीं समझते तब तक वे सुचारु रूप से काम नहीं कर सकेंगे, चाहे वे कितने ही ईमानदार क्यों न हों क्योंकि उनकी बुद्धि का विकास तो हुआ ही नहीं, वे कार्य किस प्रकार करेंगे ? ग्राम पंचायतों के निरीक्षक भी अपना कार्य ठीक से नहीं करते। वे उचित सुझाव न देकर केवल त्रुटि ही निकालते रहते हैं। सरकार भी किसानों को आवश्यक ऋण नहीं देती। अतः वे उन्नति करने में समर्थ नहीं हो पाते। सहकारिता के कार्यों में भी सरकार से इन ग्राम पंचायतों को पर्याप्त सहायता प्राप्त होनी चाहिए। ग्राम-पंचायत व्यवस्था निश्चित रूप से बहुत उपयोगी है। यदि इसके समस्त अधिकारी और सरकारी नियंत्रक अपना-अपना स्वार्थ त्याग करके बिल्कुल सच्चाई से कार्य करें तो निश्चय ही राष्ट्रपिता बापू का स्वप्न सत्य हो सकता है।

: ३७ :

भारत की राष्ट्रभाषा : हिन्दी

लम्बे विवाद के पश्चात् हिन्दी ने राष्ट्रभाषा का पद प्राप्त किया। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि हिन्दी कभी भी राष्ट्रभाषा नहीं रही

अथवा आज भी वह राष्ट्रभाषा होने योग्य नहीं है। संविधान के अनुसार उसे १५ वर्ष की अवधि प्राप्त है जिसमें वह अपने शब्दाभाव की पूर्ति कर सब प्रकार से पूर्ण हो जाय। प्राचीनकाल की भाँति जब कि उसे नैतिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक अधिकार प्राप्त थे, आज भी एक राष्ट्रभाषा के नाते उसे ये समस्त अधिकार प्राप्त हैं। यदि हम विश्व इतिहास पर एक दृष्टि डालें तो हमें ज्ञात होगा कि भारत की राष्ट्रभाषा बनने का सौभाग्य सदैव से उत्तर प्रदेश की भाषा को ही रहा है। हिन्दी उत्तर प्रदेश की ही भाषा है। यदाकदा धार्मिक आग्रह के कारण ऐसा भी हुआ है कि पाली आदि भाषाओं ने राष्ट्रभाषा का स्थान प्राप्त किया, किन्तु राजकीय सत्ता के परिवर्तित अथवा विनष्ट होने से वे भाषाएँ अपने गौरव से हाथ धो बैठीं। भारतीय समन्वयवादी प्रवृत्ति के कारण ही प्राचीन भारत की भाषा-समस्या सुलझाई गई। प्राचीन मनीषियों ने संस्कृत भाषा में सम्पूर्णता का अनुभव किया और उसे प्रकृति मान कर तज्जनित भाषाओं को विकृत माना। इस प्रकार उन्होंने एक तरफ़ तो एक को ही अनेक कर दिया, दूसरी ओर फिर से अनेक में से एक को प्रधानता देने लगे।

सुदूर प्रान्तों की जनता की भाषा मेरठ एवं बिजनौर की खड़ी बोली ही रही, और हिन्दी के मध्य समय में अवधी और ब्रज भाषाएँ प्रधान रूप से काव्य की भाषाएँ रहीं। १९ वीं शताब्दी में जब विशृङ्खलित हिन्दुस्तान को पुनः एकीकरण के सूत्र में बाँधने का भगीरथ प्रयास किया गया तो इस अकथनीय क्षण में खड़ी बोली ने पर्याप्त सहायता दी और एकदम समग्र साहित्य की एकाकी भाषा बन बैठी। उसके इस अकल्पनीय विकास में, उसकी अजस्र प्राण शक्ति निहित है। इसी शक्ति के कारण वह राष्ट्रभाषा के पद पर पहुँची। इस प्रकार खड़ी बोली को राष्ट्रभाषा के रूप में अपना-कर भारतीय जनता ने इतिहास की पुनरावृत्ति की है।

अब हमें राष्ट्रभाषा हिन्दी की उन विशेषताओं पर भी दृष्टि डालना उचित होगा जिनके द्वारा वह राष्ट्रभाषा का पद ग्रहण कर सकी है—

(१) हिन्दी देश की सभ्यता और संस्कृति की परिचायक है।

(२) हिन्दी अत्यन्त सरल है और एक साधारण मनुष्य जिसे हिन्दी नहीं आती उसे ६ महीने के अल्प समय में ही सीख सकता है।

(३) इस भाषा को देश के अधिकांश भाग में व्यापक होने का सौभाग्य भी प्राप्त है क्योंकि इसकी नींव पुष्ट है। इन्हीं विशेषताओं के साथ ही यह कह देना भी उचित होगा कि उस भाषा का अन्य प्रान्तीय भाषाओं से बहुत कुछ मेल है। अतः हिन्दी का भविष्य उज्ज्वल है।

(४) इस भाषा में राजनीतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक तथा शिक्षा सम्बन्धी व्यवहार के संचालन की पूर्ण प्रतिभा है।

हमारी राष्ट्रभाषा के दो रूप हैं। एक जनसाधारण के व्यवहार की भाषा का और दूसरा राजकाज तथा शिक्षा की भाषा का। दोनों में कोई विशेष अन्तर नहीं है किन्तु जन सामान्य के व्यवहार की भाषा अधिक से अधिक सुगम, सुलभ, सरल एवं व्यवहारोपयोगी बनाई जा सकती है। यद्यपि प्रान्तीय संस्थाओं के काम वहीं की भाषाओं में होते रहेंगे किन्तु समग्र प्रान्तों को एक सूत्र में ग्रथित करने का काम राष्ट्रभाषा हिन्दी द्वारा ही होगा।

सामान्य जनता की भाषा के लिए सरलता अनिवार्य है। जहाँ तक उर्दू या अँग्रेजी शब्दों का प्रश्न उठता है उसके विषय में दो टूक राय यही है कि इन भाषाओं के प्रचलित शब्द अपना लेना ही अधिक श्रेयस्कर होगा। स्टेशन को 'धूम्रशकट विश्रामस्थल' या सनलाइट सोप को 'सूर्य प्रकाश वस्त्र स्वच्छक' कहना हास्यास्पद होगा। शब्दों को इस प्रकार अपनाकर हिन्दी की भाव व्यञ्जकता को बढ़ाने के विषय में मिश्र बन्धुओं की राय उल्लेखनीय है—

"इस प्रकार अपने तथा बाहिरी भाषाओं के शब्दों को अपनाकर उनको अपने अन्य शब्दों के समान रूपों में लिखना उचित समझ पड़ता है, नहीं तो नवागत भावों तथा विचारों के यथावत् व्यक्त करने में कठिनता पड़ेगी। जहाँ बाहर का कोई शब्द हो और उसके भाव बोधक अपना कोई अच्छा शब्द न देख पड़े वहाँ बेधड़क उसका व्यवहार करे। कुल बातों का सारांश

यह है कि भाषा के स्वाभाविक विकास को कृत्रिम नियमों से न रोके।"

सम्प्रदायवादी मस्तिष्कों से नित्यप्रति उर्दू के बहिष्कार की समस्या उद्भूत हुआ करती है। आश्चर्य है कि ऐसे संकीर्ण मस्तिष्क वाले विचारक यह क्यों भूल जाते हैं कि उर्दू भाषा का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है बल्कि हिन्दी और उर्दू दोनों एक ही भाषा (हिन्दी) की दो शैलियाँ हैं। उर्दू के पूर्ण बहिष्कार का तात्पर्य यह होगा कि हिन्दी भाषा साहित्य के एक समृद्ध भाग को खो बैठेगी। "अधिक श्रेयस्कर तो यह होगा कि उर्दू साहित्य का समग्र इतिहास ही शैलीगत खण्डों के रूप में हिन्दी साहित्य में ग्रहण कर लिया जाय। उर्दू की मंजावट, नफासत, चुभन हिंदी साहित्य के गौरव का विषय बन जावेगी। उर्दू वालों का कोई नुकसान नहीं होगा। वे नागरी लिपि में एक अधिक कीमती और बड़े साहित्य के वारिस हो जावेंगे। आपस की फूट न रहेगी, और सब से बड़ी बात होगी कि तब अपने आप एक नई भाषा का जन्म होगा।" (रांगेय राघव)। यह कार्य तभी पूर्ण हो सकता है जब उर्दू साहित्य को हिन्दी में मिलाकर और उसे नागरी लिपि में लेकर हिन्दी साहित्य के इतिहास को फिर से लिखा जाय।

अपनी हिन्दी भाषा की शब्द-वृद्धि एवं श्री सम्पन्नता के लिए हमें अन्य प्रान्तीय भाषा की प्रचलित शब्दावली को उदारता के साथ अपने हिन्दी साहित्य में मिलाना होगा। राष्ट्रभाषा का गुण यह नहीं होता कि वह देखने में ललित एवं मधुर तथा काव्यमय हो चाहे उसे सामान्य मनुष्य समझ न सके। हिन्दी ही एक ऐसी भाषा है जिसके द्वारा सामान्य मानव भी अपने विचारों और अपनी आकांक्षाओं को दूसरों के प्रति सरलता से प्रगट कर सकता है और दूसरों द्वारा प्रगट किए गए भाव स्वयं भी समझ सकता है। इसके लिए हमें संकीर्णता एवं साम्प्रदायिकता को छोड़ कर व्यापकता एवं समन्वयवादिता से काम लेना होगा। इसे और भी सरल बना कर अन्य प्रान्त वालों के योग्य बनाना है इसके लिए हमें इसके व्याकरण की जटिलताओं की छानबीन कर उसे अधिक सुगम बनाना होगा।

राजकाज की भाषा एवं शिक्षा की भाषा में कुछ क्लिष्टता रहना

अनिवार्य सा है किन्तु उसे राष्ट्रभाषा से सम्बद्ध न रखना दुर्भाग्य का विषय होगा। इनका प्रमाणीकरण आवश्यक होगा। बाबू गुलाबराय के शब्दों में—"पारिभाषिक शब्दावली का सारे देश के लिए प्रमाणीकरण आवश्यक है क्योंकि जब तक हमारी शब्दावली सारे देश में न समझी जावेगी तब तक न तो वैज्ञानिक क्षेत्रों में सहकारिता ही सम्भव हो सकेगी और न विद्यार्थी ही लाभ उठा सकेंगे।" पारिभाषिक शब्दों के बनाने में हमें संस्कृत के तत्सम शब्दों को ग्रहण करना अधिक उचित होगा जिसमें प्रत्यय लगाकर शब्द बनाए जा सकें। किन्तु प्रचलित शब्दों का ही प्रामाणीकरण कर लेना और भी अधिक श्रेयस्कर होगा। समाजशास्त्र के अनेक अंगों जैसे तर्कशास्त्र, अर्थशास्त्र तथा राजनीतिशास्त्र आदि उपयोगी साहित्य की शब्दावली हमें प्राचीन ग्रन्थों से अपनानी पड़ेगी और उसे सर्वसाधारण के योग्य बनाने में एक कठिन-साधना की आवश्यकता होगी।

इन सब योजनाओं और प्रयत्नों से सुसंस्कृत हिन्दी भाषा का स्वरूप बदल जावेगा जो अत्यन्त लोककल्याणकारी होगा। वर्ग-संघर्ष का अन्त करने की शक्ति जितनी हिन्दी भाषा में है अन्य प्रान्तीय भाषाओं में उतनी नहीं क्योंकि उसके मूल में जनता-जनार्दन की ओजस्विनी शक्ति निहित है। कबीर एवं तुलसी का साहित्य आज भी ज्यों का त्यों जी रहा है और भविष्य में भी जीता रहेगा।

हिन्दी के राष्ट्रभाषा के स्वरूप के साथ ही उसका एक अपना क्षेत्र है जिसका वर्तमान एवं भविष्य अत्यन्त उज्ज्वल है। उसकी इस समृद्धशीलता पर प्रकाश डालते हुए डा० रामविलास शर्मा ने लिखा है—

"हिन्दी भाषी इलाका भारत का सबसे बड़ा इलाका है। संख्या के लिहाज़ से हिन्दुस्तानी जाति दुनिया की तीन चार सब से बड़ी जातियों में गिनी जावेगी। ऋग्वेद और महाभारत की रचना इसी प्रदेश में हुई है। यहीं की नदियों के किनारे वाल्मीकि और तुलसी ने अपने अनुष्टुप और चौपाइयाँ गाई हैं। तानसेन और फैयाज़ खाँ, मीर, अकबर, ग़ालिब, भारतेन्दु, प्रेमचन्द, निराला यहीं के रत्न हैं। ताजमहल एवं विश्वनाथ के मंदिर

यहीं के गढ़े हैं। आल्हा और कजली ने सैकड़ों साल तक यहीं की धरती का आकाश गुंजाया है। अठारह सौ सत्तावन में यहीं की धरती हिंदुओं और मुसलमानों के खून से सींची गई है। जिस दिन यह विशाल हिन्द प्रदेश एक होकर नए जनजीवन का निर्माण करेगा, उस दिन इसकी संस्कृति एशिया का मुख उज्ज्वल करेगी। किसानों और मजदूरों की एकता जो जनता के संयुक्त मोर्चे की मुख्य शक्ति है, वह दिन निकट लावेगी। हिन्दी और उर्दू के लेखकों को इस 'जनता' के हितों को ध्यान में रखकर अपनी जातीय परम्पराओं के अनुसार लोकप्रिय भाषा और जनवादी साहित्य के विकास को आगे बढ़ाना चाहिए।"

तात्पर्य यह है कि राष्ट्रभाषा का क्षेत्र जितना व्यापक होगा उतना ही उसे अन्य प्रान्तीय भाषाओं से सम्बन्ध जोड़ना पड़ेगा। उसे कुछ बलिदान करना पड़ेगा, कुछ ग्रहण करना पड़ेगा और इस प्रकार सभी मिश्रित होकर एक रूप हो जावेंगी। विभिन्न प्रान्तों में एक ही भाषा का माध्यम रहने से पारस्परिक मित्रता भी स्थापित हो जावेगी और राष्ट्र एक सूत्र में बंध कर दृढ़ हो जाएगा।

: ३८ :

पं० नेहरू की रूस यात्रा

(पं० नेहरू और उनकी शांति नीति)

इतिहास साक्षी है कि भारत सदैव इस प्रयत्न में लगा रहा कि विश्व में शान्ति रहे तथा एक दूसरे राज्यों में मैत्री रहे। पूर्व काल में भारत से शांति के अनेक दूत विदेश गये, अपने सिद्धान्तों का प्रचार किया और सफलता पाई। वर्तमान काल में भी हमारी वैदेशिक नीति सहयोग, शान्ति और तटस्थता की है और हम प्रयत्नशील हैं कि पूर्व और पश्चिम की खांई

पटे, वे एक दूसरे के निकट आयें—पं० नेहरू की रूस यात्रा इसी नीति पर आधारित थी।

भारत के प्रधान मंत्री पं० नेहरू ने अपनी रूस यात्रा के लिये जाते समय पत्रकारों से कहा था—"मैं अपने देशवासियों की शुभकामनायें तथा शान्ति के संदेश ले कर जा रहा हूँ" यही कारण था कि श्री नेहरू जहाँ भी गये लोगों ने उनका सम्मान किया तथा हृदय से स्वागत भी। लाखों की संख्या में लोगों ने शान्ति-दूत को करतल-ध्वनि से उनके प्रयत्नों की सफलता का विश्वास दिलाया। एक विजेता की भाँति पं० नेहरू ने सारे रूस का तूफानी दौरा किया। लोहे का वह आवरण जो सारे विश्व के लिये विशेषतः पश्चिमी राष्ट्रों के लिये एक आतंक का कारण बना हुआ था, हट गया जैसा कि पं० नेहरू ने स्वयं कहा—"मुझे रूस में किसी भी प्रकार का कोई भी आवरण देखने में नहीं आया" आता भी कैसे, कौन सा विकास का केन्द्र था जहाँ पं० नेहरू नहीं गये, कौन सा स्थान उन्होंने नहीं देखा ?" "जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरति देखी तिन तैसी।" स्वच्छ हृदय था सभी बातें स्पष्ट सामने आईं। इस मैत्री-पूर्ण वातावरण में पं० नेहरू शीर्षस्थ रूसी नेताओं से मिले, बातें की और अन्त में अपनी बातों की विजय श्री प्राप्त की।

रूस के प्रधान मंत्री श्री बुलगानिन ने एक स्वागत समारोह में पं० नेहरू के शान्ति प्रयत्नों की सराहना करते हुए कहा था—"हमारी सरकार भारत के सहयोग से चीन तथा अन्य देशों में तनाव कम करने को प्रयत्नशील है और हमें विश्वास है कि हम सफल होंगे।" अब एशिया युद्ध नहीं चाहता क्योंकि पिछले महायुद्धों में हमने सब से अधिक क्षति उठाई है। एशिया जागा है। पं० नेहरू सा नेता उसने पाया है। निश्चय ही वह शान्ति स्थापित कर सकने में समर्थ होगा। इस प्रयत्न का पहला कदम भारतीय दूत मेनन का अमेरिका और चीन के बीच तनाव दूर करने का है।

रूसी प्रधान मंत्री एवं पं० नेहरू का सम्मिलित वक्तव्य भी पश्चिम के प्रति सद्भावना का परिचायक है—पंचशील का सिद्धान्त रूस ने भी मान लिया—तथा उसने एक कदम और आगे बढ़ कर पंचशील के सिद्धान्त को

और भी बल प्रदान किया है जिन मुख्य सिद्धान्तों को भारत तथा रूस ने माना है वे इस प्रकार हैं—(१) एक दूसरे के आन्तरिक मामलों में चाहे वे आर्थिक हों, राजनीतिक हों या सैद्धान्तिक कोई भी हस्तक्षेप न करेगा, (२) आक्रमण न करना, (३) शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व, (४) समानता एवं पारस्परिक लाभ, (५) एक-दूसरे की सार्वभौमिकता एवं सम्मान के प्रति श्रद्धा।

इतना ही नहीं, भारत के प्रयत्न से आयोजित एशियाई तथा अफ्रीकन देशों के बान्डुंग सम्मेलन के प्रयत्नों की भी सराहना रूसी प्रधान मंत्री ने की है। दोनों प्रधान मंत्रियों ने चीन को राष्ट्र संघ में सम्मिलित न किये जाने पर खेद प्रकट किया है तथा आशा की है कि तनाव को कम करने के लिये चीन को राष्ट्र संघ में सम्मिलित कर लिया जायगा।

पं० नेहरू की इस महान् यात्रा का प्रभाव सारे विश्व पर पड़ा है। लोग गम्भीरता से विचार करने लगे हैं कि यदि तनाव कम न किया गया तो एशिया स्वयं तटस्थ हो जायेगा और वह युद्ध में अपने को सम्मिलित न होने देगा। इस यात्रा से भारत और रूस का सम्बन्ध दृढ़ हो गया है। एशिया के सबल राष्ट्र शान्ति एवं सहयोग चाहते हैं। उन्हें अपनी आन्तरिक स्थिति सुधारने की चिन्ता है। परिमाणु शक्ति का उपयोग वे विध्वंसकारी नहीं बल्कि निर्माणात्मक कार्यों में करने को इच्छुक हैं—जहाँ कहीं भी तनाव है वह आपसी वार्ता से तय हो जाय यही इनकी कामना है।

पं० नेहरू की इस यात्रा में सब से बड़ी विजय रूसी गुट (कामिन-फार्म) के प्रभाव को समाप्त करने में रही। भारत का साम्यवादी दल जो रूस के संकेत पर विध्वंसकारी कार्यों में रत था अब इस समझौते के पश्चात् भारत सरकार के राजनीतिक, सैद्धान्तिक या आर्थिक कार्यों में हस्तक्षेप न करेगा। लोग आशा करने लगे हैं किं रूसी गुट तोड़ दिया जायगा, और प्रत्येक देश का साम्यवादी दल अपने स्वयं के विचार से कार्य करने को मुक्त कर दिया जायेगा।

रूस ने भारत के प्रधान मंत्री को अपने देश के विशेषज्ञों की पूरी-पूरी

सहायता देने का वचन दिया है जो हमारी द्वितीय पंचवर्षीय योजना में सहायक होगी। दोनों देशों में आपसी सांस्कृतिक एवं वैज्ञानिक आदान-प्रदान होता रहेगा जिससे सम्भव है हम भी रूस की भाँति कृषि एवं औद्योगिक प्रगति कर सकें।

जिनेवा में जो चार बड़े राष्ट्रों के प्रधानों का सम्मेलन हुआ, रूस की यात्रा का प्रभाव इस वार्ता पर भी पड़ा। सच्ची सफलता नेहरू जी की यात्रा की तब होगी जब विश्व में पूर्व और पश्चिम के बीच का तनाव कम होगा। ऐसे समय में जब कि पश्चिमी एशिया भिन्न-भिन्न नामों से अपने गुट तैयार कर रहा है पं० नेहरू ने रूस यात्रा करके पश्चिम की आँखें खोल दीं कि गुट नहीं सहयोग से भी हम विश्व में शांति स्थापित कर आंतरिक पुष्टि कर सकते हैं।

पं० नेहरू ने पञ्चशील के सिद्धांतों को न केवल प्रचार का साधन मात्र बनाया है वरन् अपनी बाह्य नीति का आधार भी, गोआ की समस्या, काश्मीर की समस्या आदि को वे परस्पर सहयोग के वातावरण में ही सुलझाना चाहते हैं। चाहे समय अधिक भले ही लगे, एक सच्चे गांधीवादी और तटस्थ राष्ट्र के प्रधान मन्त्री के नाते विश्व में जहाँ भी तनातनी देखी उन्होंने प्रयत्न किया कि गुत्थी सुलझे और कहीं-कहीं उन्हें सफलता भी मिली। भविष्य बतायेगा कि पं० नेहरू अपने उद्देश्यों में कहाँ तक सफल रहे और रूस कितना इस यात्रा से प्रभावित रहा। यदि ये सारी बातें केवल कागज पर ही रहीं और कार्यों में उतारी न जा सकीं तो सफलता के प्रति संदेह भी हो सकता है।

: ३९ :

काश्मीर समस्या

हमें स्वतंत्रता तो मिली, पर अँग्रेज इतने भोले न थे कि वे हमें शांतिपूर्ण वातावरण में छोड़ जाते, उन्होंने दो काम किये—पहला भारत का

विभाजन, दूसरा समस्त देशी रियासतों का स्वतंत्रीकरण। विभाजन के अभिशापस्वरूप हमें क्या-क्या कठिनाइयाँ उठानी पड़ीं यह यहाँ चर्चा का विषय नहीं है। भारत ने सरदार पटेल की कुशल गृहनीति से समस्त देशी रियासतों को अपने में मिला लिया। या तो छोटे-छोटे राज्यों को प्रांतों में मिला लिया गया, या उन राज्यों के संघ बनाकर जनतंत्रात्मक रूप से उन्हें संगठित कर लिया गया। दुर्भाग्य से दो राज्य, हैदराबाद और काश्मीर के विषय में हम थोड़े ढीले पड़े। हैदराबाद में बहुसंख्यक हिन्दू जनता थी पर निजाम मुसलमान था। वह अपने दाहिने हाथ कासिम रिज़वी की सहायता से पाकिस्तान में सम्मिलित होना चाहता था, पर समय रहते कार्रवाई की गई और हैदराबाद भारत में सम्मिलित कर लिया गया। काश्मीर में जम्मू प्रदेश में हिन्दुओं की जनसंख्या अधिक है काश्मीर घाटी में मुसलमानों की। राजा हरीसिंह शासक थे उन्होंने भारत में सम्मिलित होने की सम्मति प्रकट की, पर भारत ने ढीली नीति अपनाई। पाकिस्तान को अवसर मिला। उसने अपने छापामारों द्वारा काश्मीर पर आक्रमण कर दिया। काश्मीर की पुकार पर भारत ने अपने नौजवानों को उसके रक्षार्थ भेजा। काश्मीर के प्रधान मन्त्री शेख अब्दुल्ला खाँ तथा पं० नेहरू ने आपस में राय की और दुर्भाग्य से मामला राष्ट्रसंघ की सुरक्षा परिषद् को दे दिया गया। युद्ध विराम का आदेश हुआ, भारत और पाकिस्तान के सिपाही जहाँ थे वहीं रुक गये। काश्मीर का एक भाग जो सारे काश्मीर का चौथाई है पाकिस्तान के अधिकार में आ गया।

सुरक्षा परिषद् ने श्री ग्राहम के नेतृत्व में एक आयोग इस जाँच के लिए काश्मीर भेजा कि आक्रामक कौन है? जाँच हुई, स्पष्ट था कि पाकिस्तान ने आक्रमण किया और भारत ने काश्मीर का बचाव किया। आयोग ने अपना वक्तव्य सुरक्षा परिषद् में दिया। पाकिस्तान स्पष्ट रूप से दोषी सिद्ध हुआ पर ब्रिटेन और अमेरिका जिनकी नीति लड़ा कर तमाशा देखने की थी उन्होंने अब तक भी काश्मीर की समस्या को नहीं निबटने दिया।

इसी बीच भारत ने एक दूसरी बहुत बड़ी भूल कर दी। पं० नेहरू ने

कहा कि काश्मीर के भाग्य का निर्णय काश्मीर की जनता करेगी। सुरक्षा-परिषद् को भी एक अवसर मिला। उसने कहा कि दोनों देश आपसी समझौते से इस कलह को तय करें। वार्ताओं का दौर चला कोई भी विवाद तय तब होता है जब तय करने की इच्छा हो। पाकिस्तान तय करने को ऊपर से तो तैयार रहता है पर किसी भी हल पर सहमत नहीं होता। पाकिस्तान के भूतपूर्व प्रधान मंत्री लियाकत अली कितनी ही बार पं० नेहरू से मिले। श्री मुहम्मद अली भी चौथी बार वार्ता समाप्त कर के गये।

काश्मीर में अब तक आन्तरिक स्थिति में भी पर्याप्त परिवर्तन हो गया है। भूतपूर्व प्रधान मंत्री श्री अब्दुल्ला काश्मीर के भाग्य को अन्यत्र ले जा रहे थे—समय रहते चेतावनी मिली, भारत चेता, और अब्दुल्ला साहब कारावास में दिखाई पड़े। वर्तमान प्रधान मंत्री बक्शी गुलाम मुहम्मद की नीति दृढ़ और पुष्ट है। काश्मीर की नव-निर्वाचित धारा-सभा ने एक स्वर से भारत में सम्मिलित होने का निश्चय कर लिया है, पाकिस्तान ने अपना पक्ष निर्बल देख कर अमेरिका के साथ गठबंधन कर सैनिक सहायता का समझौता कर लिया है। अमेरिका ने क्यों सहायता दी? यह विचारणीय है। काश्मीर की भौगोलिक स्थिति पर विचार करने से पता चलता है कि चीन, रूस, भारत एवं पाकिस्तान की सीमायें यहाँ मिलती हैं। अमेरिका अपने भावी महायुद्ध का प्रमुख केन्द्र पाकिस्तान के अधीन काश्मीर के भाग गिलगिट को बनाना चाहता है। यहाँ से रूस की सीमा निकट है सैनिक समझौता होने पर हमारे प्रधान मंत्री ने कहा—"काश्मीर की समस्या का रूप इस समझौते ने बदल दिया है, मतगणना की प्रतिज्ञा तब तक पूर्ण नहीं की जा सकती जब तक शान्ति की स्थिति स्पष्ट न हो जाय। साथ ही पाकिस्तान का यह प्रस्ताव अब मान्य नहीं है कि भारत अपनी सेना काश्मीर से वापस बुला ले तब मतगणना हो।"

कूटनीतिक क्षेत्रों का कहना है कि वयस्क मताधिकार द्वारा निर्वाचित काश्मीर की धारा सभा का भारत के साथ रहने का निश्चय वहाँ की जनता की इच्छा का परिचायक है, अतः अब मतगणना का प्रश्न ही नहीं उठता।

पर पाकिस्तान का कहना है कि यह धारासभा जनता की सच्ची प्रतिनिधि सभा नहीं है अतः उसका निश्चय मतगणना के प्रश्न को हल नहीं करता, कुछ समय पहले श्री मुहम्मद अली पं० नेहरू से बातचीत करने दिल्ली आये थे। उन्होंने बताया था कि वार्ता समाप्त नहीं हुई है हम पुनः पं० नेहरू के रूस से वापस आने पर करांची में मिलेंगे। यहाँ से जाने पर ढाके में वक्तव्य देते हुए श्री अली ने धमकी दी कि यदि करांची वार्ता तय न हुई तो पाकिस्तान अन्य मार्ग अपनायेगा। यह सारी धमकी अमेरिकी सहायता के बल पर थी।

जून १९५५ के तीसरे सप्ताह में भारत के गृहमंत्री श्री पंत काश्मीर गये थे वहाँ पर वक्तव्य देते हुए उन्होंने कहा था कि काश्मीर का भाग्य भारत के साथ धारासभा के निश्चय ने जोड़ दिया है और जब पाकिस्तान अमेरिका से सैनिक समझौता कर चुका है, मतगणना सम्भव नहीं है। इस वक्तव्य ने पाकिस्तानी क्षेत्र में खलबली मचा दी और पाकिस्तान से दूत द्वारा एक विरोध पत्र भी भारत सरकार के पास आया।

पाकिस्तान एक ओर समझौते की बात करता है, दूसरी ओर धमकी देता है, साथ ही समय-समय पर भारतीय क्षेत्र में घुस कर लूट-मार और हत्या करने से भी बाज़ नहीं आता। भारत अपनी शान्तिपूर्ण समझौते की नीति अपनाने को कटिबद्ध है। एक घोर हिंसावादी है, दूसरा अहिंसा के पुजारी गाँधी का पदानुरागी। देखना है जीत किसकी होती है। 'सत्यमेव जयते' हमारा ध्येय विन्दु है। यदि हम न्याय, शान्ति और सहयोग के सच्चे पुजारी हैं तो काश्मीर भारत का अंग बन कर रहेगा और पाकिस्तान लाख सैनिक समझौते करे एक दिन अवश्य झुकेगा। स्मरण रहे कि पाकिस्तान सरकार के प्रति भारत सरकार की नीति अभी तक अत्यन्त सद्भावना मूलक रही है किंतु पाकिस्तान सरकार ने भारत की इस उदार नीति से अनुचित लाभ उठाकर अपनी शत्रुता में तनिक भी परिवर्तन नहीं किया। पंचशील के प्रचारक भारत ने अब तक पाकिस्तान के प्रति अत्यंत सहिष्णुता से काम लिया है एवं अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में वह पाकिस्तान के अक्षम्य व्यवहारों को शांति के साथ क्षमा करता रहा है किंतु सहने की भी एक

सीमा होती है। गृहमंत्री पन्त जी ने भारतीय सीमा पर उपद्रव मचाने वाली पाकिस्तानी सेना को स्पष्ट शब्दों में सतर्क किया है कि भारत पर यदि कोई बदनीयत भरी दृष्टि डालेगा तो या तो उसे ठीक तरह से देखना सिखाया जायगा या फिर उसकी आँखें ही निकाल ली जायेंगी। दूसरी ओर काश्मीर में जनमत लेने से प्रधान मंत्री पं० नेहरू ने स्पष्ट अस्वीकार कर दिया है क्योंकि पाकिस्तान अब इस दिशा में सैनिक दबाव डालने की नीति अपना रहा है। जब पाकिस्तान राष्ट्र संघीय कमीशन के प्रस्तावों की उपेक्षा कर रहा हो, अमेरिका से शस्त्रास्त्र लेकर भारत के विपरीत युद्ध का वातावरण प्रस्तुत कर रहा हो, साथ ही अमेरिका के गुट में बैठकर कहीं 'सीटो' में तो कहीं बगदाद संधि में सहयोग दे रहा हो, उस स्थिति में जन-मत-गणना एवं शांतिपूर्वक समस्या का समाधान हो जाने की कोई संभावना ही नहीं दिखती। इसी दृष्टि को ध्यान में रखकर रूस के प्रधानमंत्री श्री बुलगानिन एवं श्री क्रुश्चैव ने काश्मीर के संबंध में भारत की नीति का समर्थन करते हुए जो उद्‌गार अपनी भारत-यात्रा पर व्यक्त किये थे उनका अक्षरशः समर्थन करते हुए पंडित जी ने कहा था—"कानूनी सांविधानिक और व्यावहारिक दृष्टि से उनका काश्मीर संबंधी वक्तव्य बिल्कुल सही है और साथ ही काश्मीर के विवाद में 'सीटो' द्वारा अनुचित हस्तक्षेप करने वाले राष्ट्रों को चुनौती है। श्री नेहरू ने निर्भय होकर यह घोषणा कर दी है कि काश्मीर वैधानिक रूप से भारत का ही एक अंग है। अब संसार की कोई शक्ति इसे भारत से पृथक नहीं कर सकती। इस प्रकार काश्मीर समस्या का पूर्णतया समाधान हो चुका है। भारत और काश्मीर की समस्त जनता भी यही चाहती थी कि इस विवाद को अब समाप्त कर दिया जाये। हम समझते हैं कि प्रधान मंत्री की उक्त घोषणा से अब इस समस्या का स्पष्टीकरण समुचित रूप से हो गया है, यद्यपि पाकिस्तान अब भी इसे उलझन में डाले हुए है।

: ४० :

एवरेस्ट विजय

विश्व के इतिहास में एवरेस्ट विजय अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती है। जून १९५३ को महारानी एलिजाबेथ के राज्याभिषेक के शुभ एवं महान अवसर पर दो वीर यशस्वी पुरुषों ने हिमालम के हिमाच्छादित अजेय एवं सर्वोच्च शिखर को जय करने में आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त की।

कहा जाता है कि सृष्टि के आदि काल से हिमालय हमारे महात्माओं और बड़े-बड़े ऋषियों की तपोभूमि रही है। जहाँ रात्रि-दिवस परम पिता परमात्मा का ही गुणगान हुआ करता था, देवी-देवताओं का निवास-स्थान था। ऐसे सुन्दर एवं मनोरम स्थान पर शांति के उपदेश दिये जाते थे, विदेशों से शांति दूत यहाँ आते थे, उनके सुन्दर धार्मिक आप्तवाक्य आज भी हिमालय की कन्दराओं में गुंजीत हो रहे हैं। जहाँ अनेकों प्रकार की औषधियों एवं वनस्पतियों की खान है, सुन्दरता के साथ ही साथ असुन्दरता का भी निवास है। जिस प्रकार बिना रात्रि के दिन का कोई महत्व नहीं, एक का दूसरे से घनिष्ट संबंध है। अतः हिमालय की उन गहन गुहाओं में विषैले जीव जन्तुओं का निवास भी स्वाभाविक है। वहाँ जन-साधारण जाने का साहस नहीं कर पाते। जिन्होंने इसकी गगन चुम्बी चोटी को जीतने का प्रयास किया वह अपने प्रयास में असफल रहे।

आज से एक शताब्दी पूर्व १८५२ में वैज्ञानिक साधनों द्वारा इस पर्वत की ऊँचाई नापी गई और यह सर्वोच्च पर्वत शिखर माना गया। १९२० में दलाई लामा के मित्र सर चार्ल्स ने एक पर्वतारोही दल के साथ हिमालय जाने की आज्ञा प्राप्त की और १९२१ में लेफ्टीनेंट कर्नल हावर्डबेरी के नेतृत्व में पर्वतारोही दल के साथ अपने अभीष्ट पथ की ओर अग्रसर हुए। दल का मुख्य उद्देश्य भूगर्भशास्त्र संबंधी वैज्ञानिक खोज करना था। इस दल ने सर्वप्रथम १३०० वर्ग मील हिमालय की भूमि का मानचित्र बनाया। इस मानचित्र के द्वारा अन्य पर्वतारोही दलों को विशेष सहायता मिली।

इसके पश्चात् दल ने नार्थ काल नामक स्थान का पता लगाया जहाँ से एवरेस्ट जाने का मार्ग आरम्भ होता है। १६२२ में सी० जी० ब्रूस के नेतृत्व में दूसरा दल गया जिसने पाँच स्थानों पर विश्राम लिया और २७००० फीट की ऊंचाई तक पहुँचने में सफलता प्राप्त की। किन्तु ऑक्सीजन गैस की कमी के कारण इनका प्रयास दुखान्त रहा, क्योंकि इन्हें अपने पहले डेरे पर जिसकी ऊँचाई १८००० फीट तथा पाँचवें डेरे पर जो लगभग २७००० फीट ऊँचा था, बर्फीले तूफानों का सामना करना पड़ा जिसे सहन करने में ये लोग असमर्थ रहे और अन्त में मृत्यु ने इन्हें अपनी गोद में सुला लिया। इन मृतक व्यक्तियों में अधिकांशतः शेरपा कुलियों की मृत्यु हुई।

१६२४ में ब्रूस ने तीसरा प्रयास किया। इस बार इन्होंने २७००० फीट की ऊँचाई पर छठा डेरा डाला और २८००० फीट की ऊँचाई तक पहुँच गये, किन्तु पूर्ण यात्रा के जब अंतिम १००० फीट शेष रह गये तो मैलोरी तथा इरबिन इन दो महान व्यक्तियों का प्राणान्त हो गया। परंतु अपने लक्ष्य की पूर्त्ति के लिये बलिदान होने वाली ये वीर आत्मायें हमारे लिये आगे का मार्ग प्रशस्त कर गईं और यह बता गईं कि इससे आगे जाना दुर्गम नहीं है। तब से लगभग १० वर्ष पश्चात् श्री एच-रटलेज के नेतृत्व में एक दूसरे दल ने इस महान कार्य को संपन्न करने का उत्तर-दायित्व अपने ऊपर लिया। इस दल में संसार के सुविख्यात साहसी इश्कि-शिप्टन भी सम्मिलित थे। इस दल ने २७००० फीट की ऊँचाई पर अपना छठां डेरा डाला और २८,१०० फीट की ऊँचाई तक पहुँचने में सफल हुआ। इस यात्रा में इन्हें पिछले पर्वता-रोहियों की वर्फ काटने वाली कुदाल भी प्राप्त हुई। ये लोग जैसे-जैसे आगे बढ़ते गये उन्हें प्रोत्साहन मिलता गया। इस प्रकार १६३४ से १६३६ तक चार प्रयास हुए। इन्हीं प्रयासों में मोरिस विल्सन नामक पर्वतारोही का शव भी प्राप्त हुआ। इस वीर युवक ने १६३३ में अकेले ही एवरेस्ट पहुँचने का दृढ़ निश्चय किया था, किन्तु अपने लक्ष्य की पूर्ति के पूर्व ही यह काल के गाल में चला गया।

विलियम मोरिस के अद्भुत एवं प्रशंसनीय साहस ने अन्य लोगों में

प्रेरणा उत्पन्न की। फलस्वरूप पर्वता रोहियों के एक दूसरे दल ने उसके संकल्पों की पूर्त्ति का बीड़ा उठाया। इनके पूर्व जो कई दल आ चुके थे उनकी असफलता का मूल कारण सामान का वजनी होना तथा पर्वता-रोही कुलियों की संख्या का अधिक होना था। इसके अतिरिक्त सबसे बड़ी बात वैज्ञानिक साधनों से अनभिज्ञ होना भी था। अतः इन्हीं सब बातों को दृष्टि में रखकर सर जान हन्ट के नेतृत्व में एक दल भारत आया। इस दल ने अपने साथ अनेकों अनुभवी शेरपाओं की सहायता ली। शेरपा तेनसिंह नोके नाम के परम साहसी भारतीय व्यक्ति भी इसमें सम्मिलित थे। इस दल ने स्थल-स्थल पर सफलता पाई। २८०००, फीट पर अपना डेरा डालने के पश्चात् इस दल ने अपनी अंतिम यात्रा के लिये प्रयाण किया, किन्तु जान हन्ट साहब अस्वस्थ होने के कारण ऊपर न जा सके। इस दल में दो वीर एवं साहसी नव-युवक थे। एक शेरपा तेनसिंह और दूसरा ब्रिटिश एडमंड हिलैरी। इन्होंने अपने अतुल पराक्रम द्वारा उस अजेय अभेद्य गिरि राज हिमालय सर्वोच्च शिखर पर विजय प्राप्त की। इस प्रकार उनकी युगों की चिर संचित साधना सफल हो गई। एवरेस्ट पर उनके नाम की विजय पताकायें फहराई गईं—उनकी अटल कीर्त्ति एक दो दिन के लिये नहीं बल्कि युग-युगांतर के लिये इतिहास के पृष्ठों में स्वर्णिम अक्षरों के रूप में अमर हो गई। अभी हाल ही में एक नया समाचार प्राप्त हुआ है कि २७ हजार फुट ऊँचे पर्वत-शिखर लहोत्से पर भी चढ़ाई सफल हो गयी। २८ मई १९५६ का समाचार है कि एक स्विस पर्वता रोही दल ने २३ और २४ मई को दो बार एवरेस्ट पर विजय प्राप्त कर ली। इससे पूर्व संसार के इस सर्वोच्च पर्वत शिखर पर ब्रिटिश पर्वता रोही दल ने १९५३ में प्रथम बार विजय प्राप्त की थी। स्विस पर्वता रोही दल ने एक दूसरी २७९७० फीट ऊँची लहोत्से पर्वत की चोटी पर भी विजय प्राप्त की थी। इस दल का नेतृत्व ४३ वर्षीय डा० एगलर ने किया था। २९०२८ फीट ऊँचे पर्वत शिखर पर अभियान करने वाला यह तीसरा स्विस दल था।

१९५० के बाद कोलम्बो योजना के सदस्यों की संख्या में भी वृद्धि हुई है। १९५४ के अन्त तक इस योजना में निम्नलिखित देशों ने सदस्यता प्राप्त की—आस्ट्रेलिया, कनाडा, कम्बोडिया, इन्डोनेशिया, मलाया, न्यूजीलैण्ड, यू० के०, बर्मा, सीलोन, भारत, लेग्रास, नेपाल, पाकिस्तान, अमरीका तथा वियेटनाम। दो और देश जो इस योजना के अन्तर्गत सहायता प्राप्त कर चुके हैं पर अभी सदस्य नहीं हुए हैं उनके नाम हैं—फिलिपाइन्स और थाईलैण्ड।

अनुमान किये गये व्यय का ३४% आयात, निर्यात तथा आवागमन, ३२% कृषि, १८% गृह निर्माण, स्वास्थ्य तथा शिक्षा, १०% उद्योग तथा ६% कोयला तथा लोहा पर व्यय किया जायेगा। सदस्य देशों में आर्थिक सहायता के रूप में आस्ट्रेलिया लगभग ५१००००००० पौंड, न्यूजीलैण्ड प्रथम तीन वर्षों में १०००००००० पौंड हर वर्ष, तथा यू० के० पूरे छः वर्षों के लिए ३००००००००० पौंड देगा।

आरम्भ में जो आंकड़े दिये गये हैं उससे पता चलता है कि भारत के हिस्से में अधिक व्यय पड़ता है। भारत अकेले इस योजना के अन्तर्गत कृषि विकास के लिए ४५६००००००० पौंड आयात निर्यात तथा आवागमन के लिए ५२७००००००० पौंड, कोयले, लोहे आदि के लिए ४३००००००० पौंड, उद्योग तथा खान के लिए १३५००००००० पौंड तथा सामाजिक सम्पत्ति के लिए २१८००००००० देगा।

कोलम्बो योजना में सम्मिलित देशों में न केवल यन्त्र और अर्थ का आदान-प्रदान रहेगा बल्कि वे एक-दूसरे को प्रशिक्षण कार्यों में सहायता देने के लिए शिक्षक भी भेजेंगे। ये शिक्षक सदस्य देशों में जायँगे तथा उन देशों में चलाने वाली अगणित बहुमुखी योजनाओं को कार्यरूप में परिणित करने में सहायता देंगे। इन विशेषज्ञों का सदस्य देशों में आना-जाना अब पर्याप्त मात्रा में बढ़ रहा है। भारत की पंचवर्षीय योजना में कोलम्बो योजना की ओर से बहुत से विदेशी विशेषज्ञ भाग ले रहे हैं। भारत ने भी अपने विशेषज्ञ विदेश में भेजे हैं। यहाँ यह ध्यान रखना होगा कि इन

विशेषज्ञों का प्रशिक्षण-कार्य केवल वहीं तक सीमित है जहाँ तक यन्त्र, कृषि तथा उद्योग का सम्बन्ध है। ये विशेषज्ञ सदस्य देशों की जनता के आत्मिक, तथा सांस्कृतिक विकास से कोई सम्बन्ध नहीं रखते। इनका एकमात्र लक्ष्य इस योजना के अन्तर्गत आये हुए सदस्यों की आर्थिक उन्नति है।

विशेषज्ञों का यह आदान-प्रदान सदस्य देशों की स्थितियों में एक विशेष समानता होने के कारण और भी सफल हो रहा है। इन दिनों प्रायः सभी कोलम्बो शक्तियाँ अपने-अपने देशों की व्यक्तिगत विकास योजनाओं में व्यस्त हैं। ऐसे अवसर पर कोलम्बो योजना ने विशेषज्ञों पर प्रशिक्षण कार्य सौंपकर बुद्धिमानी ही की है।

इस योजना के अन्तर्गत जून १९५४ के अन्त तक अमेरिका ने दक्षिणी पूर्वी एशिया के देशों को ७८६ विशेषज्ञ भेजे। उसने २१४४ विद्यार्थियों को शिक्षा की सुविधायें भी दीं। अमेरिका के भेजे गये विशेषज्ञों में भारत को १६५, बर्मा को १५४, फिलिपाइन्स को १४८, थाईलैण्ड को ६१, इन्डोनेशिया को ७८, इन्डोचीन को ७१, पाकिस्तान को ६४ तथा नेपाल को १५ विशेषज्ञ मिले। अमेरिका ने इन्डोनेशिया को ५३४, थाईलैण्ड को ४६२, फिलिपाइन्स को ३८७, भारत को ३६६, पाकिस्तान को २४५, बर्मा को ८५, इन्डोचीन को ७० और नेपाल को १५ विद्यार्थियों के प्रशिक्षण की भी सुविधायें दीं।

इस योजना के अन्तर्गत सहायक देशों से अमेरिका के बाद भारत का स्थान है। भारत ने अपनी शिक्षा संस्थाओं में १३७ विद्यार्थियों को प्रशिक्षण सुविधायें दी हैं जिनमें ७ बर्मा के, ६७ सीलोन के, ५ इन्डोनेशिया, ४ मलाया, ५ नेपाल, २३ पाकिस्तान, १८ फिलिपाइन्स तथा ८ थाईलैण्ड के विद्यार्थी हैं। इन विद्यार्थियों को भारत चिकित्सा सम्बन्धी तथा स्वास्थ्य-सम्बन्धी शिक्षायें देगा। खाद्य, कृषि, व्यापार, उद्योग तथा इंजीनियरिंग की शिक्षाओं की व्यवस्था भी भारत ने इसके अन्तर्गत की है। भारत ने अपने बहुत से विश्वविद्यालयों में विदेशी विद्यार्थियों को वृत्ति देने का भी प्रबन्ध किया है।

भारत ने व्यावहारिक शिक्षा के लिये हिराकुंड तथा भाकरा नांगल में भी विदेशी छात्रों को अध्ययन की सुविधायें दी हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कोलम्बो योजना विश्व के मुख्य-मुख्य देशों की एक सम्मिलित योजना है जिसके अनुसार सदस्य राष्ट्र एक दूसरे से यंत्र, कृषि, उद्योग आदि की सहायतायें अपने देश के आर्थिक विकास की दृष्टि से लेंगे और अपनी शक्ति के अनुसार दूसरे देशों के साथ सहयोग भी करेंगे। आरम्भ में पश्चिमी देश कोलम्बो-योजना से आन्तरिक सहानुभूति नहीं रखते थे, किन्तु इसके व्यापक आदर्शों को देखते हुए ये देश भी इस योजना में सम्मिलित हो गये। इस योजना में अमेरिका का सहयोग तो अत्यन्त ही सराहनीय है।

: ४२ :

वान्डुंग-सम्मेलन

वान्डुंग-सम्मेलन विश्व के इतिहास में एक नया अध्याय जोड़ता है। यह सम्मेलन गत १८ अप्रैल १९५५ को इन्डोनेशिया के वान्डुंग नामक नगर में सम्पन्न हुआ। अतः इसी नगर के नाम पर यह सम्मेलन विख्यात है। इस सम्मेलन का प्रस्ताव सर्व प्रथम १९५४ के अप्रैल माह में कोलम्बो सम्मेलन की शक्तियों ने रखा था। इस सम्मेलन की रूपरेखा तथा इसके समय, स्थान आदि के विषय में एक निश्चित योजना निर्मित करने के लिए भारत पाकिस्तान, वर्मा, इन्डोनेशिया तथा सीलोन के प्रतिनिधियों ने बोगार में एक वार्ता की और उसी के अनुसार यह सम्मेलन कार्यान्वित किया गया।

वान्डुंग-सम्मेलन एशिया और अफ्रीका के देशों का सम्मेलन था। इसमें इन महाद्वीपों के २९ देशों ने भाग लिया। मध्य अफ्रीका ने इस सम्मेलन के निमंत्रण को स्वीकार नहीं किया। इसराइल तथा दक्षिण अफ्रीका को निमंत्रण भेजा ही नहीं गया।

इस सम्मेलन का महत्व तो तब ज्ञात होता है जब हम इस बात पर ध्यान देते हैं कि विश्व के इतिहास में यह सर्वप्रथम अवसर था जब एशिया तथा अफ्रीका के स्वतंत्र देश मैत्री, सहानुभूति, सहयोग तथा पारस्परिक सद्भावना से प्रेरित होकर एक मंच पर एकत्र हुए और आर्थिक, नैतिक तथा राजनीतिक दृष्टि से एक दूसरे का हित-चिन्तन, तथा एक दूसरे के दृष्टिकोण को समझने का यत्न किया। दूसरी महत्व की बात यह है कि इस सम्मेलन में संसार की आधी जनसंख्या ने प्रतिनिधि भेजे।

सम्मेलन का उद्घाटन इण्डोनेशिया के राष्ट्रपति श्री सुकार्नो ने किया तथा इसके सभापति का स्थान इसी देश के प्रधान मंत्री डा० अली सास्ट्रोमिद जोंजो ने ग्रहण किया। सम्मेलन के सातवें दिन भाग लेने वाले देशों ने पाँच हजार शब्दों का एक सम्मिलित घोषणा-पत्र प्रकाशित किया जो सम्मेलन की कार्यवाहियों, नीतियों तथा योजनाओं पर प्रकाश डालता है।

अपने उद्घाटन भाषण के आरम्भ में इन्डोनेशियन राष्ट्रपति ने जोरदार शब्दों में कहा कि इस सम्मेलन का लक्ष्य न केवल एशिया और अफ्रीका की बल्कि सम्पूर्ण विश्व की शांति है। उन्होंने साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद की भर्त्सना की तथा "जियो और जीने दो" और "अनेकता में एकता" के सिद्धान्तों को इस सम्मेलन का सर्वप्रथम लक्ष्य बतलाया। उन्होंने कहा कि यह सम्मेलन संसार के अन्य देशों को प्रकाश तथा भाग लेनेवाले देशों को एक नया जन्म देगा। उन्होंने परिमाणु तथा उद्जन बम के समर्थकों तथा निर्माताओं को स्वप्नवादिता का शिकार बतलाया। विश्व में शांति की स्थापना हिंसक अस्त्रों के आविष्कार से नहीं प्रत्युत एक दूसरे के हृदय, मस्तिष्क तथा संस्कृति के अध्ययन और आदर से होगी।

आरम्भ में इस सम्मेलन में विस्तारपूर्वक बातचीत करने के लिये सात विषय प्रस्तुत किये गये। लेकिन बाद में दो विषय निकाल दिये गये। जिन विषयों पर वार्ता हुई उन्हें निम्न ढंग से शीर्षक-बद्ध किया जा सकता है :

१. आर्थिक सहयोग,

२. सांस्कृतिक सहयोग,

३. मानवीय अधिकार, आत्मनिश्चय तथा आत्मनिर्भरता,
४. निर्भर राष्ट्रों की समस्यायें,
५. विश्व शांति ।

प्रारम्भ में सम्मेलन निर्विवाद चलता रहा किन्तु बाद में उपनिवेशवाद के प्रश्न पर कुछ विवाद उठ खड़ा हुआ। सीलोन के प्रधान मंत्री जान कोटलेवाला ने रूसी शक्ति के समर्थकों को उपनिवेशवादी शोषक बतलाया। इस विषय पर सीलोन का समर्थन करने वाले राष्ट्रों में कुछ पश्चिमी शक्तियों के समर्थक राष्ट्र भी थे जिनमें पाकिस्तान, तुर्किस्तान, ईरान तथा इराक़ के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इस विवाद का शमन अन्त में उपनिवेशवाद के विरोध में एक प्रस्ताव पास कर के किया गया।

इस सम्मेलन की सफलता का बहुत कुछ श्रेय भारत के प्रधान मंत्री श्री नेहरू को दिया जा सकता है। श्री नेहरू ने कहा कि भारत किसी भी राजनीतिक गुट में भाग नहीं लेगा और न अपनी धरती पर किसी राज-नीतिक शक्ति को पाँव ही रखने देगा। भारत साम्यवाद का न तो समर्थक है और न विरोधी। श्री नेहरू ने पाकिस्तान के इस प्रस्ताव का भी विरोध किया कि हर राष्ट्र को अपनी रक्षा का सम्पूर्ण अधिकार होना चाहिये चाहे वह अपनी रक्षा अकेले करे अथवा दूसरे देशों की सहायता तथा सहयोग से। श्री नेहरू के अनुसार यह सिद्धान्त दूसरे देशों की सैनिक सहायता को उचित ठहराने का बहाना मात्र है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि श्री नेहरू का संकेत पाकिस्तान तथा अमरीका में हुए सैनिक समझौते की ओर था।

चीन के प्रधान मंत्री श्री चाउ-एन-लाई के प्रस्ताव भी कुछ कम महत्वपूर्ण नहीं रहे। उनके कट्टर विरोधियों ने भी एक स्वर से स्वीकार किया कि उन्होंने अपने मैत्रीपूर्ण व्यवहारों से इस सम्मेलन में भाग लेने वाले राष्ट्रों का मन जीत लिया। उन्होंने कहा कि फारमोसा के प्रश्न पर अमरीका से बातचीत करने को चीन प्रस्तुत है। उन्होंने इस बात को बारंबार दुहराया

कि इस सम्मेलन में चीन एकता के लिए आया है न कि विभेद और भिन्नता के लिये।

ऊपर कहा जा चुका है कि इस सम्मेलन में पाँच राजनीतिक विषयों पर वार्ता हुई। सर्वप्रथम विषय था आर्थिक सहयोग। इस शीर्षक के अन्तर्गत इस निश्चय पर पहुँचा गया कि सम्मेलन में भाग लेने वाले राष्ट्र एक दूसरे को न केवल अधिक से अधिक टेकनिकल सहायता देंगे प्रत्युत पारस्परिक व्यापार सम्बन्धों को भी बढ़ायँगे और पुष्ट करेंगे।

सम्मेलन का दूसरा विषय सांस्कृतिक आदान-प्रदान था। इस विषय के अन्तर्गत भाग लेने वाले राष्ट्र इस बात पर एक मत थे कि एशिया और अफ्रीका के देश, धर्म, संस्कृति और सभ्यता के स्रोत रहे हैं। इस स्रोत को आपसी सहयोग तथा समझदारी से और भी अधिक पवित्र करने का निश्चय किया गया।

वार्ता के तृतीय विषय के अन्तर्गत संयुक्त-राष्ट्र-संघ में उल्लिखित मानवीय अधिकारों के मौलिक सिद्धान्तों पर जोर दिया गया। इसके अतिरिक्त चिरन्तन विश्व शांति के सिद्धांतों तथा उसे सक्रिय करने की विधि पर वार्ता हुई। सम्मेलन का अन्तिम विषय परतंत्र देशों की समस्यायें था।

अन्त में इस बात पर ध्यान रखना होगा कि जिस तिथि को यह सम्मेलन आरम्भ हुआ वह तिथि न केवल बांडुंग सम्मेलन के कारण अमर है बल्कि उसका महत्व और भी कई दृष्टियों से है। १८ अप्रैल को ही भूदान यज्ञ के अन्तर्गत सम्पूर्ण भारत में शांति-दिवस मनाया गया और इसी दिन आज से चार वर्ष पूर्व आचार्य विनोबा भावे ने भूदान के रूप में सर्वप्रथम तेलंगाना ग्राम में १०० एकड़ भूमि प्राप्त की थी।

इस सम्मेलन का महत्व केवल एशिया तथा अफ्रीका तक ही सीमित नहीं है। इसका प्रभाव सम्पूर्ण विश्व की राजनीति पर पड़ा है। इस सम्मेलन ने एक ओर यदि उक्त दो महाद्वीपों के २६ राष्ट्रों को मैत्री के धागे में बाँधा है तो दूसरी ओर इसने विश्व की विरोधी शक्तियों में सहानुभूति और सहयोग की आदर्श-भावना भी भरी है।

: ४३ :

साहित्य और उसकी उपयोगिता

'मानव समाज की ज्ञान राशि के संचित भण्डार का नाम साहित्य है।' साहित्य के दो भाग होते हैं। प्रथम उपयोगी साहित्य, द्वितीय ललित साहित्य। उपयोगी साहित्य के अंतर्गत इतिहास, भूगोल, अर्थशास्त्र, समाज शास्त्र, राजनीति एवं विज्ञान आदि आते हैं। ललित साहित्य में मनुष्य के मनोजगत से सम्बन्ध रखने वाली रागात्मक कृतियाँ आती हैं जैसे कविता, कहानी, उपन्यास इत्यादि। यहाँ पर साहित्य शब्द का प्रयोग प्रायः ललित साहित्य के ही लिए किया गया है। इसी ललित साहित्य को उपयोगिता की तुला पर तोलना है।

उपयोगिता, इस संघर्ष युग की सब से बड़ी माँग है। आज के युग में प्रत्येक वस्तु का मूल्यांकन उपयोगिता के ही दृष्टिकोण से किया जाता है। हाल ही में समाचार मिला था कि चीन की साम्यवादी सरकार अपने देश की प्रसिद्ध ऐतिहासिक दीवार, जो संसार की महान् आश्चर्यजनक वस्तुओं में एक है, को तुड़वाकर उसकी ईंटों से लोगों के कल्याणार्थ गृह निर्माण करने जा रही है। यदि सच पूछा जाय तो इस असाधारण समाचार के पीछे व्यापक युग की प्रेरणा प्रतिनिधित्व कर रही है।

साहित्य युग-युग से हमारे हृदय के कोमल तारों को झंकृत करता हुआ हमारी मानसिक भूख मिटाता रहा है। साहित्य ही एक ऐसी शीतल स्वर्गीय छाया है जिसके नीचे बैठकर हम थोड़ी देर के लिए संघर्ष जनित संताप एवं पारस्परिक द्रोह मोह को भूल कर सच्चे सुख का अनुभव करते हैं। साहित्य को जीवन का अन्योन्याश्रित संबंधी माना गया है, दोनों का आपस में अटूट सम्बन्ध है। कहना चाहिये कि साहित्य वस्तुतः जीवन रूपी डाली पर खिला हुआ उसकी समस्त साधना सुरभि को समेटे एक सुकोमल सुमन के समान है। वह जीवन सीपी का मंजुल मोती है। साहित्य की मूल प्रेरणा के संबंध में विभिन्न विद्वानों की विभिन्न सम्मतियाँ हैं—

(१) प्रसिद्ध दार्शनिक अरस्तू, मनुष्य की अनुकरण-प्रकृति को इसका मूल उद्‌गम मानते हैं।

(२) क्रोचे, आत्माभिव्यञ्जन को मूल प्रेरणा के प्रधान रूप में स्वीकार करते हैं।

(३) हेगेल ने मानव मन की सौंदर्यानुभूति को ही मूल उत्स के रूप में माना है।

(४) सुप्रसिद्ध कामशास्त्री फ्रायड के अनुसार दमित वासनाओं एवं क़ासनाओं की मानसिक तृप्ति की धरती से ही साहित्य का फूल खिलता है।

(५) युग ने अपूर्ण मानव के पूर्ण होने के प्रयत्न को ही साहित्य की मूल प्रेरणा के रूप में ग्रहण किया है।

(६) कुछ विद्वानों के मत से जीवन के नश्वर क्षणों को अमर बनाने का प्रयास ही साहित्य की मूल प्रेरणा है। यद्यपि स्पष्टतः कोई भी सिद्धान्त अपने आप में पूर्ण नहीं है किन्तु उस आंशिक सत्य की उपेक्षा करने का किसी का साहस भी नहीं हो सकता। साहित्य जीवन की नैसर्गिक विभूति है जो आदि कवि वाल्मीकि के मुख से सहज ही मानव कल्याण या प्राणिमात्र की हित भावना से प्रेरित हो अनुष्टुप छंद में बरबस निकल पड़ी। कवि का मन द्रवीभूत हो अपने अंदर घुटते ज्वालामुखी को न पचा सका—

मां निषाद प्रतिष्ठां त्वमगः शाश्वती समाः।
यत्क्रौंचमिथुनातमेकं वधीः काम मोहितम्॥

और मनोविज्ञान तो दूसरी ओर हमें यह सूचना देता है कि यह मानव मन के स्वभाव का तकाजा है। साहित्य की नैसर्गिक विभूति को पाकर मनुष्य मानो अपनी खोयी हुई आत्मा को पा जाता है। वह अपने प्राणों में एक अनुपम आलोकपूर्ण आह्लाद का अनुभव करता है। क्या इस प्रकार की आत्मा की मुक्ति एवं आलोकपूर्ण आह्लाद साहित्य की उपयोगिता के रूप में स्वीकार न किया जायेगा। साहित्यकार के लिये साहित्य 'संतोष' शांति एवं मुक्ति का साधन है, इसे कौन अस्वीकार करेगा।

भारतीय शास्त्र में मम्मट ने काव्य के उद्देश्य एवं तद्जन्य उपयोगिता पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि—

"काव्यं यशसे अर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।
सद्यः परनिर्वृत्तये कान्ता सम्मिततयोपदेशयुजे ।"

काव्य सृष्टि में कवि उस उच्च आध्यात्मिक स्तर पर पहुँच जाता है जहाँ बंदना के स्वर उसकी अर्चना "अमृत पुत्र कवि

यशःकाय तव जरा मरणजित ।"

के शब्द-सुमन से करते हैं ।

विदेशों में कलाकारों को रोटी के लिए चिंता नहीं करनी पड़ती। साहित्य ही कवि एवं उसके परिवार का भरण-पोषण करता है । हमारे यहाँ के कलाकारों या कवियों ने साहित्य से भौतिक तृप्ति कम किन्तु आत्मिक तृप्ति भरपूर पायी है । स्वान्तः सुखाय रघुनाथ गाथा का गान करने वाले तुलसीदास जी ने रामायण लिखकर एक अवर्णनीय परम संतोष एवं सुख का अनुभव किया है । क्या इसे साहित्य की उपयोगिता समझने से इंकार कर दिया जाए ?

कवि सामाजिक प्राणी है, वह अपनी कला और समाज की धड़कनों का मेल कराने का उत्तरदायी है, वह स्वान्तः सुखाय गाता हुआ भी "सुरसरि सम सब कर हितु होई" के दृष्टिकोण को सामने रखकर अपनी साधना करता है । अपने व्यष्टिगत कल्याण में समष्टिगत कल्याण के दर्शन करता है । समाज की उपेक्षा करके उसकी साधना कभी भी फलफूल नहीं सकती । उसकी समस्त साधना के मूल में सामाजिक कल्याण की भावना ही निहित रहती है । कहा गया है कि—

अंधकार है वहाँ जहाँ आदित्य नहीं है ।
अंधा है वह देश जहाँ साहित्य नहीं है ॥

साहित्य एक आलोक देता है जिसकी रोशनी में आत्मा के भेद खुलने लगते हैं । भटका हुआ देश वापस मिल जाता है । साहित्य रस सृष्टि है,

आनंद सृष्टि है, क्या मनुष्य के लिए इस आनंद का कुछ मूल्य नहीं है। फ्रायड ने लिखा है कि 'कला हमें जीवन की कठिनाइयों से कुछ देर के लिये विश्राम देती है। एवं साहित्य हमें कुछ देर के लिए कटुता एवं संघर्ष से परे एक ऐसे आनंद के आलोक में ले जाता है जहाँ हमारे तन मन प्राण जुड़ा जाते हैं।' प्रसाद जी की चिर साध थी—

ले चल मुझे भुलावा देकर मेरे नाविक धीरे।
निश्छल प्रेम कथा कहती हो तज कोलाहल की अवनी रे॥

साहित्य हमें केवल मदिरा की तरह मनोरंजन ही नहीं देता अपितु आत्मा का स्वास्थ्य भी प्रदान कराता है। इसीलिए सुश्री महादेवी ने कहा है कि रोगी के लिए औषधि और पथ्य जितने आवश्यक हैं, किसी सहृदय द्वारा दिया हुआ फूल उनसे कम उपयोगी नहीं कहा जा सकता। साहित्य हमारी इसी आवश्यकता की पूर्ति करता है।

मानव जीवन की धारा शरीर और आत्मा, भौतिक आवश्यकताओं एवं आध्यात्मिक पिपासा के दो किनारों के बीच से प्रवाहित होती जा रही है। यदि उपयोगी साहित्य हमारी भौतिक आवश्यकताओं को मिटाता है तो ललित साहित्य उससे कहीं आवश्यक हमारी आध्यात्मिक साधना की संतुष्टि कर प्राणों को संजीवनी प्रदान करता है। इसी को दिनकर जी ने अपनी काव्यमयी भाषा में इस प्रकार दुहराया है—

चाहिये हमको न केवल ज्ञान
देवता हैं मांगते कुछ स्नेह, कुछ बलिदान;
मोम सी कोई मुलायम चीज
ताप पाकर जो उठे मन में पसीज पसीज;
प्राण के झुलसे विपिन में फूल कुछ सुकुमार;
ज्ञान के मरु में सुकोमल भावना की धार;
चाँदनी की रागिनी, कुछ भोर की मुसकान;
नींद में भूली हुई बहती नदी का गान;

रंग में घुलता हुआ खिलता कली का राज;
पत्तियों पर गूँजती कुछ ओस की आवाज;
आँसुओं में दर्द की गलती हुई तस्वीर;
फूल की रस में, बसी भीगी हुई, जंजीर;
धूम कोलाहल, थकावट, धूल के उप पार;
शीत जल से पूर्ण कोई मंदगामी धार;
वृक्ष के नीचे जहाँ मन को मिले विश्राम;
आदमी काटे जहाँ कुछ छुट्टियाँ कुछ शाम;
कर्म संकुल लोक जीवन से समय कुछ छीन;
हो जहाँ पर बैठ नर कुछ पल स्वयं में लीन—
फूल सा एकान्त में उर खोलने के हेतु
शाम को दिन की कमाई तोलने के हुतु।

× × ×

रसवती भू के मनुज का श्रेय
नहीं यह विज्ञान कटु आग्नेय।
श्रेय उसका प्राण में बहती प्रणय की वायु।
मानवों के हेतु अर्पित मानवों की आयु।
श्रेय उसका आँसुओं की धार,
श्रेय उसका भग्न वीणा की अधीर पुकार
दिव्य भावों के जगत में जागरण का गान,
मानवों का श्रेय, आत्मा का किरण अभियान।'

निस्संदेह साहित्य इतने बड़े उत्तरदायित्व को सफलता के साथ निभाता है। टालसटाय का कथन शत प्रतिशत सत्य है कि साहित्य कला की भावभूमि पर मानव एकता का सर्वश्रेष्ठ साधन है। साहित्य संस्कृति की प्रतिष्ठा करता है, जीवन संघर्ष में जूझने की प्रेरणा देता है। कहा भी है—

साहित्य संगीत कला विहीनः। साक्षात् पशु पुच्छ विषाण हीनः॥

: ४४ :

हिन्दी कविता की समीक्षा

साहित्य समाज का वह चित्रपट है जिसपर तत्कालीन परिस्थितियों के अनेकों चित्र प्रतिबिंबित होते रहते हैं। सामाजिक आदर्शों एवं भावनाओं के परिवर्तन के साथ ही साथ साहित्य का भी रूप समय-समय पर बदलता रहा। समाज के अशांतिमय वातावरण में प्रेम व शांत रस की स्रोतस्विनी बहाना असंभव है। दूसरे शब्दों में साहित्य, समाज की सुन्दर एवं कुरूप वृत्तियों के स्पष्टीकरण का ही रूप है। इसीलिए साहित्य को समाज का दर्पण माना गया है।

हिन्दी कविता के प्रमुख चार काल हैं। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी साहित्य की रचनाकाल का विभाजन इस प्रकार किया है—

(१) वीरगाथा काल—सं० १०५० से १३७५ तक (चन्दवरदायी, भट्ट केदार)।

(२) भक्ति काल—सं० १३७५ से १७०० तक, (कबीर, सूर, तुलसी)।

(३) रीतिकाल—संवत् १७०० से १६०० तक, (देव, बिहारी, घनानंद)।

(४) आधुनिक काल—संवत् १६०० से अब तक, (भारतेन्दु, मैथिलीशरण, निराला)।

(१) **वीरगाथा काल**—(प्रवृत्तियां) (१) इस काल में भारत की सामाजिक तथा राजनीतिक परिस्थिति अशांतिपूर्ण थी। समस्त देशवासी राष्ट्रीय भावना से प्रेरित हो रहे थे। मुसलमानों के आक्रमण आये दिन होते रहते थे। छोटी-मोटी रियासतें अपने को एक पूर्ण स्वतंत्र राष्ट्र समझती थीं और अपनी प्रतिष्ठा को बढ़ाने के लिये अनाधिकार चेष्टाओं को प्रयोग में ला रही थीं। राजाओं की रूपवती कन्यायें युद्ध का विशेष कारण बनती थीं। वीरों के गौरव गान उनके हृदय में प्रणय का संचार करते थे।

(२) यह युग भट्ट और चारण आदि का था, जो अपने राजाओं की प्रशंसा कर के रणस्थल में जाने के लिए उत्साहित करते थे। यह लोग अधिकांशतः राजाश्रयी होते थे। इस काल में वीर रस प्रधान कविताओं की रचना अधिक हुई। शृंगार रस की भावना का अभ्युदय भी इसी समय से आरम्भ हुआ, वीर रस के दो प्रसिद्ध ग्रंथ रासो और रसायन की रचना भी इसी काल में हुई।

(३) वीरगाथा काल की रचनायें भाषा व भावनाओं के दृष्टिकोण से परिमार्जित एवं संयत नहीं हैं। इसका मूल कारण यह था कि प्राचीन परंपरा के अनुसार भाषा का मूल रूप बहुत दिनों से चला आ रहा था, किंतु बाद में जब उसका संशोधन हुआ तो बहुत सी अशुद्धियों पर विशेष प्रकाश पड़ा।

(४) इस काल की भाषा 'डिंगल' भाषा के नाम से प्रसिद्ध है जो राजस्थानी का परिष्कृत रूप है।

(५) इस काल की भाषायें दो रूपों में मिलती हैं। (१) प्रबंध काव्य में (२) वीर गीतों या मुक्तकों में। चन्द वरदायी का पृथ्वीराज रासो प्रथम श्रेणी के ग्रंथों में आता है। रचनायें अधिकांशतः अतिशयोक्ति एवं चाटुकारिता पूर्ण हैं। फिर भी इस काल की रचनायें वीर रस से परिपूर्ण हैं।

(२) **भक्तिकाल**—यवनों के निरंतर आक्रमण से जनता की भावनायें संकुचित हो गईं। वे निराशा के तिमिर में निरीह और निःसहाय से भटकने लगे। निर्गुण निराकर भगवान के उपदेशकों की वह वाणी उनके हृदय में अमृत का संचार न कर सकी, उन्हें तो उस संकटकालीन परिस्थिति में एक ऐसे सगुण साकार अवलंबन की आवश्यकता थी जो उनकी पीड़ित आहों में, उनकी निःस्वासों में, सुख की श्वास बनकर समा जाता। यह महान कार्य प्रातः स्मरणीय तुलसीदास द्वारा संपन्न हुआ। उन्होंने अपनी कविता का विषय मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम को बनाकर जनता के समक्ष राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों तथा मानव जीवन के उच्चतम आदर्शों को लेकर एक ऐसे ग्रंथ का निर्माण किया जिससे जनता की रग-रग

में उत्साह और हर्ष का अनोखा एवं अमृतोपम संचार हुआ। लोक रक्षण की दिव्य भावना से अभिभूत होकर वे जन-जन के कंठहार हो गये। इसी काल में सूरदास की प्रतिभा भी लोकरंजन की भावना को दृष्टि में रख कर श्रीकृष्ण के बाल स्वरूप का कोना-कोना झांक आई। और तुलसी का रामचरित मानस तो जनता का मानस बन गया।

प्रवृत्तियाँ—(१) संत कवियों ने अपनी सरल सदाचारपूर्ण शैली एवं भाषा में ही लौकिक जीवन का उपदेश दिया एवं कृत्रिम आडम्बरों के लिये हिन्दू और मुसलमान दोनों की भर्त्सना की है। संकीर्ण साम्प्रदायिकता का खंडन किया है। कला पक्ष की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया है।

(२) इस काल की कविता 'स्वामिनः सुखाय' न होकर 'स्वान्तः सुखाय' ही रही।

(३) कविता की प्रवृत्ति कला पक्ष की अपेक्षा भाव पक्ष की ओर अधिक उन्मुख रही।

(४) समन्वयवाद की भव्य भावनाओं से परिपूर्ण कवितायें हिन्दू धर्म और संस्कृति को अक्षुण्ण रखने में सहायक सिद्ध हुईं।

(३) **रीतिकाल**—इस काल में हिन्दी काव्य अपने चरम विकास पर पहुँच गया था। कवियों का ध्यान भाषा एवं काव्यांगों के शास्त्रीय निरूपण की ओर अधिक रहा। इस युग के कलाकारों को दुहरे व्यक्तित्व का भार ढोना पड़ा। (१) आचार्यत्व का, (२) कवित्व का। इसके पूर्व कविता का जो सर्वोत्कृष्ट लक्ष्य जीवन के गंभीर तत्वों को सुलझाना और हृदयंगम करना था उसकी उपेक्षा की गई, साथ ही साथ जहाँ उनके वाह्य सौंदर्य में वृद्धि हुई, वहीं उसकी आंतरिक दिव्यता का ह्रास भी हुआ।

प्रवृत्तियाँ—(१) इस युग की कविता स्वान्तः सुखाय न होकर स्वामिनः सुखाय हुई। देश में शांति स्थापित हो जाने के उपरांत चारों ओर विलासिता का तांडव नृत्य होने लगा जिसका परिणाम यह हुआ कि शक्तिहीन हिन्दू राजा भी सुरा सुन्दरी के भक्त बन गये। श्रीकृष्ण और राधा को काव्य का विषय बनाया गया। सूर की अंधी आँखों की दिव्य ज्योति से वह पुनीत

भावना धारा अत्यंत व्यापक, दिव्य और पवित्र बन गई थी किंतु बाद में श्रीकृष्ण और राधिका के उस दाम्पत्य प्रेम में भी वासना का लौकिक रस देखने को मिला और यह लौकिक भावना निरंतर बढ़ती ही गई।

(२) अपने आचार्यत्व के प्रभुत्व को स्थिर रखने के लिए प्रत्येक कवि को एक लक्षण ग्रंथ की रचना करना अनिवार्य था। युग के इस प्रभाव से स्वाभिमानी कवि भूषण भी न बच सके। उन्हें भी 'शिवराज भूषण', की रचना करनी ही पड़ी। इस युग की कविता में नख-शिख वर्णन, नायिका भेद और ऋतु वर्णन तथा प्रकृत वर्णन की प्रधानता अधिक है, जिसमें संदेश का तो अभाव है किंतु मानव की उच्च भाव भूमि को स्थान दिया गया है।

(३) इस युग के कवि सौंदर्य प्रेमी थे अतः अपनी कविता में उच्चकोटि के सात्विक प्रेम का प्रदर्शन करने में ये असमर्थ रहे।

(४) यह युग भाषा और छन्द की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण एवं प्रशंसनीय रहा। भाषा को सजाने, संवारने तथा अलंकृत करने का इस युग में विशेष प्रयत्न हुआ। भाषा की सफलता, मधुरता, प्रवणता एवं सौष्ठव के समक्ष भक्तिकालीन भाषा का महत्त्व भी कम हो गया। इस युग के कवियों में मौलिकता का अभाव है।

(४) **आधुनिक-काल**—संवत् १६०० तक देश में अंग्रेजी शासन की नींव दृढ़ हो चुकी थी। भारतीय अंग्रेजी सभ्यता और संस्कृति के पुजारी बन चुके थे। उन्हीं के स्वर में स्वर मिलाकर बोल रहे थे, अपने निजत्व को भूलकर वह उन्हीं विदेशियों के रंग में रंग गये। अपने निजी कर्तव्य भी उन्हें याद न रहे। अपनी मातृभाषा का अपमान करना भी उनके लिए सरल काम हो गया। ऐसी परिस्थिति में भारतेन्दु जी ने भाषा का भार वहन करके हिन्दी भाषा का बड़ा उपकार किया। भारतेंदु जी ने भाषा तथा भावना दोनों को नवजीवन प्रदान किया। हिन्दी भाषा के पद दलित मस्तक को पुनः ऊँचा उठाया। भारतेंदु जी ने हिन्दी काव्य को एक नई और जागरूक दिशा दिखाई। काव्य में नवीन विषयों, प्रकृति वर्णन, सामाजिक सुधार, राष्ट्रीयता आदि का भी सम्मिश्रण किया गया। रीति अलंकार के

अनुपयोगी विषयों को तिलांजलि देकर शुद्ध सामाजिक कवितायें लिखने का प्रयास किया गया। श्रीधर पाठक, राय देवीप्रसाद पूर्ण, मैथिलीशरण गुप्त आदि कवियों की इतिवृत्तात्मक शैली को अपना कर राष्ट्रीयता की भावना को जन्म दिया।

आधुनिक काल की विशेषतायें—(१) इस काल में मुक्तक और प्रबंध दोनों प्रकार के काव्यों की रचना हुई, जिनमें सामाजिक भावना के साथ ही साथ रागात्मकता एवं विचारपूर्ण अनुभूति का भी विशेष ध्यान रक्खा गया किन्तु भाषा साधारण कोटि की ही रही।

यह बृजभाषा की वृद्धावस्था तथा खड़ी बोली का प्रारम्भिक काल था। खड़ी बोली अभी अपने शैशवकाल में थी अतः उसमें अभिव्यक्ति सामर्थ का अभाव था। कालांतर में जब उसमें कलात्मकता आई तो छायावाद और रहस्यवाद का जन्म हुआ। इन दोनों वादों में कला का परिपक्व रूप पंत, निराला और प्रसाद जी की रचनाओं में पूर्ण रूपेण देखने को मिलता है। रहस्यवादी रचनाओं की अभिव्यक्ति प्रतीक पद्धति, अलंकारिक शैली, विशेष स्वर संपन्न शब्द योजना एवं अतुकांत छंद योजना के द्वारा हुई।

(२) छायावाद की रंगीन कल्पना ठोस धरती पर आकर प्रगतिवाद के रूप में बदल गई और शोषित-पीड़ित मानव उसके आलंबन बने। रूस की सांस्कृतिक जाग्रति तथा साम्यवाद से इसको विशेष बल मिला। इसका ध्येय वर्गहीन समाज की स्थापना करना था। कला पक्ष की अपेक्षा भावों में तीव्रता का बाहुल्य प्रगतिवाद में देखने को मिलता है।

(३) प्रगतिवाद के अनंतर प्रयोगवाद का जन्म हुआ। नये खेवे के कवियों ने अनुभूत्यात्मक सूक्ष्म प्रतीकों के सहारे कुछ नये प्रयोग किये किंतु इनमें अभी निश्चित तथ्य का अभाव है।

: ४५ :

कबीर की काव्य साधना

काल की कठोर आवश्यकतायें ही महान आत्माओं को जन्म देती हैं। यह मुसलमानों का शासन काल था, उनकी असहिष्णुता और अनेक अमानवीय चेष्टायें हिन्दुओं के हृदयों में भय और आतंक की भावना उत्पन्न कर रही थीं। ऐसे ही समय में कबीर का जन्म हुआ जब कि हिन्दू मुसलमानों में सामञ्जस्य स्थापित करना चाहते थे, किन्तु अपने दैनिक जीवन और धार्मिक विश्वासों की आहुति देकर नहीं। कबीर का जन्म सं० १४५६ और मृत्यु सं० १५७५ में हुई। इनके जन्म के सम्बन्ध में अनेकों विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं। कुछ विद्वानों ने इनका एक विधवा ब्राह्मणी के गर्भ से उत्पन्न होना प्रमाणित किया है, कुछ ने एक मुसलमान जुलाहे के यहाँ। कुछ भी हो किन्तु कबीर ने तत्कालीन परिस्थिति के अनुसार ही स्वयं अपने व्यक्तित्व का निर्माण किया। वे एक साथ ही द्रष्टा, स्रष्टा एवं युग प्रवर्तक बने। अपनी निष्पक्ष दृष्टि से उन्होंने प्रचलित धार्मिक संस्कारों का परिष्कार किया और जनता के बीच फैली हुई धर्मान्धता और साम्प्रदायिक संकीर्णता को दूर कर के उनके जीवन को धर्म की वास्तविक गति और प्रकाश से अनुप्राणित किया। उनका उद्देश्य न तो हिन्दू धर्म का पोषण करना था और न मुसलमानी धर्म का समर्थन। वे तो समन्वयवादी सन्त थे और हिन्दू मुसलमान दोनों को उनकी धार्मिक तथा सांम्प्रदायिक संकीर्णताओं के लिए निर्भीकता से डाँट सकते थे। इसी से उन्हें मोक्ष की चिन्ता भी न थी।

'जो कबिरा काशी मरै रामै कौन निहोरा'
"मरती बेर मगहर उठि धाया"।

व्यक्तित्व—स्वभाव से ही फक्कड़, मस्त, सैलानी और अपने प्रति ईमानदार। अध्ययन सम्बन्धी विशेष योग्यता—**"मसि कागज छूयो नहीं कलम गहि नहिं हाथ"**। उनके मस्त-मौलापन की पूरी सत्यता उनके इस दोहे द्वारा प्रमाणित होती है :—

"कबिरा खड़ा बजार में लिये लुकाठा हाथ ।
जो घर फूकें आपना चलै हमारे साथ ॥"

कबीर के सिद्धान्त—कबीर संप्रदाय का सबसे बड़ा सिद्धांत ईश्वर की एकात्मवादिता है। क्योंकि वही समस्त सृष्टि का निर्माणकर्ता है जो अनादि और अनन्त है। कबीर का ईश्वर सर्वव्यापी है, वह भौतिक पदार्थों का सेवन करने वाले ईश्वर से सर्वदा भिन्न है। पत्थर की मूर्ति के रूप में उसकी उपासना करना कबीर के विचारों के विरुद्ध है। कबीर ने अपने राम को, राम, हरि, गोपाल, साहब, राउर, खसम आदि अनेक नामों से विभूषित किया है। उन्होंने वैष्णव संप्रदाय के परमोद्धारक श्री स्वामी रामानंद से दीक्षा ली थी किंतु कबीर के राम स्वामी रामानंद के दाशरथी राम से सर्वथा भिन्न हैं। कबीर का संप्रदाय निर्गुण संप्रदाय की भित्ति पर अवलम्बित है। उन्होंने कहा भी है—

(१) 'निर्गुण राम, निर्गुण राम जपहु रे भाई ॥'
(२) 'दशरथ सुत तिहुँ लोक बखाना ।
राम नाम का मरम न जाना।'

कबीर की यह राम भावना औपनिषदिक ब्रह्म के बहुत निकट है। उन्होंने वैष्णव धर्म से दया और भक्ति ल । शांकरवाद से जीव ब्रह्म की एकता और मायावाद ग्रहण किया। गोरख पंथियों से हठयोग की साधना अपनाई और मुसलमानों से अनलहक की भावना। कहीं-कहीं कबीर की भावना इससे भी अधिक ऊँची हो गई है। उन्हें निर्गुण भावना में भी स्थूल भावना का आभास मिलता है। इसलिए राम को निर्गुण और सगुण दोनों से परे मान कर वह कहते हैं—

"अला एकै नूर उपजाया ताकी कैसी निंदा ।
ता नूर थैं सब जग कीया कौन भला कौन मंदा ॥"

कबीर मूर्त्ति-पूजा के कट्टर विरोधी थे, ऐसी पूजा करने वालों को उन्होंने ढोंगियों की उपाधि दी है। वे इसकी कटु आलोचना करते हुए व्यंगपूर्ण शब्दों में कहते हैं—

"पाहन पूजे हरि मिलैं तौ मैं पूजूं पहार"।

कबीर का विश्वास है कि ईश्वर प्राप्ति का एकमात्र साधन भक्ति है—

"कहैं कबीर संसा नाहीं भगति मुगति गति पाईरे।"

कबीर ने उन रूपात्मक दृश्यों को जो चर्मचक्षुओं द्वारा दृष्टिगत होते हैं जल के घड़े के समान माना है जिसके बाहर भी ब्रह्म रूपी जल है और भीतर भी। जिस प्रकार वाह्य रूप का नाश हो जाने पर बाहर और भीतर का जल मिलकर एक हो जाता है वैसे ही माया रूपी आवरण के हट जाने से आत्मा और परमात्मा का सम्मिलन हो जाता है अर्थात् अभ्यंतर का ब्रह्म वाह्यास्थ में समा जाता है।

"जल में कुंभ कुंभ में जल है बाहिर भीतर पानी।
फूटा कुंभ जल जलंहि समाना यहु तथ कथौ गियानी॥"

यह कबीर का व्यक्तिगत सिद्धान्त है।

कबीर के रहस्यवाद में सूफी मत का आभास मिलता है। एक संत के लिए परमात्मा की प्राप्ति ही धर्म का रूप है। सूफी मत में भक्त ने अपने को पुरुष रूप में और आराध्य को स्त्री रूप में माना है। कबीर के प्रेम में भी अपने प्रियतम के मधुर-मिलन के लिये एक तड़पन, उन्माद अथवा वेदता जनित कसक और टीस है। उन्होंने कहा भी है—**'हरि मोर पिऊ मैं हरि की बहुरिया।"**

काव्य सौष्ठव—कबीर के जीवन का लक्ष्य न तो कविता करना था, न अपनी अद्वितीय प्रतिभा का प्रदर्शन करना, बल्कि उनका उद्देश्य था आत्म-ज्ञान प्राप्त करना जो आत्मा के आनंद के लिए आवश्यक है। क्योंकि वे तो ब्रह्म के जिज्ञासु थे। और साथ ही समाज सुधारक तथा हिन्दू-मुसलिम एकता के समर्थक भी। साधना के क्षेत्र में वे युग गुरु और साहित्य के क्षेत्र में युग द्रष्टा थे। अतः इन्हें हम निःसंदेह ही एक कुशल कलाकार कह सकते हैं। क्योंकि इनके उपस्थित किये हुए रूपक और मानसिक चित्र बड़े ही सजीव और मार्मिक हैं। काव्य की परख करने के लिये दो कसौटियाँ

निर्धारित की गई हैं (१) भाव पक्ष, (२) कला पक्ष। यदि भाव काव्य की आत्मा है तो कला उसका कलेवर। भाव पक्ष में विचार, जीवन की अनुभूति और श्रेष्ठ संदेश से परिपूर्ण बुद्धि तत्व का निरीक्षण होता है। कबीर की रचनाओं में बुद्धि तत्व प्रधान है। उसके अंतर्गत जीवन की समस्त अनुभूतियों विभूतियों तथा जीवन की वास्तविक सत्यता का निचोड़ है जिसके द्वारा वे मानव जीवन को भावना के उच्चतम शिखर पर ले जाने में सफल हुए। संसार की अनित्यता और जीवन की क्षण भंगुरता का कितना सच्चा चित्रण कबीर की इन पंक्तियों में हुआ है—

ऐसा यह संसार है जस सेमर का फूल।
दिन दस के व्योहार में झूठे रंग न भूल॥
सेवर सुवना सेइया हुई ढेंढ़ी की आस,
ढेंढ़ी फूटि चटाक दै सुवना चला उदास॥

× × ×

पानी केरा बुदबुदा अस मानुष की जात।
देखत ही छिप जायगा जस तारा परभात॥

कबीर का ज्ञान अनुभव जन्य था। उनकी सच्ची भक्ति और प्रेम का सुंदर दृष्टांत उनके इस दोहे द्वारा मिलता है—

कबीर कूता राम का मुतियाँ मेरा नाऊँ।
गले राम की जेवड़ी जित खींचूँ तित जाऊँ॥

कल्पना तत्व—कबीर की लिखी हुई कविताओं पर माया, जीव-ब्रह्म आदि के गंभीर विषयों के प्रतिपादन के साथ-साथ कल्पना तत्व का भी अद्भुत सम्मिश्रण है। अपने भावात्मक पदों और दोहों में अपनी सहज प्रतिभा के सहारे किन्हीं-किन्हीं स्थलों पर उन्होंने बड़े सजीव रूपक तथा अनूठी कल्पनायें प्रस्तुत की हैं। जैसे—

"कबीर माया डोलनी पवन झकोलनु हार।
संतनु माखन खाइया छाछ पियै संसार॥"

कबीर की कवितायें लक्षण और व्यंजना से भी परिपूर्ण हैं—

"गगन गरजै बरसै असी, बादल गहर गंभीर।
चहुँ दिसि दमकै दामिनी, भीजै दास कबीर॥"

भाषा शैली—कबीर सन्त थे, स्थान-स्थान पर भ्रमण किया करते थे। अतः पर्यटनशील होने के कारण इनकी भाषा सधुक्कड़ी एवं अक्खड़ अर्थात् राजस्थानी और पंजाबी मिश्रित खड़ी बोली है। यद्यपि कबीर के काव्य में रोचकता का अभाव है तथापि उसमें दार्शनिक पदों का ही बाहुल्य है। उनके रचित पद भी अधिकतर पिंगलशास्त्र के नियमों के अनुसार नहीं हैं। परन्तु कबीर की महानता में कोई सन्देह नहीं। उन में प्रतिभा है, मौलिकता है, ओज है, गाम्भीर्य है। काव्य में उनका हृदय-प्रतिबिंब है और उनकी निजी कल्पना का सजीव चित्रण ही उनका अपना निजी संदेश है। उनके काव्य में कोमल कांत पदावली का अभाव है।

शैली एवं छन्द योजना—कबीर ने अपने विचारों की अभिव्यक्ति साखी, शब्द रमैनी के ही द्वारा की है जैसी कि उस समय प्रचलित थी। डफली बजाकर गाते समय जैसी लय उनके मुख द्वारा निकल जाती वही उनकी छन्द योजना बन जाती, उनकी उस लय में सरसता और प्रवाहपूर्ण अभिव्यक्ति निम्नलिखित पद द्वारा स्पष्ट होती है—

"कौनो ठगवा नगरिया लूटल हो
चन्दन काठ को बनल खटोलना, तापर दुलहिन सूतल हो।
उठो री सखी मोरी मांग संवारो, दुलहा मोसे रूसल हो॥"

अलंकार विधान—अलंकारों का भी बाहुल्य कबीर के काव्य में साधारण पाया जाता है। सांगरूपक की छटा का बहुत अनोखा दृश्य उन्होंने अपने इस दोहे में प्रस्तुत किया है।

"अछय पुरुष यक पड़ है, निरजन वाकी डार।
तिर देवा शाखा भये पात भया संसार॥"

दूसरा उदाहरण-यमक अलंकार का लीजिये—

"उठा बबूला प्रेम का तिनका उड़ा अकाश।
तिनका तिनके से मिला तिनका तिनके पास॥"

यदि अध्यात्मिकताजन्य संदेशों को श्रेष्ठ माना जाय तो निःसंदेह ही हिन्दी-साहित्याकाश में कबीर का वही स्थान है जो सूर और तुलसी का।

: ४६ :

सूरदास की सरस भावना

भारतीय काव्य साधना में कर्म और ज्ञान के पश्चात् भक्तिकाल का प्रादुर्भाव हुआ। भक्ति के अनुपम एवं पुनीत मार्ग को अपना कर भारतीय विचारधारा एवं काव्य साधना ने भगवान् के समक्ष आत्म-समर्पण कर दिया। यह भक्ति काल दो शाखाओं में विभाजित था। (१) सगुणोपासना—अर्थात् जो संत कवि सगुण मूर्त्ति के उपासक थे उन्होंने ईश्वर या ब्रह्म को मूर्त्त रूप देकर उसके ध्यान और गान का प्रचार किया। दूसरी थी निर्गुण उपासना—जिसमें ईश्वर को अमूर्त्त मान कर उसके सर्वव्यापी अस्तित्व का अनुगमन किया गया। इसी प्रकार सगुणोपासकों की भी दो शाखायें थीं। एक रामभक्ति शाखा। दूसरी कृष्ण भक्ति शाखा। इन्हीं कृष्ण भक्ति शाखा के कवियों में भक्तप्रवण महात्मा सूरदास जी का भी नाम आता है।

मुरली मनोहर भगवान कृष्ण की क्रीड़ाओं में ध्यानावस्थित रहने वाले अनन्य भक्त सूरदास जी का प्रादुर्भाव ऐसे युग में हुआ, जब कि उस देश की सामाजिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों पर आपत्ति के सघन मेघ मंडरा रहे थे और जनता के हृदय से दुख भरी पुकार निकल रही थी, अतः उस पीड़ित-तृषित जनता को सुख तथा सांत्वना प्रदान करने के लिए सूर जैसे संतों का आगमन हुआ। सूर ने नेत्रहीन होते हुए भी बालक कृष्ण की प्रत्येक कलाओं और क्रीड़ाओं का वह जीता-जागता चित्र जनता के समक्ष

प्रस्तुत किया कि जिससे जनता ने अपने मानस मंदिर में सच्ची शांति और सुख का अनुभव किया। भगवान कृष्ण के आदर्श चरित्र को अशांत जनता के सम्मुख रखकर सूर ने उन मरुस्थल सदृश हृदयों में भी प्रेम की सजल और सरस स्रोतस्विनी प्रवाहित की।

व्यक्तित्व—सूर कृष्ण के अनन्य भक्त तो थे ही किन्तु उनकी वह भक्ति कृष्ण के प्रति सख्य या सखा भाव से थी। यह थी केवल सूर की साधना की तल्लीनता, जिसके फलस्वरूप वे जगतपिता परमात्मा से भी बराबरी का दावा करने वाले अक्खड़ता की साक्षात् मूर्त्ति के समान हमारे समक्ष आते हैं। सूर के अक्खड़ व्यक्तित्व की प्रथम झलक हमें उनके पद की इस पंक्ति द्वारा देखने को मिलती है जिस समय वे खेलते समय भगवान कृष्ण पर कुपित हो उठते हैं—'खेलत मैं को काको गुसैंयां'। इसके अतिरिक्त कृष्ण के मथुरा चले जाने पर कवि ने गोपियों की अन्तः प्रकृति में पूर्ण प्रवेश किया है और विरह विह्वल मानव हृदय में उठती हुई असह्य वेदना और व्याकुलता आदि की सुंदर अभिव्यंजना गोपियों के द्वारा उपालंभ के रूप में की है। यशोदा के चरित्र में भी सूरदास जी ने मातृ हृदय का अभूत पूर्व चित्र उपस्थित किया है। उनकी यशोदा वात्सल्य रस में डूबी हुई हैं—मार्ग देख रही हैं कि अब नंद कृष्ण को लेकर घर आते ही होंगे।

"बार बार मग जोवति माता।"

इस प्रकार सूर के व्यक्तित्व में हमें दैन्य सख्य भावना आदि कई पहलुओं का प्रदर्शन मिलता है जो सूर की अपनी व्यक्तिगत विशेषता का प्रतीक है।

काव्य सौष्ठव—सूरदास जी प्रकृति की गोद में पले थे और भागवत के पूर्ण पंडित थे। इन्होंने वल्लभ संप्रदाय से शिक्षा ली थी। इस संप्रदाय के लोग प्रायः बालगोपाल के उपासक होते थे। इसी कारण सूर ने अपनी कविता का विषय जीवन के बहिर्मुखी क्षेत्र तक विस्तृत न करके वात्सल्य एवं शृंगार तक ही सीमित रक्खा। मानव जीवन में बाल्यकाल और यौवन काल कितने मनोहर एवं स्वप्निल होते हैं, उनके बीच नाना मनोरम परि-

स्थितियों के विशद चित्रण द्वारा सूरदास जी ने जीवन की रमणीयता का एक आदर्श चित्र उपस्थित किया है। वात्सल्य और शृङ्गार के क्षेत्रों का जितना सूक्ष्म चित्रण सूर ने अपनी बंद आँखों द्वारा किया, उतना और किसी कवि ने नहीं। इन क्षेत्रों का तो वे कोना-कोना झाँक आये। उनके अनेक पद हमें एक दूसरे से लताओं और वृक्षों की भाँति गुंथे हुए मिलते हैं। प्रस्तुत पद में हमें माता यशोदा के वात्सल्य एवं स्नेह का सुंदर दृश्य देखने को मिलता है, जब वे अपनी सुमधुर लोरियाँ गा-गा कर बालक कृष्ण को पालने में सुला रही हैं—

जसोदा हरि पालने झुलावैं ॥
हलरावैं दुलराइ मल्हावैं, जोई सोई कछु गावैं।
मेरे लाल को आऊ निदरियां, काहे न आनि सुवावैं ॥
तू काहे न बेगि सों आवे, तोकूँ कान्ह बुलावैं।
कबहुँ पलक हरि मूँद लेत हैं, कबहूँ अधर फरकावैं।
सोवत जान मौन ह्वै कै रही, करि करि सैन बतावैं।
इहि अंतर अकुलाइ उठे हरि, जसुमति मधुरे गावैं।
जो सुख सूर अमर मुनि दुरलभ सो नंद भामिनी पावैं।

इन दूसरी पंक्तियों में भी सूर ने बालकृष्ण में माता के हृदयस्थ वात्सल्य तथा बाल प्रकृति का कितना मनोरम चित्रण किया है—इधर तो माता यशोदा दूध पिला रही हैं और कहती हैं—

'कजरी को पय पियहु लाल तव चोटी चारु बढ़ै ॥'

यह सुनकर बातों में आ ही तो गये, पीने लगे और एक हाथ चोटी पर रख लिया और देखने लगे कि देखें हर एक घूंट पर चोटी कितनी बढ़ती है। जब उसे बढ़ते न देखा तो खीझ कर बोले—

"मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी।
किती बार मोहिं दूध पियत भइ, यह अजहु है छोटी।
काचो दूध पियावत पचि पचि, देत न माखन रोटी ॥"

बालक कृष्ण की यही सरलता और भोलापन ही तो भक्तों का सर्वस्व हैं। और इसी एक मात्र निधि पर भक्त अपना सब कुछ उत्सर्ग करने को तैयार रहता है। कृष्ण बलदाऊ जी के साथ वन जाते हैं गायें चराने के लिये, वहाँ बलदाऊ जी उन्हें परेशान करते हैं, वे माता यशोदा के निकट उलाहना ले कर आते हैं और स्वयं पिट जाते हैं। उस समय उनके रोषपूर्ण उपालंभ की कितनी सुंदर अभिव्यक्ति सूर की इन पंक्तियों द्वारा हुई है, देखिए—

मैया मोहि दाऊ बहुत खिझायौ।
मोसो कहत मोल को लीन्हों, तोहिं जसुमति कब जायौ॥
कहा कहौं यहि रिसि के मारे, खेलन हौं नहिं जात।
पुनि पुनि कहत कौन है माता, को है तेरो तात॥

× × ×

तू मोहीं को मारन सीखी दाऊहि कबहुँ न खीजै।
मोहन को मुख रिसि समेत लखि जसुमति सुन सुन रीझै॥

श्रृंगार रस—कृष्ण के यौवन की वृद्धि के साथ ही साथ उनके प्रेम की सात्विक अनुभूति भी उनके मन में पल्लवित एवं पुष्पित होने लगी। उनकी वह अनुभूति राधा के सम्बन्ध में साकार हो उठी—

बूझत श्याम कौन तू गोरी।
कहाँ रहति काकी है बेटी देखी नहिं कबहुँ ब्रज खोरी॥

अन्यत्र राधा कहती है—

तुम पै कौन दुहावै गैया।
इत चितवत उत धार चलावत यहि सिखायौ है मैया॥

इन पंक्तियों में सात्विक एवं स्वाभाविक प्रेम की कितनी सुंदर सरस एवं पुनीत अभिव्यंजना हुई है जहाँ से वासना कोसों दूर है। स्त्री प्रकृति का सुंदर परिचय यशोदा अथवा गोपियों के प्रसंग में मिलता है। यशोदा में वात्सल्य, मातृत्व अथवा मोह आदि सभी रूप वर्तमान हैं। गोपियों

का कृष्ण को रिझाना, उन्हें देखकर मुग्ध होना, इन सभी प्रवृत्तियों का भी सुंदर चित्रण किया गया है। सूर के संयोग सुख वर्णन पर शुक्ल जी ने अपने विचारों को इस प्रकार व्यक्त किया है—"सूर का संयोग वर्णन एक क्षणिक घटना नहीं है। प्रेम संगीतमय जीवन की एक चलती धारा है जिसमें अवगाहन करने वाले को दिव्य माधुर्य के अतिरिक्त और कहीं कुछ नहीं दिखाई देता। राधा कृष्ण के रंग रहस्य के इतने प्रकार के चित्र सामने आते हैं कि सूर का हृदय प्रेम की नाना उमंगों का अक्षय भंडार प्रतीत होता है।" दिन व्यतीत होते गये, राधा और कृष्ण की घनिष्टता भी बढ़ती चली गई, दोनों ने एक दूसरे के घर आना-जाना प्रारम्भ कर दिया, यशोदा को राधा का आगमन कम रुचता। उन्होंने यहाँ तक कह डाला—

बार बार तू ह्यां जनि पावै।

परन्तु राधा शान्त होने वाली न थी अपना सारा दोषारोपण कृष्ण पर करते हुए कहती है—

मैं कहा करौं सुतहिं नहिं बरजत, घर ते मोहिं बुलावै।
मोसो कहत तोहि बिनु देखे, रहत न मेरो प्रान।
छोह लगत मोकों सुनि बानी, महरि तिहारी आन।

वियोग वर्णन—सूर के वियोग पक्ष की सब से बड़ी विशेषता है उसका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण। कवि ने काव्य-विषय से पूर्णतः तादात्म्य स्थापित कर लिया है। यही कारण है कि सूर का वियोग पक्ष इतना प्रभावपूर्ण तथा सजीव है। प्रत्येक भाव का इतना स्पष्ट और स्वाभाविक चित्रण हुआ है, कि हम अनुभव करते हैं कि मानों प्रत्येक पद में गोपियों के अन्तरात्मा की पुकार है, आहों की ज्वाला है तथा वेदना के आँसू हैं। भ्रमर गीत के अन्तर्गत गोपिकाओं की एक-एक अवस्था के अनेक मार्मिक वर्णन मिलते हैं। एक ही भावना का चित्रण पुनः पुनः नये-नये रंगों से होता है जिसमें वेदना की एक तीव्र और वेगपूर्ण व्यंजना मिलती है।

कृष्ण का वियोग केवल गोपियों तक ही सीमित नहीं है अपितु वह

ग्वाल, बाल, नंद और यशोदा के मनोभावों पर भी अपना अधिकार रखता है। ग्वाल बाल कृष्ण के सखा हैं। वे सखा भाव से कृष्ण के विरह का अनुभव करते हैं। यशोदा और नंद माता-पिता हैं अतः उनके विरह के मूल में वात्सल्य की भावना है। इतना ही नहीं बल्कि ब्रज की प्रकृति, पशु, पक्षी, जड़ चेतन, सभी कृष्ण के विरह का अनुभव करते हैं। कृष्ण के वियोग में गायें भी दुःखी हैं—

उधो इतनी कहियो जाइ।

अति कृश गात भई ए तुम बिनु परम दूखारी गाइ।

कृष्ण के विरह में यमुना की भी दशा शोचनीय है—

लखियत कालिंदी अति कारी।

कहियो पथिक जाइ हरि सौं ज्यों भई विरह जुर-जारी।

ब्रज में अक्रूर का आगमन सुनकर आगामी वियोग की आशंका से समस्त ब्रजवासी आकुल से हो उठते हैं। गोपिकायें तो चित्रवत अवाक् रह जाती हैं—

व्याकुल भये ब्रज के लोग।

× × ×

चलन चलन श्याम कहत कोउ लेन आयो।
नंद भवन भनक सुनी कंस कहि पठायौ।
ब्रज की नारि गृह बिसारि व्याकुल उठि धाई।
समाचार बूझन को आतुर ह्वै आई।
प्रीति जानि हेतु मानि बिलखि वदन ठाढ़ी।
मानहुँ वे अति विचित्र चित्र लिखित काढ़ी।
ऐसी गति ठौर ठौर कहत न बनि आवै।
सूर श्याम बिछुरे दुःख काह विरह भावै।

अक्रूर के साथ कृष्ण मथुरा जा रहे हैं, यह यशोदा के लिए असह्य है। वियोग दुःख से कातर हो उनका मातृ हृदय रो उठता है—

यशोदा बार बार यों भाखैं
है कोउ ब्रज में हितू हमारो चलत गोपालहिं राखैं ॥

कृष्ण राजप्रासाद में पहुँच गये जहाँ पर किसी सांसारिक ऐश्वर्य अथवा विलास सामग्री का कोई अभाव नहीं किन्तु मातृ हृदय को संतोष कहाँ? माता के हृदय में सदैव इस बात की शंका बनी रहती है कि कहीं उसके पुत्र को कोई कष्ट न हो चाहे वह कितनी ही सुखमय परिस्थिति में हो। यहाँ पर यशोदा के वचन में कितनी दीनता और कातरता टपकती है—

संदेशो देवकी सों कहियो।
हौं तो धाय तिहारे सुत की कृपा करत ही रहियो ॥
तुम तौ टेंव जानतिहि ह्वै हौ तऊ मोहिं कहि आवै।
प्रात उठत मेरे लाल लड़ैतेहि माखन रोटी भावै ॥

काव्य और रस की दृष्टि से सूर सागर का भ्रमर, गीत, प्रसङ्ग, व्यञ्जना, माधुर्य और वियोग का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। प्रेमी-प्रेमिका के सभी प्रकार के सम्बन्धों का इसमें वर्णन किया गया है। गोपियों की सगुण प्रेम की एकांत निष्ठा का बहुत ही अनुपम एवं मनोवैज्ञानिक चित्रण किया गया है। उद्धव द्वारा निर्गुण निराकार ब्रह्म की उपासना पर जोर देने से गोपियाँ कितना स्पष्ट उत्तर देती हैं—

ऊधौ मन नाहीं दस बीस।
एक हुतो सो गयौ श्याम संग को आराधै ईश।

अथवा गोपियों के वियोग की पराकाष्ठा इन पंक्तियों में व्यक्त हो जाती है—

सखी री चातक मोहिं जियावत।
जैसहि रैन रटति हौं पिय पिय तैसे ही वह पुनि पुनि गावत।

अथवा—

मधुकर ये नैना पै हारे ।
निरखि निरखि मग कमल नयन को प्रेम मगन भये सारे ।
ता दिन तें नींदो पुनि नासी, चौंकि परत अधिकारे ।
सपन तुरी आगत पुनि सोई ज्यों हैं हृदय हमारे ।

× × ×

निशि दिन बरसत नैन हमारे ।
सदा रहत पावस ऋतु हम पर जब तें श्याम सिधारे ।

उनकी आकुलता और व्याकुलता का भी थोड़ा सा रूप देखिये—

मधुबन ! तुम कत रहत हरे ।
विरह वियोग श्याम सुन्दर के ठाढ़े क्यों न जरे ।

× × ×

बिनु गोपाल वैरिन भई कुंजे ।
जे वे लता लगति अति शीतल अब भई विषम ज्वाल की पुंजै ।

इस प्रकार प्रिय वियोग का यह वेदनात्मक चित्र कवि ने अपनी अद्वितीय प्रतिभा के सहारे अत्यधिक मर्मस्पर्शी और मनोवैज्ञानिक बना दिया है ।

कला-पक्ष—सूर की भाषा साहित्यिक ब्रजभाषा है । साथ ही उस समय की कई प्रचलित भाषाओं का भी उसमें सम्मिश्रण है । उनकी भाषा में प्रसाद, ओज और माधुर्य की भी प्रधानता है । कहीं-कहीं पर मुहावरों का भी प्रयोग हुआ है जिससे भाषा में और भी अधिक सरसता तथा प्रवाह आ गया है । भाषा का एक उत्कृष्ट नमूना देखिये—

मुरली तऊ गोपालहि भावति ।
सुन री सखी यद्यपि नँद नन्दन नाना भाँति नचावति ।
राखत एक पाँय ठाढ़ो करि अति अधिकार जनावति ।
कोमल अंगआप आज्ञा गुरु कटि टेढ़ी ह्वै जावति ।

इनकी भाषा के अन्तर्गत अरबी-फारसी के शब्दों का भी प्रयोग हुआ है । उनकी कविता में शृंगार और वात्सल्य रस की प्रधानता है ।

अलंकार योजना—सूर की कविता में अलंकारों की निराली छटा का भी बाहुल्य पाया जाता है। अधिकांशतः रूपक उपमा और उत्प्रेक्षा अलंकार का विशेष प्रयोग हुआ है। 'अद्भुत एक अनुपम बाग' में सांग रूपक का सुन्दर परिचय मिलता है। अप्रस्तुत विधानों द्वारा कहीं-कहीं भावाभिव्यक्ति भी की गई है। श्लेष और यमक का प्रयोग दृष्टिकूटों में हुआ है। गेय पदावली में सूरदास जी ने अपनी कविता पदों में ही की है। इनका 'सूर सागर' एक मुक्तक काव्य है। हिन्दी साहित्य में सूर का वही स्थान है जो गगन में सूर्य का।

: ४७ :

कला और उसके प्रयोजन

वर्तमान काल में 'कला' शब्द का प्रयोग नवीनतम परिभाषा में होता है। प्राचीन साहित्य में हमें ६४ कलाओं का उल्लेख मिलता है। उसमें काव्य और साहित्य का उल्लेख न होकर संगीत और नाट्य का नाम आता है। वहाँ कला का अर्थ कौशल के रूप में ग्रहण किया गया है। किन्तु आजकल कला के अन्तर्गत काव्य, साहित्य, संगीत, स्थापत्य आदि सब आ जाते हैं। संस्कृति और कला के सुघर समालोचक काका कालेलकर ने एक स्थान पर लिखा है कि—

'कला का आनन्द लूटते-लूटते कला को पूरी तरह से पहचानने की स्वाभाविक प्रथा को छोड़कर उसकी व्याख्या में उतर पड़ना तो उसी तरह है जैसे किसी सुन्दर फूल को जी भर कर देखने और सूंघने की अपेक्षा छूरे से टुकड़े-टुकड़े कर के उसके अन्दर की रचना की जाँच-पड़ताल करना।... इसलिए कला का विवेचन करने के लिए तार्किक या दार्शनिक शैली को लेकर उसकी चर्चा करने की अपेक्षा यदि मनुष्य यह बतला दे कि उसे क्या रुचा और क्या नहीं रुचा और वैसी भावना पैदा होने के कौन कौन से कारण

आकर उपस्थित हुए, तो कला और कला-प्रेमी समाज की बड़ी भारी सेवा हो सकती है।'

'शुक्र-नीति' में कला की व्याख्या करते हुए कहा है कि गूँगे के लिए जो साध्य हो वही कला है। साहित्य और संगीत से कला को पृथक रखने के लिए ही संभवतः उसकी यह व्याख्या की गई है। परन्तु गूँगे लोग भी लिखने में सफल हो जाते हैं, यह इस व्याख्या का अधूरापन है। आजकल ललित साहित्य ही कला का मुख्य अंग बन गया है। नाटक, काव्य, कहानियाँ, सरस शैली में लिखे हुए निबन्ध—ये सभी कला-कृति माने जाने लगे हैं और पुस्तक-लेखक अब प्रधान कलाकार गिने जाते हैं।'

प्राचीन साहित्य में काव्य और कला एक दूसरे के पर्याय माने गये हैं। मम्मटाचार्य ने काव्य के जो प्रयोजन बतलाये हैं वे शत-प्रतिशत जीवन से सम्बंधित हैं—

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृत्तये कान्ता सम्मित तयोपदेशयुजे॥

उन्होंने काव्य की रचना यश प्राप्ति के लिये, धन के लिये, व्यवहार जानने के लिये, अमंगल का शमन करने के लिये, शीघ्र आनन्द देने के लिए और कामिनी का-सा मधुर उपदेश देने के लिये बतलाया है।

फिर भी काव्य या कला का प्रयोजन केवल धन और यश प्राप्ति मात्र है, इसे तो इस युग का मनुष्य किसी भी दशा में स्वीकार नहीं करेगा। यह तो सीधे-सादे नैसर्गिक युग का लक्षण है। हमारे पूर्वजों का दृढ़ विश्वास था कि संगीत या व्याकरण सीखने से मोक्ष सुलभ हो जाता है किन्तु आज के युग का मानव स्पष्ट स्वरों में कहता है कि जीवन की सम्पूर्ण समस्याओं एवं रहस्यों के उद्‌घाटन करने की शक्ति एकमात्र कला में है। कला ही वह साधन है जो जीवन के सभी पक्षों को पूर्ण रूप से विकसित करने में समर्थ है। साहित्य और संगीत ही वह सफल माध्यम है जो विराट जीवन-दर्शन कराने में सहायक सिद्ध हो सकता है। इस प्रकार कला स्वयंभू, स्वतन्त्र और

आत्म सापेक्ष जीवन दर्शन है। केवल अन्तर इतना ही हो गया है कि जिसे हमारे पूर्वज मोक्ष का साधन मानते थे उसे हम लोग आत्मानुभव का साधन समझते हैं।

वर्तमान विद्वानों, कवियों और कलाकारों ने कला के ये प्रयोजन बतलाये हैं—

(१) कला-कला के लिए।
(२) कला जीवन के लिए।
(३) कला जीवन के यथार्थ से पलायन के लिए।
(४) कला सेवा के लिए।
(५) कला आत्म-प्राप्ति के लिए।
(६) कला आनंद के लिए।
(७) कला विनोद-विश्राम के लिए।
(८) कला सृजन की अदम्य वृत्ति की परितृप्ति के लिए

इन प्रयोजनों का विश्लेषण करने से दो वर्ग हो जाते हैं—

(१) आत्मने (२) परस्मै।

यदि कला अपने लिये है तो फिर चाहे वह 'यशसे हो या अर्थकृते'। विनोद-विश्राम के लिये हो या सृजन की अदम्य वृत्ति की परितृप्ति के लिये। स्वान्तः सुखाय हो या जीवन की यथार्थता से दूर भागने के लिये। यदि कला दूसरे के लिए है तो चाहे वह 'व्यवहार विदे' हो या सेवा के लिये या जीवन के लिये। इन दो वर्गों में से कौन सा युक्तियुक्त एवं उपादेय है? इस विषय पर पर्याप्त माथापच्ची हो चुकी है। दोनों वर्गों के अनुयायी अपने मत की समीचीनता प्रमाणित करने के लिये खींच-तान मचाये रहते हैं।

आजकल कुछ ऐसी हवा बह गयी है कि लोग साधारण से साधारण वस्तु को भी कृत्रिमता से आवृत कर जटिल एवं संदिग्ध भाषा में व्यक्त किया करते हैं जब कि प्राचीन मनीषी बड़े से बड़े एवं महत्वपूर्ण सिद्धान्तों को भी सरल शैली में लिपिबद्ध किया करते थे। इसीलिए उसे **'काव्यंलोक-व्यवहार-उद्दीपनार्थम्'** के स्थान पर कहना पड़ा—**'काव्यं व्यवहारविदे'**

जब हम परोक्ष भावों को प्रत्यक्ष करते हैं, अमूर्त भावों या विचारों को मूर्त रूप देते हैं तभी हमें कला के वास्तविक दर्शन होते हैं। जिस प्रकार अनर्गल एवं अर्थहीन विचार मरुभूमि में पड़े बीजों की भाँति व्यर्थ सिद्ध होते हैं उसी प्रकार सुन्दर किन्तु अर्थ-हीन कलाकृति का कोई मूल्य नहीं है। अतः यह स्वयं सिद्ध है कि कला स्वयं के लिये होगी या अन्य के लिये। चाहे वह अन्य, व्यक्ति, समाज राष्ट्र में से कोई भी हो। यदि हम स्वयं तटस्थ रख कर भी देख सकें तो वह जीवन के लिए भी होगी, क्योंकि व्यष्टि के साथ समष्टि जुड़ा हुआ है।

जो लोग यह स्वीकार करते हैं कि कला जीवन के नीरस, अर्थ-हीन यथार्थ से बचने के लिये है उन्हे जीवन का अत्यन्त कटु अनुभव तो हुआ ही होगा साथ ही वे जीवन-संग्राम से पराजित भी हो चुके होंगे, जीवन के संघर्षों के आगे घुटने टेक दिये होंगे। दुःख, दरिद्रता, अत्याचार तथा संघर्षों से मनुष्य भले ही क्षत-शीश हो जाय किन्तु उसे नत-शीश नहीं होना चाहिए। उसे जीवन के प्रत्येक पक्ष से प्रेरणा ग्रहण करनी चाहिए। कालेलकर जी ने लिखा है कि 'रस के झरने झरते हैं पर जब मनुष्य विषयों का आकण्ठ सेवन करता है और अर्थ-विहीन, नीरस और आलस्यमय जीवन बिताता है तब जीवन अपमानित होता है, फिर मनुष्य को कहीं चैन नहीं पड़ता। अगर कहीं ऐसा हो जाय कि मनुष्य जिस वस्तु की इच्छा करता है वह उसे इच्छा करते ही तुरन्त मिल जाया करे तब तो उसके लिये जीवन ही भार-स्वरूप हो जाये। कालिदास ने दुष्यन्त से बिलकुल ठीक ही कहलाया है कि इच्छा की तृप्ति और प्रतिष्ठा, जीवन की सारी उत्सुकता को नष्ट कर देती है और फिर सिर्फ क्लेश ही क्लेश रह जाता है। ऐसे लोग जीवन के यथार्थ से दूर भागते हैं, और इस पलायन को ही वे कला में ढूंढ़ते हैं।

कला की सार्थकता इसी में है कि वह दोनों वर्गों (आत्मने एवं परस्मै) की पूर्ति कर सके। प्रत्येक रचना से निर्माण के प्रवृत्ति की तृप्ति तो होती ही है, साथ ही आनंद भी प्राप्त होता है, कलाकार को स्वान्तः सुख मिलता है। यदि कोई कलाकार अपनी रचना से आनंद लेना चाहता है और

उसके रस में अपने आपको डुबा कर थोड़ी देर के लिए संसार की विभीषिका से त्राण पाना चाहता है तो इसमें किसी की क्या हानि होती है ? किन्तु यदि कलाकार केवल कल्पना के ही संसार में नहीं रहता तो उसकी कला जीवन की मार्मिकता को अवश्य स्पंदित करेगी। उससे मानवता की सेवा भी होगी तथा उसके द्वारा संसार के दुखी-जनों को सांत्वना भी प्राप्त होगी।

सच्ची कला जिस प्रकार आत्मा का समुचित विकास करती है उसी प्रकार विश्व में करुणा, दया, क्षमा सेवा आदि का भी प्रसार करती है। यह कहना किंचित् कठिन है कि कला की साधना से किसी को आत्म-साक्षात्कार हुआ है पर साधना के प्रथम चरण में प्रस्तुत होने के रूप में शुद्ध कला की बहुत कुछ उपयोगिता है—इस तथ्य से कोई मुँह नहीं मोड़ सकता है। प्रत्येक मनुष्य में आत्म विस्तार (एकोऽहं बहुस्याम्) की जो स्वाभाविक प्रवृत्ति छिपी रहती है उसकी तृप्ति के लिये मनुष्य जब हृदय के गूढ़ और सर्वश्रेष्ट भावों को साकार रूप देने का प्रयत्न करता है वहीं पर कला का प्रयोजन स्वयं अपने को उपस्थित करना है।

कुछ विद्वानों का कहना है कि "कला ठस सेवा करे, धर्म-नीति, राजनीति के संबंध में किसी विशेष विचार-धारा का प्रचार करे या जीवन की कहानियों को जनता के सामने प्रदर्शित कर दे।" जो कला को शुद्ध रूप में ग्रहण करने के पक्षदार हैं वे हठपूर्वक कहते हैं कि "यह सब हम क्यों करें? हमें तो आनन्द से तात्पर्य है। हम कला पर कोई उत्तरदायित्व नहीं मानते।"

जिस प्रकार कुछ व्यक्ति राष्ट्र-सेवा या समाज-सुधार के लिए ब्रह्मचर्य-जीवन व्यतीत करना श्रेष्ठ समझते हैं उसी प्रकार कुछ कलाकार अपनी कला को अपनाकर सारा समय और सारी शक्ति उस कला की सेवा में ही लगा देते हैं, कला की सेवा से पृथक किसी अन्य वस्तु की अपेक्षा उन्हें नहीं रहती। मनुष्य में जो कुछ भी शक्ति, प्रतिभा, ओज आदि है वह किसी न किसी पुरुषार्थ के रूप में प्रकट होने का अवसर खोजता रहता है। इसीलिए कुछ लोग आजीवन अपनी सारी शक्ति का सदुपयोग कला की सेवा में ही करते हैं।

कला का उद्‌गम और लक्ष्य एक मात्र आनन्द की उपलब्धि है क्योंकि कला से प्राप्त होने वाले आनन्द को ब्रह्मानन्द की उपाधि प्रदान की गई है किन्तु जो कला के नाम से कामुकता एवं विलासिता को उद्दीप्त करने वाले नग्न चित्रों को सजाते हैं वे सच्ची कला की साधना से कोसों दूर हैं। यदि कलाकार जीवन की उपेक्षा कर के केवल आकाश में ही विचरण करता है, तटस्थ हो कर तन्मय होने का दम्भ करता है तो उसकी कला से समाज देश या व्यक्ति का कोई लाभ नहीं होता। वरन् आलस्य, अकर्मण्यता व्यभिचार एवं खोखली आदर्शवादिता को ही प्रोत्साहन मिलता है। 'कला कला के लिए' की वास्तविक उपयोगिता यही है कि कला द्वारा जीवन का सदाचार पुष्ट किया जाय। कला द्वारा धर्म की सूक्ष्म वृत्तियाँ समझी जायँ। कला द्वारा समाज व्यवस्था में सहयोग, समाधान, सामर्थ्य, समृद्धि और सुसंगति का संगीत भरा जाये। किन्तु इतना ध्यान रहे कि कला के विकास में निम्न श्रेणी का आदर्श न होना चाहिये। यदि कोई कलाकार, कला प्रेमी, कला-रसिक होने का दम्भ करता है तो उनसे हाथ जोड़ कर यही कहना चाहिये कि आप अपनी कला से स्वयं ही कृतकृत्य हों, आपके संपर्क से समाज को हानि का भय है फिर कला की कुशल कहाँ ?

कालेलकर जी ने लिखा है कि "आदर्श कला में जो सब से ऊँचा आनन्द मनुष्य को मिलता है वही उसका हेतु है। इस कारण भी 'कला के लिये कला' वाली बात कही जा सकती हैं। सर्वोच्च आनन्द का स्वाद जिसने चख लिया, उसके लिए सदाचार स्वाभाविक या सहज बन जाता है। ऐसे प्रसंग पर......कला का मुख्य प्रयोजन तो ब्रह्मानन्द सहोदर आनन्द ही है। सदाचार और सामाजिक सामर्थ्य—ये तो उसके अवश्यं-भावी गौणफल (by products) हैं।......शुद्ध कला के द्वारा अगर हमें जीवन के सभी रस मिलते रहें तो जीवन के पतित होने का कोई डर नहीं रहता। नाश तो तभी होता है जब रस के नाम पर हम दूसरी चीजें खोजने लगते हैं।"

कला किसी प्रोपेगैंडा की अपेक्षा नहीं रखती। वह अपनी स्फूर्ति और

स्वेच्छा से ही जीवन को कल्याण-पथ की ओर अग्रसर करती है। आर्थिक लोभ के कारण कला को विकृत करना उसे पतन की ओर ले जाना होगा। सौंदर्य की खोज कला का मुख्य प्रयोजन है किन्तु नीति, आचार और उपयोगिता को अपनाकर ही कला का चिर अभीष्ट सिद्ध होता है। इसको सूत्र रूप में इस प्रकार कहा जा सकता है कि श्रेय और प्रेय का समन्वय करना ही कला का मुख्य प्रयोजन है।

: ४८ :

हिन्दी के नाटक और रंगमंच

साहित्य के प्रधान अंगों में से नाटक का स्थान महत्वपूर्ण है। कहा भी गया है—'काव्येषु नाटकं रम्यम्'। संस्कृत साहित्य नाटकों की दृष्टि से बहुत धनाढ्य है। शाकुन्तलम् और उत्तर रामचरित विश्व के सर्वश्रेष्ठ नाटकों में अद्वितीय हैं। अन्य साहित्यों की भाँति हिन्दी में भी प्रारम्भ में कविता का विकास हुआ। वह युग वीर गाथा का था। रक्तपात के इस संघर्षशील युग में नाटक का विकास होना असंभव था। रंगमंच नाटक के समुचित विकास का अनिवार्य साधन है किन्तु उस भाग-दौड़ में इसकी स्थापना कौन करता? इसके अतिरिक्त नाटकों के लिये गद्य की आवश्यकता होती है। गद्य यद्यपि मध्यकाल में भी किंचित् मात्रा में मिलता है किन्तु उसका रूप लद्धड़ होने के कारण कोई महत्वपूर्ण रचना उसमें नहीं हो सकती थी। मुसलमानी राज्य शाँति का उपहार ले कर आया फिर भी इस सभ्यता ने नाटकों की उन्नति में कोई विशेष प्रोत्साहन नहीं दिया। इसका कारण संभवतः उनकी अपनी मान्यताएँ [मूर्ति पूजा का विरोध, अनुकरण कला को हीनता की दृष्टि से देखना आदि] रही हों। यह हिंदी साहित्य का भक्तिकाल था, उस समय साहित्य की रचना साधुओं और वैरागियों द्वारा हुई। लौकिक जन-जीवन प्रायः क्षुब्ध था। धार्मिक और राजनीतिक अशांति के उस युग

में नाटकों की रचना होने का कोई अवसर ही न था। रीतिकाल अवश्य नाट्य रचना के लिये उपयुक्त था किन्तु उस समय अभिव्यक्ति के योग्य गद्य का अभाव था फिर भी कुछ पद्य-बद्ध नाटक लिखे गये। 'देव माया प्रपंच' और 'समयसार' उसी समय के मौलिक नाटक हैं। 'हनुमन्नाटक' और 'प्रबोध चन्द्रोदय' संस्कृत से हिन्दी में अनूदित हुए। रीवाँ-नरेश रघुराजसिंह ने 'आनन्द रघुनन्दन' तथा गोपालचन्द्र जी ने 'नहुष' के आधार पर नाटक लिखे। राजा लक्ष्मणसिंह ने कालिदास के 'अभिज्ञान-शाकुन्तलम्' का 'शकुन्तला नाटक' के नाम से बहुत ही सुन्दर अनुवाद प्रस्तुत किया। किन्तु वास्तव में हिन्दी नाटकों के जन्मदाता होने का श्रेय भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र को है। उन्होंने गद्य के स्वरूप को स्थिर कर के नाटकों की रचना करना प्रारम्भ कर दिया। उन्होंने कई संस्कृत नाटकों का भी अनुवाद किया तथा बहुत से मौलिक नाटक लिखे। इनके अनूदित नाटकों की सूची यह है—

(१) विद्या सुन्दर, (२) मुद्राराक्षस, (३) कर्पूर मंजरी, (४) धनंजय विजय, (५) पाखण्ड विडम्बना, (६) रत्नावली, (७) दुर्लभ-बंधु।

मौलिक नाटक—(१) प्रेम जोगिनी, (२) चन्द्रावली, (३) नील देवी, (४) भारत-दुर्दशा, (५) अन्धेर नगरी, (६) वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, (७) विषस्य विषमौषधम्, आदि। सती प्रताप वे लिख ही रहे थे कि हिन्दी के दुर्भाग्य से असमय में ही दिवंगत हो गए। यदि १५ वर्ष की आयु उन्हें और मिल जाती तो इसी बीच हिन्दी नाट्य साहित्य उनकी रचनाओं से पर्याप्त समृद्ध हो जाता। हरिश्चन्द्र बाबू के प्रोत्साहन से अन्य लेखकों ने भी नाटक लिखने प्रारम्भ कर दिये। श्री बद्रीनारायण चौधरी, बालकृष्ण भट्ट, प्रातपनारायण मिश्र, श्रीनिवास दास, ठाकुर जगमोहन सिंह तथा राधा-कृष्णदास ने बहुत से नाटकों की रचना की जिनमें से श्रीनिवासदास रचित 'तप्तासंवरण', 'रणधीर प्रेम मोहिनी' एवं राधाकृष्णदास कृत 'दुखिनी बाला', 'पद्मावती' और 'महराणा प्रताप' को पर्याप्त ख्याति मिली। श्री निवासदास ने शेक्सपियर के अनुकरण के आधार पर अँग्रेजी पद्धति को अपनाकर नाटकों की रचना की जिनमें प्रणय भावना प्रधान रूप से उभर

आयी। उनके नाटकों में प्रस्तावना, भरतवाक्य एवं विष्कंभक आदि का अभाव है। सांस्कृतिक दृष्टि का स्पष्ट अभाव होने के कारण इनके नाटकों की तत्कालीन समाज में भरपूर आलोचना भी हुई। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से राधाकृष्णदास के नाटक उस समय की जनता के द्वारा खूब सराहे गये। इन नाटकों में देश-भक्ति की भावना का अच्छा विकास हुआ। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने नाट्य शैली में मध्यम मार्ग का अनुसरण किया। उसमें संस्कृत की पद्धति तो थी किन्तु प्रस्तावना के अतिरिक्त अर्थ प्रकृति, अवस्थाओं और संधियों आदि के पालन में पूर्ण जागरूकता नहीं थी। आगे चलकर नाटककारों ने भारतेन्दु जी की इस पद्धति को छोड़कर अँग्रेजी पद्धति ही अपनायी। प्रस्तावना आदि अनावश्यक समझकर छोड़ दिये गये। बड़े-बड़े अंक और विष्कंभकों के स्थान पर अंकों को दृश्यों में विभाजित किया जाने लगा। दृश्य और सूच्य का भी भेद दूर कर दिया गया। पद्य के स्थान पर गद्य का प्रवेश होने लगा। नाटकों से पद्य का महत्त्व दूर करने में द्विजेन्द्रलाल राय के नाटकों के अनुवादों ने हिन्दी नाटककारों पर प्रभाव डाला। पं० रूपनारायण पांडेय ने बँगला नाटकों का सफल अनुवाद हिन्दी में प्रस्तुत किया।

भारतेन्दु काल के पश्चात् नाटकों की अबाध गति में एक प्रकार की शिथिलता सी आ गयी। देवकीनंदन खत्री के चन्द्रकान्ता एवं चन्द्रकान्ता संतति के जासूसी उपन्यासों ने तत्कालीन जनता की रुचि को अपनी ओर खींच लिया, इसीलिए उच्च स्तर के नाटक न लिखे जा सके फिर भी रायदेवी प्रसाद 'पूर्ण' का 'चन्द्रकला', 'भानु कुमार', माखनलाल चतुर्वेदी का 'कृष्णार्जुन युद्ध', मिश्र बन्धुओं का 'नेत्रोन्मीलन' तथा मैथिलीशरण गुप्त का 'चन्द्रहास' इसी समय की नाट्य रचनाएँ हैं। राय बहादुर लाला सीताराम जी, उपनाम 'भूप' ने बहुत से संस्कृत नाटकों का हिन्दी में अनुवाद किया। ब्रज-कोकिल सत्यनारायण कविरत्न ने महाकवि भवभूति के 'उत्तर रामचरित' तथा 'मालती-माधव' के बहुत से सरस और सुन्दर अनुवाद प्रस्तुत किये।

व्यावसायिक दृष्टि के लिखे गये नाटक प्रायः अल्फ्रेड, विक्टोरिया एवं

ओरिजिनल कम्पनियों के लिये लिखे गये। इन कम्पनियों के लिये नाटक लिखने वालों में आगा हश्र, हरेकृष्ण जौहर, नारायण प्रसाद, 'वेताव' तथा राधेश्याम कथावाचक के नाम प्रमुख हैं। पं० राधेश्याम कथावाचक के नाटकों में 'वीर अभिमन्यु', 'रुक्मिणी मंगल', 'श्रीकृष्ण-अवतार', आदि नाटकों ने अच्छी लोक प्रसिद्धि पायी। बाबू नारायण प्रसाद 'वेताब' के नाटकों में 'रामायण' और 'महाभारत' प्रधान हैं। रंगमंचीय अभिनय की मात्रा तो इनमें पर्याप्त है किन्तु साहित्यिकता कम, उर्दू का पुट विशेष होने से हिन्दी की नाटकीय भाषा के स्वाभाविक विकास का अभाव है। बाबू हरिकृष्ण जौहर के सामाजिक नाटकों ने उस समय अच्छी कीर्ति पायी।

हिन्दी नाट्य साहित्य के लिये श्री जयशंकर 'प्रसाद' की देन अभूत-पूर्व है। उनके ऐतिहासिक नाटक 'अजातशत्रु,' 'स्कन्दगुप्त', 'जन्मेजय का नागयज्ञ', 'राज्य श्री', 'चन्द्रगुप्त', 'ध्रुव स्वामिनी' आदि किसी भी साहित्य के लिये गौरव की वस्तु हो सकते हैं। 'कामना' और 'एक घूंट' नवीन ढंग के नाटक हैं। प्रसाद जी के नाटकों में अन्य संस्कृतियों में भारतीय संस्कृति की श्रेष्ठता दिखलाई गई है। प्रसाद जी के नाटकों में रंगमंचीय अभिनेयत्व की कमी है। श्री हरिकृष्ण प्रेमी के नाटकों के द्वारा मुगलकालीन भारत का अच्छा परिचय मिलता है। श्री उदयशङ्कर भट्ट ने पौराणिक नाटक लिखे। श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटकों पर इब्सन और बर्नर्डशा का प्रभाव स्पष्ट है जो सिन्दूर की होली, राजयोग आदि समस्या प्रधान नाटकों में स्पष्ट रूप से उभर आया है। पं० गोविन्दवल्लभ पन्त, सेठ गोविन्ददास, श्री जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिन्द' तथा हरिकृष्ण 'प्रेमी' आदि ने श्रेष्ठ साहित्यिक नाटकों की सृष्टि की। बद्रीनाथ भट्ट और जी० पी० श्रीवास्तव ने सुन्दर प्रहसन लिखे।

एकांकी नाटकों के क्षेत्र में डा० रामकुमार वर्मा का स्थान सर्वोच्च है। 'चारुमित्रा', 'ऋतुराज', 'पृथ्वीराज की आँखें', 'रेशमी टाई' आदि उनके एकांकी-संग्रह हैं जो हिंदी के एकांकी साहित्य में प्रशंसनीय प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके हैं। रंगमञ्चीय गुण वर्मा जी के नाटकों की विशेषता है। श्री भुवनेश्वर,

उपेन्द्रनाथ 'अश्क', उदयशंकर भट्ट, गणेशप्रसाद द्विवेदी, जगदीशचन्द्र माथुर, विष्णुप्रभाकर आदि अन्य प्रसिद्ध एकांकीकार हैं। एकांकी नाटकों की तरह रेडियो नाटकों का भी प्रचार बढ़ता जा रहा है। रेडियो नाटकों का शिल्प-विधान इन एकांकी नाटकों की अपेक्षा कुछ भिन्न होता है। पं० उदयशंकर भट्ट का 'एकला चलो रे' सुन्दर रेडियो नाटक है। विष्णु प्रभाकर ने रेडियो नाटक लिखने में विशेष प्रसिद्धि पायी है।

रंगमंच की दृष्टि से हिन्दी की स्थिति आज भी दयनीय है। हिन्दी के पास अपना कोई रंगमंच नहीं है। हिन्दी के अधिकांश नाटक हिन्दी साहित्य के नाटककारों द्वारा नहीं खेले जाते। हिन्दी रंगमंच के उपस्थित करने में अनेक कठिनाइयाँ हैं। आर्थिक प्रश्न सर्वप्रमुख है। साथ ही उत्साही एवं योग्य अभिनेताओं का अभाव भी है। कुशल निर्देशकों द्वारा यह कमी पूरी की जा सकती है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी ने धनी होने के नाते स्वयं एक नाट्य-मण्डली की स्थापना की थी; कुछ हिन्दी नाटक अभिनीत भी किये थे किन्तु उनकी असामयिक मृत्यु के कारण वह कार्य ज्यों का त्यों रह गया। इसी समय कुछ व्यावसायिक थियेटर कम्पनियों ने हिन्दी के नाटक खेलकर भारत की अशिक्षित जनता से मनमाना पैसा ऐंठा। इन नाटकों का सांस्कृतिक स्तर बहुत ही भिन्न था एवं इनका एक मात्र लक्ष्य जनसाधारण के लिये सस्ता मनोरंजन उपस्थित करना था। इन व्यावसायिक कम्पनियी ने पं० राधेश्याम कथावाचक, हरिकृष्ण जौहर, नारायण प्रसाद बेताब आदि से अपनी रुचि के व्यवसायी नाटक लिखवाये। यद्यपि इन नाटकों में नाटकीय उद्देश्य का सर्वथा अभाव है फिर भी जन-साधारण द्वारा विशेष प्रोत्साहन मिलने पर इन्हें अभूतपूर्व सफलता प्राप्त हुई। इन धनी व्यावसायिक कम्पनियों के आगे साहित्यिक नाट्य-मंडलियों को पराजित होना पड़ा।

सिनेमा के आविष्कार और सवाक् चित्रपटों के आविष्कार से तो हिन्दी रंगमंच की संभावना ही लुप्त हो गई। यद्यपि कला की दृष्टि से सिनेमा छाया की भी छाया है किंतु आकर्षक, सस्ता एवं सुलभ होने के कारण दिन

प्रतिदिन यह लोकप्रिय होता जा रहा है। विदेशों में सिनेमा के साथ ही अब भी नाटकों की लोक-प्रियता अक्षुण्ण है किन्तु हमारे यहाँ जीवन में उल्लास के अभाव के कारण अभिनय की ओर लोगों का ध्यान ही आकर्षित नहीं होता।

यह काम व्यक्तिगत शक्ति के परे है। हिन्दी की संस्थाएँ हिन्दी साहित्य सम्मेलन, नागरी प्रचारिणी सभा आदि इस काम से उदासीन हैं। वे हिन्दी भाषा और साहित्य के प्रचार से ही छुट्टी नहीं पाती हैं। इसीलिए इन संस्थाओं को कभी ऐसा अवसर नहीं मिल सका जिससे कि वे रंगमंच ऐसी आवश्यक वस्तु की ओर ध्यान देतीं। श्री गुलाबराय जी ने इस विषय पर खेद प्रकट करते हुए लिखा है कि "हिन्दी में रवि बाबू जैसे महानुभावों की आवश्यकता है जो अपनी कृतियों के अभिनय में भी योग दे सकें। हिन्दी भाषा को ऐसे नाटककारों की आवश्यकता है जो समाज के सूक्ष्म निरीक्षक हों, जो मनोविज्ञान के पंडित हों, जो स्वयं अभिनय में कुशल हों, संगीतज्ञ हों, रंगमंच के मर्मज्ञ हों और उसके सब नियमों से अभिज्ञ हों, भाषा पर जिनका प्रभुत्व हो, और जो साधारण गद्य में कविता के प्रभाव के साथ शक्ति, सुबोधता और भाव-गांभीर्य ला सकें। अब नाटक की उत्तमता कथावस्तु (प्लाट) की पेचीदगी में नहीं रही, वरन् मानवी प्रकृति की मनोवैज्ञानिक और सामाजिक समस्याओं के उद्घाटन में है।

हर्ष का विषय है कि रंगमंच की ओर हिन्दी की साहित्यिक-संस्थाओं एवं प्रमुख साहित्यकारों का ध्यान आकर्षित हुआ है। अभी हाल में ही प्रयाग में प्रसिद्ध अभिनेता श्री पृथ्वीराज कपूर अपनी मंडली के साथ पधारे थे एवं 'पैसा', 'दीवार', 'आहुति' आदि नाटक प्रस्तुत किये थे जिनको यहाँ की जनता ने बहुत पसन्द किया था। इससे इस बात का संकेत मिलता है कि जनता के हृदय में नाटकों के प्रति अनुराग की भावना अब भी है और जो कुशल निर्देशकों एवं कला-पारखियों के सतत सहयोग से पुनः जाग्रत हो सकती है। श्री कपूर जी ने इलाहाबाद में एक रंगमंच स्थापित करने की अपील यहाँ के धनीमानी एवं साहित्यक व्यक्तियों से की थी एवं स्वयं भी

यथासाध्य सहायता देने का वचन दिया था। देखिये, वह पुनीत अवसर कब आता है ?

:४६:

भारत के आदिवासियों की समस्याएँ और सुधार

भारत के स्वतंत्र हो जाने के कारण किसी भी अन्य क्षेत्र में उतने बड़े परिवर्तन की संभावना नहीं जितनी तीन करोड़ आदिवासियों के जीवन में है। ये लोग समस्त देश के हरिजनों से संख्या में आधे हैं लेकिन इनकी स्थिति उनसे भी गयी-बीती है। ये लोग भारत के प्राचीनतम निवासी हैं एवं प्रायः उन्हीं क्षेत्रों में बसे हुए हैं जहाँ इन लोगों ने शताब्दियों पूर्व आक्रमण-कारियों से बचने के लिये शरण ली थी। इतिहास साक्षी है कि किस प्रकार पराक्रम से इन लोगों ने शत्रु का सामना किया, किस प्रकार अपनी स्वतंत्रता तथा स्वाभिमान को सुरक्षित रखने के लिये शत्रु के सामने माथा टेकने की अपेक्षा जंगलों और पहाड़ों में रहना स्वीकार किया। पर्वतों और जंगलों में रहने के कारण ये स्वतंत्रता-प्रिय हैं, साथ ही परम संतोषी भी हैं। ये किसी दूसरे का अधिपत्य स्वीकार करना नहीं जानते। दूसरे की मजदूरी करना इन्हें नहीं रुचता; भले ही भूखे रह जायँ। नौकरी और मजदूरी करके पेट पालना इनके स्वाभिमान और व्यक्तित्व के विपरीत है। ये दोनों गुण दैवी संपति के रूप में अब भी इनमें अवशिष्ट हैं, जो इन आदिवासियों की निर्धनता के कारण बने हुए हैं। खेती-बारी से जो कुछ थोड़ा-बहुत उत्पन्न हो गया, पहाड़ों और जंगलों से जो कुछ जड़ी-बूटिताँ प्राप्त हो गई, उन्हीं को पास के गाँवों में औने-पौने बेंचकर ये अपनी जीविका चलाते हैं। इनकी सच्चाई और ईमानदारी तथा दूसरों पर सहज ही में विश्वास कर लेने का सहज स्वभाव इनकी दीनता का कारण बना हुआ है। प्रकृतिस्थ होने के कारण ये स्वाभावतः सच्चे, ईमानदार और विश्वास-प्रिय होते हैं। अस्तु आधुनिक सभ्यता

और जटिल जीवन-संग्राम-पीड़ित ग्रामीण एवं नागरिक, दूसरों की आँखों में धूल झोंक कर रोजी करने वाले व्यवसायी इन भोले-भाले आदिवासियों को अपने वाग्जाल में फंसा कर इनके परिश्रम के पुरस्कार का अपहरण करते हैं।

सब से बड़ी विशेषता इन आदिवासियों की यह है कि अवांछित आगन्तुकों और सभ्यता के निरन्तर आक्रमणों के बावजूद इनके समाज की आर्थिक व्यवस्था बनी हुई है। इन्होंने नई सभ्यता की अनेक बातें आत्म-सात् कर ली हैं पर साथ ही अपने जीवन की जड़ें भी पूर्ण रूप से सुरक्षित रखी हैं। यदि इन लोगों की समस्याओं का समुचित अध्ययन कर इनमें लगनपूर्वक सुधार किया जा सके तो ये भारत के आदर्श नागरिक और सच्चे सेवक बन सकते हैं।

इन आदिवासियों की ओर सर्व प्रथम गोलमेज-परिषद् के समय ध्यान आकर्षित हुआ। भारतीय आदिम जाति सेवक-संघ की स्थापना अक्टूबर सन् १९४४ में हुई। राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद आदिम जाति सेवक संघ के प्रधान चुने गये थे और उपप्रधान संघ के संस्थापक स्वर्गीय ठक्कर बप्पा। संघ की स्थापना के पूर्व ही ठक्कर बप्पा ने अपने अध्यवसाय से जन जातियों के कल्याण के लिये कार्य करने वाली अनेक संस्थाओं की स्थापना की थी। जब आदिवासियों की ओर नृतत्व शास्त्रियों और सुधारवादियों का ध्यान गया, उन लोगों ने सूक्ष्म अध्ययन के द्वारा यह ज्ञात करने की चेष्टा की कि कौन-सी जाति या उपजाति का रक्त कैसा है, रूप-रंग, आकार, शरीर-रचना और मुखाकृति में कहाँ तक समानता या विभिन्नता है? किस जाति का खान-पान, रहन-सहन, रीति-रिवाज, धार्मिक विचार और संस्कार कैसे हैं? इन सब का अध्ययन करने के पश्चात् विद्वान अन्वेषक इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि इन जातियों के खान-पान, रहन-सहन तथा रीति-रिवाजों में किसी प्रकार का परिवर्तन अपेक्षित नहीं है। वे सभ्यता तथा विकास की अनेकानेक अवस्थाओं, तथा मानव स्तरों की सूचक इन जातियों को नृतत्व विज्ञान की सामग्री के रूप में वर्तमान स्वरूप में ही रखने के पक्षपाती हैं।

इस विचारधारा से इनकी कितनी हानि हुई है इस पर खेद प्रकट करते हुए प्रसिद्ध समाज सेवी श्री वियोगी हरि जी ने कहा है कि—

"मानवशास्त्र-संशोधक प्रायः चाहते हैं कि आदिम जातियाँ बहुत कुछ अपने उसी प्रागैतिहासिककालीन न भी सही तो कम से कम इतिहास के आदि काल से चिपटी रहें। कहीं-कहीं उनके फोटो लेकर ही काम समाप्त समझ लिया जाता है। यदि कुछ भी हो क्षणिक अथवा सांस्कृतिक कार्य उनके बीच में किया जाय तो वह प्रायः वांछनीय नहीं माना जाता। कभी-कभी तो केवल मनोरंजन की दृष्टि से उनके अत्यन्त प्राचीन रीति-रिवाजों का वर्णन किया जाता है। ऐसे लेखक या साहित्यिक मानो चाहते हैं कि उनकी शोध-सामग्री के लिए आदिम जातियों का आदिम अवस्था में रहना आवश्यक है।"

इन आदिवासियों की समस्याओं को मोटे तौर से ६ भागों में विभाजित किया जा सकता है।

(१) बाहरी संसार से किसी प्रकार का संपर्क न रखना।

(२) सामाजिक और धार्मिक जीवन में अन्ध रूढ़ियों के कारण विकास हीनता।

(३) सन्तोषी जीवन व्यतीत करने के कारण घोर दरिद्रता।

(४) जंगलों और पहाड़ों में बसने के कारण शिक्षा का पूर्ण अभाव।

(५) अस्वस्थता।

(६) राजनीतिक दुरवस्था।

भारतीय आदिम जाति सेवक संघ के साथ इस क्षेत्र में काम करने वाली सभी संस्थाओं को सम्बद्ध कर दिया गया है। इस समय इस प्रकार की सम्बद्ध संस्थाओं की संख्या तीस है। इन संस्थाओं के मुख्य कार्य हैं—(१) शिक्षा एवं चिकित्सा के लिए स्कूल और चिकित्सालय खोलना, (२) कुएँ बनवाना (३) गाँवों को मिलाने वाली सड़कें बनाने का प्रबन्ध करना। आदिवासियों की प्राचीन और परम्परागत संस्कृति में संघ किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करता बल्कि यथासंभव उनके लोक-नृत्य, लोकगीत एवं

लोक-कलाओं को प्रोत्साहन दिया जाता है। सामाजिक और धार्मिक रीति-रिवाजों से छेड़-छाड़ न कर के मद्यपान को बड़ी सतर्कता एवं जागरूकता से समाप्त करने का प्रयास किया जा रहा है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि आदिवासी जंगलों और पहाड़ों से जड़ी-बूटियाँ एकत्र करते हैं, जमीन से कंदमूल निकालते हैं, बिना हल चलाये पत्तों की राख की खाद में ही जो कुछ पैदा हो जाता है उसी पर अपना पेट पालते हैं। इन लोगों में चलती-फिरती खेती का बहुत प्रचलन है। प्रकृति पर बहुत भरोसा रखने के कारण ये प्रायः आधे पेट रह कर ही किसी प्रकार जी रहे हैं। कर्ज, भुखमरी, बेगार और बीमारी से पिसते हुए ये किसी प्रकार अपने जीवन के दिन पूरे कर रहे हैं।

इन आदिम जातियों को राजनीतिक स्थिति में किस प्रकार अवनत रखा गया, यह भी एक विचित्र कहानी है। सन् १९११ की जनगणना में यह षड्यंत्रकारी प्रयत्न प्रारंभ हुआ। उस जनगणना में हिन्दुओं को तीन भागों में बांटा गया—(१) हिन्दू, (२) भूत प्रेतवादी आदिम जातियाँ (३) हरिजन। इस प्रकार एक ही वार से हिन्दुओं की शक्ति को क्षीण करने तथा आदिवासियों को अपने अधिकारों से वंचित करने का सफल प्रयास किया गया। इस दोहरी नीति से जहाँ आदिवासी और अछूत उपेक्षित रहे वहाँ हिन्दू और मुसलमानों के बीच गहरी खाई खुद गयी। सन् १९३८ की रिपोर्ट में एक आई० सी० एस० अफसर श्री डी० सिमिंग्टन ने जो बम्बई सरकार की ओर से इन जातियों की स्थिति और उसके सुधार के संबंध में जांच करने के लिये नियुक्त हुए थे, स्पष्ट कहा था 'जिस दशा में ये जंगली जातियाँ रहतीं और काम करती हैं और उन्हें जिस तरह सताया जाता है, वह शासन-व्यवस्था के लिए एक कलंक है।'

सुधार के सफल प्रयत्न—भिन्न-भिन्न प्रान्त की सरकारें अपने-अपने क्षेत्रों की आदिम जातियों की उन्नति के लिये गत कई वर्षों से बड़ी लगन के साथ काम कर रही हैं। हैदराबाद, बम्बई आदि राज्यों को इसमें विशेष सफलता मिली है। मध्यप्रदेश में सन् "१९४७ में राष्ट्रीय सरकार के

संगठित होने पर प्रांतीय सरकार के अनुरोध से श्री ठक्कर बप्पा ने आदिम जातियों के समग्र जीवन के पुनर्निर्माण के लिए विविध पहलुओं की सांगोपांग विवेचना कर एक पंचवर्षीय योजना का निर्माण किया जिसमें शिक्षा प्रसार, आर्थिक सुधार, रोग-निवारण, स्वास्थ्य-संवर्द्धन, जल-प्रबन्ध तथा यातायात की सुविधाएँ और नैतिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक उन्नति की सभी प्रवृत्तियाँ सम्मिलित हैं। इस योजना पर कार्य किया जा रहा है। इसी प्रकार उड़ीसा में सुधार के लिये ठक्कर कमेटी की रिपोर्ट १९४० में प्रकाशित हुई थी और ४ नवम्बर १९४६ में उस पर कुछ ध्यान दिया गया था। बिहार और मद्रास राज्यों में भी इसी प्रकार सरकार की ओर से कुछ कार्य किया जा रहा है। श्री ठक्कर बप्पा ने सन् १९२२ में दाहोद (गुजरात) में 'भील सेवा मंडल' की स्थापना की थी। यह संस्था भीलों की अच्छी सेवा कर रही है। मंडला (मध्यप्रदेश) स्थित 'वनवासी सेवा-मंडल' द्वारा वहाँ के गोंड़ लोगों में अच्छी जागृति की जा रही है। आसाम में 'आसाम वेन जाति हितकारी संस्था' द्वारा बहुत ही महत्त्वपूर्ण कार्य हो रहा है। उत्तर प्रदेश के मिर्जापुर जिले में तथा उड़ीसा के कोरापुट जिले में 'भारत सेवक समिति' द्वारा कार्य किया जा रहा है। मद्रास के विशाखापट्टम जिले में कोया आदि जातियों में "आंध्र श्रमिक धर्म राज्य सभा' द्वारा सेवा कार्य हो रहा है।"

आवश्यकता इस बात की है कि इन आदिवासियों की पूर्ण उन्नति के लिए एक सप्तवर्षीय योजना का निर्माण होना चाहिये। योजना के पहले वर्ष में जन-आंदोलन द्वारा आदिम जातियों को जागृति का संदेश देना चाहिये। दूसरे वर्ष में पचास-साठ समाज सेवक शिक्षक पद की शिक्षा के लिए शिक्षित किये जायँ तथा शेष सौ कार्यकर्त्ता अपने अपने क्षेत्रों में वापस जाकर आदिम जातियों में सुधार-कार्य करने का बीड़ा उठावें। तीसरे वर्ष महाविद्यालय में पचास आदिवासी शिक्षक भी रहेंगे और शिक्षण लेने के पश्चात् पचास शिक्षक का पद ग्रहण करेंगे। तब तक साढ़े चार सौ शिक्षा प्राप्त कार्यकर्त्ता विभिन्न क्षेत्रों में सरलता के साथ सुलभ हो जायँगे। इस काल में प्रारंभिक शिक्षा मातृभाषा में ही देने के लिए कुछ शिक्षक पाठ्य

पुस्तकें तैयार कर लेंगे जो विभिन्न क्षेत्रों की भाषाओं में होंगी। संथाली भाषा को नागरी लिपि में लिखने का प्रयत्न किया गया है। इस प्रकार के शक्तिशाली कदमों को उठाकर आदिवासियों को भारत के आदर्श एवं उन्नतिशील नागरिकों में ढाला जा सकता है।

: ५० :

तुलसीदास की काव्य-गरिमा

कवि-परिचय—पंद्रह सौ चौवन विषै, कालिंदी के तीर।
सावन शुक्ला सप्तमी, तुलसी धर्‌यो शरीर॥

किन्तु डा० माताप्रसाद गुप्त ने सं० १५८६ माना है जो तिथि गणना से पूर्ण उतरता है। तुलसीदास जी जिला बांदा के ग्राम-राजापुर निवासी सरयू पारीण ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम आत्माराम दुबे और माता का नाम हुलसी था। (गोद लिये हुलसी फिरै तुलसी सो सुत होय)। 'तनु तज्यो कुटिल कीट ज्यो तज्यो मातु-पिताहू' के अंतर्साक्ष्य के आधार पर अभुक्तमूल नक्षत्र में पैदा होने से माता-पिता ने इन्हें छोड़ दिया। बाल्यावस्था, घोर दरिद्रता और उपवास में बीती। 'मांगत पेट खलाए' आदि पदांश इनकी विपिन्नता के साक्षी हैं। शूकर-क्षेत्र में नरहरिदास गुरु से कथा सुनी और नाना पुराण निगमागम का गंभीर अध्ययन कर गृहस्थ जीवन में प्रवेश किया। इन्हें अपनी पत्नी रत्नावली से प्रगाढ़ प्रेम था। प्रेम की इसी पराकाष्ठा के कारण ससुराल जाकर अपमानित होना पड़ा और उनमें बैराग्य की भावना का उदय हुआ।

अस्थि चर्म मय देह मम, तासें ऐसी प्रीति।
होति जु तव भगवान में, होत न तौ भवभीत॥

यह अमर पंक्तियाँ आज हमारे लिए किसी वेद-वाक्य से कम महत्त्व

नहीं रखतीं। तुलसी को रामचरित मानस ऐसे दिव्य ग्रंथ के निर्माण की मूल प्रेरणा इन्हीं पंक्तियों से मिली। इन पंक्तियों के प्रभाव से यदि भौतिक प्रेम की अजस्र धारा सहसा पारलौकिक प्रेम की धारा में परिणत न होती तो आज तक हिन्दू जाति अपना अस्तित्व खो चुकी होती। तुलसी ने अनेक तीर्थस्थानों का पर्यटन किया, किन्तु चित्रकूट में इनकी वृत्ति विशेष रूप से रमी। संवत् सोरह सौ एकत्तीस में विश्व वरेण्य रामचरित मानस की रचना की। इकहत्तर वर्ष की पकी आयु में कवि ने रामायण लिखी और समस्त जीवन के सम्पूर्ण अनुभवों को अपनी प्रतिभा के सहारे मानस में उडेंल दिया। तत्पश्चात् भगवान् के दरबार में एक प्रार्थनापत्र (विनय पत्रिका) लिखी और अन्त में गंगा तट पर प्राण त्याग दिये।

संवत् सोलह सौ असी, असी, गंग के तीर।
सावन शुक्ला सप्तमी, तुलसी तज्यो शरीर॥

रचनाएँ—(१) रामायण, (२) विनय पत्रिका, (३) कवितावली, (४) गीतावली, (५) दोहावली, (६) बरवै रामायण, (७) पार्वती मंगल, (८) कुंडलियाँ रामायण, (९) हनुमान बाहुक, (१०) रामसतसई, (११) रामलला नहछू, आदि।

व्यक्तित्व—समय के साथ-साथ तुलसीदास जी के व्यापक व्यक्तित्व के रहस्य दिन प्रति दिन खुलते जा रहे हैं। जिसे हम श्री परशुराम जी चतुर्वेदी के विचारों में यों कह सकते हैं—"भारतीय इतिहास के मध्ययुग में जब कि धार्मिक क्षेत्र में भक्ति-साधना का अधिक प्रचार था हमने उन्हें भक्त के रूप में पाया और उस समय उनका स्वागत 'कलि कुटिल जीव निस्तार हित वालमीकि तुलसी भयो' के भाव से किया। रीतिकाल में 'कवित विवेक एक नहिं मोरे' कहने पर भी उनकी कविताई की भूरि-भूरि प्रशंसा की। वे भक्त के साथ-साथ कवि के रूप में भी प्रसिद्ध हो चले। पश्चिमी-प्रकाश में आत्म निरीक्षण के समय हमने उन्हें सुधारक के रूप में देखा और भारतीय संस्कृति के उन्नायकों में ऊँचा स्थान दिया।" नम्र इतने कि—

तुलसी जिनके मुखन ते धोकेहु, निकसत राम ।
तिनके पग की पानही, मेरे तन कौ चाम ॥

इस प्रकार उनका बहुमुखी व्यक्तित्व मानव, भक्त कवि तथा सुधारक तुलसीदास में दिन प्रति दिन प्रतिभा संपन्न होता जा रहा है। उन्हें हम हिन्दी का शेक्सपियर कह सकते हैं।

महत्त्व—तुलसी का आविर्भाव काल राजनीतिक दृष्टि से हिन्दुओं का 'पूर्ण पराजय काल' था। भारतीय सभ्यता के नष्टप्राय होने से हिन्दू जनता अंधकार-ग्रस्त थी। सूरदास के बाद-कृष्ण ने, निराश जनता का मनोरंजन लोक-रंजक स्वरूप दिखाकर तो किया किन्तु वह केवल अश्रु-प्रक्षालन मात्र ही था। मुरलीधर माखन चोर कृष्ण की अठखेलियों से वह गंभीर समस्या न सुलझ सकी। उसका हल तो धनुंधारी शत्रु दल-संहारक भगवान राम का लोकरक्षक रूप ही कर सकता था इसलिए तुलसीदास जी ने समय और परिस्थिति को देखते हुए—

जब जब होय धरम की हानी, बाढ़हिं असुर महा अभिमानी।
तब तब धरि प्रभु मनुज शरीरा, हरहिं सकल सज्जन भव पीरा॥

की सार्थकता सिद्ध करते हुए रामचरित मानस की रचना की। आचार्य शुक्ल के शब्दों में 'पहले भगवान का हँसता-खेलता रूप दिखाकर सूरदास ने हिन्दू-जाति की नैराश्य जनित खिन्नता हटाई जिससे जीवन में प्रफुल्लता आ गयी। पीछे तुलसीदास ने भगवान का लोक-व्यवहार-व्यापी मंगलमय रूप दिखाकर आशा और शक्ति का अपूर्व संचार किया। सूरदास तक आते-आते भगवान् की लोक-रंजन-कारिणी प्रफुल्लता की पूर्ण व्यंजना हो गयी थी। अन्त में उनकी अखिल जीवन वृति-व्यापिनी कला को अभिव्यक्त करनेवाली वाणी का मनोहर स्फुरण तुलसी के रूप में हुआ।' तुलसी ने अपने उपास्य देव राम में सौंदर्य और सदाचार के साथ-साथ लोक रक्षा की भावना का पूर्ण निर्वाह किया। तुलसीदास जी ने भगवान का वह रूप उपस्थित किया जिसमें निराकार होते हुए भी साकार होने का अपूर्व सामर्थ्य

था। वे सर्वशक्तिमान और भक्तों के रक्षक थे। 'यदा यदा हि धर्मस्य' का सूत्र ही वह समाधान था जिसमें निराश और अधीर जनता को दृढ़ता मिली। आततायियों द्वारा पीड़ित वे कल्पना करने लगे कि भगवान अपने विरद की लाज बचाने अवश्य आयेंगे।

तुलसीदास की भक्ति-पद्धति—

(१) तुलसीदास जी 'सियाराम मय सब जग जानी' के सिद्धान्त पर सबको वन्दनीय समझते हैं।

(२) संसार की मर्यादा और रक्षा का उन्हें इतना ध्यान था कि मथुरा वृन्दावन में भगवान के मनोहारी रूप पर क्षणिक भावुकता के फेर में न पड़कर 'तुलसी मस्तक तब नवै, धनुष बना लो हाथ' के शत्रु-संहारक रूप का दर्शन माँगा।

(३) विनय पत्रिका में मुख्य-मुख्य देवताओं की वन्दना करते हुए भी उनमें श्रीराम की अनपायिनी भक्ति माँगी। अनन्य प्रेमभाव में चातक उनका आदर्श था।

एक भरोसो एक बल, एक आस विश्वास।
एक राम घनश्याम हित, चातक तुलसीदास॥

मीराँबाई ने जब उनसे परामर्श लिया तब उन्होंने केवल एक राम का ही नाता निबाहने की सीख दी थी—

जाके प्रिय न राम बैदेही,
तजिये ताहि कोटि बैरी सम, जद्यपि परम सनेही।

(४) तुलसीदास जी ने भरत के रूप में एक सच्चे भक्त के व्यक्तित्व पर प्रकाश डाला है जिसमें अनन्यता और आत्म-त्याग की चरम परिणति है।

अर्थ न धर्म न काम रुचि, गति न चहौं निर्वान।
जन्म-जन्म प्रभु राम पद, यह बरदान न आन॥

तब उनका भक्त अपनी भक्ति के सहारे रामायण के आदर्श-चरित्रों का नायक बन जाता है और तुलसी को बरबस लिखना पड़ता है कि 'बन्दहुँ प्रथम भरत के चरना।'

(५) तुलसी की भक्ति दास्य-भाव की है जो सदाचार-संपन्न, मर्यादा मंडित और इष्टदेव के अनुकूल है।

(६) तुलसी की भक्ति सारग्राहिणी और समन्वयवादिनी है। उनके अविर्भाव-काल में हिन्दू-धर्म अनेक भ्रांतियों से ग्रस्त था। शैव, वैष्णव और शाक्तों में पारस्परिक वैमनस्व था और यहाँ तक कि वे एक दूसरे के उपास्य देवों को भी भला-बुरा कहने में नहीं चूकते थे; तुलसीदास ने अपनी मौलिक सूझ से राम और शिव को एक बताया। शिव जी रात-दिन भगवान राम का नाम जपा करते हैं और रामेश्वर में जाकर शिव की पार्थिव पूजा करते हैं और कहते हैं कि—

शिव द्रोही मम दास कहावैं।
सो नर सपनेहु मोहिं न भावैं॥

इसी प्रकार शैव-शाक्त और वैष्णवों का सामञ्जय

'श्रुति सेतु पालक राम तुम, जगदीश माया जानकी।
जो सृजति पालति हरति है, रुख पाइ कृपानिधान की॥'

के माध्यम से किया है। वैष्णव होकर भी कृष्णगीतावली की रचना कर तुलसी ने उदारता का परिचय दिया।

(७) अद्वैतवाद, विशिष्टद्वैतवाद एवं पुष्टि मार्गीय सभी पद्धतियों का समन्वय उनकी भक्ति एवं रचना में है।

काव्य-सौष्ठव—

(१) 'स्वान्तः सुखाय' होते हुए भी उनकी रचना 'लोक हिताय' सिद्ध हुई और आज भी हिन्दू जाति की एक मात्र रक्षक होने का श्रेय उसी को है।

(२) उनकी रचनाओं में रागात्मक तत्त्व, बुद्धितत्त्व, कल्पना-तत्त्व, सभी का उत्कृष्ट रूप हमें देखने को मिलता है। रागात्मक तत्त्व के अन्तर्गत राम-वन गमन का सम्पूर्ण प्रकरण लिया जा सकता है जिसको पढ़कर कठोर हृदय भी द्रवित हो जाता है। कवितावली के इस आर्द्र पद में रागात्मक तत्व की छटा देखिए—

पुर ते निकसीं रघुबीर बधू, धरि धीर दए मग में डग द्वै।
झलकी भरि-भालकनी जल की, पुट सूखि गए अधराधर वै।
फिरि बूझति हैं चलनो अब केतिक पर्ण कुटी करिहौ कित ह्वै।
तिय की लखि आतुरता, पिय की अँखियाँ चित्त चारु चलीं जल च्वै।
पलंग पीठि तजि गोद हिंडोरा, सिय न दीन्ह पग अवनि कठोरा।

ऐसी दयनीय दशा देखकर कौन पत्थर हृदय द्रवित न हो उठेगा।

बुद्धितत्त्व के अन्तर्गत हमें रामायण में ही सैकड़ों उदाहरण मिलते हैं, जिनमें बहुतों ने अपने अनुभावों की अथाह गहराइयाँ नापी हैं, जो हमारे जीवन में एक सच्चे पथ-प्रदर्शक का काम देती हैं, उदाहरण स्वरूप—

१. धीरज धर्म मित्र अरु नारी, आपति काल परखिये चारी।
२. बरु भल बास नरक कर ताता, दुष्ट संग जनि देहि विधाता।
३. रघुकुल रीति सदा चलि आई, प्राण जायँ वरु बचन न जाई।
४. नहिं असत्य सम पातक पुञ्जा, गिरि सम होहिं कि कोटिक गुंजा।
५. अनुज वधू भगिनी सुत नारी, सुत सठ ये कन्या सम चारी।
इनहिं कुदृष्टि विलोकै जोई, ताहि बधे कछु पाप न होई॥
६. जिनके लहहिं न रिपुरन पीठी, नहिं लावहिं परतिय मन दीठी।
मंगल लहहिं न जिनके नाहीं, ते नर वर थोरे जग माहीं॥

कल्पना-तत्व—के माध्यम से तुलसीदास जी ने अपने पात्रों की अन्तः प्रकृति का सुन्दर परिचय दिया है। वन-पथ में ग्रामीण स्त्रियों का सीता से स्त्रियोचित भावुकता-पूर्ण प्रश्न पूछना कितना मर्मस्पर्शी एवं सजीवता-संपन्न है। पुष्प-वाटिका के मनोहर प्रकरण की कल्पना कवि की अपनी मौलिक

उद्भावना है। निम्नलिखित पंक्तियों में कवि की कल्पना-तत्वजन्य मनोहारिता देखिए—

चारु चरन नख लेखति धरनी, नूपुर मुखर मधुर कविबरनी।
मनहुँ प्रेम बस बिनती करहीं, हमहिं सीय पद जनि परिहरहीं॥

सात्विक शृंगार वर्णन देखिए जिसके आगे वासना की एक हल्की परत भी नहीं उभरने पाती—

सोह नवल तन सुन्दर सारी, जगत जननि अतुलित छवि भारी।

'विंध्य के बासी उदासी सबै' के द्वारा कवि ने तत्कालीन दुर्बल-चरित्र साधु-समाज का अच्छा उपहास किया है। विष्णु के मुख से शंकर पर कितने मर्यादित ढंग से व्यंग्य किये गये हैं—

बर अनुहार बरात न भाई, हँसी करैहहु पर पुर जाई।

कलापक्ष (भाषा) मुख्यतः अवधी है। हिंदी काव्य की शक्ति संपन्नता तथा अवधी भाषा के परिष्कृत साहित्यिक रूप का चरम विकास इनकी काव्य-पूर्ण भाषा में है। पर इनका अवधी के समान व्रजभाषा पर भी पूर्ण अधिकार है। मुहावरों का सुन्दर प्रयोग भी दर्शनीय है—

(१) माथे पाँसे परिगे, (२) हँसबि ठठाइ फुलाउब गालू, (३) प्रसाद राम के पसारि पायँ सूति हौं, लोकोक्तियों का प्रयोग भाषा में एक अनूठापन ला देता है 'मन मोदकनि कि भूख बताई।' संस्कृत की तत्सम पदावली का भी बाहुल्य है। भाषा अत्यन्त सरल, बोधगम्य और प्रसाद गुण से पूर्ण है।

छन्द—तुलसी ने सभी प्रकार के प्रचलित छन्दों में सफल रचना की। रामायण (दोहा चौपाई में) कवितावली (कवित्त सवैया तथा वीर गाथा कालीन छप्पय पद्धति में) विनय पत्रिका (सूरदास के पदों की शैली में) लिखी।

अलंकार—केशव की तरह अलंकारों का प्रयोग चमत्कार दर्शन के लिये न होकर स्वाभाविकता का साथी बना है।

उत्प्रेक्षा—

लता भवन ते प्रकट भे तेहि अवसर दोउ भाइ।
निकसे जनु-जुग विमल बिधु, जलद पटल बिलगाइ॥

प्रतीप—मुख अनुहरिया केवल चंद समान।

उल्लेख—अलंकार की निदर्शना धनुष भंग के अवसर पर कितनी मार्मिक बन पड़ी है।

जाकी रही भावना जैसी, प्रभु सूरति देखी तिन तैसी।
देखहिं भूप महा रनधीरा, मनहूँ वीर रस धरे शरीरा।
डरे कुटिल नृप प्रभुहि निहारी, मनहुँ भयावन मूरतिभारी।

ओज, प्रसाद और माधुर्य गुणों का पुष्कल प्रभाव इनकी सभी रचनाओं में अभिन्न रूप से पड़ा है। ध्वनि-बलिष्ठता का निखार तो इतना अधिक हुआ है कि शब्दों में एक ऐसी सजीवता आ जाती है, एक ऐसी ध्वनि उत्पन्न हो जाती है कि उसकी ध्वनि से तत्कालीन वातावरण झंकृत हो उठता है।

कन कन किंकिनि नुपुर धुनि सुनि, कहत लखन सन राम हृदय गुनि।

नाटकीय संलाप की कुशलता के परिचायक दो एक उदाहरण देखिये—

पुनि आउब यहि बिरिया काली, अस कहिं पुनि बिहँसी यक आली।

चित्र प्रस्तुत करने की अपूर्व क्षमता—

तुलसीदास जी शब्दों के माध्यम से ऐसी झाँकी प्रस्तुत करते हैं कि सामने एक चित्र सा खिंच जाता है और उसमें एक ऐसी सजीवता आ जाती है मानो वह बोल उठेगा—

नाथ भूधराकार शरीरा, कुम्भकरण आवत रन धीरा।

× × ×

बहुरि बदन विधु आंचल ढाकी, प्रभु तन चितै भौंह करि बाँकी।
मंजुल बदन तिरीछै नैननि, निज पिय तिन्हहिं कह्यौ सिय सैननि॥

'तुलसी की वाणी मनुष्य जीवन की प्रत्येक दशा का सम्यक् उद्घाटन करती है क्योंकि उसने राम चरित का आश्रय लिया है। रामचरित, जीवन की सब दशाओं का समष्टि रूप है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में "जीवन" की इतनी दशाओं का पूर्ण मार्मिकता के साथ जो चित्रण कर सके वही सबसे बड़ा भावुक कवि है।

डा० श्याम सुन्दरदास के शब्दों में गोस्वामीजी हिन्दू जाति, हिन्दू-धर्म और संस्कृति को अक्षुण्ण रखने वाले हमारे प्रतिनिधि कवि हैं। उनकी यश-प्रशस्ति अमिट अक्षरों में प्रत्येक हिंदी भाषा-भाषी के हृदय तल पर अनंत काल तक अंकित रहेगी। इसमें कुछ भी संदेह नहीं।

कविता करके तुलसी न लसे।
कविता लसी पा तुलसी की कला।
(हरिऔध)

: ५१ :

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

कवि-परिचय—निराला जी का जन्म संवत् १९५३ में बंगाल के मेदिनीपुर—के अन्तर्गत महिषादल राज्य में हुआ। आपके पिता पं० राम सहाय त्रिपाठी कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे और उन्नाव जिले के गढ़कोला गाँव के निवासी थे किन्तु जीविकोपार्जन के हेतु बंगाल चले गए थे। वहाँ पर निराला जी का जन्म हुआ। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा बंगाल में ही हुई। इन्होंने बंगाल से ही मैट्रिक परीक्षा उत्तीर्ण की। कविता से आपका अनुराग बचपन से ही था। आपकी प्रारंभिक कविताएँ बंगला में ही हुआ करती थीं। हिन्दी की प्रेरणा आपको अपनी धर्मपत्नी से मिली जो प्रतिदिन रामायण का पाठ बड़े सुमधुर कंठ से किया करती थीं। रामायण पढ़ने की उत्कट अभिलाषा से आपने बंगला छोड़ कर हिन्दी भाषा की ओर ध्यान दिया। प्रतिभाशाली होने के नाते शीघ्र ही हिन्दी और संस्कृत के अधिकारी विद्वान

हो गए। भारतीय दर्शन से निराला जी विशेष प्रभावित थे। इसी से इनकी कविताओं में वेदान्त का निखरा हुआ रूप सर्वत्र मिलता है। काव्य में ये अद्वैतवादी रूप में हमारे सामने आते हैं। कवि होने के साथ-साथ आप एक कुशल गायक एवं संगीतज्ञ भी हैं। आपकी कविताओं में शास्त्रीय संगीत का उत्कृष्ट रूप देखने को मिलता है। आपके साहित्यिक जीवन की साधना 'समन्वय' नामक पत्र के सम्पादक काल से प्रारम्भ हुई, एवं 'मतवाला' तक पहुँचते-पहुँचते आप पूर्ण रूप से प्रकाश में आ गए। निराला जी सबप्रकार के बन्धनों से परे एक स्वच्छन्द प्रकृति के कलाकार हैं। निस्संदेह युग-प्रवर्तक के अमर विशेषण से आपको अलंकृत किया जा सकता है। आपकी कविताओं में बुद्धि तथा हृदय का सन्तुलित रूप यथेष्ट मात्रा में है। सर्वतो-मुखी प्रतिभासम्पन्न होने के नाते आपने उपन्यास, कहानी, रेखाचित्र, आलोचनात्मक निबन्ध, तथा अनूदित ग्रंथों आदि में अपनी ज्वलंत कारयित्री शक्ति का परिचय दिया है।

रचनाएँ—काव्य—(१) अनामिका, (२) परिमल, (३) गीतिका, (४) अपरा, (५) तुलसीदास, (६) वेला, (७) कुकुरमुत्ता, (८) नए पत्ते।

उपन्यास—(१) अप्सरा, (२) अलका, (३) निरूपमा।

स्केच—बिल्लेसुर बकरिहा, चतुरी चमार आदि।

व्यक्तित्व—(१) वैदिकयुगीन देवमूर्ति सा प्रशस्त ललाट। कोई भी इन्हें देखकर इनके व्यक्तित्व से आकर्षित हो जाये।

(२) स्वतन्त्रता, साहस, निर्भीकता की मूर्ति।

(३) वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसमादपि।

(४) दानशीलता की कोई सीमा नहीं; एक बार हाल ही में बनवाया गया कीमती ऊनी कोट पहनकर शीत ऋतु में प्रातः घूमने गए और एक व्यक्ति को जाड़े से सीत्कार करते हुए देखकर अपना कोट और कपड़े देकर एक लंगोट लगाए घर वापस आए, स्वयं पुराने कोट पर सारा जाड़ा काटा।

(५) हाथ खाली होने पर भी केन्द्रीय सरकार द्वारा प्रदत्त दो हजार

का पुरस्कार अपने मित्र स्वर्गीय नवजादिक लाल की विधवा पत्नी को दे दिया।

(६) व्यक्तित्व की साक्षी ये पंक्तियाँ हैं—

"तुम हो महान् तुम सदा हो महान्
है नश्वर यह दीन भाव,
कायरता कामपरता ब्रह्म हो तुम
पदरज भर भी है नहीं पूरा विश्वभार"

काव्य-सौष्ठव—प्रसाद जी की भाँति निराला जी भी रहस्यवादी कवि हैं परन्तु उनकी रहस्यात्मक अनुभूति का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है क्योंकि उन्होंने विराट सत्ता एवंम् शाश्वत ज्योति द्वारा रहस्यात्मक अनुभूतियाँ प्राप्त की हैं। अद्वैतवादी होने के कारण वे 'ब्रह्मसत्यंजगन्मिथ्या' के सिद्धान्त को मानते हैं किन्तु अद्वैतवाद की शुष्क भूमि में अपनी भक्ति-पूर्ण सरसता को खो नहीं देते। स्वयं उन्हीं के शब्दों में—

मुक्ति नहीं चाहता मैं भक्ति रहे काफी
सुधाधर की कला में, अंशु यदि बनकर रहूँ
तो अधिक आनन्द है।

निराला जी की कविता में करुण वीर रौद्र का सजीव चित्र विद्यमान है, उनकी कल्पना इतनी मर्मस्पर्शिनी होती है कि पढ़ते ही एक अज्ञात व्यथा से समस्त शरीर क्षुब्ध हो जाता है, मनमें बिजली सी कौंध जाती है। किसी भी रस का चित्रण करने में वे समान रूप से सफल रहे हैं। भाषा और भावों पर कवि का कुछ ऐसा अधिकार है कि उसमें एक प्रकार की संगीतात्मकता उत्पन्न हो जाती है, जिससे उसका प्रभाव और भी वेगशाली एवंम् अमिट हो जाता है। निराला जी का मूल्यांकन वस्तुतः जो होना चाहिए वह अभी नहीं हुआ क्योंकि वे अपने युग से बहुत आगे रहे हैं। उनकी प्रतिभा, उनकी वाणी, उनका व्यक्तित्व इतना प्रगतिशील रहा है कि वर्तमान से उसकी कभी नहीं निभी। उससे वे यावज्जीवन जूझते ही रहे।

महाप्राण का मूल्यांकन, आगे आने वाली पीढ़ियाँ करेंगी और तब उनकी वाणी के भी नए-नए अर्थ खुलेंगे। सन् १६२० की लिखी हुई कविता के जिन भावों की दुहाई अब भी दी जाती है दर्शनीय है। यह उस समय की कविता है जब कि कवि गगनबिहारी बन कर क्षितिज के किसी कोने में अज्ञात प्रेयसी से अभिसार करने में रत थे। उस समय यही कवि धरती की कठोर चट्टानों पर अपने गीत लिखता था—

वह तोड़ती पत्थर,
देखा उसे मैंने इलाहाबाद के पथ पर।
पड़ रही थी धूप, गर्मियों के दिन
दिवा का तमतमाता रूप
उठी झुलसाती हुई लू, रूई ज्यों जलती हुई भू
गर्द चिनकी छा गई, प्रायः हुई दुपहर!

इसके बाद की पंक्तियाँ तो अंतःकरण को बेधती हुई बरबस झकझोर देती हैं—

देखते देखा, मुझे तो एक बार
उस भवन की ओर देखा छिन्न तार
देख कर कोई नहीं, देखा मुझे उस दृष्टि से
जो मार खा रोई नहीं।

उनकी अपौरुषेय प्रतिभा से प्रभावित होकर महादेवी जी ने लिखा है कि "कवि श्री निराला उस छाया युग के कृती हैं जिसने जीवन में उभड़ते हुए विद्रोह को संगीत का स्वर और भाव का मुक्त सूक्ष्म आकाश दिया। वे ऐसे युग का भी प्रतिनिधित्व कर रहे हैं जो उस विद्रोह का परिचय कठोर धरती पर विषम कला में ही चलता है। उनकी आत्मा नई दिशा खोजने के लिए सदा से विकल रही है, एक ओर उनका दर्शन उन रहस्यमय सूक्ष्म तत्वों का साथ नहीं छोड़ना चाहता जो युग-युगों का अर्जित अनुभूति-वैभव है और दूसरी ओर उनकी पार्थिवता धरती के उस गुरुत्व से बँधी हुई है जो आज की पहली आवश्यकता है। एक ओर उनकी सांस्कृतिक दृष्टि पुरातन

की प्रत्येक रेखा में उजले रंग भरती है और दूसरी ओर उनकी आधुनिकता व्यंग्य की ज्वाला में तपा-तपा कर सब रंग उड़ाती है। कोमल मधुर गीतों की वंशी से ओज के शंख तक उनकी स्वर-साधना का उतार-चढ़ाव है" महादेवी जी के इस कथन में निराला जी के साहित्य की पूरी समालोचना आ जाती है। अब निराला जी के 'कोमल मधुर गीतों की वन्शी में कुछ अमर स्वर सुनिए—

विजन वन वल्लरी पर, सोती थी सुहाग भरी,
स्नेह स्वप्न मग्न, अमल कोमल तनु तरुणी।
जुही की कली।...............
आई याद बिछुड़न से, मिलन की वह मधुर बात,
आई याद चाँदनी की, धुली हुई आधी रात।
आई याद, कान्ता की, कम्पित कमनीय गात,

× × ×

निर्दय उस नायक ने, निपट निठुराई की
कि झोंकों की झड़ियों से, सुन्दर सुकुमार देह सारी
झकझोर डाली मसल दिए गोरे कपोल गोल,
चौंक पड़ी युवती.............

एक विधवा पर बहाए गए तरल अश्रुओं की बौछार देखिए।

वह इष्ट देव के मन्दिर की पूजा सी,
वह दीप-शिखा सी शान्त भाव में लीन,
वह क्रूरकाल तांडव की स्मृति-रेखा सी,
वह टूटे तरु की छुटी लता सी दीन,
दलित भारत की ही विधवा है।

दूसरी ओर आकाश-पाताल को दहला देने वाला महाप्राण के पांच-जन्य का अमर घोष सुनिए—

जागो फिर एक बार,
सत श्री अकाल भाल अनल धक धक कर जला।

भस्म हो गया था काल, तीनों गुण ताप त्रय।
अभय हो गए थे तुम, मृत्युंजय व्योम केश के समान।
अमृत सन्तान ! तीव्र भेद कर सप्तावरण मरण लोक।
शोकहारी पहुँचे थे वहाँ, जहाँ आसन है सहस्रार।
जागो फिर एक बार॥

निराला जी की भावनाओं में ज्वालामुखी सा विनाशक फूत्कार एवम् मार्तंड की जाज्वल्यमान किरणों की सी दहकती आभा है। उनकी वाणी में यदि अथाह जलनिधि की सी गम्भीरता है तो नीलाकाश की तरह व्यापकता एवम् फौलादी धरती की सी सहनशीलता भी है।

भाषा-शैली—निराला जी की भाषा शुद्ध खड़ी बोली है। संस्कृत के तत्सम शब्दों एवम् सामासिक पदों का बाहुल्य है जिससे कहीं-कहीं दुर्बोधता भी आ गयी है और भावों में विशृंखलता सी आभासित होने लगती है। पदावली कोमल कान्त, मधुर एवम् संगीत से मढ़ी हुई है।

भारति जय, विजय करे, कनक शस्य कमल धरे
लंका पदतल शतदल, गर्जितोर्मि सागर-जल॥
धोता शुचि चरण युगल, स्तव कर बहु अर्थ भरे।

भावों के साथ ही भाषा का उतार-चढ़ाव देखने योग्य है। स्वच्छन्द छन्द की लयात्मक छटा देखिए—

वह आता
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता
पेट पीठ दोनों मिलकर हैं एक
चल रहा लकुटिया टेक।

निराला जी ने उर्दू, अरबी, फारसी के शब्दों को भावानुकूल ग्रहण करने में कभी भी संकोच नहीं किया इसी से उनकी भाषा में एक प्रकार का अनूठापन और निरालापन आ गया है। सर्व-साधारण में प्रचलित उर्दू के मुहावरों का प्रयोग भी यत्र तत्र हुआ है।

बिछे हुए थे काँटे उन गलियों में,
जिनमें मैं चलकर आई।

पैरों में छिद जाते जब, आह भर मैं तुम्हे याद करती तब।
राह प्रीति की अपनी वही कंटकाकीर्ण, अब मैंने तैकर पाई।

निराला जी ने परम्परागत छन्द बद्ध शृंखला को तोड़-फोड़ कर स्वछन्द छन्द का प्रवर्तन किया जो ध्वनि और लय के आधार पर चलता है। इस क्षेत्र में भी निराला जी ने अपनी निराली मौलिक प्रतिभा दिखलाई। उनकी स्वछन्द छन्द योजना हिन्दी साहित्य को एक श्लाघनीय देन है।

: ५२ :

भक्तिकाल और रीतिकाल : तुलनात्मक विवेचन

वैसे तो भक्ति का अजस्र-स्रोत बहुत दिनों से प्रवाहित होता चला आ रहा था, परन्तु बल उसे तब मिला जब भारतीय साहित्यकार ने यह देखा कि निरीह जनता और उसके आश्रयदाता पर विदेशियों का आक्रमण हो रहा है तब वह अपने आश्रयदाता की विरुदावली गाना लज्जा का विषय समझने लगा। आश्रयदाता और आश्रित दोनों दो अलग-अलग वस्तु हो गये। निराशा ही ईश्वर की शरण में जाने का मुख्य कारण बनी।

सम्पूर्ण भक्ति साहित्य को देखने पर एक बात स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ती है। वह है हृदयोद्‌गारों की सचाई। भाषा की प्रांजलता, विचारों की बनावट और सजावट की ओर भक्तिकालीन कवियों का बिल्कुल ध्यान नहीं गया। कबीर की भाषा का नाम सधुक्कड़ी है ही और जायसी ने भी जन-प्रचलित ग्रामीण शब्दों का अपनी रचना में व्यवहार किया है। शैली के प्रबन्धत्व का बन्धन उन्हें अमान्य-सा था।

सूर जैसे सूर्य और तुलसी जैसे शशि का जन्म भी इसी काल में हुआ। सूर की रचना के आधार पर वात्सल्य रस नव रसों के अतिरिक्त एक और रस माना गया। तुलसी की साहित्यक पुष्टता का परिचय 'हरिऔध' की निम्नलिखित पंक्तियों से हो जायेगा।

कविता करके तुलसी न लसे
कविता लसी पा तुलसी की कला

इन्हीं विशेषताओं के आधार पर भक्ति काल हिंदी साहित्य में स्वर्ण युग कहलाने का अधिकारी है।

भक्तिकालीन कवि युग द्रष्टा कवि थे। जो साहित्य युगजनीन एवं स्थायी होता है उसका महत्व प्रत्येक युग में एक-सा होता है। वह जन-मन-अनुरंजन का कार्य करता है, सब का कल्याण करता है। रामायण में विदेशी आक्रमणों से निराश हिन्दुओं के लिए शील-शक्ति-सौंदर्य युक्त राम—बहुत बड़े अवलम्बन हैं। इसी प्रकार तुलसी, सूर, कबीर आदि कवि जन-मन के पूर्ण पारखी थे। कबीर में बहुत कुछ फक्कड़पन और दोष होते हुए भी वे जनता के प्रिय कवि हैं। भक्ति कालीन साहित्य विशेषतः स्वानुभूत विचारों का प्रतिफलन है।

एक ओर तो भक्तों की वाणी गूंजती रही, दूसरी ओर सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक क्षेत्र में परिवर्तन होते रहे। मुसलमानों का एकाधिपत्य हो गया। अँग्रेजों का प्रवेश हुआ। औरंगजेब और शिवाजी से टक्कर हुई। अब तक मुगलों का दरबार ऐश्वर्य प्रधान हो गया था तथा ताजमहल जैसी ऐश्वर्यशाली इमारतों का निर्माण हो चुका था। कई राजपूत और हिन्दू कवि मुसलमान राजाओं के आश्रय में जा चुके थे।

राजा के ऐश्वर्य प्रधान होने के कारण प्रजा में भी उसका प्रभाव पड़ना आवश्यक था। साहित्यकार शृंगार की ओर मुड़ा, कविता पुनः राजाश्रित हो चली। आश्रयदाता की शृंगारिक तथा विलासी प्रवृत्तियों का उद्वेलन ही कवि और काव्य का मुख्य उद्देश्य हो गया। राष्ट्रीय कवि भूषण ने भी कवि परिपाटी की रक्षा 'मनिमय महल सिवराज के इमि रायगढ़ में राज ही' वर्णन करके की।

रीतिकालीन कवि का मुख्य उद्देश्य पांडित्य-प्रदर्शन, रीति-लीक का अनुसरण एवं आचार्यत्व की प्राप्ति करना था, जब कि भक्ति काल के बड़े-बड़े कवि और पंडित अपनी नम्रता में ही सर्वस्व देखते थे।

कवि न होउं नहिं चतुर प्रवीना
सकल कला बुध विद्या हीना

रीतिकालीन कवियों की भाँति भक्तिकालीन कवि व्यर्थ की डींग नहीं हांकते, शृंगारिक उदाहरण मात्र देना अपने कर्तव्य की इतिश्री नहीं समझते। दूसरी बात ध्यान देने की यह है कि रीति-कवियों में मौलिकता प्रायः नहीं है। संस्कृत के रीति ग्रन्थों (जिसका अनुवाद कुछ पहले प्राकृत में भी हो चुका था) के आधार पर इन कवियों ने अपनी रचना प्रस्तुत की है। जहाँ इन्होंने अपनी मौलिकला प्रदर्शित करना चाहा है वहाँ पर इनकी अज्ञानता का अच्छा प्रदर्शन हुआ है। रीति-कवियों की सम्पूर्ण कविता छन्दों, अलंकारों आदि का आभूषण पहन कर आश्रयदाता की रुचि पर अप्सरा की भाँति नृत्य करती थी। रीति-परंपरा से उस समय का कोई भी कवि बच नहीं सका। भूषण जैसे राष्ट्रीय कवि भी 'शिवराज भूषण' जैसे लक्षण ग्रंथ लिखने से न बच सके। केशव 'श्री' जैसे एक वर्ण के छन्द से लेकर अनेक मात्राओं तथा वर्णों के दण्डक लिखने में अपने को सफल प्रयत्न मानते थे, जब कि तुलसी और जायसी ने दोहा चौपाई जैसे छन्दों को अपने महाकाव्यों के लिए चुना। भक्तिकालीन कवि आत्मलीन अधिक था, जिससे कविता के भाव पक्ष पर अधिक बल पड़ा, जब कि रीति-कवि काव्य के कला पक्ष का ही पुजारी रहा।

भूषण बिनु न बिराजई,
कविता वनिता मित्त।

इस प्रकार एक आत्मलीन होने के कारण अंतरमुखी और दूसरा अनात्मलीन वाह्यांगों पर विशेष ध्यान देने के कारण वहिर्मुखी था। इन कवियों ने ब्रजभाषा का प्रयोग किया। केशव ने देशी भाषा को इस कारण अपनाया कि संस्कृत अनेक बन्धनों से बंधी है, उसे विकृत नहीं किया जा सकता, और वह राज दरबार में समादृत भी न होगी। तुलसी ने लोक भाषा का प्रयोग इसलिए किया कि साधारण जनता संस्कृत समझने में असमर्थ है

इसलिए 'बहूजन हिताय' साहित्य की भी भाषा होनी चाहिए (यद्यपि तुलसी के ऐसा करने पर विरोध हुआ)। भक्तिकालीन अनेक कवियों ने अनेक भाषाओं में कविता की किन्तु रीतिकालीन सभी कवियों ने व्रजभाषा को अपना कर उसका रूप इतना परिवर्तित कर दिया कि उसे एक ही भाषा मानने में संकोच होने लगता है—

चिरजीवौ जोरी जुरै, क्यों न सनेह गम्भीर
को घटि ये वृषभानुजा, वे हलधर के वीर।

बिहारी

इन्द्र जिमि जम्भ पर वाड़व सुअम्भ पर
रावण सदम्भ पर रघुकुल राज है।

भूषण

उपरोक्त दोनों कवियों की भाषा को क्या हम एक प्रकार की भाषा कह सकते हैं? यद्यपि रीति कवि ने भी भक्ति के दोहे लिखे, जैसे बिहारी और देव आदि ने, परन्तु फिर भी क्या किसी में भक्त कवियों की भाँति आत्म समर्पण की वह भावना पाई जाती है जो विनय पत्रिका आदि में अभिव्यक्त हुई है। सूर के कृष्ण, कान्ह शब्द लीला करने वाले परब्रह्म हैं और बिहारी, देव, पद्माकर आदि रीति-कवियों के लिए कृष्ण, कान्ह शब्द साधारण नायक का और 'राधा' साधारण नायिका का बोध कराने वाली है।

रीति-साहित्य अतिशयता, अलंकार-भार, छन्द-खिलवाड़ आदि से दबा हुआ है—

पत्रा ही तिथि पाइये वा घर के चहुँ पास।
राति द्यौस पूनो रहै आनन ओप उजास॥

काव्य की वह स्थायी सम्पत्ति या भाव उपरोक्त दोहे में नहीं है जो युगों-युगों तक वैसी ही बनी रहे। तुलसी, सूर के काव्य में वह सच्चाई है जो सर्वदा समान प्रभाव डालती है।। भक्ति कालीन कवियों का ध्यान 'जनता

की तरफ गया था जब कि रीति कवियों का काव्य अपने आश्रयदाताओं का मनोरंजन मात्र करता था।

भक्त कवि की किसी भी रचना को पढ़िये, उसमें हमें एक संदेश मिलेगा।

दिन को रोजा रहत हैं राति हनत हैं गाय
एक त खून एक बन्दगी कैसे खुशी खुदाय

* * *

जङ्गल जाय जोगी धुनिया रमौलें
काम जराय जोगी बनि गइले हिजरा

—कबीर

तत्कालीन समाज में बाह्याडम्बर, पाखंड, दुराचार, मिथ्याभिमान भरा था उसका निवारण भक्त कवियों द्वारा इस प्रकार हुआ।

इस प्रकार जहाँ भक्त कवियों में समन्वय भावना, राम-रहीम की एकता, गुरु के महत्व की व्यापकता, सामाजिक पाखंड का उन्मूलन, बहुजन हिताय और बहुजन सुखाय की परम मङ्गलमयी भावना तथा आध्यात्म के प्रति सच्चा प्रेम था वहीं पर रीतिकालीन कवियों में आश्रय-दाता का मनोरञ्जन, उनकी मरजी पर मरना-मिटना तथा ईश्वर, समाज, एवं सत् काव्य उद्देश्य के प्रति एक उपेक्षित भाव था।

: ५३ :

र्तमान युग के महाकाव्य

प्रबन्ध काव्यों में महाकाव्य का अपना पृथक स्थान । महाकाव्य में क्या होना चाहिए इसके लिए संस्कृत आचार्यों ने जो परिभाषा दी है उसके अनुसार उसमें कम से कम सात सर्ग, शांत वीर या शृंगार रस, प्रकृति वर्णन,

सम्पूर्ण जीवन का चित्रण, सन्ध्या, प्रातः, मंगलाचरण आखेट वर्णन तथा धीरोदात्त, धीर ललित, धीरोद्धट कोई एक प्रधान नायक होना चाहिये। नायक को सम्पूर्ण गुणों से—मृदुल हो, राजकुल से सम्बन्धित हो, कला-कुशल हो, विद्वान हो—आदि युक्त होना चाहिए। परन्तु आधुनिक मान्यताएँ इससे कुछ भिन्न सी हैं। परन्तु महाकाव्य के उपरोक्त लक्षण केवल ऊपर-ऊपर का नकशा तैयार करते हैं, उसका हृदय या आत्मपक्ष नहीं बनाते। उसमें यह भी देखना होता है कि यह मानव की आन्तरिक प्रवृत्तियों का उन्नयन करता है कि नहीं? जीवन की सर्वांगीणता का चित्रण करता है कि नहीं? उसमें असद् का चित्रण सद् के निखार के लिए, पाप का चित्रण पुण्य के उत्थान के लिए होता है।

आधुनिक प्रधान महाकाव्य निम्नलिखित हैं—

प्रिय प्रवास, साकेत, कामायनी, कुरुक्षेत्र, कृष्णायन, हल्दी घाटी एवं नूरजहाँ।

'कामायनी' प्रसाद जी की पौराणिक कृति है। इसका आधार जल प्लावन की घटना है। 'साकेत' भी राम लक्ष्मण के ऐतिहासिक कथानक को लेकर आगे बढ़ा है। 'कुरुक्षेत्र' में महाभारत के आध्यात्मिक युद्ध का वर्णन किया गया है। 'नूरजहाँ' में सलीम और मेहरुन्निसा के प्रेम कथा का चित्रण किया गया है जो कि मुगल कालीन समय का दृश्य उपस्थित करता है। 'हल्दी घाटी' में राजपूत काल की वीरता एवं त्याग का वर्णन है।

उपरोक्त महाकाव्यों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि आधुनिक महाकाव्यकार जीवन की किसी भी परिस्थिति को छोड़ना नहीं चाहते। साहित्य में जीवन की कठिनतम और मृदुलतम दोनों परिस्थितियों का चित्रण होना चाहिए—इसी के अनुसार उपरोक्त महाकाव्यों का निर्माण हुआ तथा चरित्र-चित्रण में हर वर्ग के पात्र लिये गये।

आधुनिक काल में साहित्य का मापदण्ड बदला है। हिन्दी साहित्य के आधुनिक महाकाव्यों ने अपने लक्षणों का ध्यान तो रखा है परन्तु उनका बोझ (बन्धन) स्वीकार नहीं किया है। महाकाव्यों के सभी नियमों का

पूर्ण पालन तो सम्भवतः संस्कृत या हिन्दी के पुराने महाकाव्यों में भी नहीं हुआ है। 'नैषध चरित', तथा 'शिशुपाल वध' बहुत छोटे हैं। 'राम चन्द्रिका' में छन्दों के साथ खिलवाड़ किया गया है। 'रामचरित मानस' में कुल सात काण्ड हैं। पाश्चात्य महाकाव्यों में जैसे 'इलियड', 'ओडेसी' तक में भी नियमों का पूर्ण पालन नहीं है। 'कामायनी' में १५, 'साकेत' में १२, 'प्रिय प्रवास' में १७, 'कुरुक्षेत्र' में ७ सर्ग हैं। इन महाकाव्यों में शृंगार, वीर तथा शान्त रस की प्रमुखता है, शेष रस उसके अंगीभूत या गौण हैं। 'हल्दी घाटी' में युद्ध और आखेट के सजीव वर्णन हैं। 'हल्दी घाटी' में ओज गुण की प्रधानता है। प्रभात वर्णन देखिए—

कमल डोलने लगे, कोष खोलने लगे
लाल गगन हो गया, मुर्ग मगन हो गया
रात की सभा उठी, मुस्करा प्रभा उठी

अधिकतर महाकाव्यों में नियमों के त्याग की प्रवृत्ति ही दिखलाई देती है। कामायनी में मंगलाचरण का अभाव है। पंच संधियों का निर्वहण किसी में नहीं मिलता। कामायनी में सर्ग विभाजन अत्यंत मनोवैज्ञानिक या मानवीय मनोवृत्तियों को लेकर हुआ है जैसे चिन्ता, श्रद्धा, लज्जा आदि। नामकरण नायक के आधार पर न हो कर नायिका के आधार पर हुआ है। 'प्रिय प्रवास' के सम्बन्ध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी का यह मत था कि 'उसकी कथा वस्तु प्रवन्ध काव्य के लिये भी अपर्याप्त है तो महाकाव्य के लिए कहना ही क्या ? इसमें जिस दृश्यावली का चित्रण किया भी गया है उसे देख कर यही कहा जा सकता है कि बहुत कुछ परंपरा-पूर्ति की गई है। जैसे प्रभात वर्णन—

तारे डूबे तम टल गया, लालिमा व्योम छाई।
पंछी बोले तमचुर जगे, ज्योति फैली दिशा में॥

महाकाव्यकारों ने देश काल के अनुसार चरित्रांकन किया है। 'हरिऔध' जी ने 'प्रिय प्रवास' में नायक कृष्ण को एक महापुरुष एवं ब्रह्म के रूप

में न अंकित कर के समाज सेवक और सुधारक के ही रूप में अंकित किया है। दावानल पान, गोवर्धन धारण, कंस वध आदि घटनाएँ कृष्ण को समाज-सेवक और लोक रंजनकारी प्रमाणित करती हैं। 'साकेत' में तो कवि "राम, तुम मानव हो, ईश्वर नहीं हो क्या ?" स्वयं राम भी कहते हैं—

सन्देश नहीं मैं यहाँ स्वर्ग का लाया।
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया।

इस प्रकार 'साकेत' के राम इस मृत्युलोक को ही वैकुंठ बनाना चाहते हैं। 'कामायनी' में श्रद्धा का रूप वर्णन अत्यंत मौलिक एवं मनोवैज्ञानिक है।

एक ओर तो आधुनिक महाकाव्य बहुत कुछ बन्धन अस्वीकार करते हैं और दूसरी तरफ उससे समानता भी रखते हैं। 'साकेत' में उर्मिला का विरह वर्णन जिसमें वियोग की दस दशाओं उन्माद, प्रलाप, गुण-श्रवण आदि का वर्णन हुआ है, परंपरागत है। इन काव्यों में कवियों ने कलि, भ्रमर आदि को संबोधित कर तथा नायिकाओं की व्यथा कहलवा कर अपनी सहानुभूति का पट कुछ विस्तृत कर दिया है।

प्रकृति वर्णन इच्छित वातावरण लाने के लिये उद्दीपनार्थ किया गया है। शुक्ल जी के मतानुसार 'बिंब-ग्रहण' कार्य इन प्रकृति चित्रणों से नहीं होता। परन्तु 'कामायनी' में कुछ चित्र ऐसे हैं जिनसे अर्थ ग्रहण और बिंब-ग्रहण दोनों होता है—

"धँसती धरा, धधकती-ज्वाला;
ज्वाला मुखियों के निश्वास......"

इन महाकाव्यों पर वर्तमान परिस्थितियों का प्रभाव स्पष्ट है। किसी में तो समय की परिस्थितियों से ही कवि को प्रेरणा मिली। कामायनी में बुद्धिवाद का प्रभाव, प्रिय प्रवास और साकेत में गांधीवाद का प्रभाव स्पष्ट है।

वर्तमान महाकाव्यों में गीति-काव्य का अधिक प्रभाव पड़ा है। उन पर वर्तमान युग की व्यंजनात्मक भाषा का भी प्रभाव स्पष्ट है। छायावादी

मनोवृत्तियों की जड़ ही जैसे कामायनी हो। साकेत में 'सखि नील नभस्सर में उतरा यह हंस अहा तरता-तरता' कितना माधुर्य पूर्ण गीत है। अलंकारों में पाश्चात्य अलंकार, मानवीकरण (Personification) और विशेषण विपर्यय आदि का प्रयोग किया गया है।

: ५४ :

गांधीवाद और समाजवाद : तुलनात्मक अध्ययन

गान्धीवाद

युग की मुख्य विचारधारा ही वाद विशेष का कारण बनती है। वाद का अर्थ विचारधारा या विचार के होते हैं। वाद अनेक हैं साम्यवाद, गांधीवाद, समाजवाद आदि। ठीक इन्हीं वादों में से गाँधीवाद भी एक वाद है। यद्यपि यह नामकरण एक व्यक्ति विशेष को लेकर हुआ है परन्तु इसकी विचारधारा नवीन न होकर प्राचीन ही है। इसकी ज़ड़ बहुत दूर तक फैली है। इसमें मुसलमानों का क़ुरान, हिन्दुओं की रामायण एवं गीता तथा ईसाइयों की बाइबिल के सार वस्तु का संकलन है। हिन्दू, मुसलिम, ईसाइयों के विश्व-जनीन धर्मों के निचोड़ का नाम ही 'गांधीवाद' है। विचार करने पर पता चलेगा कि भारत के धर्म में बहुत पहले सत्य, अहिंसा, पवित्रता आदि का होना आवश्यक बतलाया गया था, ये गुण धर्म के लक्षण ही थे।

सत्य, क्षमा, दमोऽस्तेय, शौच इन्द्रियनिग्रह आदि यही मूल बातें बौद्ध और जैनों में भी थीं, जिनसे गाँधीवाद को बहुत बल मिला। गाँधी जी ने इन धार्मिक बातों को इतना ऊँचा उठाया कि राजनीति के क्षेत्र में भी वे अधिक इष्ट फलदायक हुईं। गांधीवाद आस्तिक है, उसमें सब के लिए समान स्थान है। जो चीजें मानव का कल्याण नहीं करतीं उनके लिए

गान्धीवाद में कोई स्थान नहीं। उसमें परोपकार है, सेवाभावना की अधिकता है, तप है, त्याग है, आस्तिकता है, सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य का महत्व है और है साधारण जीवन का विधान। 'सादा जीवन उच्च विचार' जैसे वाक्य गान्धीवाद की एक प्रधान लड़ी हैं।

आर्थिक क्षेत्र में गांधी जी गृह उद्योग-धंधे के समर्थक हैं। वे जानते थे कि सब की मांगे एक साथ पूर्ण नहीं हो सकतीं। अतः वे इसके लिए चरखा चलाने और मशीनों के बहिष्कार के पक्ष में थे। वे समझते थे कि साम्राज्यवाद का सब से बड़ा अभिशाप मशीनवाद था। मशीनों द्वारा लोगों का शोषण होता है इसलिए उन्होंने आर्थिक क्षेत्र में कुटीर उद्योग-धंधों (Cottage Industries) के पुनः उत्थान की सोचा। साम्यवादियों की भाँति गांधी जी वर्ग संघर्ष नहीं चाहते थे। उनका आर्थिक सिद्धान्त था—'सर्वोदय' जिसका व्यापक प्रचार आजकल आचार्य बिनोवा द्वारा हो रहा है। वे मानते थे कि शान्ति का अन्त शान्ति में और क्रांति का अन्त क्रांति में होता है। इसीलिए वे किसी भी समस्या का सुझाव अहिंसात्मक ढंग से करते थे।

सामाजिक विषमता उन्हें बिलकुल अप्रिय थी। हरिजन वर्ग जो बहुत दिनों से सामाजिक बोझ से दबा था उसके उत्थान का श्री गणेश गांधी जी के हाथों द्वारा ही सम्पन्न हुआ। उनका विश्वास था कि बिना सामाजिक विषमताओं के शमन के राजनीतिक विषमताओं का शमन नहीं हो सकता। इसी कारण उनके रचनात्मक कार्यों में उनकी अस्पृश्यता निवारण का सर्वाधिक महत्व था।

उनकी राजनीति में मानवता का स्वर सब से अधिक स्पष्ट है। वे "सर्वे भवन्त सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः" प्रकार की विशाल राष्ट्रीयता के समर्थक थे, वे संकुचित राष्ट्रीयता (एक के विकास से दूसरे को बाधा पहुँचे) को नहीं चाहते थे। उनका राजनीतिक आदर्श 'रामराज्य' था वे कहते थे—

पापी का उपकार करो,
पापों का प्रतिकार करो।

उनके हिंसा की परिभाषा थी "किसी के दिल को दुखाना मात्र हिंसा है।" उनकी कार्य-प्रणाली की मूल भावना उनका सत्याग्रह सम्बन्धी विधान था। यह उनका बड़ा प्रबल अस्त्र था, जिससे अफ्रीका और भारत दोनों स्थानों में विजय प्राप्त हुई। वे अन्याय को किंचित् मात्र भी स्वीकार नहीं करते थे। घृणा तो जैसे उनके शब्दकोश में है ही नहीं।

गांधीवाद में मानवता का मूल मंत्र निहित है। उसमें शुद्ध भारतीयता, सर्वहित जन कल्याण, धर्म, दर्शन तथा सामाजिकता का सुंदर रूप सभी कुछ है। बीसवीं शताब्दी का कल्याण गांधीवाद में ही निहित है।

समाजवाद

युग की वैज्ञानिकता का प्रभाव मानव-विचारों पर भी बड़े वेग से पड़ा। कहा जाता है कि सामान्यतः विज्ञान के प्रभाव से कोई भी वस्तु अछूती नहीं बची। विज्ञान के कारण अनेक प्रकार की मशीनों का आविष्कार हुआ। उससे हमें यात्रा उत्पादन तथा मनोरंजन आदि के लिए अनेकों सुविधायें मिलीं। जब मशीनों द्वारा सामूहिक उत्पादन होने लगा तो इस उत्पादन ने पूँजीपतियों को जन्म दिया। उत्पादन के सम्पूर्ण साधनों पर पूंजीपतियों का अधिकार हो गया तथा इसी के साथ-साथ उत्पादित वस्तु के लाभ पर भी उनका कब्जा हो गया। यद्यपि यह उत्पादन मजदूरों द्वारा ही होता था परन्तु तब भी वे उसके लाभ से वंचित थे। औद्योगिक व्यापारों में जो दशा मजदूरों की थी वही दशा ग्रामीण क्षेत्र में जमींदारों के द्वारा शोषित किसानो की थी। जिस प्रकार उद्योगपति एक श्रमिक का शोषण करता था ठीक उसी प्रकार एक जमींदार एक किसान का शोषण बेगार इत्यादि लेकर करने लगा। इस प्रकार समाज में मुख्यतः दो वर्ग हो गये—शोषक और शोषित। शोषक अधिक शक्तिशाली होता था क्योंकि शक्ति के सम्पूर्ण स्रोत—सैनिक अर्थ, आदि—उसी के पास थे इस कारण यह उसे पददलित करने में समर्थ था। इन्हीं उपरोक्त विचारों को लेकर जर्मनी के एक पण्डित जिनका नाम कार्ल-मार्क्स था, ने इस मत की प्रतिष्ठापना की।

समाजवाद का आधार भौतिक है। यह समाज का विकास तथा श्री संपन्नता आर्थिक भित्ति की सुदृढ़ता ही को मानता है। इसका प्रधान मत द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद है। मौलिक स्थितियाँ नवीन विचारोद्रेक करती हैं। पहले एक विचार का उदय होता है जब वह अति को प्राप्त हो जाती है तब अन्य नवीन परिस्थितियों का उदय होता है। प्रतिक्रिया स्वरूप दोनों का समन्वय हो जाता है।

हेगेल ने इस विचार को आध्यात्मिक भावना दे कर पुष्ट किया है और मार्क्स ने इसे भौतिक रूप में हमारे सामने रखा है। जिस प्रकार अंग्रेजों की साम्राज्यवादिता ने हमारी स्वतन्त्रता को जन्म दिया उसी प्रकार पूंजीवाद ने श्रमिक संगठन को अवसर प्रदान किया। यही संगठन सर्वहारा वर्ग का सुख चाहता है। इसी प्रयोग का नाम समाज में 'समाजवाद' है।

जब हम गांधीवाद से समाजवाद की तुलना करते हैं जो कि परस्पर विरोधी है तो देखते हैं कि गांधीवाद की पीठिका आध्यात्मिक है जब कि समाजवाद की पीठिका शुद्ध भौतिक। एक तरफ गांधीवाद का विश्वास अहिंसा में है तो समाजवाद का विश्वास हिंसा में। गांधीवाद मशीनों को हटाकर गृह उद्योग या कुटीर उद्योगों का पुनरोत्थान करना चाहता है तो समाजवाद मशीन का प्रयोग अत्यधिक चाहता है। समाजवाद वर्गहीन समाज का स्थापना करता है तो गांधीवाद किसी वर्ग से द्वेष न रख कर उनके पारस्परिक मेल को सुसंगठित बनाना चाहता है। गांधीवाद में व्यक्ति का व्यक्तिगत महत्व है वह आत्मिक पौरुषत्व पर विश्वास करता है जब कि समाजवाद समाज के सामूहिक बल का कायल है। समाजवाद उद्देश्य की उच्चता पर मुख्य रूप से ध्यान देता है जब कि गांधीवाद उद्देश्य और साधनों की नैतिकता दोनों पर विशेष बल देता है। लेकिन जैसे-जैसे हम गांधीवाद से समाजवाद और समाजवाद से साम्यवाद की तरफ बढ़ते चलते हैं वैसे-वैसे नैतिकता की मात्रा कम होती दिखाई पड़ती है।

: ५५ :

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र

कवि परिचय—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का जन्म सन् १८५० में हुआ। आप इतिहास प्रसिद्ध सेठ अमीरचन्द के वंशज थे। आपके पिता बाबू गोपालचंद स्वयं ही हिन्दी कविता के बड़े रसिक और सहृदय कवि थे। बचपन में ये बड़े नटखट प्रकृति के थे। लिखने-पढ़ने में मन ही नहीं लगता था। कविता प्रेमी आप बचपन से ही थे। पाँच वर्ष की कच्ची आयु में कविता करके आपने अपने पिता को आश्चर्य में डाल दिया।

लै ब्यौड़ा ठाड़े भये, श्री अनिरुद्ध सुजान।
वाणासुर की सैन को हनन लगे भगवान।

घर पर ही आपने हिन्दी, उर्दू, बंगला और अँग्रेजी सीखी। आपकी प्रतिभा बहुमुखी थी। आपने 'चौखम्बा स्कूल' के नाम से एक विद्यालय की स्थापना की और वर्षों तक उसे अपने खर्च से चलाते रहे। आगे चलकर यही स्कूल हरिश्चन्द्र इन्टर मीजियेट कालेज के नाम से विख्यात हुआ। आपने भाषा के प्रचार और प्रसार के लिए बहुत-सी पत्रिकाओं को जन्म दिया जिनमें 'कवि वचन सुधा' तथा 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। मनोरंजनार्थ आपने 'पेनी रीडिंग क्लब' की स्थापना की जिसमें विविध मनोरंजनों के अतिरिक्त समस्या पूर्ति तथा अच्छे लेखों पर विचार-विनिमय होता था। हिन्दी की दुर्भाग्य से ३५ वर्ष की अल्पायु में सन् १८८५ ई० में आपकी मृत्यु हो गई।

व्यक्तित्व

(१) सेवक गुनीजन के, चाकर चतुर के हैं (सहृदय एवं विनम्र)
(२) सीधेन सों सीध महा बांके हम बाकेन सों (स्वाभिमानी)
(३) नेह के दिवाने सदा मूरत निमानी के (भावुक)
(४) सखा प्यारे कृष्ण के गुलाम राधारानी के (भक्त)

उन्हीं की पंक्तियों में भारतेन्दु के व्यक्तित्व विश्लेषण का संक्षिप्त सार यही हो सकता है।

काव्य सौष्ठव—हिन्दी के आधुनिक निर्माताओं में भारतेन्दु जी का प्रमुख स्थान है। ये आधुनिक हिन्दी साहित्य के जन्मदाता माने जाते हैं। आपने गद्य, पद्य दोनों में बड़ी सफल और समाजोपयोगी रचनाएँ की हैं। आपकी कविताएँ सरस, सरल, मधुर तथा प्रभावोत्पादक होती हैं। आपने शृङ्गार, विरह, प्रेम, प्रकृति देश-प्रेम एवं समाज-सुधार आदि विभिन्न विषयों पर अपनी लेखनी चलाई है। इन रचनाओं में आधुनिक और प्राचीन दोनों शैलियों का प्रयोग किया गया है। रीतिकाल कवियों ने लौकिक प्रेम के आश्रय से नायक नायिका के पारस्परिक वासनाजन्य प्रेम का चित्रण करके समाज के नैतिक-स्तर को नीचा करने में कोई कसर नहीं उठा रखी थी। देश का भविष्य खतरे में था। चारों ओर 'कंचुकि उचौ हैं कुच फरकि फरकि उठैं' का दृश्य देखने में लोग तल्लीन थे। यहाँ तक कि 'नारि सलोनी साँवरी नागिनि लौं डसि जाय' का पार्ट खूबी से अदा करके समाज के सस्ते रसिकों का मनोविनोद कर रही थी। इस दयनीय परिस्थिति में भारतेन्दु ऐसे ज्वलन्त व्यक्तित्व की बड़ी आवश्यकता थी, वे आए और पहले स्वयं इस संक्रामक रोग के शिकार होकर अपना व्यक्तित्व खो बैठे—'लाई लिवाय तमाशो वताय' इसका साक्षी है। किन्तु अन्तर की ज्योति शीघ्र उद्दीप्त हो उठी, व्यक्तित्व उबल पड़ा और वे गरज उठे—

चलहु वीर उठि तुरत सबै जय ध्वजहिं उड़ाओ।
लेहु म्यान सो खग्ग खींच, रन रंग जमाओ॥

भारत का स्वर्णिम सांस्कृतिक अतीत भी उन्हें बरबस अपनी याद दिलाने लगा—

भारत के भुजबल जग रच्छित, भारत विद्या लहि जग सिच्छित।
भारत तेज जगत विस्तारा, भारत भय कंपत संसारा॥

समाज सुधारक होने के नाते उन्होंने तत्कालीन सामाजिक कुरीतियों

का बड़ी निर्दयता के साथ पर्दाफाश किया। 'अंधेर नगरी' तथा 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' के द्वारा मार्मिक व्यंग्यों की बौछार कर के सामाजिक दुराचार का मूलोच्छेदन किया। 'अंधेर नगरी' की इन पंक्तियों में तत्कालीन स्वच्छंदता प्रिय राज्य शासन पर कितना करारा व्यंग्य है—

१. अंधेर नगरी अनबूझ राजा, टका सेर भाजी टका सेर खाजा।

× × × ×

२. मीन काटि जल धोइये, खाये अधिक पियास।
अरे तुलसी प्रीत सराहिये, मुऐ मीत की आस॥
राम रस पीओं रे भाई।
एकादशी के मछली खाई, कवौं भरे वैकुंठे जाई॥
राम रस पीओं रे भाई।

इस प्रकार अपनी व्यंग्य से पूर्ण शिक्षाप्रद वाणी से भारतेन्दु जी ने समाज की परम्परागत रूढ़ियों का मूलोच्छेदन किया। भारतेन्दु जी मानवता के बड़े भारी पुजारी थे। वे धरा पर एक नवीन स्वर्ग की स्थापना करना चाहते थे।

खल जनन सों सज्जन दुखी मत होइ हरि पद रति रहे।
उपधर्म छूटै, सत्व निज भारत गहै कर दुख बहै॥
बुध तजहिं मत्सर, नारिनर सम होइ सब जग सुख लहैं।
तजि ग्राम कविता, सुकविजन की अमृत बानी सब कहैं॥

भारतेन्दु का वियोग शृंगार—भारतेन्दु बाबू के वियोग-शृंगार में रीतिकालीन परिपाटी की नकल नहीं है। न तो उसमें अलंकारों का कृत्रिम प्रदर्शन कर के भावों की भ्रूण हत्या की गई है और न उहात्मक पद्धति का अनुकरण किया गया है। उनके वियोग-शृंगार में आँसुओं के उच्छवास, पीड़ा की प्रेषणीयता तथा तड़प की तन्मयता कूट-कूट कर भरी है जो हमारी धड़कनों में खिलकर हिचकियों में बिखर कर टूट-टूट जाती है—

तुम ऊधौ यहै कहियो उनसों, हम और कछू नहीं जानती हैं।
पिय प्यारे तिहारे निहारे बिना, अँखियाँ दुखियाँ नहीं मानती हैं।

आँसुओं की भाषा में आँखों का संलाप सुनिए—

इन अँखियानि को न चैन सपनेहु मिल्यो
तासो सदा व्याकुल बिकल अकुलायंगी
प्यारे हरिचंद जू की बीती जानि औध प्रान
चाहत चले वे ये तो संग ना समायंगी
देख्यो एक बार हू न नैन भरि तोंहि याते
जौन जौन लोक जैहैं तहाँ तहाँ पछितायँगी
बिना प्रान प्यारे भए दरस तुम्हारे हाय
मरे हूँ पै आंखैं ये खुली ही रहि जायंगी ॥

कितनी मौलिक एवं मर्म स्पर्शिनी कल्पना है। अन्तिम पंक्ति पढ़ते-पढ़ते आँसुओं के बूँद उमड़ कर बरस जाते हैं और हिचकियों के साथी बनते हैं।

भारतेन्दु का प्रकृति-वर्णन—भारतेंदु जी का प्रकृति वर्णन यथातथ्य एवं सजीवता लिए है। प्रकृति का नैसर्गिक दृश्य उन्होंने अपनी आँखों से देखा था। उसकी स्वर्गीय सुषमा में डुबकियाँ लगाई थीं। पुस्तकीय वर्णनों को पढ़कर उन्होंने प्रकृति के कृत्रिम चित्र नहीं खींचे। भारतेन्दु जी के प्रकृति वर्णन को पढ़ते ही तदनुकूल वातावरण नेत्रों के समक्ष उपस्थित हो जाता है। शब्द चयन में कुछ ऐसी मिठास उत्पन्न हो जाती है कि लहरों की ध्वनि छपर-छपर लहराने लगती है।

तरनि तनूजा तट तमाल तरुवर बहु छाए
झुके कूल सों जल परसन हिय मनहुँ सुहाये ॥
किधौं मुकुर में लखत उझकि सब निज निज शोभा
कै प्रनवत जल जानि परम पावनि फल लोभा ॥
मनु आतप वारन तार को सिमिटि सब छाए रहत
कै हरि सेवा हित नै रहै, निरखि नैन मन सुख लहत ॥

भक्ति भावना—भारतेन्दु जी की भक्ति भावना में सात्विक हृदय की पूत भावनाओं का प्रतिबिम्ब मिलता है। स्वयं उन्हीं के शब्दों में वे 'सखा प्यारे कृष्ण के गुलाम राधारानी के' एकमात्र भक्त थे। भक्त में जो तन्मयता, दैन्य तथा आत्म-समर्पण की भावना होती है, वह सब पके हुए रूप में उनकी कविता में प्राप्य है—

(१) प्रानहु ते प्यारो रहे प्यारो तू सदाई,
प्यारो पीत पट हिय बीच फहर्‌यौ करै।

(२) मुरली लकुट वारे, चन्द्रिका मुकुट वारे,
दुरति हमारे दरौ राधिकारमन जू॥

कलापक्ष (भाषा)—भारतेन्दु जी ने ब्रजभाषा और खड़ी बोली में सफल रचनाएँ की हैं उनकी प्रेम शृंगार और विरह सम्बन्धी रचनाएँ ब्रजभाषा में हैं तथा समाजसुधार और राष्ट्र विषयक रचनाएँ खड़ी बोली में। आपकी भाषा सरल, बोधगम्य सरस तथा भावानुकूल है। अन्य कवियों की तरह न तो आपने शब्दों को अधिक तोड़ा-मरोड़ा है और न उनका रूप ही विकृत होने दिया है। भाषा में मुहावरों और लोकोक्तियों का सराहनीय प्रयोग है। आपकी भाषा समयानुसार परिवर्तनशील भी है। हास्य रस को व्यक्त करने में आपकी भाषा विशेष चटकीली-भड़कीली हो जाती है और हृदय में गुद-गुदी उत्पन्न कर देती है। प्रकृति वर्णन में अपने शुद्ध सामासिक पदावली से युक्त भाषा का प्रयोग किया है—

नव उज्ज्वल जल धार हार हारक सी सोहति

शैली—अपने किसी एक शैली को न अपना कर कई शैलियों का प्रयोग किया है। विषयानुकूल गीत, सवैया, कवित्त, कुंडलियाँ, लावनी ग़ज़ल सभी में कुछ न कुछ लिखा है।

अलंकार—अनुप्रास, उत्प्रेक्षा, यमक, श्लेष, भ्रम, संदेह आदि यत्र तत्र

पाए जाते हैं। उत्प्रेक्षा और अनुप्रास आपके प्रिय अलंकार हैं। उत्प्रेक्षा का सुन्दर प्रयोग देखिये—

अनुप्रास—

पिय प्यारे तिहारे निहारे बिना अँखियाँ दुखिया नहीं मानती हैं
कहूँ तीर तर कमल अमल सोभित बहु भाँतिन
मनु दृग धारि अनेक जमुन निरखत ब्रज शोभा।

रचनाएँ—(१) सत्य हरिश्चन्द्र, (२) वैदकी हिंसा हिंसा न भवति, (३) भारत दुर्दशा, (४) चन्द्रावली, (५) नील देवी, (६) अंधेरी नगरी, (७) प्रेम योगिनी, (८) सती प्रताप, आदि। काव्य-प्रेम फुलवारी, भारतेन्दु सुधा।

: ५६ :

भारतीय जीवन में पाश्चात्य आदर्शों के कारण विषमता

प्राय: यह देखा जाता है कि जब दो जातियों, या दो संस्कृतियों का परस्पर सम्मिलन होता है उस समय दोनों एक दूसरे पर अपना प्रभाव छोड़ती हैं। विचार विनिमय, आदर्श, सभ्यता, संस्कृति सभी में एक विचित्र परिवर्तन का आ जाना स्वाभाविक है। विजेता जाति की संस्कृति या सभ्यता विशेष प्रभुत्वशाली होने पर विजित जाति पर विशेष प्रभाव छोड़ती है एवं स्वयं कुछ ही अंश तक वह विजित जाति से प्रभाव ग्रहण करती है। विजित जाति विजेताओं के आदर्शों, विचारों एवं सिद्धांतों को ग्रहण कर अनुकरण करने में ही अपना कल्याण समझती है क्योंकि इसके द्वारा वे उनकी विशेष कृपाभाजन बन सकती हैं।

भारत में अँग्रेज आए, पाश्चात्य सभ्यता प्राच्य सभ्यता से घुली-मिली, भोगवाद ने त्यागवाद पर अपना प्रभाव डालना प्रारंभ किया। अँग्रेज अपने साथ अपनी भाषा लाए, अपनी जलवायु एवं वातावरण से उद्भूत भोगवादी विचार लाए और उमड़-घुमड़ कर पराजित भारतीय मनीषा पर बरसने लगे। शिक्षा का माध्यम अँग्रेजी बना, देश की जनता का झुकाव अँग्रेजी की ओर हुआ। फलस्वरूप देश के अधिक नागरिक धीरे-धीरे अँग्रेजी साहित्य के अध्ययन से अनजान में ही उनकी संस्कृति से प्रभावित हुए। भारतीय छात्र विदेशी भाषा की छत्र-छाया में आकर उसके अनुकरण करने में गौरव का अनुभव करने लगे और इस प्रकार वे बदले में अपना सर्वस्व देकर भी बहुत कम पा सके। घोर अभिषाप के वे क्षण थे जबकि इस प्रकार के दयनीय घाटे को भी वे लाभ के रूप में स्वीकार करते रहे। संस्कृति का मूल आधार भाषा है और भाषा का चरम उत्कर्ष साहित्य में प्रकट होता है अतः साहित्य का पतन संस्कृति का और अन्ततः जीवन का पतन है। पाश्चात्य मशीन युग ने हमारे जीवन को सस्ता, घटिया एवं अर्थहीन बनाने में कोई कोर-कसर नहीं छोड़ी। विदेशी साहित्यकारों की रचनाएँ पढ़ते समय हम अपने देश के कलाकारों को भूल गए। यहीं से हमारा सर्वनाश प्रारंभ हुआ। स्वदेशी कलाकार विदेशियों की अपेक्षा भारत की मिट्टी से उगने के कारण हमारे मस्तिष्क को कहीं अच्छी स्वस्थ संतुलित खूराक दे सकते थे, कहीं अधिक गहराई से आत्मचिन्तन के माध्यम से कल्याणपथ पर ले जा सकते थे किन्तु हमने सदा उनकी उपेक्षा की। विदेशी नव वधू के आकर्षण ने कुछ ऐसा जादू फेरा कि हम जन्म देने वाली, पाल पोसकर बड़ा बनाने वाली अपनी माँ को ही भूल बैठे। पाश्चात्य सभ्यता के झमचूम प्रकाश में चकाचौंध हमारी बुद्धि ने अपना सर्वस्व उसी के चरणों पर चढ़ा दिया।

प्रत्येक देश का अपना एक वातावरण होता है, अपनी एक प्रकृति होती है और उसी के अनुकूल वहाँ का सभ्यता, संस्कृति और विचारधारा होती है। पाश्चात्य देशवासियों ने ठंडे देश में उत्पन्न होने के कारण कोट, पैन्ट, टाई से अपने शरीर को अधिक से अधिक कसने में ही कल्याण देखा

और उन्होंने ठीक ही किया किन्तु उष्ण देश के निवासी भारतियों ने ऐसी पोशाक पहिनकर अपने स्वास्थ एवं धन का अपव्यय ही किया, पिछलग्गू बनने की उपाधि अलग से मिली। हम भारतियों के स्वास्थ के लिए ढीली-ढाली धोती कुर्ता की पोशाक ही विशेष लाभ प्रद है, उसमें हमारा अपना पृथक् व्यक्तित्व है, कम खर्च तो है ही।

'हमारे प्राचीन मनीषियों ने हमारे शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ के लिए जो अचूक नुस्खे बनाए हैं वे भारतीय मिट्टी से मेल खाते हैं, यहाँ की जलवायु के अनुकूल हैं, उनमें हमारे पूर्वजों के सारे संस्कार निहित हैं, उनसे हमारा सब प्रकार का कल्याण संभव है। श्रेयस् और निश्रेयस् दोनों की प्राप्ति हो सकती है। स्वास्थ ही संसार में सारे सुखों का मूल है'। इसी ओर देखिए, आयुर्वेद में बताए गए नुस्खे या औषधियाँ कम पैसों में तैयार होती हैं, हमारे स्थायी स्वास्थ का सृजन करती है क्योंकि वे यहाँ के वातावरण और जलवायु के अनुकूल हैं। वे रोग को समूल नष्ट कर स्थायी प्रभाव छोड़ती हैं किन्तु विदेशी रंग में रंगे हम लोगों ने क्षणिक उत्तेजना देने वाली, अस्थायी प्रभाव से युक्त मँहगी विदेशी वस्तुओं एवं औषधियों को स्वीकार कर अपना स्वास्थ एवं धन ही नष्ट नहीं किया अपितु अपने आर्थिक ढाँचे को भी अस्वस्थ, असंतुलित एवं विकृत बनाने के भागी हुए। विदेशी इंजेक्शनों को अपने शरीर के रक्त मांस में आत्मसात करवा कर विदेशी चरणों में अपना मस्तिष्क भी बेंच दिया। पराये घर धन-धान्य से सम्पन्न हो गए, हम अपनी अज्ञानता से भूखों मरने लगे। हमने अपना स्वास्थ खोया, धन खोया अपनी अमूल्य संस्कृति एवं सभ्यता खोयी और फिर भी मिथ्याभिमान में तने रहे, हम सरीखा घोर मूर्ख दूसरा कौन होगा। हमने मँहगी विदेशी शिक्षा लेकर तर्कवाद के माध्यम से अपनी ही संस्कृति के सिर धूल डाली। उसे मृत घोषित किया, हृदय का पल्ला छोड़कर जितना ही मस्तिष्क की ओर खिंचते गए उतने ही सभ्य और शिष्ट बने। जितना ही अधिक हमने पढ़ा, उतनी ही मात्रा में छल, मिथ्याभिमान एवं बुद्धिवाद के सहारे सही को गलत ठहराने की

योग्यता हम में आयी। बुद्धिवाद के स्वामी बने, भले ही व्यावहारिक एवं सात्विक ज्ञान में शून्य रहे।

पाश्चात्य आदर्शों की भित्ति एक मात्र विज्ञान पर टिकी हुई है। विज्ञान के ही बल पर वह इतराती है किन्तु सुख और सुविधा के नाना साधनों के होते हुए भी वह चंचल और अशान्त है। भोग से परे भी कोई ऐसी वस्तु है उस ओर सोचने की उसे फुरसत ही नहीं। मोटर, महल, रेडियो, रेल, सिनेमा, हवाई जहाज, बड़े-बड़े अस्पतालों, कारखानों और राशि ज्ञान के होते हुए भी हम छिछले हैं, विषण्ण हैं, ऐसी कोई वस्तु है जो हमें नहीं मिल रही है, आज के युग का मानव सड़कों पर दौड़ रहा है, वह अपने टिकने की जगह जानता ही नहीं। हम जब इतिहास के माध्यम से अपने पूर्वजों के जीवन को पढ़ते हैं तब हमें महान् आश्चर्य इस बात का होता है कि जितनी सुविधाएँ आज हमें प्राप्त हैं उतनी शतांश भी उन्हें प्राप्त न थीं; फिर भी वे अपने जीवन से संतुष्ट थे, अपने आप में भरे पूरे थे, उनका अपना एक ध्येय था, वे शांति को पा चुके थे, अपने लक्ष्य की सीमाओं को समेट कर बैठे थे। 'जो आवे संतोष धन, सब धन धूर समान' इस मंत्र को पचाकर अपने जीवन में उतार चुके थे किन्तु विज्ञान युग के पाश्चात्य आदर्शों में पले हम तरंगों में बहे जा रहे हैं, हमारे पैरों के नीचे की जमीन गायब है। इस विषमता को हम इलियट के शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं—

हम जो ज्ञान हासिल कर रहे हैं, वह चलने का ज्ञान है ठहरने का नहीं, वह बोलने का ज्ञान है, शब्दों का ज्ञान है, शब्दों के साथ लिपटी हुई अज्ञानता का ज्ञान है, चुप रहने का नहीं। वह जिन्दगी कहाँ है जिसे हम जीते जी गवाँ चुके हैं, वह ज्ञान कहाँ है जो सूचनाओं के संचय में गुम हो गया है।

हम देखते हैं कि टेलीफोन और टेलीविजन के संयोजन से दूरी की बाधा को तोड़कर मनुष्य केवल मनुष्य की आवाज़ ही नहीं सुन सकते हैं बल्कि वे परस्पर एक दूसरे को देख भी सकते हैं। मिलने के ऐसे सुलभ साधनों के होते हुए भी यदि मानवों के बीच हार्दिक और आत्मिक मिलन नहीं हो पा रहा है तो इसमें महान आश्चर्य है। पाश्चात्य आदर्शों ने जितना

हमें ज्ञान दिया है उतना ही व्यस्त रहना भी सिखा दिया है। 'शांति' नाम की चीज हम सुनते भर हैं, कभी अनुभव करने का अवसर ही नहीं मिला और न उसकी कुछ आवश्यकता ही समझते हैं। हलचल से भरे हुए नगरों में प्रलोभन और मन बहलाव के जो लाखों सामान हैं वे मनुष्य को चौबीस घंटे एकांत से अलग उस भीड़ में गर्क रखते हैं जिस भीड़ की खास खूबी यह है कि उसे सोचने और चिन्ता करने की कमी कभी अनुभव ही नहीं होती। मन के भीतर जो आत्मा नाम का देवता है दिन भर का हिसाब-किताब देने के लिए हमने उसके इजलास में जाना छोड़ दिया है। हमारे पुरखे पाप करते हुए भी डरते थे क्योंकि पाप को वे पाप समझते थे किन्तु हम पाप-पुण्य को नहीं मानते, हमने उस युग के नीति शास्त्र को त्रुटिपूर्ण और अव्यावहारिक समझकर एक पृथक नीतिशास्त्र का निर्माण कर लिया है जिसमें बुद्धि का प्राधान्य है। आत्मा नाम की ऐसी कोई वस्तु नहीं है ऐसा हमारा विश्वास हो गया है इसीलिए हमने उसका पूर्णतया बहिष्कार भी कर दिया है और इसीलिए हम 'लन्दन के चौक पर के घड़ियाल की आवाजें रेडियो पर सुन लेते हैं लेकिन अपने पड़ोसी की आह और कराह हमें सुनायी नहीं पड़ती'। हम आज अधिक से अधिक व्यक्तियों से मुलाकात करते हैं लेकिन सम्पर्क जितना ही अधिक बढ़ा है घनिष्टता उतनी ही कम हो गयी है। हमारे मानसिक महल में कई बरामदे हैं, सारी जिंदगी हम लोगों से उन्हीं बरामदों में मिलते हैं मगर बरामदों के पीछे जो आत्मा का कक्ष है उसमें हम किसी को भी नहीं ले जाते। एक खास तरह की वाक्पटुता, एक खास तरह की व्यवहार कुशलता, एक खास तरह की चतुरता और नकली नैसर्गिकता के चूने से पुती हुई एक खास तरह की बनावट हमारी आज की विशेषताएँ हैं जिसे हम निस्संकोच पाश्चात्य सभ्यता के द्वारा प्रदत्त वरदान कह सकते हैं। हम यांत्रिक युग के सुशिष्ट नागरिक हैं, हमारे पूर्वज करघे से कपड़ा बुनते थे, उनके कपड़ा बुनने का साधन कितने फूहड़ भद्दे एवं श्रम साध्य थे फिर भी उनका कपड़ा उनकी आत्मा के भावों से, उनके अपने व्यक्तित्व से ओतप्रोत था उनका वह कपड़ा उनका अपना था, उस पर अपनत्व

की छाप थी लेकिन आज के कारखाने का कौन ऐसा मजदूर है जो यह कह सके कि मशीन के आखिरी मुँह से जो कपड़ा निकल रहा है उसका एक गज भी ऐसा है जिसे वह अपना निर्माण कह सके। आज के श्रमिक के लिए जीवन का अर्थ है एक निरर्थक यांत्रिक क्रिया की बुद्धिहीन अनवरत आवृत्ति। हमारे पूर्वज निरक्षर होकर भी शिक्षित एवं संस्कृत थे किन्तु हम पढ़-लिख-कर भी घोर अशिक्षित हैं। (यह अशान्त सभ्यता !—श्री दिनकर)

: ५७ :

हिन्दी भाषा और साहित्य पर अँग्रेजी का प्रभाव

प्रायः यह देखा गया है कि जब दो जातियाँ परस्पर सम्पर्क में आती हैं तब दोनों की भाषा, साहित्य, एवं रीति नीतियों में विलक्षण परिवर्तन आ उपस्थित होते हैं, दोनों एक दूसरे पर अपना प्रभाव छोड़े बिना नहीं रहतीं। विजयी जाति शक्तिशालिनी होते हुए भी अपनी सभ्यता संस्कृति एवं कला-कौशल में दरिद्र होने के कारण विजित जाति के आदर्शों से अनुप्राणित होती हैं। ग्रीक जाति पर शासन करने वाली निःसत्व सत्ता का यही हाल हुआ। भारत पर आक्रमण करने वाली हूण और कुशन जातियों को भारतीयता ने अपने में पचा लिया। परन्तु ऐसा कम ही होता है, विजयी जातियाँ धन-बल एवं शासन सत्ता के सहारे विजित जातियों पर अपना प्रभाव छोड़ने पर अधिक सफल होती हैं। विजेता प्रायः अपनी विजय की सीमाओं को सुदृढ़ बनाने के लिए विजित जातियों की भाषा और साहित्य की हत्या करके अपनी निर्ममता का परिचय दिया करते हैं और पराजित जाति के खुशामदी टट्टू भी उनके कृपापात्र बनने के लिए हर एक बात में उनका अनुकरण करके अपने को गौरवान्वित करते हैं इस प्रकार विजित जाति की भाषा संस्कृति अनायास ही उस के रंग में रंग जाती है। हिन्दी भाषा ने अपने

उत्पत्ति काल से दो विजातीय संस्कृतियों से टक्कर लिया (१) मुसलमान जाति (२) यूरोपीय। इन दोनों जातियों के शासकों के कारण एक ही प्रकार का शब्दसमूह इनकी भाषाओं से हिन्दी में आया। वह शब्दसमूह या तो विदेशी संस्थाओं जैसे कचहरी, स्कूल, फौज तथा धर्म आदि से संबंध रखता है या विदेशी प्रभाव के कारण आई हुई नई वस्तुओं के नामों से जैसे नये पहनावे, नवीन प्रकार के मनोरंजन, खेल तथा वैज्ञानिक यंत्रों के नाम आदि मुसलमानी भाषा के शब्दों के अपनाने का आग्रह कवि वरेण्य सूर और तुलसी भी न त्याग सके और उन्हें अपनी विशुद्ध हिन्दी कविता में साहेब रघुराजू, गरीबनिवाजू, उमरदराज, गनी, पायमाल मसाहत, मुहकम आदि का प्रयोग करना पड़ा। १८०० ई० के लगभग भारत में अँग्रेज जाति का आगमन हुआ, फलस्वरूप अँग्रेजी राज भाषा ही नहीं हमारी शिक्षा-दिक्षा की भाषा भी बन गई। मैकाले का अँग्रेजी पढ़कर अच्छे क्लर्क बनाने का स्वप्न पूरा होने लगा। छोटे-छोटे बच्चों की शिक्षा-दीक्षा का प्रारंभ अँग्रेजी में होने लगा। अँग्रेजी पढ़ा-लिखा व्यक्ति राज्य की कृपा का पात्र समझा जाने लगा। आर्थिक दृष्टि से अँग्रेजी पढ़ने वाले घाटे में न रहे, इन सब परिवर्तनों के कारण १५० वर्षों में हिन्दी के शब्दसमूह पर अँग्रेजी भाषा का पर्याप्त प्रभाव पड़ा। यदि आपको इसके प्रत्यक्ष प्रमाण की आवश्यकता है तो किसी भी शाम को दो पढ़े लिखे शीन काफ़ दुरुस्त अँग्रेजीदाँ के पीछे लग जाइये जब कि वे अपनी सहजावस्था में हों, आपको एंग्लोइंडियन का अच्छा मिक्सचर तैयार मिल जायगा। नमूना कुछ इसी प्रकार का है—

'मौर्निंग ट्रेन के मिस हो जाने से हम प्रिंसिपल के आफ़िस में कालेज ऐनिवर्सरी के दिन जब गवंनर का रिसेप्शन था एक घंटा लेट पहुँचे।' यह तो हुई पढ़े-लिखों की भाषा जिस पर आफिसी प्रभाव प्रत्यक्ष है किन्तु अँग्रेजी का जादू हमारे चूल्हे चौके तक भी पहुँच गया है, पढ़े-लिखे घरानों की देवियों को बच्चे के बुखार आ जाने पर यही कहने में आसानी होगी—'बेबी को फीवर आ गया है, टेम्परेचर तो लेना!' प्रयत्न लाघव के लिए हम अपनी कक्षा में उपस्थित 'श्रीमान्' न कहकर यस्सर ही कहने में अधिक सुविधा का

अनुभव करते हैं, यह अँग्रेजी का ही प्रभाव है। अब अनपढ़े लोगों के बीच आ जाइए, किसी भी घोर देहात में चलते जाइए, मौका पड़ने पर वे ऐसा ही बोलेंगे—'जमाहिर लाल की किरपा से अब कंट्रोल टूट गा है, इस-पिट्टर साहब के पास राशन काड के खातिर न जाय का पड़ी।' इस प्रकार के अनेकों उदाहरण दिए जा सकते हैं। डा० धीरेन्द्र वर्मा ने अपने हिन्दी भाषा के इतिहास में अंग्रेजी भाषा के शब्दों की एक लम्बी सूची दी है। ये शब्द हिन्दी शब्दसमूह में इस प्रकार घुल-मिल गए हैं कि इन प्रयोगों के बिना हम अपने को सहज अभिव्यक्ति करने में असमर्थ पाते हैं। अस्पताल, अफसर, इंच, इनकम टैक्स, कलक्टर, कमिश्नर, कम्पनी, कमेटी, कापी, कंट्रोल, कांग्रेस, कालेज, कोयला, कोट, गिलास, चेयर मैन, जज, जंपर, जेल, ट्रंक, टिकिट, डवल, ड्रिल, नोटिस, पलटन, फार्म, फीस, फुटबाल, फोटो, बटन, बैंक, बुरुश, बूट, बैरग, मास्टर, मैनेजर, मेम्बर, लाइसेंस, लेक्चर, वोट, वायसराय, सेकंड, स्टेशन, सूटकेस, हारमोनियम, आदि अनेक अंग्रेजी शब्द ऐसे हैं जो हमारी भाषा के अंग बन चुके हैं और कहीं भी सुने जा सकते हैं। आधुनिक हिन्दी व्याकरण में संस्कृत के व्याकरण के साथ अँग्रेजी के व्याकरण का भी अनुकरण हुआ है। विशेषणों और क्रिया विशेषणों के प्रकार, पद-व्याख्या, वाक्य विश्लेषण आदि अँग्रेजी व्याकरण की ही देन है। हिन्दी में कॉमा आदि विराम चिन्ह अँग्रेजी से ही आए हैं। हिन्दी में वाक्य गठन आदि भी कभी-कभी अँग्रेजी के अनुकरण को लेकर चलने लगता है। कर्त्ता के बाद क्रिया और फिर कर्म का प्रयोग अँग्रेजी वाक्यों के आधार पर ही है। इस प्रकार का प्रयत्न अनूदित पुस्तकों में बड़ी आसानी के साथ अना-यास ही हो जाता है। कुछ मुहावरे भी हिन्दी में अँग्रेजी से आये हैं जैसे रंगे हाथों पकड़ा जाना, नया अध्याय खुलना आदि। अब हिंदी साहित्य पर अंग्रेजी का प्रभाव देखना चाहिए। आधुनिक काल की हिन्दी कविता में वर्त्तमान छायावाद और रहस्यवाद बहुत अंशों मे अँग्रेजी (Romanticism) और (mysticism) से प्रभावित है। 'पश्चिम के स्वच्छन्द विचारों के सम्पर्क से राजनीतिक और सामाजिक बंधनों के प्रति असंतोष की भावना मधुर उभार

के साथ उठी, राजनीति में ब्रिटिश साम्राज्य की अचल सत्ता और समाज में सुधारवाद की दृढ़ नैतिकता असन्तोष और विद्रोह की इन भावनाओं को वहिर्मुखी अभिव्यक्ति का अवसर नहीं देती थीं, निदान वे अन्तर्मुखी होकर धीरे-धीरे अवचेतन में जाकर बैठ रही थीं और वहाँ से क्षति पूर्ति के लिए छाया-चित्रों की सृष्टि करने लगीं, आशा के इन स्वप्नों और निराशा के इन छाया चित्रों की काव्यगत समष्टि ही छायावाद कहलायी।' हिन्दी कविता में 'हालावाद' भी उमर खैय्याम की रुबाइयात के अँग्रेजी अनुवादों से प्रभावित है। निराला जी की अतुकांत छन्द में लिखी हुई कुकुरमुत्ता कविता अँग्रेजी शैली एवं शब्दसमूह से विशेष प्रभावित है। पन्त जी का प्रकृति वर्णन वर्ड्सवर्थ से विशेष प्रभावित है। आपकी प्रयोगवादी कविताएँ आधुनिकतम अँग्रेजी साहित्य की लाक्षणिक व्यंजनात्मक कविताओं की सफल अनुकरण मात्र हैं। आज की हिन्दी कविताओं की छन्द पद्धति भी अँग्रेजी के आधार पर निर्मित हुई है। सानेट और मुक्तक लिखने की परम्परा अँग्रेजी से उधार ली गई है।

गत एक सौ पचास वर्षों में भारतीय मनोवृत्ति, भारतीय दृष्टिकोण, रहन-सहन एवं भारतीय विचार-धारा में अँग्रेजी का विलक्षण प्रभाव पड़ा है। हिंदी-साहित्य भी इससे अछूता नहीं रह सका। गद्य, उपन्यास, नाटक समालोचना, निबंध पत्रलेखन, स्केच, इतिहास, विज्ञान, अर्थशास्त्र, भाषा-विज्ञान तथा समाजशास्त्र आदि के माध्यम से हिन्दी साहित्य ने अपनी सीमा को विशेष व्यापक बना लिया है। अँग्रेजी के कारण हिन्दी साहित्य में 'भौतिकता' को प्रश्रय मिलने लगा। 'संतन को कहा सीकरीसो काम' की भावना लुप्त होने लगी। वीर गाथाएँ एवं रीतिकाल में राष्ट्रीयता की भावना जो हिन्दुत्व के आगे नहीं बढ़ सकी थी वही अब वैयक्तिक शौर्य अँग्रेज शासक के विरुद्ध हिन्दुस्तान की संगठित राष्ट्र भावना के रूप में मुखरित हुआ और उसके उत्स विभिन्न रूपों में कविता, कहानी, उपन्यास आदि की भावनाओं में स्वछंदवादी विद्रोही प्रवृत्ति में भौतिकता का आग्रह लेकर फूटे। हिन्दी में शताब्दियों से चली आती पद्य-

त्मक प्रवृत्ति का स्थान गद्यात्मक प्रवृत्ति ने ले लिया। दूसरे शब्दों में अँग्रेजों की देखा-देखी हम भावुकता छोड़कर अधिक व्यावहारिक बन गए। १६ शताब्दी से पहले गद्य का रूप अत्यंत नगण्य था, न तो उसकी निश्चित शैली थी और न रूप किन्तु अंग्रेजी के प्रभाव से एक ही शताब्दी में हिंदी गद्य का पर्याप्त परिष्कार हुआ। शैली के परिमार्जन के अतिरिक्त भाव प्रदर्शन की अनेक प्रौढ़ शैलियों का विकास हुआ। देश-भक्ति, समाज-सुधार आदि विषयों पर हिन्दी गद्य में साहित्य लिखा जाने लगा। हिन्दी भाषा-भाषियों में पाश्चात्य विज्ञान, समाजशास्त्र, राजनीति आदि की भूख बढ़ी। नवीन भावों के माध्यम से नवीन विचार व्यक्त किए गए। कहानी साहित्य आख्यायिका के नाम से तो हिन्दी में था किन्तु आज की कहानी पर short story का प्रभाव स्पष्ट है। घटनाओं की अस्वाभाविकता का परिहार चरित्र-चित्रण की मनोवैज्ञानिकता एवं भावों की तीव्रता आदि अँग्रेजी की देन है। जोशी जी की रचनाओं में मनोविज्ञान का विशेष आग्रह अँग्रेजी की ही देन है। लक्ष्मीनारायण मिश्र की शैली पर अँग्रेजी शैली का प्रभाव स्पष्ट है। आधुनिक हिन्दी नाटकों में पद्यांश की कमी, सूत्रधार आदि का अभाव, लम्बे-लम्बे रंगमंचीय संकेत एवं चरित्र-चित्रण की सुघरता आदि पाश्चायत्य प्रभाव से ओतप्रोत है। दुखान्त नाटकों की सृष्टि पाश्चात्य विचारधारा पर ही है। आज का समस्त एकांकी साहित्य अँग्रेजी साहित्य के अनुकरण पर है। श्री लक्ष्मीनारायण पर इब्सन और शा का प्रभाव स्पष्ट है। डा० वर्मा के एकांकी नाटकों पर मेटरलिंक का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है। हिन्दी में ध्वनि एकांकी तो एक मात्र अँग्रेजी अनुसंधान रेडियो पर टिका हुआ है। यद्यपि वीथी, भाण, प्रहसन आदि के द्वारा संस्कृत साहित्य में एकांकी का अभाव नहीं था किन्तु आज का एकांकी अपनी संपूर्ण टेकनीक के साथ अँग्रेजी साहित्य का ऋणी है। आए दिन बाजारों में जो पाकविज्ञान से लेकर काम-शास्त्र तक की अनेकों पत्र-पत्रिकाएँ देखने को मिलती हैं उन्हें हम अँग्रेजी के प्रभाव से युक्त ही पाते हैं। हिन्दी में पत्रकारिता का भविष्य अँग्रेजी की देखा-देखी हुई है। अँग्रेजों के पूर्व हिन्दी में पत्रकारिता

का नितांत अभाव था। इस प्रकार आदान-प्रदान हुआ है, हिन्दी ने अपनी सुदृढ़ पाचन शक्ति के द्वारा ग्रहण की हुई चीज को अपनी संस्कृति के अनुकूल बनाकर उसे पचा लिया है यह बड़े हर्ष का विषय है। हिन्दी लेखकों ने अन्धानुकरण नहीं किया। इसका एक मात्र श्रेय हमारी समन्वयकारी भारतीय संस्कृति को ही है जिसके बल पर वह अनेक संक्रामक कीटाणुओं से अपने स्वास्थ को बचाती रही है और बचाती जायगी।

कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं मिटाये।
सदियों रहा है दुश्मन गोकि जहाँ हमारा।

: ५८ :

जीवन का चरम लक्ष्य

भोगलिप्सा के इस व्यस्त उद्दाम युग में असहाय नर की भावना निष्क्रिय होकर विवशता की लाश ढोती हुई हाँफ रही है, प्राचीन युग से आज के युग की सांसों का सिलसिला सहज चलता जा रहा है। आज का व्यस्त संकुल मानव अपने को किसी उलझन में नहीं डालना चाहता। इस यांत्रिक युग में वो स्वयं एक यंत्र बन गया है। यंत्र का भी क्या कुछ लक्ष्य होता है, चलते-चलते घिस जाना ही उसकी इष्ट है। समझ में नहीं आता जीवन है क्या? बचपन, जवानी, बुढ़ापा? और फिर मृत्यु। युगों से यह परम्परा ढोयी जा रही है और न जाने कब तक चलेगी। इतना सारा वाग्जाल, इतना सारा ज्ञान, अर्ब खर्ब लौं द्रव्य, उदय अस्त लौं राज्य, दिग्विजयी रघु का देश शायद यही तो है जिनका प्रखर प्रताप दिग्-दिगन्त को दीप्त करता रहा और ढलते समय क्षुद्र मृत्तिका पात्र में ही सिमिट गया। बाणों की शय्या पर सोने वाले अजेय भीष्म की वाणी यहीं कहीं तो व्याप्त होगी जो अपने वीर चरित पर एक प्रश्न लिए चले गए। अमिताभ के वे उपदेश, कृष्ण की वह गीता, भग-

वान राम के वे आदर्श सभी तो सामने हैं। हमें कुछ भी श्रम नहीं करना है, आइने की तरह कान्तिमान इन महापुरुषों के आदर्श जीवन के जाज्वल्यमान तत्त्व, प्रकाशस्तंभ की तरह हमारा अंधकार दूर कर रहे हैं। चाहे यत्र भारते तत्र भारते की क्रोड में खेलिए चाहे वाल्मीकि की तपःपूत वाणी में। चित्य है यह सब किसलिए, किसके लिए और क्यों ? तुलसी बार-बार समझाते रहे—

भलो जो है पोच जो है दाहिनो जो बामरे
अंत समय सब ही को राम ही सो कामरे
जग नभ वाटिका रही है फल फूलि रे
धुँआ कैसो धौरहर देख तू न भूलि रे।

तुलसीदास जी ने भरत के बहाने अपने जीवन का प्रेय, श्रेय एवं एकमात्र अभीष्ट जो कुछ भी है, कह दिया है—

अर्थ न धर्म न काम रुचि, गति न चहौं निर्वान।
जनम जनम रति राम पद, यह वरदान निदान॥

मीराँ की एक मात्र यही पूँजी थी चाहें तो इसे उनका लक्ष्य कह लीजिए—

मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरो न कोई
जाके सिर मोर मुकुट, मेरो पति सोई

सूर के लिए तो हरि हारिल की लकड़ी है। रसखान ने तो डंके की चोट पर कहा है—

मानुष हौं तो वही रसखान बसौं इन गोकुल गाँव के ग्वारन
जो खग हौं तो बसेरो करौं मिलि कालिंदी कूल कदम्ब की डारन

तुलसी के राम, सूर के कृष्ण, मीराँ के गिरिधर गोपाल, एवं रसखान के रसिक नटनागर सब एक होते हैं। जो अखिल विश्व के कण-कण में रमे हैं, वही राम है जो प्राणी मात्र की काली पुतली में ज्योति बनकर समाए हैं, वही कृष्ण हैं जो सबके पालक हैं, वही गोपाल हैं जो सब की आशा

आकांक्षाओं सम्पत्ति-विपत्ति, सुख-दुख से आँखमिचौनी खेलने वाले हैं वही नट-नागर हैं।

जड़ चेतन जग जीव जत, सकल राम मय जानि।
बंदउँ सब के पद कमल, सदा जोरि जुग पानि॥

राम की उपासना का यही प्रतीक लक्ष्य तुलसीदास का है। इससे छोटे एवं संकरे लक्ष्य की बात उन्हें नहीं जँचती। तुलसीदास के लक्ष्य को ही अपनाना हमारा एक मात्र ध्येय होना चाहिए। विश्व वंद्य बापू ने उन्हीं के स्वर में स्वर मिलाते हुए कहा—'मैं उस परमात्मा के अतिरिक्त और किसी परमात्मा को नहीं जानता, जो लक्ष-लक्ष मूक प्राणियों के हृदय में मिलता है, मैं इन लाखों की सेवा करके उस परमात्मा की अर्चना करता हूँ।'

मानव जीवन के चरम लक्ष्य के विषय में आज की दुर्दशा पर प्रकाश डालते हुए दिनकर जी ने लिखा है :—

अपहरण शोषण वही कुत्सित वही अभियान
खोजना चढ़ दूसरों के भस्म पर उत्थान
शील से सुलझा न सकना आपसी व्यवहार
दौड़ना रह रह उठा उन्माद की तलवार
सृष्टि को निज बुद्धि से करता हुआ परिमेय चीरता परमाणु की सत्ता असीम अजेय
बुद्धि के पवमान में उड़ता हुआ असहाय जा रहा तू किस दिशा की ओर को निरुपाय
लक्ष्य क्या? उद्देश्य क्या? क्या अर्थ? यह नहीं यदि ज्ञात तो विज्ञान का श्रम व्यर्थ

अखिल विश्व में जितने प्रयत्न हो रहे हैं—यह खींचतान, यह मारकाट, यह उछलकूद और यह दौड़धूप, इनका लघुत्तम भले कुछ हो; परन्तु महत्तम है मनुष्य, मनुष्य के लिए ही मनुष्य का होम किया जा रहा है,

मंजिल पर मिट्टी ही मिट्टी के लिए भार बनी जा रही है, समस्त विरोधों और संधानों से बड़ा और सब को छापकर विराज रहा है मनुष्य, इस मनुष्य की भलाई के लिए अपने आपको निःशेष भाव से देकर ही जीवन की पूर्णाहुति सम्पन्न हो सकती है। भेद और विरोध भिन्न-भिन्न विचार-धाराएँ, भिन्न-भिन्न लक्ष्य सब ऊपरी बातें हैं, भीतर एक मात्र सत्य है मनुष्य और इसी की सच्ची सेवा करना ही हमारे जीवन का चरम लक्ष्य होना चाहिए। चाहे हम साहित्य की सेवा करें चाहे समाज की, चाहे वाणिज्य के माध्यम से चाहे सेवा के पथ से, सब में यह सामान्य तत्त्व निहित मिलेगा 'मनुष्य'। इसी के लिए अधिक से अधिक कल्याणकारी साधन जुटाना ही हमारा एक मात्र कर्त्तव्य होना चाहिए। 'मंदिर मस्जिद' गिर्जाघर तो पार्थक्य की नीवें रखते हैं, हमें इन सब के विचारों को हजम कर सारभूत पदार्थ से अपनी आत्मा का ओज बढ़ाना होगा। काल्पनिक मोक्ष या स्वर्ग की कामना में अपने शरीर को कष्ट न देकर मनुष्य की सेवा करनी होगी—

मैं न जाता हूँ कभी मंदिर व मस्जिद में अरे माथा झुकाने
क्योंकि मैंने पा लिया है देवता को आदमी की बोलती तस्वीर में

हमें अपने लक्ष्य को अपनी साधना से खराद कर इतना तेज बना लेना होगा कि जिससे—

शक्ति के विद्युत कण जो व्यस्त विकल बिखरे हैं, हो निरुपाय।
समन्वय उसका करें समस्त, विजयिनी मानवता हो जाय॥

मनुष्य का एकमात्र श्रेय, जीवन का एकमात्र चरम लक्ष्य होना चाहिए—

मानवों के हेतु अर्पित मानवों की आयु श्रेय उसका आँसुओं की धार
—श्रेय होगा मनुज का समता विधायक ज्ञान, स्नेह सिंचित न्याय पर नव विश्व का निर्माण
श्रेय होगा धर्म का आलोक वह निर्बन्ध मनुज जोड़ेगा मनुज से जब उचित संबंध

और इसके लिए मनुष्य को बड़ी साधना करनी पड़ेगी। अब बरामदे से काम

नहीं चलेगा, उसको अपना चिर सुरक्षित आत्मा नाम का अन्तः प्रकोष्ठ सबके लिए खोल देना पड़ेगा, सबका समान भाव से स्वागत करना ही काम्य होगा। बौद्धिक उलझनों में उलझता हुआ सुलझने की हास्यास्पद आशा लिए आज का मनुष्य अकबर की इस रुबाई से बहुत कुछ सीख सकता है।

खातिरे मजबूत दिल तवाना रक्खो, उम्मीद अच्छी खयाल अच्छा रक्खो।
हो जाँयगी सब तुम्हारी मुश्किलें आसान, अकबर अल्लाह पर भरोसा रक्खो॥

फूलों पर आँसू के मोती और अश्रु में आशा लिए हुए मिट्टी के जीवन की नपी-तुली साँस बहुत क्षणिक है उसके लिए इतनी सारी उलझन कौन बर्दाश्त करे।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।

: ५६ :

कविता जीवन की आलोचना है

'कविता जीवन की आलोचना है' इस सूक्ति के प्रतिपादक प्रसिद्ध अँग्रेज आलोचक मेथ्यूआर्नल्ड हैं। उन्होंने गेटे, होमर, शेक्सपियर, कीट्स आदि महाकवियों की कृतियों में निहित मानवता के प्रति लोकोत्तर संदेश की ओर ही संभवतः लक्ष्य किया है। उन्होंने काव्य को truth of substance की भी संज्ञा दी है। यहाँ पर हमें एक और शब्द का परिचय दे देना आवश्यक होगा। वह शब्द है Poetic Truth (काव्यगत सत्य)। प्रश्न यह उठता है कि काव्यगत सत्य और जीवन के सत्य में पारस्परिक क्या संबन्ध है। मनुष्य अपनी काल्पनिक सृष्टि में पाप के फल को गर्हित ठहराता हुआ पुण्यफल की सदैव प्रतिष्ठा करता है। चिन्तनीय यह है कि उस सृष्टि का

विधि की इस सृष्टि से मेल किस प्रकार हो। यदि कल्पना कोरी कल्पना है, उसका वास्तविक जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं है, उसके पैर धरती की धूल में न सनकर नभ के प्रसून-मकरन्द से लिप्त हैं, वह उद्देश्यहीन निरर्थक कल्पना कला का सबसे बड़ा अपमान है। कविता भावविलास, कल्पना विलास एवं चिन्ता विलास मात्र न होकर अंतर्जगत एवं बहिर्जगत का सम्मिलन कराने वाली शक्तिशाली माध्यम के रूप में प्रतिष्ठित है। जो कलाकार काव्य के अन्तरंग की उपेक्षा कर बहिरंग को सजाने-सँवारने में ही विषेश प्रयत्नशील रहते हैं उनसे हमें या मानवता को बहुत बड़ी आशा नहीं करनी चाहिये। उत्कृष्ठ कविता के मोती तो असल जीवन की गहराई में पैठकर ही निकाले जा सकते हैं। कबीर ने बहुत पहले चिल्ला-चिल्ला कर डंके की आवाज में कहा था—

जिन खोजा तिन पाइयाँ गहरे पानी पैठ।
हौं बौरी ढूँढ़न गयी, रही किनारे बैठ॥

कविता का उदय मानव हृदय में होता है और उसका लक्ष्य मानव हृदय को रस सिंचित कर आनन्द का उद्रेक करना होता है। गुलाबराय जी ने मनुष्य से भावात्मक सम्बन्ध रखने वाले अनुभवों की आनंद प्रदायिनी सुन्दर शब्दमयी अभिव्यक्ति को काव्य, माना है। कविता गद्य और पद्य दोनों में व्यक्त हो सकती है। वह केवल शब्दार्थों में ही नहीं वरन् स्वरों में भी निहित रहती है तथा जो नाद के अतिरिक्त उन दृश्यों के दिल को चीरती हुई बरबस फूट निकलती है, जो वस्तु एवं स्थापत्य द्वारा प्रदर्शित किये जाते हैं। अजन्ता की एक-एक भावमयी मुद्रायें अपने में एक-एक मधुर गीत को छिपाए हैं। अजन्ता की गुफा मानो स्वयं एक महाकाव्य है।

कविता 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' की समष्टि है।

कविता का धर्म आनन्द प्रदान करके हृदय को सुसंस्कृत एवं उत्तेजित करना है। अन्य ललित-कलाओं के समान कविता भी चरम आनन्द की सीमा तक पहुँचाने की शक्तिशाली सीढ़ी है। कविता सभी प्रकार के सौंदर्य

का चित्रण सुन्दरता के साथ करती है। शब्द सौंदर्य की सत्ता उससे पृथक नहीं है इसीलिए हमारे आचार्यों ने अलंकार-शास्त्र को काव्य-शास्त्र के एक अंग के रूप में स्वीकार कर लिया है।

कविता का मानव जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। मनुष्य का एक मात्र काव्य आनन्द की उपलब्धि है और कविता उसको प्राप्त कराने का मधुर माध्यम है। इसीलिये काव्य के आनन्द को ब्रह्मानन्द सहोदर कहा गया है। मनुष्य जब अपने जीवन को नाना जटिलताओं एवं संघर्षों के कारण असंतुलित पाता है उस समय काव्य ही उसके जीवन में संतुलन उपस्थित कर भार को हल्का करता है। काव्य के द्वारा मानव एक दूसरे के प्रति सहानुभूतिशील होते हैं, अपने स्वार्थ के संकुचित घेरे से बाहर निकल कर वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना को अपनाता है। श्रेष्ठ काव्य सर्वथा देश काल की सीमा से परे होते हैं इसीलिए सूर की यशोदा में विश्वभर की माताओं का करुण कंठ स्वर सुनाई पड़ता है। विदा होते समय शकुन्तला की हिचकियों में प्रत्येक गृहस्थ कन्या की सिसकियाँ सुलग रही हैं।

काव्य को सम्पूर्ण मानव जाति की सामूहिक स्मृतिमयी जाग्रति के रूप में भी स्वीकार किया गया है क्योंकि जो स्थान व्यक्ति के जीवन में स्मृति का है वही स्थान समाज के जीवन में काव्य का है। प्राचीन ज्ञान-विज्ञान एवं साधना का स्मरण दिलाकर काव्य हमें जीवन-यात्रा में कर्मठ एवं उत्साही बनाता है, हममें आत्मगौरव एवं स्वाभिमान की उत्पत्ति करता है। भिन्न-भिन्न देशों एवं कालों के व्यवहार का ज्ञान कराता है। जो अनुभव मनुष्य अपने व्यक्तिगत जीवन में नहीं प्राप्त कर सकता वह अनुभव उसको नाटकों एवं उपन्यासों के माध्यम से मिल जाता है। इस प्रकार काव्य हमें मानव जाति के मनोविज्ञान को समझने के लिए सक्षम बनाता है। काव्य के द्वारा हमें अधिक से अधिक व्यवहार कुशलता की उपलब्धि होती है।

'वे कार्य या घटनाएँ, जो मनुष्य की मौलिक भावनाओं पर अपना पूर्ण प्रभाव डालती हैं मनुष्य जीवन में सर्वत्र विद्यमान रहती हैं और समय का

इन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। चूँकि ये भावनाएँ शाश्वत और समान हैं, इसलिए कविता के विषय भी शाश्वत और समान हैं अतएव किसी घटना के प्राचीन या आधुनिक होने से कविता पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। जो कुछ उच्च और महान् है वह हमारे हृदय को रुचिकर प्रतीत होता है और जो कुछ रुचिकर है वह काव्य का विषय है। महाकवि जो कुछ कहता है वह तो विशाल होता ही है, जो नहीं कहता है वह अनुमान के द्वारा भी कठिनाई से ग्राह्य होता है, उसकी वाचलता उच्च होती है और निश्शब्दता उससे भी अधिक गंभीर और उच्चतर। उसका काव्य प्रतिध्वनि करता है कि प्रकृति में अनेक प्रकार का सौंदर्य विद्यमान है और सहस्रों प्रकार के दिव्य भाव दिखाई देते हैं—इन देवताओं की भक्ति जो जितना जी चाहे करके अपने उद्देश्य की पूर्ति कर ले।

महाकवियों की महत्ता का विचार सहसा यह धारणा उत्पन्न करता है कि 'संसार को अकबर की उतनी आवश्यकता नहीं जितनी कि तुलसी की।' (अनूप शर्मा—कविता और कवि)।

कविता अपने आप में एक ऐसा अनुपम आदर्श है जो विकृत को सुन्दर और सुन्दर को सुन्दरतर बना देने की शक्ति रखती है। कविता संसार के ज्ञान का सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्व है। कविता लोकोत्तर सौन्दर्य से कल्पना को अलंकृत ही नहीं करती वरन् संसार के दुःखों से निवृत्ति देकर एक भावना का स्रोत उत्पन्न करती है। वह मानव जीवन की नैतिकता को व्यक्त करती हुई एक ऐसे सत्य एवं पवित्र जीवन की ओर उन्मुख करती है जो व्यावहारिक जीवन का एक मात्र आदर्श है, साध्य है, लक्ष्य है।

कविता ज्ञान, आनंद और शक्ति के साधनों को जन्म देती है तथा उनमें एक सन्तुलन स्थापित करती है। आन्तरिक जीवन के सौंदर्य को अक्षुण्ण रखने के लिए वाह्य जीवन के उपकरणों का उनके साथ ऐसा मेल बैठाती है जिससे युग-युग का कल्मष धुल जाता है और आत्मा एक दिव्य ज्योति से आलोकित हो जाती है।

कविता प्रत्येक वस्तु को सौन्दर्यमयी जीवनदायिनी क्रांति प्रदान करती है,

सांसारिक विभिन्नताओं में एकसूत्रता लाकर व्यष्टिगत सत्य को समष्टि में परिणित करती है। जीवन में मृत्यु के स्रोत से प्रवाहित विषाक्त जल को अपने स्पर्शमात्र से अमृत में बदल देती है। कविता द्वारा हमें एक ऐसी प्रखर ज्योति मिलती है जिसके बल पर हम मानव जीवन की अंधकारमयी गंभीर गुफाओं में प्रवेश करके एक आत्मा के भीतर दूसरी आत्मा का तारतम्य जोड़ते हुए उस चरम सत्य की प्राप्ति कर लेते हैं जिसको पाकर फिर कुछ पाना बाकी नहीं रह जाता।

निस्संदेह कविता जीवन की आलोचना है या यों कह लीजिए कि जीवन ही कविता है या कविता ही जीवन है अथवा कविता और जीवन दोनों एक दूसरे के पर्याय हैं। जीवन से हटी हुई कविता कला की सबसे बड़ी विडम्बना है उसी प्रकार कविता से शून्य जीवन भी जीने की कला का घोर उपहास है। कहा भी गया है—

काव्य शास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम्।
व्यसनेन च मूर्खाणां निद्रया कलहेन वा॥

: ६० :

साहित्य का उद्देश्य या प्रयोजन

'साहित्य भावः इति साहित्यम्' जिसमें हित की भावना निहित हो उसे साहित्य की संज्ञा दी जाती है। प्रत्येक प्राणी अपने स्वार्थजन्य हित को अच्छी तरह समझता है किन्तु वह हित साहित्य में निहित हित से पृथक होता है, वह व्यष्टि के संकुचित घेरे में पड़ा रहता है जबकि साहित्यगत हित व्यष्टिगत होता हुआ भी समष्टि की आशा आकांक्षाओं का जीवंत दीपक होता है। इसीलिए साहित्य को 'सर्वांगीण जीवन की आलोचना' के रूप में स्वीकार किया गया है। दूसरे शब्दों में कुछ स्पष्ट ढंग से साहित्य को

'प्रगतिशील अनुभूतिपूर्ण जीवन की संवेदनाशील व्याख्या' माना जा सकता है।

महाकवि भवभूति ने वाणी को, कविता या साहित्य को 'आत्मा की कला' कहा है क्योंकि मनुष्य जिस किसी वस्तु का निर्माण करता है वह सम्पूर्ण रूप से पूर्ण आभासित हो, उसके संपर्क से ही एक प्रकार के अनिर्वचनीय आनन्द की उपलब्धि हो जाय जो अपने आप में न अट सके, न समा सके। जहाँ मूर्तिमान् दुख और करुणा भी आनंद के रूप में परिणत हो जाय, वह सब आत्मा की ही कला है।

वन्देमहि च तां वाणीममृतामात्मनः कलाम्। (उत्तर रामचरित-भवभूति)

साहित्य को आत्मा का सु-मन कहना अधिक न्यायसंगत होगा। जिस प्रकार एक पुष्प अपने वृक्ष के समस्त रस को अपने में समेटकर एक नवीन उज्ज्वल आह्लादमय रूप में खिल उठता है उसी प्रकार कला या साहित्य भी मानव हृदय के समस्त रस को अपने अंदर आकृष्ट करके एक नवीन, उज्ज्वल एवं आनंदमय रूप में विकसित हो उठता है। कवीन्द्र रवीन्द्र ने लिखा है कि 'भगवान की आनंदमयी सृष्टि अपने अंदर से स्वयं उत्सृष्ट हो रही है। मानव हृदय की आनंद सृष्टि उसी की प्रतिध्वनि है। भगवान की सृष्टि के आनंदगीत की मधुर झंकार हमारी उर-वीणा को निरंतर स्पंदित करती है। इसी मानस संगीत का—भगवान की सृष्टि के प्रतिघात में हमारे अन्दर सृष्टि के आवेग का विकास साहित्य है। संसार का निश्वास हमारी चित्तवंशी में कौन सी रागिनी को बजा रहा है—साहित्य उसी को स्पष्ट करने का प्रयत्न करता है। साहित्य किसी व्यक्ति विशेष का नहीं है, वह रचयिता का भी नहीं है, वह तो अमृतवाणी है। जिस प्रकार बाह्य सृष्टि अपनी अच्छाई बुराई और असम्पूर्णता को लेकर चिरकाल से व्यक्त होने की चेष्टा कर रही है—उसी प्रकार यह वाणी भी प्रत्येक देश और प्रत्येक भाषा में मनुष्य के अन्तस्तल के बाहर आने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील है।'

साहित्य के अन्तर्गत किस प्रकार की सामग्री का समावेश हो सकता है उस पर प्रकाश डालते हुए आगे कवीन्द्र कहते हैं—

'जो वस्तुएँ दूसरों के हृदयों में अनुभूत होने के लिए प्रतिभाशाली हृदयों से स्वरों, रंगों और इंगितों में अभिव्यक्त होने का प्रयत्न करती हैं, जो जब तक सृष्ट नहीं होतीं तब तक हृदयों में प्रतिष्ठा लाभ नहीं कर सकतीं —वे ही साहित्य की सामग्री हैं। वे आकार में, प्रकार में, भाव में, भाषा में स्वरों में, छन्दों में प्रकाशित होकर जीवित रहती हैं। वे मनुष्य की एक मात्र अपनी हैं, वे आविष्कार नहीं हैं, अनुकरण नहीं हैं, सृष्टि हैं। इसलिए उनके एक बार प्रकाशित हो उठने पर—उनको दूसरे रूप या दूसरी अवस्था में परिवर्तित नहीं किया जा सकता। उनके प्रत्येक अंश पर उनकी समग्रता पूर्ण रूप से निर्भर करती है। जो वस्तु ऐसी नहीं है उसे हम साहित्य नहीं कह सकते।

प्रगतिशील लेखक संघ के लखनऊ अधिवेशन में सभापति के आसन से भाषण देते समय श्री प्रेमचन्द जी ने साहित्य के उद्देश्य पर प्रकाश डालते हुए कहा था—

निस्संदेह काव्य और साहित्य का उद्देश्य हमारी अनुभूतियों की तीव्रता को बढ़ाना है, पर मनुष्य का जीवन केवल स्त्री पुरुष के प्रेम का जीवन नहीं है। क्या वह साहित्य, जिसका विषय शृंगारिक मनोभावों और उनसे उत्पन्न होनेवाली विरहव्यथा, निराशा आदि तक ही सीमित हो—जिसमें दुनिया और दुनिया की कठिनाइयों से दूर भागना ही जीवन की सार्थकता समझी गई हो, हमारी विचार और भाव सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूरा कर सकता है? शृंगारिक मनोभाव मानव जीवन का एक अंगमात्र है और जिस साहित्य का अधिकांश इसी से संबंध रखता हो, वह उस जाति और उस युग के लिए गर्व करने की वस्तु नहीं हो सकता और न उनकी सुरुचि का ही प्रमाण हो सकता है।

साहित्य के उद्देश्य के संबंध में विभिन्न विद्वानों के अनेक मत है। मनोविज्ञान से पूछिए तो वह कहेगा—प्रत्येक प्राणी अहं की भावना का प्रकटी-

करण करना चाहता है। अपने आपको प्रकाशित करने की प्रवृत्ति अत्यंत प्राचीन है इसी आत्म प्रकटीकरण की भावना से प्रेरित होकर साहित्य को जन्म दिया गया है। आदर्शवादियों की निश्चित धारणा है कि साहित्य एक ऐसा प्रौढ़ प्रयत्न है जिसके माध्यम से अखिल विश्व में रागात्मक संबंध स्थापित होता है। नीतिज्ञों का कहना है कि साहित्य का प्रयोजन मन और आत्मा का परिष्करण मात्र है। कलाविदों की सम्मति में साहित्य को किसी उद्देश्य के बंधन में बांधना उसकी आत्मा की हत्या करना है क्योंकि वह स्वतः अपना उद्देश्य है। कलाकार जब अपनी कल्पना के द्वारा अपने मनोगत भावों या विचारों को प्रकट करता है उस समय उसके आगे उद्देश्यों की सीमित सीमा न होकर उन्मुक्त गगन लहराता रहता है।

साहित्य में समन्वय की भावना है, समेटकर चलने का उत्तम उद्देश्य है। यही भावना साहित्य निर्माण की तह में है। मनुष्य चिरकाल से मानव-मानव, जड़ चेतन, दृश्य अदृश्य में सामंजस्य स्थापित करने की साधना करता चला आ रहा है। इसके लिए विचारों और भावों का पारस्परिक विनिमय अत्यंत आवश्यक है। निस्संदेह साहित्य के मूल में स्वयं को दूसरे के निकट लाने की भावना काम करती है। इस सहयोग की भावना का व्यापक प्रसार ही साहित्य का उद्देश्य माना जा सकता है।

क्रोचे के अनुयायी अमेरिकन आलोचक **स्पिनगार्न** ने लिखा है कि कला की परीक्षा नैतिक दृष्टि से करना अंध परंपरा है जिसे अब हम छोड़ चुके हैं। काव्य साहित्य का उद्देश्य न केवल शिक्षा या केवल आनंद देना है, बल्कि दोनों। कला का एक ही लक्ष्य है, अभिव्यक्ति। अभिव्यक्ति के पूर्ण होते ही कला का उद्देश्य पूर्ण हो जाता है, सौन्दर्य स्वयं अपना साध्य है, उसके अस्तित्व के प्रयोजन की खोज वांछनीय नहीं है। सौन्दर्य की दुनिया सत्य और शिव दोनों क्षेत्रों से पृथक् है और कला को नीति विरोधी कहना वैसा ही है जैसा किसी गीत या इमारत को आचार शून्य घोषित करना।

ब्रेडले ने 'कविता कविता के लिए' निबन्ध में लिखा है कि कला स्वयं

अपना साध्य है। वह धर्म, संस्कृति, नैतिक शिक्षा, मनोवेगों को मृदु बनाने आदि का साधन नहीं है।

टालस्टाय का मत है कि कला की मुख्य कसौटी नीति और धर्म है। उनका कहना है कि—

In every age and in every human society there exists a religious sense of what is good and what is bad common to that whole society, and it is this religious conception that decides the value of the feelings transmitted by art.

मैथ्यू आर्नल्ड का मत है कि 'जो काव्य नैतिकता के प्रति विद्रोही है वह स्वयं जीवन के प्रति विद्रोही है और जो काव्य नैतिकता से उदासीन है वह स्वयं जीवन से उदासीन है।

इलियट का कहना है कि 'शब्दों का भयंकर दुष्प्रयोग किये बिना यह नहीं कहा जा सकता कि कविता नीति की शिक्षा, राजनीतिक मार्ग दर्शन अथवा धार्मिकता या उसके समान कुछ और है। कविता का नैतिकता, धर्म भावना और संभवतः राजनीति से भी कुछ सम्बन्ध अवश्य है।

कला की सृष्टि मानवता की कोरमकोर चेष्टा मात्र भी नहीं है और न प्रयोजन से शून्य है। कला के माध्यम से मनुष्य अपने आवेष्टन के उन पहलुओं को समझने का प्रयत्न करता है जो उसके सुख-दुख, राग-द्वेष से घनिष्ट रूप में संबद्ध है। जीवन में जो शुभ है, सुंदर है, पाप है, अभिशाप है उसकी ओर वह हमारा पथ निर्देश करती है एवं अखिल विश्व से रागात्मक संबंध स्थापित करने की प्रेरणा प्रदान करती है।

वह हममें मानव जीवन के मूल्यांकन की क्षमता उत्पन्न करती है। कला नीति और धर्म भावना की विरोधिनी नहीं है। कलाकार की दृष्टि अधिक संवेदनशील, अधिक विश्वासनीय एवं निष्पक्ष होती है। कलाकार की दृष्टि सदैव निर्धारित नीतिवाद के संकुचित नियमों से अनुशासित होकर नहीं चलती वरन् उससे अधिक जीवंत एवं व्यापक होती है। कारण प्रगति-

शीलता पुराने नीतिवादों को छोड़ती हुई या उनमें परिष्कार करती चलती है पर प्राचीन कलाकृतियों से अनुराग रखती हुई। मनु आज पुराने पड़ गए परन्तु कालिदास चिर नवीन हैं।

उच्च कोटि के कलाकार की प्रतिभा अनुभूतिजन्य गंभीरता एवं व्यापकता के सम्मिश्रण से बनती है। वह अपने युग का पूर्ण प्रतिनिधित्व करता है। उसकी वाणी में समस्त युग करवटें बदलता है। युग की आशा-आकांक्षायें रोती-गाती हैं। अश्रु और स्मित सोते-जागते हैं।

साहित्य हमारी भौतिक आकांक्षाओं को सहलाने के साथ-साथ आध्यात्मिक जिज्ञासा को भी शांति करता है। साधारण भाव भूमि में चरण टिकाये हुए भी असाधारण नक्षत्र लोकों की सैर कराता है। वह चिरयुगीन है, सत्य की तरह शाश्वत है। साहित्य का एक मात्र लक्ष्य मानव-हित है। मानव जाति की कल्याण कामना से साहित्य साहित्य कहलाने का अधिकारी है। 'विजयिनी मानवता बन जाय' की कामना ही साहित्य का एकमात्र उद्देश्य है।

स+अ+हि+त्य=साहित्य। आदि अंत के अक्षरों के मिलने से 'सत्य' शब्द बनता है, यही साहित्य का उद्देश्य है। बीच के अक्षरों से 'अहि' का निर्माण होता है। यह सत्य अपने अन्दर अहि को छिपाए इस जगत में व्याप्त है, वह शंकर की भांति अपने नीलकंठ में विष को छिपाए मुस्करा रहा है। असिव वेष होते हुए भी कृपालु शिव है।

साहित्य का समष्टि रूप में एकमात्र प्रयोजन असाधारण अथवा अद्भुत तत्त्व को सत्य के रूप में प्रतिष्ठित करना है। भौतिकता से परे एक ऐसे असीम लोक में वह हमें ले जाता है जहाँ पर सत्य शिव और आनन्द एक में मिल जाते हैं। वह मनुष्य के मानसिक उत्सों या कुंठाओं को अपने निर्मल भावस्रोत से धोता हुआ निरंतर ताजगी एवं स्वास्थ्य प्रदान करता चलता है। साहित्य से अलग हटा हुआ जीवन जीवन कहलाने का वास्तविक अर्थों में अधिकारी नहीं। ध्यान रहे यहाँ साहित्य का प्रयोजन लिटरेचर से न होकर हित की भावना से प्रेरित है। सर्वभूत हित रत की भावना से अनुप्राणित साहित्य ही उच्च कोटि का साहित्य है।

'साहित्यसंगीत कला विहीनः साक्षात्पशुपुच्छ विषाण हीनः'

इस प्रकार यह निष्कर्ष निकलता है कि साहित्य का एक मात्र लक्ष्य मनुष्य है। साहित्य मनुष्य के मनोरंजन के लिए है किन्तु वह सस्ता मनोरंजन न प्रस्तुत करके आत्मा के तारों को झंकृत कर देनेवाला मनोरंजन प्रस्तुत करता है और चलते-चलते 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' का अमर संदेश छोड़ जाता है।

: ६१ :

साहित्य और समाज

(साहित्य समाज का दर्पण है)

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। उसका पालन-पोषण समाज में होता है और वह अपनी मानसिक खूराक भी समाज से ही खींचता है। साहित्य समाज का दर्पण कहा गया है क्योंकि प्रत्येक युग का श्रेष्ठ साहित्य अपने युग के प्रगतिशील विचारों द्वारा किसी न किसी रूप में अवश्य प्रभावित होता है। उस साहित्य में युग की वाणी स्पष्ट रूप से सुनी जा सकती है। साहित्य उत्तमोत्तम विचारों का समूह मात्र ही तो है और इन विचारों की आधार या प्रचार भूमि समाज ही है अतएव साहित्य और समाज का अविच्छिन्न संबंध है। साहित्यकार समाज का प्राण होता है, वह तत्कालीन समाज की रीति-नीति, धर्म-कर्म, व्यवहार-वातावरण से ही अपनी सृष्टि के लिए प्रेरणा ग्रहण करता है। वह प्रतिभाशाली होने के नाते अपनी कला की छाप समाज पर छोड़े विना नहीं रह सकता।

साहित्य का मुख्य प्रयोजन रस सृष्टि करके आनंद प्रदान करना होता है। विषयवस्तु का मानव जीवन से निकट संबंध होने के कारण उसमें हमारी भावनाएँ प्रतिबिम्बित होती रहती हैं। ध्यान रहे कि समाज राष्ट्र

या युग की भावना की उपेक्षा करके कोई भी साहित्य अधिक समय तक नहीं टिक सकता। यह संभव अवश्य है कि सब देशों में कुछ इस प्रकार के कतिपय कलाकार जन्म लेते हैं जो देशकाल की सीमा से परे होकर विश्व-जनीन सार्वभौम सत्य की प्रतिष्ठा करके युग-युग की मानवता का पथ आलोकित करने के लिए दिव्य ज्योति विकीर्ण कर जाते हैं और इस प्रकार उनकी कृतियों में व्यक्त संदेश केवल उसी समय के लिए न होकर युग-युग की समस्याओं को हल करते रहते हैं।

कलाकार अपने समय का प्रतिनिधित्व करता है। वह अपने मानसिक खाद्य के अनुरूप ही रचना करता है। वह अपने समय के वायुमंडल में व्याप्त विचारों को एरियल द्वारा ग्रहण कर मुखरित कर देता है। कवि या लेखक समाज के भावों को व्यक्त करके उन्हें शक्तिशाली बना देता है, इस प्रकार कवि की रचना सामाजिक भावों की मूर्ति बन कर समाज का नेतृत्व करने लगती है। प्रत्येक जाति का साहित्य अपने देश की संस्कृति एवं संस्कारों से ओतप्रोत रहता है। अरब की मरुभूमि एवं खजूर के वृक्षों के बीच पलनेवाला कवि अपनी प्रेयसी की गर्दन को सुराहीदार ही कहता है, उसकी चाल की उपमा ऊँटों से देता है क्योंकि उसने हाथियों और हंसों की मस्तानी चाल देखी ही नहीं है।

साहित्य अब अधिकाधिक व्यक्तिगत होता जा रहा है। व्यक्तिगत भावनाओं को अधिक प्रधानता देता हुआ वह समाज की अवहेलना कर रहा है क्योंकि समाज की नीति अनीति की मान्यताओं की पूर्ण स्वीकृति साहित्य में प्रतिबिंबित दीखती थी अब उसी साहित्य में समाज की उन स्वीकृति और निर्णीत धाराओं के प्रति व्यक्ति का विरोध और विद्रोह अधिक दिखलाई पड़ता है। सुप्रसिद्ध विचारक जैनेन्द्र जी ने साहित्य और समाज की पारस्परिक अविच्छिन्नता पर अपने विचार प्रकट करते हुए लिखा है कि—

'जो समाज के प्रति विद्रोही है, समाज की नीति धर्म की मर्यादाओं की रक्षा की जिम्मेदारी अपने ऊपर न लेकर अपनी ही राह चला चल रहा है, जो बहिष्कृत है और दंडनीय है—ऐसा आदमी भी साहित्य सृजन के लिए

आज एकदम अयोग्य नहीं ठहराया जा सकता। प्रत्युत देखा गया है कि ऐसे लोग भी हैं जो आज दुतकारे जाते हैं, पर अपनी अनोखी लगन और निराले विचार-साहित्य के कारण कल वे ही आदर्श भी मान लिये जाते हैं। वे लोग जो विश्व के साहित्याकाश में द्युतिमान् नक्षत्रों की भाँति प्रकाशित हैं, बहुधा ऐसे थे जो आरंभ में तिरस्कृत रहे, पर अन्त में उसी समाज द्वारा गौरवान्वित हुए। उन्होंने अपने जीवन-विकास में समाज की लांछना की वैसे ही परवा नहीं की, जैसे समाज के गौरव की। उनके कल्पनाशील हृदय ने अपने लिए एक आदर्श स्थापित कर लिया और बस, वे उसी की ओर सीधी रेखा में बढ़ते रहे। यह समाज का काम था कि उनकी अवज्ञा करे अथवा पूजा करे। उन व्यक्तियों ने अपना काम इतना ही रक्खा कि जो अपने भीतर हृद्गत लौ जलती हुई उन्होंने पाई, उसको बुझने न दें और निरन्तर उसके प्रति होम होते रहें। समाज ने उन्हें आरंभ में दरिद्र रक्खा, अशिष्ट कहा, अनुत्तरदायी समझा, यातनाएँ तक दीं, हँसी उड़ाई—यह सभी कुछ ठीक। किन्तु जो कल्याण मार्ग उन्होंने थामा, उसी पर वे लोग सब के प्रति आशीर्वाद से भरे ऐसे अविचल भाव से चलते रहे कि समाज को दीख पड़ा कि उनके साथ कोई सतशक्ति है,—जबकि समाज की अपनी मान्यताओं में सुधार की आवश्यकता है।'

× × ×

'साहित्य के अमर सृष्टा के रूप में इस भाँति हम देखते हैं कि वे ही लोग हमारे सामने आते हैं जिन्होंने अपने को अपनी राह पर अपने आप चलाया। उन्होंने यह कम चाहा कि लोग उन्हें अच्छा गिनें। जैसे भी कुछ वे थे उसी रूप में उन्होंने समाज के सामने अपने को प्रकट होने दिया। आज चाहे समाज उन्हें महत् पुरुष भी गिनता हो लेकिन चूंकि समाज की नीति धारणा बहुत धीमी चाल से विकसित होती है, इसलिए समाज को बरबस उन्हें दुष्ट चरित्र और दुःशील मानना पड़ता है। उनकी महत्ता के प्रकाश में निस्संदेह समाज सम्मत धारणाओं में परिवर्तन होता रहता है। फिर भी वे सहसा इतनी विकसित नहीं हो सकतीं कि हर प्रकार की महत्ता

उनकी परिभाषा में बंध जाय। यही कारण है कि आज जिस ईसा को दो तिहाई दुनियाँ ईश्वरतुल्य मानती है, उसी को शूली चढ़ाए बिना भी दुनियाँ से नहीं रहा जा सका। ईसा का दुनिया से क्या संबंध था? वह ज्ञाता था, उपदेष्टा था, सेवक था। दुनिया ने उसके साथ क्या संबंध बनाया? उसे फाँसी दी और इस तरह अपनी व्यवस्था निष्कंटक की। और अब दुनिया ने उसके साथ क्या संबंध बना रक्खा है? दुनिया कहती है,—'वह प्रभु था, अवतार था।'

इस प्रकार साहित्य और समाज का संबंध दो रूपों में होता है—

(१) स्वीकृति जन्य जड़ (२) अस्वीकृतिजन्य निरंतर गतिशील जो अपने समय का मनोरंजन करता हुआ, वाहवाही एकत्र करता हुआ चलता है वह स्वीकृतिजन्य जड़ साहित्य की कोटि में आता है। इस प्रकार का साहित्य केवल वर्तमान तक ही सीमित रहता है इसमें आत्मा की शाश्वत आवाज न होकर भौतिक तृप्तिदान प्रधान रहता है। (२) अस्वीकृति जन्य निरंतर-गतिशील समाज की वर्तमान गतिविधियों एवं मान्यताओं की परवाह न करके भविष्य की ओर कल्याणमयी दृष्टि रखता है। समाज की गलित जड़ कुंठाओं एवं रूढ़ियों के प्रति असंतोष प्रकट करते हुए अपनी प्रतिभा से एक ऐसी मशाल लेकर चलता है जिससे युग-युग का अंधकार दूर हो जाता है और वह मशाल आगे आनेवाली पीढ़ियों का भी पथप्रदर्शन करती रहती है। इस प्रकार का साहित्य जड़ न होकर निरंतर समय की हवा का रुख देखकर अपने को विकसित करता रहता है। दूसरे शब्दों में स्वीकृति जन्य जड़ साहित्य को हम समाजगत साहित्य कह सकते हैं क्योंकि वह समाज की मान्यताओं को स्वीकार मात्र ही नहीं करता वरन् उन्हें प्रोत्साहित भी करता है। अस्वीकृति जन्य निरंतर गतिशील साहित्य प्रतिक्रियावादी होता है, व्यक्तिपरक होता है। वह समाज की वर्तमान व्यवस्था के प्रति असंतोष प्रकट करता हुआ उसमें परिवर्तन चाहता है। समाज के कल्याण के लिए दोनों प्रकार के साहित्य की आवश्यकता है। समाज के स्थायित्व की आशा पहले प्रकार के साहित्य से की जा सकती है।

दूसरे प्रकार का साहित्य समाज की जड़ता को दूर कर उसे निरंतर गतिशील बनाए रखता है। प्रगति या विकास ही जीवन है और जड़ता ही मृत्यु है इस दृष्टि से दूसरे प्रकार का साहित्य पहले से अधिक उपयोगी एवं महत्व-पूर्ण है क्योंकि यह साहित्य समाज में आई सड़ांध को दूरकर इसे निरंतर स्वच्छ बनाता चलता है। उपर्युक्त दोनों दृष्टिकोणों को यदि हम अपने हिंदी साहित्य के इतिहास में घटावें तो स्पष्ट पता चलता है कि भक्ति काव्य, रीति काव्य एवं आधुनिक सुधारवादी साहित्य समाज की मान्यताओं को स्वीकार करते हुए अपना सृजन करता है। उसमें तत्कालीन परिस्थिति एवं व्यवस्था प्रतिबिम्बित है किन्तु साथ ही संत कवि तत्कालीन व्यवस्था से असंतुष्ट रहने के कारण ही प्रायः उपेक्षित रहे किन्तु कालान्तर में पूजित हुए। इस प्रकार साहित्य समाज का दर्पण कहा जा सकता है।

'इस तरह एक साहित्य वह है जिसे समाज की मर्जी की माँग बनाती है। दूसरा साहित्य वह है जो समाज के नेतृत्व के लिए सृष्ट होता है। पहले प्रकार के साहित्य में समाज स्वाद लेता है, प्रसन्न होता है, उसे उसमें चाव होता है। दूसरा समाज को शुरू में कुछ फीका-फीका, कठिन गरिष्ट मालूम होता है पर उसी को फिर वह औषधि के रूप में स्वीकार करता है (जैनेन्द्रजी)

: ६२ :

साहित्य और जातीयता

यद्यपि श्रेष्ठ साहित्यकार के लिये कहा गया है कि वह देश काल से परे उठकर कल्पना के द्वारा उस स्वर्गीय भाव भूमि का निर्माण करता है जिस मिट्टी का स्पर्श करके तुच्छ स्वार्थमयी वृत्तियों में बँटा मानव अपने सहज स्वभाव को भुलाकर मानव मात्र के प्रति भाईचारे का सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। एक उच्च मानवतावादी साहित्यकार के आदर्श भले ही

विश्वजनीन एवं वसुधैव कुटुम्बकम पर आधारित हो किन्तु जिस धरती की मिट्टी से उसका शरीर बना है, जिस देश की हवा को अपनी साँसों का लेखा-जोखा देता है, जहाँ कि संस्कृति से विरासत के रूप में उसने ज्ञान-विज्ञान एवं संस्कार मोल लिए है उसकी वह कभी जाने-अनजाने अवहेलना कर ही नहीं सकता। भले ही सैद्धांतिक रूप में वह तटस्थ होने का दम भरे किन्तु उसके अचेतन मन में जातीयता की एक पर्त हल्के ढंग से फैलती जायगी और ऊपर उभर कर उसके व्यक्तित्व की, देश काल जाति की महीन कैंची से चीरफाड़ कर देगी। जातीय मनोवृत्ति की छाप उस पर पड़े बिना रह ही नहीं सकती क्योंकि वह लोकरुचि से न तो बाहर जाने का साहस कर सकता है और न स्वान्तःसुखाय की आड़ में उसकी उपेक्षा कर सकता है। अपने चारों ओर के वातावरण को उसी का सर्वश्रेष्ठ, उलट पलट कर नवीन रूप में उसे लौटाना ही पड़ेगा, अधिक के अधिक विशिष्ट बनाकर उनका घनिष्टतम सम्पर्क प्राप्त करना ही पड़ेगा, इस प्रकार कोई भी साहित्य शरीर की छाया की तरह जातीयता का साथ नहीं छोड़ेगा।

साहित्यस्रष्टा लोकभावना का प्रतिनिधि होता हुआ भी उसको गति विधि देने में सहयोग देता है। ऐसा न करके वह समाज को अवनति की ओर ले जाने का उत्तरदायी होगा। समाज स्वयं गतिशील रहता है, नयी नयी भावनाएँ एवं परिस्थितियाँ उठ गिरकर समाज का मानस मंथन करती रहती हैं एवं कलाकार संवेदनशीलता के द्वारा उसको अभिव्यंजना पर खराद कर समाज के आगे फेंकता जाता है। समाज से उधार लिया गया धन ज्यों का त्यों न लौटाकर अपने व्यक्तित्व का ब्याज जोड़ कर उसे लौटाना पड़ता है यही ब्याज ही मानो उसका व्यक्तित्व है यही उसकी निजी दृष्टि है या दूसरे शब्दों में उसकी जातीयता है। विश्वास न हो तो हिन्दी साहित्य के इतिहास से पूछ देखिए। कबीर एवं जायसी आदि ने तत्कालीन समाज की विशृंखलताओं से ऊब कर समत्त्व सिद्धांत के आधार पर हिन्दू मुसलमानों को खरी खोटी सुनाते हुए

सच्चे पथ का प्रदर्शन किया किन्तु दोनों का व्यक्तित्व अपनी-अपनी जातीय संस्कृति के आधार पर एक दूसरे से सर्वथा भिन्न था।

कृष्ण भक्ति कवियों ने कृष्ण भक्ति के उत्कट अनुराग में पारिवारिक मर्यादाओं की देहली लांघते हुए स्त्री स्वातंत्र्य का सूत्रपात किया। जीवन के प्रति जो एक प्रकार की वैराग्य भावना आ गयी थी उसके स्थान पर माधुर्य पक्ष का उद्‌घाटन कर जीवन के प्रति आस्था उत्पन्न की। तुलसीदास जी ने प्राचीन परम्पराओं को अक्षुण्ण रखने में ही समाज का अधिक से अधिक हित देखा। वर्णाश्रम धर्म की व्यवस्था में ही उन्हें अधिक कल्याण दिखाई पड़ा इसलिए 'गोरख जगायो जोग' एवं साखी सबदी दोहरा, कहि किहनी उपखान' का उपहास कर समन्वय धर्म से पारस्परिक वैमनस्य को दूरकर समाज में संतुलन स्थापित किया। 'संतन को कहा सीकरी सो काम' की भावना वाले भक्त कवियों ने राजाश्रय की उपेक्षा कर अपना जातीय व्यक्तित्व ही स्थापित नहीं किया वरन् स्वातंत्र्य भावना की भी वृद्धि की। रीति काल के कवियों ने तत्कालीन भोगविलास की धारा में बहने में ही सरलता का अनुभव किया किन्तु भूषण का फौलादी व्यक्तित्व इस भाव से विद्रोह कर बैठा और हिन्दुत्व के संकुचित घेरे में अपनी बाहों का बल तौलता रहा—

बूड़ति है दिल्ली सो सम्हारे क्यों न दिल्लीपति।,
धक्का आनि लाग्यो शिवराज महाकाल कौ॥,

× × ×

तेज तम अंश पर, कान्ह जिमि कंस पर।,
त्यों मलेच्छ बंस पर शेर शिवराज है॥,

सफल कलाकार को प्रायः निजि रुचि एवं लोकभावना का समन्वय कर लोकरुचि की परंपरा को आगे बढ़ाना होता है। जातीय रूढ़ियों को लचकीला बनाने में उसकी प्रतिभा पालिश का काम करती है। इस प्रकार साहित्य में व्यक्ति और समाज का पारस्परिक लेन-देन चलता रहता है फिर भी कवि या लेखक अपने जातीय मोहजन्य संस्कारों से अपने को सर्वथा

सुरक्षित नहीं रख सकता, भले ही लाख फटफटाये। व्यक्तित्व की तरह जाति का भी अपना व्यक्तित्व होता है जो मनोवृत्ति की विशेषता से परिचालित होता है एवं अपने-अपने देश की संस्कृति, प्रकृति, धार्मिक परंपरा, रीति-नीति, आचार-विचार एवं आस्थाओं के सम्मिश्रण से उस मनोवृत्तिका का निर्माण होता है। यद्यपि मानव मन सामान्य रूप में एक सा होता है फिर भी देशकाल की अनुकूल प्रवृत्तियों के द्वारा अपनी जातीय मनोवृत्ति की सत्ता का निर्माण करता रहता है। जातीय मनोवृत्ति भी सदैव एक सी न रहकर समय-समय पर बदलती रहती है। रीतिकाल की दृष्टि में कुछ ऐसा विभ्रम आ गया है कि उसने सादगी में सौंदर्य की खोज करने का कभी श्रम ही नहीं किया। छाया में भी उन्हें दुहरे तिहरे चौहरे भूषणों का मोह सताता रहा।

भूषण पहिरि न कनक के, कहि आवत यह हेत।
दुहरे तिहरे चौहरे देह दिखाई देत॥
भूषण भार सम्हारिहैं, क्यों यह तन सुकुमार।
सूधे पाँय न परत महि शोभा ही के भार॥

इस प्रकार रीति काल में 'अलंकार प्रियता' के प्रति कवि का जबरदस्त आग्रह था जबकि आधुनिक कवि की दृष्टि में वही अलंकार प्रिय-प्रिया मिलन में व्यवधान डालते हैं या नैसर्गिक सौंदर्य के ऊपर कृत्रिमता का कुहरा बरसा जाते हैं।

जातीय मनोवृत्ति की छाया का घनत्व सब प्रकार के साहित्य में समान मात्रा में नहीं रहता। खण्ड काव्यों, गीति काव्यों तथा प्रगीत मुक्तकों की अपेक्षा महाकाव्य में इस मनोवृत्ति की प्रधानता रहती है। प्रगीत काव्य में व्यक्तित्व की प्रधानता रहती है यद्यपि व्यक्तित्व के पीछे जातीय मनोवृत्ति भी अनिवार्यतः निहित रहती है। कोई भी साहित्यकार अपने को विश्वजनीन एवं मानव मात्र के प्रति हितैषी बनाने के लिए कितना ही तटस्थ बनने का प्रयत्न क्यों न करे किन्तु वह अपने युगों-युगों के संचित संस्कारजन्य जातीय

भावों को कभी पीछे नहीं छोड़ सकता। कहीं न कहीं वे भाव बरबस ही अपना प्रकटीकरण करवा लेते हैं।

भारत की आध्यात्मिक मिट्टी से अपने शरीर की खाद खींचने वाला कलाकार कभी भी भोग के हाथों योग को नहीं बेंच सकता। धन के हाथ आत्मा को नहीं गिरवीं रख सकता। सुखांत के स्थान पर दुखान्त को नहीं अपना सकता, कारण उसकी मिट्टी कभी यह गवारा ही नहीं कर सकती और न वह वैसा कर ही सकता है। भारत की आध्यात्मिक मनीषा ने भौतिक समृद्धि की उपेक्षा करके त्याग एवं संतोष में ही संतोष पाया है। लाख प्रयत्न करने पर भी न तो मिल्टन रामायण की रचना कर सकते थे और न तुलसीदास Paradise Lost की। क्योंकि हमारे यहाँ ईश्वर से आँखें मिलानेवाली प्रतिद्वंद्विनी शक्ति का एकांत अभाव है। हमारी आस्था विद्रोह का साथ न देकर विश्वास का ही सदा साथ देती रही है। मूर्ति पूजा के प्रति विरोधी भावना होने के कारण मुसलमानी साहित्य प्रायः नाटकों से शून्य रहा। हिन्दुओं में ईश्वरीय न्याय की भावना एवं भाग्यवाद के प्रति उत्कट विश्वास के कारण ही हजारों वर्षों से चली आती हुई जातियों में कभी संघर्ष नहीं पैदा हुआ क्योंकि उन्होंने अपना सारा आवेश, विद्रोह भाग्य के सिर मढ़ दिया।

भारतीय मनोवृत्ति की मूलधाराएँ सूत्र रूप में इस प्रकार हैं—

(१) **समन्वय भावना**—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का अविरोध भाव से महत्व देना। ज्ञान भक्ति की एकता, इच्छा क्रिया का मेल, सुख-दुख का समान महत्त्व इसके विभिन्न रूप हैं।

(२) **आध्यात्मिकता**—(१) आत्मा की अमरता में उत्कट विश्वास।
(२) आवागमन में दृढ़ आस्था।
(३) भाग्यवाद से परिचालित पुरुषार्थवाद।
(४) भौतिक भोगवाद की अपेक्षा आध्यात्मिकता की ओर विशेष आग्रह।

(३) **प्रकृति प्रेम**—भारतीय आध्यात्मिकता एवं मनीषा ने प्रकृति

का विरोध न कर उसे आध्यात्मिक भावना के रूप में स्वीकार किया है।

(४) **अहिंसा-दया-क्षमा**—आदि सात्विक गुणों को प्रथम स्थान दिया गया है साथ ही वीरता को भी इनके बाद स्थान दिया गया है।

(५) **आनंदवाद**—(१) दुख से चिर निवृत्ति एवं स्थायी आनंद की प्राप्ति। (२) क्षणिक सुख में मोद न मानकर स्थायी आनंद स्रोतों की खोज।

जातीय मनोवृत्तियों के द्योतक ग्रन्थ—(१) वाल्मीकीय रामायण (२) महाभारत (३) रघुवंश (४) कुमारसंभव (५) अभिज्ञान शाकुन्तल (६) उत्तर रामचरित नाटक (७) कबीर, सूर, तुलसी, भारतेन्दु, गुप्त, प्रसाद, पंत, निराला के ग्रंथ, कालिदास के अमर महाकाव्य। रघुवंश में जो सूर्यवंशी राजाओं के गुणों का वर्णन किया गया है वह भारतीय आदर्शों के ऊपर ही आश्रित है—

त्यागाय संभृतार्थानां सत्याय मितभाषिणाम्।
यशसे विजिगीषूणां प्रजायै गृहमेधिनाम्॥
शैशवेऽभ्यस्त विद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।
वार्द्धक्ये मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्॥

अर्थ—दूसरों को दान देने के लिए ही जो धनी बनते थे, जो सत्य के लिए ही मितभाषी होते थे, यशप्राप्ति के लिए ही विजय करते थे। धन और राज्य छीनने के लिए नहीं, कामवासना की तृप्ति के लिए भोग न कर संतानोत्पत्ति की पवित्र भावना से प्रेरित हो पितृऋण चुकाने के लिए जो यह कार्य करते थे। जो गृहस्थ बनते थे, शैशवकाल में विद्याध्ययन करते थे, यौवन में विषय भोग करते थे, वृद्धावस्था में मुनि वृत्तिधारण कर लेते थे तथा योग के द्वारा स्वेच्छा से अपने शरीर को छोड़ते थे। आजकल की तरह रुपयों-पैसों के ढेर गिनते-गिनते या चारपाई में सड़ते-सड़ते नहीं।

नश्वर शरीर के प्रति तिरस्कार की भावना का उल्लेख प्राचीन काव्यों में स्थान-स्थान पर मिलता है उदाहरणस्वरूप—

किमप्यहिंस्यस्तव चेन्मतोऽहं यशः शरीरे भव मे दयालु।
एकान्त विध्वंसिषु मद्विधानां पिंडेष्वनास्था खलु भौतिकेषु ॥

गुरू को प्रसन्नता के लिए नंदिनी गौ की शेर से रक्षा करने के लिए महाराज दिलीप कहते हैं कि यदि तुममें कुछ अहिंसा की मनोवृत्ति है तो मेरे यश शरीर पर दया करो, नाश होनेवाले क्षणभंगुर पंचतत्वों से निर्मित इस शरीर में मुझ जैसे लोगों की आस्था नहीं होती।

आवागमन की भावना हमको नैषध, कादम्बरी, रघुवंश आदि में स्थान-स्थान पर मिलती है। सीताजी निर्वासित होने पर भी रामचंद्र जी को दोषी नहीं ठहरातीं वरन् वे अपने भाग्य को ही इसका उत्तरदायी मानती हैं—

ममैव जन्मान्तर पातकानां विपाक विस्फूर्जथुरप्रसह्यः।

उनकी एकमात्र यही कामना है कि प्रसूति कार्य से निवृत्त होने पर वे सूर्य की ओर दृष्टि लगाकर यही प्रार्थना करेंगी कि जन्म जन्म में राम ही मुझे पति के रूप में प्राप्त हों ताकि उनसे कभी संबंध विच्छेद न हो—

भूयो यथा में जनमान्तरेऽपि त्वमेव भर्ता न च विप्रयोगः।

इसी प्रकार तुलसी, कबीर, सूर, मीराँ आदि के पदों में भारतीय संस्कृति एवं जातीय मनोवृत्ति का छाप सर्वत्र है—

क्षिति जल पावक गगन समीरा। पंचतत्व यह रचित शरीरा॥
प्रगट सो तन तव आगे सोवा। जीव नित्य तुम केहि लगि रोवा॥

× × ×

सात स्वर्ग अपवर्ग सुख, धरिय तुला यक अंग।
तुलै न ताही सकल मिलि, जो सुख लव सतसंग॥

× × ×

गोधन गजधन बाजिधन और रतनधन खानि।
जो आवै संतोष धन, सब धन धूरि समान॥

× × ×

जिसे तुम समझे हो अभिशाप, जगत की ज्वालाओं का मूल ।
ईश का वह रहस्य वरदान, इसे तुम कभी न जाना भूल ॥

कामायनी में ज्ञान, इच्छा, क्रिया को पृथक-पृथक रूप में दिखलाकर समरसता और समन्वयवाद के द्वारा एकाकार किया गया है। उसी में प्रसाद जी ने शिवत्व की प्राप्ति की है—

ज्ञान दूर कुछ क्रिया भिन्न है
इच्छा क्यों पूरी हो मनकी,
एक दूसरे से न मिल सके
यह विडम्बना है जीवन की।
महा ज्योति रेखा सी बनकर
श्रद्धा की स्मृति दौड़ी उन में,
वे सम्बद्ध हुए फिर सहसा
जाग उठी थी ज्वाला जिनमें।
स्वप्न स्वाप जागरण भस्म हो
इच्छा क्रिया ज्ञान मिल लय थे,
दिव्य अनाहद पर निनाद में
श्रद्धायुत मनु बस तन्मय थे।

मानव मात्र से भी ऊपर प्राणी मात्र के हित चिंतन की भावना भारतीय मनीषा की अपनी देन है—

सीय राम मय सब जग जानी।
बन्दहु सबहिं जोरि जुग पानी ॥
जड़ चेतन जग जीव जत, सकल राम मय जानि।
बन्दहु सबके पद कमल, सदा जोरि जुग पानि ॥

कवीन्द्र रवीन्द्र ने ठीक ही लिखा है कि—

प्रथम प्रभात उदय तव गगने
प्रथम साम रव तव तपोवने

यहाँ के पशु, पक्षी, लता-गुल्म और वृक्ष तपोवनों के जीवन के एक-एक अंग बन गये थे इसीलिए शकुंतला के विदा होते समय महर्षि कवि वृक्षों से भी उसके जाने की आज्ञा चाहते हैं—

पीछे पीवति नीर जो पहले तुमको प्याय।
फूल पात तोरति नहीं गहने हू के चाय॥
जब तुम फूलन के दिवस आवत हैं सुखदान।
फूली अंग समाति नहीं उत्सव करत महान॥
सो यह जाति शकुंतला आज पिया के गेह।
आज्ञा देहु पयान की, तुम सब सहित सनेह॥

इस प्रकार किसी भी देश का साहित्य अपनी जातीयता को अक्षुण्ण रखकर ही फलफूल सकता है एवं वहाँ की लोकरुचि का अधिक से अधिक आदर पा सकता है, ध्यान रहे कि वह जातीयता संकुचित संप्रदायिकता की सीमित दीवारों में न घुटने लग जाये। अपने जातीय भावों की विशेषता के कारण ही प्रत्येक देश का साहित्य अपनी-अपनी मौलिकता की रक्षा करता हुआ अपने व्यक्तित्व का स्वतंत्र विकास करता है।

: ६३ :

सादा जीवन उच्च विचार

प्रस्तुत विषय एक बहुत ही प्रचलित कहावत है, जिसकी सत्यता परम्परा से आज तक वैसी ही चली आ रही है। इसका अर्थ साधारणतः तो यही है कि—सादा जीवन व्यतीत करना चाहिए तथा अपनी भावनाओं को महान् रखना चाहिए। यदि देखा जाय तो पता चलेगा कि प्रत्येक देश

तथा काल में सादगी को महत्व दिया गया है। महान् व्यक्तियों का किसी भी देश में अभाव नहीं रहा है। कुछ व्यक्ति अपने देश ही में ख्याति पा जाते हैं और कुछ व्यक्तियों की ख्याति संसार में फैल जाती है। कला बहुमुखी है। प्रत्येक प्रसिद्ध व्यक्ति कला अथवा विज्ञान के किसी एक अंग में पारंगत होकर ख्याति प्राप्त करता है। संसार के विख्यात मनुष्यों के जीवन पर यदि दृष्टि डाली जाए तो चाहे वह देशभक्त हो या वैज्ञानिक, सफल राज-नीतिज्ञ हो, या साहित्यकार अथवा दार्शनिक, सभी में कुछ न कुछ विशेषता अवश्य ही मिलेगी। ऐसे व्यक्ति संसार में कम ही हैं जो जन्म ही से विख्यात होते हों। अधिकांशतः यह ख्याति उन्हें उन्हीं के चरित्रबल एवं परिश्रमों से प्राप्त होती है। संसार में ऐसे व्यक्ति कम नहीं जो एक साधारण-कुल में जन्मे परन्तु अपने बाहुबल तथा परिश्रम से बहुत ऊँचे उठ गए। यों तो अनेकों व्यक्ति संसार में जन्म लेते हैं अनेक मृत्यु को प्राप्त होते हैं, परन्तु सभी का नाम इस संसार में उनके जाने के बाद अमर नहीं रहता।

वे ही लोग इस संसार में अमर होते हैं जिनकी आत्मा महान होती है और जो संसार में अपने पीछे अपने ऐसे आदर्श छोड़ जाते हैं, जिनके कारण वे इतिहास में अमर हो जाते हैं। देखा गया है कि ऐसे पुरुष अधिकतर सभी अमीर घराने के नहीं होते—अधिकांशतः वे मध्यमवर्ग के घरों में पलते हैं परन्तु इतने सादे जीवन में भी उनमें उच्च विचार जन्म लेते हैं और उन्हीं में वे विकसित भी होते हैं।

जीवन में साधारणता लाना और तुच्छ विचारों को हृदय से दूर कर देना एक महान् गुण है। अपने पर गर्व करना एक भारी दोष है, सादा जीवन बनाने के लिए इस दोष का दूर करना नितान्त आवश्यक है।

प्रत्येक मनुष्य में विनय, औदार्य, कष्ट सहिष्णुता, साहस, चरित्र बल आदि गुणों का विकास होना अति आवश्यक है; इसके बिना उनका जीवन सादा नहीं हो सकता। इन गुणों का प्रभाव उनके जीवन और विकास पर पड़ता है। रहन-सहन, वेष-भूषा, आचार-विचारों का एक स्तर होना चाहिए। घोर से घोर कष्टों में भी धैर्य नहीं छोड़ना चाहिए। अपव्ययी नहीं होना

चाहिए और यदि अधिक रुपया पास है तो भी थोड़े ही व्यय में काम कर लेना चाहिए।

कोई भी विद्यार्थी जो किसी विश्वविद्यालय में शिक्षा पाता है और जिसके घर की आर्थिक स्थिति संतोषजनक नहीं है उसे उचित है कि वह कपड़े इत्यादि अपने घर में ही धोए। बालों को छँटा दे जिससे खर्च की कमी हो। कम से कम कीमत के जूते पहिने। अपनी आवश्यकताओं को सीमित रखे। कहने का सारांश यह है कि वह जितना हो सके अपने जीवन को सादा बनाए किन्तु ऐसी स्थिति में यदि वह अपने को दीन, गरीब और असहाय समझता है और अपने स्वाभिमान पर कुठाराघात करता है तो यह उसकी भूल है उसे कभी भी हत-प्रभ नहीं होना चाहिए। हमारे सामने अपने पूर्वजों के बड़े-बड़े उदाहरण हैं जो बहुत ही गरीब थे या यों कहिये जिन्होंने धनवान होते हुए भी अपने आपको सादा बना लिया था और जिनका नाम संसार में आज भी अमर है।

ऐसा कौन व्यक्ति होगा जो परम पूज्य स्वर्गीय गांधी जी को न जानता हो। महात्मा जी कितनी सादी भेष भूषा में रहते थे यह हम सब जानते हैं लेकिन उनके विचार इतने महान् थे कि उनके कारण वह समस्त संसार में वंदनीय हो गए। एक बार जब इंगलैण्ड में गोलमेज परिषद होने वाली थी, भारत से महात्मा जी को भी बुलाया गया। वहाँ के लोगों ने उन्हें देखकर सोचा कि एक कौपीन धारण करने वाला क्या भाषण देगा। परन्तु जब गांधी जी ने अपना भाषण दिया तो लोग दंग रह गए। यह होती है जीवन में सादगी और विचारों की उच्चता की शक्ति।

ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के नाम से सभी लोग परिचित होंगे उनके जीवन में कितनी सरलता थी, एक उदाहरण के द्वारा प्रकट किया जाता है। एक बार एक अँग्रेज को ईश्वरचन्द्र विद्यासागर से मिलना था। उसके साथ में सामान था। रास्ते में उसे ईश्वरचन्द्र मिल गए, वह इतने साधारण कपड़े धारण किए हुए थे कि कोई भी यह नहीं कह सकता था कि यह इतने ऊँचे विद्वान् हैं। अँग्रेज ने इन्हें समझा कि कोई सामान ढोनेवाला नौकर होगा

और इनसे बोला कि ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के मकान तक हमारा सामान ले चलो। ईश्वरचन्द्र ने कहा "बहुत अच्छा"। जब यह दोनों घर पर पहुँचे तो सामान रखकर ईश्वरचन्द्र बड़ी नम्रता से बोले, "कहिए क्या कार्य है मैं ही ईश्वरचन्द्र हूँ। यह सुनकर अँग्रेज बहुत लज्जित हुआ और उनसे अपने भूल की क्षमा माँगने लगा।

अमरीका के सर्वप्रथम राष्ट्रपति वाशिंगटन का नाम तो सभी लोगों ने सुना ही होगा जिनके नाम पर अमरीका में एक नये नगर का निर्माण हुआ है। वाशिंगटन के पिता बहुत ही गरीब थे। वह लकड़ी बेचकर अपना तथा अपने परिवार का भरण-पोषण किया करते थे। वह इतने गरीब थे कि वाशिंगटन को पढ़ा नहीं सकते थे। किन्तु वाशिंगटन के विचार उच्च थे और उन्होंने पढ़ना जीवन का एकमात्र उद्देश्य बना लिया था। इसलिए वह किसी प्रकार पुस्तकों का प्रबन्ध करके रात को सड़क के किनारे बिजली की रोशनी में बैठकर पढ़ा करते थे। एक दिन ऐसा आया कि वह अमेरिका के सर्वप्रथम राष्ट्रपति हुए। निष्कर्ष यह है कि मनुष्य को अपना जीवन सादा, एवं विचार महान् बनाना चाहिए।

: ६४ :

आधुनिक काव्य की प्रवृत्तियाँ

आधुनिक काव्य की प्रमुख प्रवृत्तियाँ क्या हैं? यह प्रश्न महत्वपूर्ण है। छायावादी कवि ने कल्पना के स्वर्णिम पंखों पर इस धरती से उड़कर उस विस्तृत नील नभ में विचरण किया था। उसकी कोमल भावना को सम्बल दिया था चांदनी रात ने, तारों ने, रजनी बाला ने। विहंगिनी बाला के गीतों ने उसे कितनी बार अपनी ओर आकृष्ट किया। यह ऐसा लोक था जिसमें उसने अपने हृदय की समस्त शाँति को पा लिया था। वह झरनों में रोया था;

ओस की बूँदों में अपने आँसू पिरोये थे और विकसते कुसुम में सरलता से हँस पड़ा था। सचमुच वह भोला था। न जाने कितने वर्ष बीत गए वह कल्पना लोक में ही विचरण करता रहा पर जब वह धरती पर लौटकर आया तो उसने देखा कि उसके गीत मिट्टी के पुतले हाड़-मांस के चलते-फिरते इन्सान के लिए बिल्कुल अपरिचित थे...वह स्तब्ध हो उठा...सचमुच वह अपने आप ही कह उठा—

हरियाली में जिसने देखे हैं
भूखे नंगे किसान
वह कैसे गाए प्रणय गान ?

•

निश्चय ही कविता का रूप संभल रहा था, ढांचा बदल रहा था, आत्मा शुद्ध हो रही थी। छायावाद के कोमल प्रतीक जीवन की इस कठोरता के लिए अनुपयुक्त थे। प्रतीकों में और उपमा में गहन अन्तर आया। जब कविता जीवन के अधिक निकट आ जाती है तब उसके प्रतीक भी यथार्थ जीवन से ही उठते हैं। भाषा के लाक्षणिक प्रयोग की छायावादी प्रवृत्ति धीरे-धीरे अपना रूप बदल रही थी। छायावादी युग में महादेवी ने सूखे पल्लव को सम्बोधित करके अपनी अनुभूत पीड़ा को अभिव्यक्त किया है—

"सूखे पल्लव फिरते हो
कहते जब करुण कहानी"

अब इस नवीन युग में मानव स्वयं हमारे समक्ष स्पष्ट रूप से खड़ा होकर अपनी कहानी ही व्यक्त करता है जिसका प्रभाव निश्चय ही गहरा पड़ता है। कवि को मानव ने अपने यथार्थ रूप में आकृष्ट किया।

प्रतिदिन पिसकर भूखों मर कर
चाँदी के टुकड़ों को लेने
भैंसा गाड़ी पर लदा हुआ
जा रहा चला मानव जर्जर॥

कवि सजग था और समस्त आकाश बिहारी बन्धुओं को भी सजग कर देना चाहता था।

ताक रहे हो गगन
देखो भू को, जीव प्रसू को

जहाँ इतना हाहाकार इतनी अशांति जीवन में है। साहित्य को नवीन चेतना नवीन दृष्टिकोण मिला। इसी "परिवर्तन और नवीनता का स्वागत करने वाला साहित्य प्रगतिशील है जिसमें जीवन और गति दोनों समान रूप से स्थान पाते हैं" कविता की प्रवृत्तियाँ समय के अनुरूप अपना रूप बदलती जा रही थीं, शोषण और शोषित, जमींदार किसान, मजदूर और पूँजीपति इत्यादि की समस्याओं से सम्बन्धित, पूँजीवाद के विरोध में अनेकों जोशीली कविताएँ हमारे समक्ष आईं जिनमें से कुछ तो वास्तविक जीवन के कारुणिक चित्रों को अभिव्यक्त करती हैं और कुछ केवल जोशीले उद्गार ही हैं। भारतीय स्वर की अपेक्षा कविता हमारे कवियों का नारा बन गई—

"जब बहादुरी की चर्चा हो, एक नाम लो स्टालिनग्राड
जब न बंधे बांधे से हिम्मत एक नाम लो स्टालिनग्राड"

ओजपूर्ण उद्गार कवियों की वाणी से निस्रृत हुए—

लहू की बूंदों से
जलते हैं बिजली के बल्ब
सूनी सड़कों पर लाल लाल (रामविलास)

प्रगतिवादी कविता का यह दूसरा ही रूप था जब कवि लैनिनग्राड का पथ बना रहा था। प्रगतिवाद के नाम पर अनेक भ्रान्तियाँ फैली, कुछ इति वृत्तात्मक कविताएँ भी देखने में आई जैसे—

देखो देखो नौजवान
कितनी बड़ी बुरी हालत में तेरा हिन्दुस्तान

'धोती के लिये खड़ा कोई साड़ी के लिए परीशान
कोई गमछा खोज रहा है दुकान दुकान'

कैसी टूटी-फूटी भदेस भाषा में भोंड़े भाव कवि ने व्यक्त किये हैं। इस प्रकार की कविता निश्चित रूप से अपना स्थायी प्रभाव नहीं छोड़ सकती। कितनी ही कविताओं में विदेशी प्रवृत्त दीख पड़ती है। कवि दिल्ली और गंगा से लिपटे इतिहास को भूलकर मास्को और वोल्गा की ओर दृष्टि लगाये हुए थे। प्रत्येक देश की अपनी संस्कृति होती है। हमारे लिये रूसी "जोया" से कहीं अधिक परिचित "खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी" है। राणा प्रताप का वीरत्व भरा शौर्य हल्दीघाटी के मैदान के कण-कण में बिखरा पड़ा है। तपस्या और बलिदानों से सींची गई, गंगा की घाटियाँ कितनी अधिक पवित्र हैं। आज के कवि की दृष्टि भी इस ओर गई है यह सौभाग्य का विषय है। कुछ कविताएँ वास्तविक रूप में अच्छी हैं। आज जब भारत पूर्ण रूप से स्वतन्त्र हो गया है जीवन एक नवीन मोड़ पर है, जहाँ पिछला आर्थिक संघर्ष, पूंजीवाद की कठोर घृणित मनोवृत्तियाँ और साथ ही मानवता के प्रति उदार भावनाएँ दोनों ही हमें दृष्टिगत होती हैं। राष्ट्रीयता की भावना इस युग में अत्यन्त प्रबल हो उठी। देश प्रेम सम्बन्धी अनेक कविताएँ रची गईं। विषय की दृष्टि से इस युग में हमें व्यापकता दृष्टिगत होती है। कवि ने देशप्रेम के साथ ही विशुद्ध प्रेम सम्बन्धी अनेक कविताएँ रचीं जिनका विषय अपने मूल रूप में अत्यन्त पवित्र है। आज की कविता का विषय केवल शृङ्गार वीर या भक्ति मात्र नहीं। इस दृष्टि से आधुनिक काव्य में प्रशंसनीय उन्नति हुई। आज की कविता का विषय क्षेत्र अत्यधिक व्यापक है। गांधीवाद, समाजवाद, पूँजीवाद के अतिरिक्त कुछ मार्क्सवाद, भौतिकवाद से प्रभावित कविताएँ भी रची जा रही हैं। आज का युग मुख्यतः विभिन्न वादों का है। सम्भवतः इसीलिए हमारी प्रगतिवादी कविता यथार्थ जीवन से प्रभावित होकर और नवीन प्रयोगों की दिशा में मुड़ रही है। छायावाद से लेकर अब तक, हिन्दी कविता की विशिष्ट

प्रवृत्तियों में गहन परिवर्तन आता गया। प्रवृत्तियों के इन परिवर्तनों का नामकरण क्रमशः छायावाद, रहस्यवाद, हालावाद, मांसलवाद, प्रगतिवाद के नाम से कर दिया गया। आज भी हिन्दी कविता अपने प्रयोगात्मक रूप में है इसलिए उसका नाम प्रयोगवाद रख दिया गया। शमशेर बहादुर सिंह जी के शब्दों में—

"प्रयोग के अन्तर्गत मेरा निवेदन यह है कि वह रुझान है जो उपरोक्त दो कविता संग्रहों और आमतौर से "प्रतीक" की कविताओं में पाया जायगा और वह हिदी में नयी आज की चीज है, यह चीज योरोप की उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में पैदा हुई, पहले विश्व युद्ध के आसपास चढ़ी और अब अमरीका को छोड़कर अन्य जगहों में कमजोर पड़ गई है...हिन्दी में इसका युग बाकी था सो आया, इसमें शिल्प और प्रकार में अद्भुत सम्भावनाओं ललित कलाओं के आपसी सम्बन्ध, और कलाकार के दायित्व की एक निष्ठा पर जोर दिया।" प्रयोगवाद अभी अपने विकास के पथ पर है।

हिन्दी कविता में शब्द विधान, भाव, भाषा तथा शैली में यथेष्ट रूप से अन्तर आया है। आधुनिक काव्य में व्यावहारिक भाषा का प्रयोग किया जा रहा है जिससे कविता में नवीन चेतना आ गई है।

मानव कल्याण की भावना से प्रेरित होकर आज की कविता ज्यों-ज्यों जीवन के निकट आती जा रही है वह हमारे लिए मूल्यवान् होती जा रही है। आधुनिक कविता निश्चय रूप से प्रगति की ओर अग्रसर हो रही है इसका भविष्य उज्ज्वल ही होगा ऐसा हमारा विश्वास है।

: ६५ :

कृषक भारत की आधुनिक समस्याएँ

भारत एक कृषि प्रधान देश है। यहाँ के अस्सी प्रतिशत मनुष्य गाँव में ही रहते हैं और उनका मुख्य व्यवसाय खेती ही है। खाद्य समस्या भारत

के कृषकों की प्रमुख एवं जटिल समस्या है। कुछ वर्ष पहले खाद्य समस्या ने बड़ा विकट रूप धारण कर लिया था। इसके विभिन्न कारण हैं।

(१) हमारे नब्बे प्रतिशत से अधिक ग्रामीण अशिक्षित हैं और विज्ञान के नवीन प्रयोगों से पूर्णतः अनभिज्ञ हैं।

(२) वे पुराने किस्म की खादों को प्रयोग में लाते हैं जिसकी शक्ति रसायनिक खाद के अनुपात में बहुत कम है।

(३) वे पुराने तरीके के हलों का प्रयोग करते हैं।

(४) किसानों के पास अधिकतर छोटे-छोटे खेत हैं जिसमें आधुनिक बड़ी मशीनों का प्रयोग नहीं किया जा सकता है।

(५) किसानों को जलवृष्टि पर ही निर्भर रहना पड़ता है। सिंचाई का कोई विशेष प्रबन्ध नहीं है।

किंतु सरकार की बहुमुखी योजनाओं से अब किसानों में पर्याप्त जाग्रति एवं वैज्ञानिक साधन प्रणाली का प्रयोग करने की जागरूकता आ गयी है।

भारतीय सरकार निरक्षरता को दूर करने का सतत प्रयास कर रही है। हर एक क़स्बे में साक्षरता केन्द्र खोले जा रहे हैं जहाँ नवयुवक गाँववालों को हिन्दी लिखना और पढ़ना सिखाते हैं। बच्चों को शिक्षा देने के लिए छोटी-छोटी प्राइमरी पाठशालाएँ खोली जा रही हैं जहाँ पर निःशुल्क शिक्षा दी जाती है और उनको गाँव व घर की सफाई के विषय में भी शिक्षा दी जाती है। खाद के लिए एक कारखाना अभी भारत सरकार ने "सिन्धरी" में बनवाया है जो कि समस्त एशिया में अपना सानी नहीं रखता। पर दुर्भाग्यवश हमारे ग्रामीण भाइयों में एक निर्मूल धारणा है कि रसायनिक खाद मिलाने से जमीन कुछ दिनों बाद ऊसर पड़ जाती है। विदेशों में रासायनिक खाद के प्रयोग के कारण वहाँ की प्रति एकड़ उपज हमारे यहाँ की अपेक्षा कई गुनी अधिक होती है।

कृषि में जुताई सबसे महत्वपूर्ण कार्य है, किसी भी फसल की सफलता उसकी जुताई पर निर्भर करती है जुताई के मुख्य तीन कार्य हैं। मिट्टी के ढेलों को तोड़कर समान कर देना, नीचे की मिट्टी को ऊपर करना और पुरानी फसल के डोड़े घास आदि को उखाड़ना। कम समय में अधिक जुताई करने के लिए मनुष्य ने सबसे पहले हल में जानवरों का प्रयोग किया। जिस प्रकार हमारे यहाँ बैल काम में लाये जाते हैं। उसी प्रकार काबुल में घोड़े और चीन में गधे काम में लाए जाते हैं। जानवरों के प्रयोग से न तो अधिक समय की ही बचत हो पाती है और न जुताई ही अच्छी होती है। इसमें मनुष्य को परिश्रम भी अधिक करना पड़ता है। इन सब कठिनाइयों को हम मशीनों द्वारा सरलता से हल कर सकते हैं। इन मशीनों को ट्रैक्टर कहते हैं। इनमें आठ दस जोड़े बैलों के बराबर शक्ति होती है, यह अधिकतर "डीजल आयल" से चलाए जाते हैं पर इनके व्यवहार में एक कठिनाई हमारे समक्ष आती है कि यह अधिक छोटे खेतों के लिने उपयुक्त नहीं हैं और इनके दाम भी इतने अधिक हैं कि इनको हमारे देश के निर्धन कृषक नहीं खरीद सकते। भूदान यज्ञ यथा जमींदारी उन्मूलन से थोड़े दिनों बाद प्रत्येक कृषक के पास बड़े-बड़े खेत हो जाएँगे। सरकार इनको ट्रैक्टर किराए पर देकर उनकी समस्या दूर कर सकती है। हमारे देश के कृषकों को अधिकतर वर्षा पर ही निर्भर रहना पड़ता है। जिस वर्ष वर्षा उपयुक्त समय पर नहीं होती, हमारे कृषकों को बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता है। सिंचाई के लिए नहरों और नल कूपों की बहुत आवश्यकता है। अधिकतर सिंचाई की ठीक व्यवस्था न होने पर फसल की उपज बहुत कम हो जाती है। सिंचाई और जुताई के अतिरिक्त बीज पर भी फसल निर्भर करती है। यदि बीज ही खराब हैं तो फसल का अच्छा होना असम्भव है। अच्छी फसल के लिए बीज का ताजा और स्वस्थ होना आवश्यक है।

हमारे कृषक कृषि विज्ञान के आधुनिक अनुसन्धानों से पूर्णतः अनभिज्ञ हैं। इस ओर भी भारत सरकार समुचित ध्यान दे रही है। अनेकों कृषि

योजनाएँ बन रही हैं। आजकल शिक्षित कृषि विशेषज्ञ गाँवों में जाकर खेती के आधुनिक तरीक़े स्वयं किसानों को बताते हैं।

सरकार ग्रामीणों को चलचित्रों के माध्यम से कृषि के नवीन प्रयोगों को समझाती है।

ग्रामीण भाइयों के लिए हर एक प्रसार के केन्द्र से एक विशेष कार्यक्रम प्रसारित किया जाता है। सरकार गाँवों की पंचायत को एक-एक रेडियो देने का भी शीघ्र प्रबन्ध कर रही है। पहली पंचवर्षीय योजना द्वारा ७६०० गाँवों को विद्युत् की भी सुविधा प्राप्त हो जायगी।

भारतीय सरकार की योजनाओं को सफल बनाने में कृषकों का विशेष उत्तरदायित्व है। खाद्य समस्या को सुलझाने के लिए हमारे कृषकों को खेती के नवीनतम साधनों की जानकारी होना आवश्यक है। नए प्रकार के वैज्ञानिक अनुसन्धानों को अपनाकर भारतीय कृषक भी कम परिश्रम कर अधिक नाज उपजा सकेगा। भारतीय कृषक की आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए सरकार प्रयत्नशील है। यदि उपज बढ़ेगी तो आर्थिक स्थिति में स्वयं ही सुधार हो जायेगा। उनको खाली समय का भी सदुपयोग करना चाहिए, अनेक ऐसे औद्योगिक धन्धे, जैसे टोकरी बुनना, रस्सी बुनना, बीड़ी बनाना, कपड़े बुनना, कालीन बुनना, इत्यादि भी वह लोग कर सकते हैं।

आज की कृषि उन्नति को देखकर निश्चित है कि भविष्य में भारतीय कृषक की अवस्था में विशेष परिवर्तन आएगा और वह भी अन्य देशों के कृषक के समान सुखी होगा।

: ६६ :

भारतीय संस्कृति की देन

संस्कृति से हमारा क्या तात्पर्य है? कोई भी देश अपनी संस्कृति को छोड़ना पसन्द नहीं करता। सच्चिदानन्द की सृष्टि में मानव को ही सत् और चित् प्राप्त हैं। बुद्धि के बल पर ही मानव आनन्द की खोज करता है, सौन्दर्य ही आनन्द है। मानव युग युगान्तर से सौन्दर्य की खोज में है वह अपनी किसी रचना को परिपूर्ण मानकर संतुष्ट नहीं हो पाता, उसको और भी सुन्दर बनाने का प्रयत्न करता रहता है। यही विकास है। यही संस्कृति है।

श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में "मेरे विचार से सारे संसार के मनुष्यों की एक ही सामान्य मानव-संस्कृति हो सकती है। यह दूसरी बात है कि वह व्यापक संस्कृति अब तक सारे संसार में अनुभूत और अंगीकृत नहीं हो सकी है। नाना ऐतिहासिक परम्पराओं के भीतर से गुजर कर और विभिन्न भौगोलिक परिस्थितियों में रहकर संसार के भिन्न-भिन्न समुदायों ने उस महान् मानवीय संस्कृति के भिन्न-भिन्न पक्षों का साक्षात्कार किया है। नाना प्रकार की धार्मिक साधनाओं, कलात्मक प्रयत्नों और सेवा, भक्ति तथा योगमूलक अनुभूतियों के भीतर से मनुष्य उस महान् सत्य के व्यापक और परिपूर्ण रूप को क्रमशः प्राप्त करता जा रहा है जिसे हम 'संस्कृति' शब्द द्वारा व्यक्त करते हैं। यह संस्कृति शब्द बहुत अधिक प्रचलित है तथापि यह अस्पष्ट रूप में भी समझा जाता है। इसकी सर्वसम्मत कोई परिभाषा नही बन सकी है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी रुचि और संस्कारों के अनुसार इसका अर्थ समझ लेता है। परन्तु इसको एक दम अस्पष्ट भी नहीं कह सकते; क्योंकि प्रत्येक मनुष्य जानता है कि मनुष्य की श्रेष्ठ साधनाएँ ही संस्कृति हैं।"

संस्कृति और सभ्यता में घनिष्ठ सम्बन्ध है। जिस जाति की संस्कृति

उच्च होती है वह सभ्य कहलाती है, और मनुष्य संस्कृत कहलाते हैं। जो संस्कृत है वह सभ्य है, जो सभ्य है वही संस्कृत है। अगर इस पर विचार करें तो सूक्ष्म सा अन्तर दृष्टिगोचर होता है। प्रत्येक जाति की अपनी-अपनी संस्कृति होती है, पर वह सभी सभ्य नहीं होते। संस्कृति अच्छी या बुरी हो सकती है परन्तु सभ्यता हमेशा सुन्दर होती है। सभ्यता के अन्तर में बहने वाली धारा को हम संस्कृति कहते हैं।

संस्कृति का विकास देश की प्राकृतिक दशा, उपज तथा जलवायु पर भी निर्भर होता है। प्रकृति का हमारे रहन-सहन, आचार-विचार सभी पर प्रभाव पड़ता है। उत्तम संस्कृति हीन-तर संस्कृति को प्रभावित अवश्य करती है परन्तु आत्मसात् नहीं। आर्य संस्कृति द्वारा अन्य जातियाँ बहुत अधिक प्रभावित हुई जैसे हूण, कुशन, शक आदि। उन्होंने भारतीय संस्कृति की उत्तम बातों को ग्रहण किया। संस्कृति और धर्म में बहुत अन्तर है। धर्म व्यक्तिगत होता है। धर्म आत्मा-परमात्मा के सम्बन्ध की वस्तु है। संस्कृति समाज की वस्तु होने के कारण, आपस में व्यवहार की वस्तु है। संस्कृति धर्म से प्रेरणा लेती है उसे प्रभावित करती है। धर्म को यदि सरोवर तथा संस्कृति को कमल की उपमा दें तो यह गलत न होगा। मनुष्य के शरीर में आत्मा का प्रधान तथा मुख्य स्थान है। शरीर गौण है फिर भी शरीर आत्मा के लिए अत्यन्त आवश्यक है भारतीय संस्कृति आत्मा को ही मुख्य मानती है। शरीर और मन की शुद्धि भी आवश्यक है। जब तक मनुष्य का बाह्य तथा अन्तर शुद्ध नहीं होता तब तक वह गलत वस्तु को भी सही मानता रहेगा। शरीर तथा अंतःकरण की शुद्धि ही भारतीय आदर्शों की भारतीय दर्शन की विशेषता है। भारतीय संस्कृति का विकास धर्म का आधार लेकर हुआ है इसीलिए उसमें दृढ़ता है। वरुण के पुत्र भृगु की एक रोचक कथा तैत्तरीय उपनिषद की भृगुवल्ली में दी हुई है जो इस प्रकार है—भृगु ने वरुण से कहा कि हे भगवान मैं ब्रह्म को जानना चाहता हूँ, वरुण ने अपने पुत्र को तप करने का आदेश दिया। भृगु ने कठिन तपस्या की। उसके उपरान्त पुत्र ने समझा कि अन्न भी ब्रह्म है। वरुण ने उनको पुनः तप करने की आज्ञा दी।

इस बार भृगु ने प्राण को ही ब्रह्म जाना, फिर भी वरुण संतुष्ट नहीं हुए। भृगु को तपस्या के लिए फिर उत्साहित किया। तपस्या के उपरान्त पुत्र ने मन को ही ब्रह्म माना। पिता वरुण ने फिर उसको तप करने के लिए भेजा। पुत्र ने विज्ञान को ही ब्रह्म जाना। परन्तु पिता अब भी असंतुष्ट रहे। कठिन तपस्या के उपरान्त पुत्र ने आनन्द को ही ब्रह्म माना। यही सत्य था।

इस प्रकार अन्न (भौतिक पदार्थ), प्राण, मन, विज्ञान, (बुद्धि), आनन्द (आध्यात्म तत्त्व) ही ज्ञान के पाँच स्तर हैं। संसार के सभी दार्शनिक मत इन्हीं पाँचों के आश्रय से बने हैं। इन पाँचों तत्त्वों में प्रथम शरीर फिर प्राण इसके बाद मन स्थूल माना जाता है। इन तीनों को संयत करने पर जोर देने से भारतवर्ष के नाना आध्यात्मिक पंथ अलग-अलग हो गये हैं। प्राण को वश करने के लिए हठयोग तथा मन को वश में करने के लिए राजयोग की विधि बतलाई है। यह सब अभ्यास द्वारा ही सिद्ध हो सकते हैं परन्तु भारतीय मनीषियों ने अभ्यास को ही एक मात्र साधन नहीं माना है। अभ्यास के साथ वैराग्य भी होना चाहिए।

चित्त की स्थिरता अभ्यास और वैराग्य पर आश्रित है इसी से बुद्धि निर्मल होती है। केवल इसी समय परम सत्य का साक्षात्कार होता है।

भारतीय विश्वासों के अनुसार मनुष्य देव-ऋण, ऋषि-ऋण, तथा पितृ-ऋण को लेकर संसार में आता है। अधिकांश लोगों की धारणा है कि बिना इन ऋणों को चुकाये वह साधना का अधिकारी नहीं हो सकता है। भारतीय मनीषियों ने इन ऋणों को चुकाने का केवल यही उपाय बतलाया है कि मनुष्य इसको ऋण के रूप में ही ग्रहण करले तथा पितृ-पितामहों की परंपरा को आगे बढ़ावे।

जल बरसाने वाला मेघ, अन्न उपजाने वाली पृथ्वी, प्रकाश देने वाला सूर्य हमको सहज ही प्राप्त हो गये हैं। भारतीय मनीषियों ने इनको देवता माना है इनके ऋण से मुक्ति पाने का उपाय बाँटकर भोग करना बतलाया है। जो तुम्हारे पास है उसको बाँटकर ग्रहण करना चाहिए।

ऋषियों के ऋण के लिये ज्ञान की धारा की रक्षा तथा उस धारा को

अग्रसर करना ही बतलाया है। बिना इन ऋणों को चुकाये मोक्ष की प्राप्ति का साधन भी करना बहुत बड़ा पाप है। जब तक मनुष्य यह ऋण चुका नहीं देता तब तक उसे कोई बड़ी बात सोचने का भी अधिकार प्राप्त नहीं होता है। भारतीय मनीषियों ने अपने देशवासियों के लिए कर्त्तव्य, संयम, वैराग्य इत्यादि का उपदेश दिया है। हमारे पतन का केवल एक ही कारण है, वह है अपने उच्च आदर्शों का भूल जाना। भारतीय संस्कृति तो व्यक्ति को व्यक्तित्व देती है एवं उसे महान कार्यों को करने के लिए उत्साहित करती है, हम इन्हीं कार्यों के द्वारा अपनी संस्कृति को महान् बना सकते हैं।

: ६७ :

भारतीय संस्कृति का भविष्य

किसी देश की संस्कृति का भविष्य हम उसके समस्त प्राचीन और आज के इतिहास को दृष्टि में रखकर सरलतापूर्वक कर सकते हैं। भारत के प्राचीन सांस्कृतिक-अवशेष अपनी कहानी स्वयं ही कह जाते हैं।

भारतीय संस्कृति के आदि युगों में भी अन्य देश यहाँ के धर्म, दर्शन, आचार-विचार, सामाजिक सहिष्णुता आदि से प्रभावित हुए थे। एशिया के विस्तृत विशाल भूखंडों में अनेक ऐसी ताम्र, लौह, प्रस्तर की मूर्तियाँ, लेख इत्यादि मिले हैं जो यहाँ के गौरवमय पूर्व इतिहास, यहाँ की सभ्यता, यहाँ की संस्कृति के द्योतक हैं। भारतीय आवासकों और धर्म दूतों ने साइबेरिया से सिंहल तट तक और सोकोतरा से सेलीबीज तक ऐसा सांस्कृतिक प्रभुत्व स्थापित किया जो अपनी गहरी छाप वहाँ की संस्कृति पर लगाए हुए हैं। भारतीय संस्कृति की सबसे बड़ी विशेषता उसकी परम उदारता और सहिष्णुता है। धार्मिक, सामाजिक, नैतिक व्यवहारों में भारत की संस्कृति अन्य देशों की

अपेक्षा कहीं अधिक उदार है क्योंकि भारतीय संस्कृति की नीव धर्म का दृढ़ आधार लेकर खड़ी हुई है। मिश्र, यूनान तथा चीन देश की संस्कृति को भारतीय संस्कृति ने प्रभावित किया था, इतिहास इसका साक्षी है। भारतीय संस्कृति की एक अन्य विशेषता सुव्यवस्था है जो हमें सामाजिक एवं आध्यात्मिक क्षेत्रों तक में प्राप्त होती है। सामाजिक सुव्यवस्था इतने विशाल जन-समूह को चार जातियों में विभक्त करके स्थापित की गई। हमारे ऋषियों ने जीवन की सुव्यवस्था चार आश्रमों में की। यह आश्रम थे (१) ब्रह्मचर्य, (२) गृहस्थ, (३) वाणप्रस्थ तथा (४) सन्यास। धार्मिक सुव्यवस्था कर्मफल पर आधारित थी जो इन सबके मूल में थी। कर्मफल के सिद्धान्त ने मनुष्य के जीवन में अपूर्व संतोष ला दिया। आज की परिस्थिति और अपने भविष्य से वह संतुष्ट था। वह जैसा कर्म करेगा उसी के अनुसार इस जीवन और मृत्यु के उपरान्त दूसरे जीवन में फल पाएगा। कर्मफल के सिद्धान्त का वैज्ञानिक महत्व चाहे कुछ भी न हो पर उसका सांस्कृतिक महत्व भारतीय जीवन पर यथेष्ट रूप से पड़ा। भारतीय पुनर्जन्म में विश्वास रखता है। ईसवी पूर्व पाँचवीं शताब्दी के सुप्रसिद्ध ग्रीक दार्शनिक पाइथागोरस ने भी सम्भवतः भारतीय दार्शनिकों से प्रभावित होकर ही पुनर्जन्म के सिद्धांत को माना था। इस प्रकार भारती संस्कृति की सुदृढ़ नींव पड़ चुकी थी जो आजतक उसी रूप में है। भारत की बसुन्धरा पर अनेक जातियाँ आईं, अपनी-अपनी सभ्यता और संस्कृति साथ लाईं। उनका अप्रत्यक्ष और प्रत्यक्ष रूप से हमारी सभ्यता पर प्रभाव भी पड़ा फिर भी हम मूल रूप में उन्हीं विश्वासों, उन्हीं आचार विचारों में जीवित रहे जो हमारे परम्परागत संस्कारों में पलते गये थे। सांस्कृतिक उत्थान पतन का युग अपने समय की विचार धाराओं के अनुसार ही होता है। हरिदत्त वेदालंकार के दो शब्दों में "भारतीय संस्कृति के उत्थान और पतन में दो पृथक और विरोधी विचार-धाराओं का बड़ा हाथ रहा है। पहली आशावादी विचार धारा है, दूसरी निराशा की। पहली दुनिया के सुखों को पाना, आपत्तियों से जूझना और उन पर विजय पाना चाहती है, दूसरी संसार को दुखमय समझ उससे भागकर जंगलों

में जाने तथा मोक्ष प्राप्त करने का आदेश देती है। पहली के लिए संसार सत्य है दूसरी के लिए मिथ्या। जब तक पहली विचारधारा का प्राधान्य रहा, हम आगे बढ़ते रहे, छठी शताब्दी ईसवी से दूसरी विचारधारा प्रबल हुई। वैराग्य और परलोकवाद के कारण संसार से घृणा की जाने लगी। अतः संसार ने भी भारत की उपेक्षा की। वह उन्नति की दौड़ में पिछड़ गया। तेरह सौ साल तक हम मोहनिद्रा में पड़े रहे। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद हम एक चौराहे पर खड़े हैं। एक मार्ग का वरण कर हमें आगे बढ़ना है। इसीपर हमारा भविष्य अवलंबित है। क्या हम गतिशील धारा को अपनायँगे या वैराग्य मूलक, निवृत्तिप्रधान वेदान्त और भक्तिमार्ग के साथ मोहवश चिपटे रहेंगे? मध्ययुग में भारतवर्ष के अधःपतन का एक बड़ा कारण परलोकवाद, भ्रान्त विश्वास, दूषित विचारधाराएँ और थोथी आध्यात्मिकता थी।"

मेरी दृष्टि में भारतीय संस्कृति के विषय में ऐसी धारणाएँ अनुचित-सी हैं। मध्ययुग में भी हमारी संस्कृति ने ह्रास नहीं देखा था। वैसे विचारधारा, देशकाल परिस्थिति के अनुसार बदलती रहती है। समाज में अंधविश्वास अनेक बाह्याडम्बर, धर्म में कर्मकाण्ड, दिखावा, जाति-पाँति, ऊँच-नीच की भावना, बढ़ती ही गई। इधर छोटे-छोटे राज्य आपस के युद्धों में ग्रस्त थे। अतः भारत में एक ऐसा युग आया जो उसके देदीप्यमान उज्ज्वल इतिहास में एक कलंक स्वरूप था। मध्ययुगीन संतों ने और भक्ति साहित्य के अमर सृजनकर्त्ताओं ने समाज की अनेकों प्रचलित कुरीतियों की ओर ध्यान दिया और पूर्ण स्वर से उसका विरोध किया। सहस्रों वर्षों से चली आई संस्कृति में उन्होंने फिर से नवजीवन भर दिया ठीक उसी तरह जिस तरह समाज के बाह्याडम्बरों और छूआ-छूत का विरोध स्वामी दयानन्द ने किया। महात्मा गाँधी के उपदेशों ने समाज के समक्ष भेदभाव की भावना को मिटाने का सतत प्रयास किया। सब सुधारकों ने भारतीय संस्कृति में जो इतने सहस्रों वर्षों से धीरे धीरे त्रुटियाँ आती गई, उसकी ओर इंगित किया। जनता में प्रचलित अंधविश्वासों और बाह्याडम्बरों का प्रत्येक सुधारक ने घोर

विरोध किया। आज की संस्कृति को और भी उन्नत बनाने के लिए यह आवश्यक है कि हमारे जो दोष संस्कृति में घर करते गए हैं उन्हें दूर करने का हम प्रयास करें तभी सच्चे रूप में उन्नति सम्भव हो सकती है। आज का युग विज्ञान का युग है। हमें नवीन वैज्ञानिक प्रयोगों से लाभ उठाकर देश की उन्नति करनी है। मिथ्या आडम्बर विश्वासों का युग अब बीत चुका है। यह जागरण का युग है। जिसमें हमें बड़ी सतर्कता से आगे बढ़ना है। कर्मफल का सिद्धान्त केवल भाग्यवाद में परिणत हो गया तभी मलूकदास की वाणी से यह निस्सृत हुआ था।"

अजगर करे न चाकरी
पंछी करे न काम
दास मलूका कह गए
सब के दाता राम

किन्तु भक्त के संतोषी शब्दों ने समाज की अपढ़ जनता में केवल अकर्मण्यता के अतिरिक्त और क्या लाभ किया?—कोरे भाग्यवाद के भरोसे बैठे रहना या अपने अतीत के मिथ्याभिमान में भूले रहना हमारी उन्नति में बाधक सिद्ध होगा। आज हमें भारतीय संस्कृति के भविष्य को उज्ज्वल करने के लिए अपने समस्त साम्प्रदायिक वैमनस्यों को भुलाकर सहिष्णु होना होगा। भारतीय संस्कृति की उदार प्रवृत्ति ही हमारी संस्कृति के भविष्य को ज्वलंत बना सकती है।

: ६८ :

सिनेमा के प्रभाव तथा उसके द्वारा शिक्षा

आधुनिक युग में सिनेमा ने हमारे जीवन को अत्यधिक प्रभावित किया है। विज्ञान की सुन्दर देन 'सिनेमा' हमारे मनोरंजन का सफल साधन रहा है। आज के प्रगतिशील वैज्ञानिक युग ने विशेष उन्नति की है। अब हमारे मनोरंजन के क्षणों की उपयोगित भी है। सिनेमा जब अपने प्रारंभिक रूप में था तब सस्ती भावुकता के अनेक चित्र चित्र-निर्माताओं ने बनाए किन्तु अब जैसे-जैसे सिनेमा में उन्नति होती गई चित्र निर्माण भी विशेष कला के अन्तर्गत आ गया। आज सिनेमा का महत्व हमसे छिपा नहीं है। उसका प्रभाव व्यापक रूप से हम पर पड़ता है, यहीं तक नहीं वह हमारे समस्त समाज एवं राष्ट्र के जीवन को प्रभावित करता है। सिनेमा के अच्छे और बुरे दोनों ही प्रकार के प्रभाव हो सकते हैं। चित्र निर्माताओं को चित्र बनाने में विशेष सतर्कता रखने की आवश्यकता है। किसी चित्र का प्रभाव सामाजिक जीवन पर बहुत गहरा पड़ता है इसलिए, सस्ती भावुकता के अश्लील चित्रों पर पूर्ण रूप से प्रतिबन्ध लगाना आवश्यक है। चित्र निर्माताओं को चाहिए कि वह ऐसे चित्र बनाएँ जो हमारी गौरवमयी संस्कृति हमारे सामाजिक एवं नैतिक उत्थान में विशेष रूप से सहायक हो। सामाजिक जीवन पर चित्रों का प्रभाव व्यापक रूप से पड़ता है। राष्ट्रीय जीवन को उन्नति के पथ पर अग्रसर करने का यह सफल साधन हो सकता है। नैतिक आचार-विचार इस प्रकार व्यक्त होने चाहिए जो हमारे समक्ष उदाहरण उपस्थित कर सकें। यदि चित्र निर्माता विशेष सतर्कता और सावधानी से कार्य करें तो आशातीत सफलता प्राप्त हो सकती है। सिनेमा का ध्येय एक मात्र व्यवसाय ही नहीं होना चाहिए उन्हें इस बात को भी अपनी दृष्टि में रखना चाहिए कि उनका कार्य कितना दायित्वपूर्ण है। आज यदि वह ऐसे चित्र बनाते हैं जो दुष्प्रवृत्ति को उभारते हैं तो कितने बड़े जनसमूह पर उसका बुरा

प्रभाव पड़ेगा। इसी प्रकार के अनेकों चित्र अब भी दृष्टिगोचर होते हैं स्पष्ट ही है कि इनके पीछे निर्माताओं और निर्देशकों का स्वार्थ निहित है। आर्थिक लोभ के कारण वह जनता के समक्ष ऐसे दृश्य ला उपस्थित करते हैं जो केवल एक ही वर्ग के लिए मनोरंजक होते हैं। सभ्य वर्ग न तो उन्हें पसन्द ही कर सकते हैं और न उनसे कोई लाभ ही उठा सकते हैं। सच तो यह है कि कभी-कभी तो एक अच्छा कथानक तथा एक शिक्षाप्रद कहानी केवल कुछ ही दृश्यों के कारण निकृष्ट सिद्ध हो जाती है। भला होता है तो केवल इन चित्रों का नाम जिसके कारण अधिकांश जनता आकर्षित हो देखने चली आती है। ऐसा होने से यदि कार्य सिद्ध होता है तो केवल चित्र निर्माताओं का तथा उनसे सम्बन्धित व्यक्तियों का जनता के समक्ष तो केवल एक अर्थहीन निकृष्ट चित्र ही रह जाता है। चित्र-निर्माता अपने चित्रों के विज्ञापन के हेतु ऐसे "पोस्टर" बनवाते हैं, जो अधिकांश निम्न प्रकार की प्रवृत्तियों को उत्तेजित करने में सहायक होते हैं। वास्तव में इसका दुष्प्रभाव स्कूल और कालिजों में पढ़ने वाले विद्यार्थियों पर बुरा पड़ता है। मनोवैज्ञानिक खोजों से स्पष्ट है कि एक विशेष आयु वाले बालक अपने जीवन को किसी भी ओर सरलता से मोड़ सकते हैं। आवश्यकता इस बात की है कि विशेष कर इस समय उनके साथ बहुत सावधानी बरती जानी चाहिए। इसी दशा में भारतीय सरकार की बनाई एक योजना विशेष रूप से सराहनीय है। केन्द्रीय सेन्सर बोर्ड ने चित्रों का वर्गीकरण आरम्भ कर दिया है। कुछ चित्र विशेष रूप से केवल वयस्क लोगों के लिये ही होते हैं और अन्य चित्र सभी को समान रूप से दिखलाये जा सकते हैं। अभी हाल ही में भारत सरकार ने बाल चलचित्र प्रतियोगिता चलाई थी जिसमें सर्वश्रेष्ठ बाल चलचित्र निर्माताओं को पुरस्कार भी दिए गए। इससे लाभ यह होगा कि हमारे चलचित्र निर्माताओं का ध्यान इस ओर भी आकृष्ट होगा और वह हमारे राष्ट्र के आधार देश के उदीयमान बालकों के समक्ष अच्छे शिक्षात्मक चित्र दिखा सकेंगे और बालक स्वयं अपने मनोरंजन के हेतु बने चित्रों की ओर विशेष ध्यान देंगे। आजकल कुछ

सिनेमा निर्माताओं ने चलचित्रों में विशेष सुधार किए हैं जो प्रशंसनीय हैं इधर कुछ अत्यधिक सफल चित्र देखने में आए हैं किंतु इनकी संख्या बहुत कम है। यद्यपि अच्छी फिल्म बनना सहज कार्य नहीं है उसमें बुद्धि-मानी, परिश्रम तथा रुपये की बहुत बड़ी आवश्यकता है फिर भी हमारे निर्माता अब अपने दायित्व को समझने लगे हैं और वह अच्छे चित्र बनाने में संलग्न हैं। एक बात विशेष आवश्यक यह है कि सिनेमा के अभिनेताओं को, उनके आवश्यक अभिनय में स्वाभाविकता की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए। उनकी वेशभूषा का भी प्रभाव पड़ता है विशेषकर भारतवर्ष में अभी अच्छे अभिनेताओं की कमी है। अभिनेताओं पर चित्र की सफलता बहुत कुछ निर्भर करती है।

सस्ती अश्लील कहानियों और भद्दी तस्वीरों पर भारतीय सरकार के केन्द्रीय सेन्सर बोर्ड ने प्रतिबन्ध लगा दिया है। देश के लिये इसका भारी महत्व है। इस प्रकार उच्च कोटि के चित्र हमारे समक्ष आ सकेंगे। चलचित्र अब केवल मनोरंजन का साधन मात्र नहीं है उसकी अपनी उपयोगिता हैं। चलचित्रों का जीवन पर कितना शिक्षात्मक महत्व पड़ता है हम इससे अन-भिज्ञ नहीं। ऐसी कहानियों कथाओं का जो जनता से हमारे पाप, बुराई अपराव अश्लील प्रेम आदि के लिये अधिक सहानुभूति पाना चाहें, कदापि प्रदर्शन नहीं होना चाहिए। विशेषकर निर्माताओं को चित्र बनाते समय किसी पात्र को मनुष्य या जीव पर निर्दयता करते हुए नहीं दिखाना चाहिए। किसी पात्र को बुरी तरह छुरे से मारते हुए या फाँसी पर लटकते हुए नहीं दिखाना चाहिए उनका सांकेतिक आभास मात्र ही दर्शकों के लिए यथेष्ट है।

आधुनिक चलचित्र निर्माताओं ने कुछ सुप्रसिद्ध उपन्यासों, नाटकों, जीवनियों आदि के आधार पर सफल चित्र बनाए हैं। भारतीय चलचित्रों में सुधार की यथेष्ट आवश्यकता है। यदि चलचित्र निर्माता इस ओर ध्यान दें तभी भारतीय चलचित्रों में सच्ची उन्नति सम्भव हो सकती है। चित्र का शिक्षात्मक महत्त्व दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। अन्य देशों में कितने ही

वैज्ञानिक प्रयोग चलचित्र के माध्यम से समझाए जाते हैं जिन्हें पाठक सहज रूप से समझ लेता है। इतिहास की अनेकों घटनाएँ चलचित्रों की सहायता से विद्यार्थी याद रख सकता है। सिनेमा हमारी शिक्षा प्रणाली में सहयोग दे सकता है। इसके अतिरिक्त सामाजिक राष्ट्रीय जीवन को उन्नत करने में विशेष सहायक सिद्ध हो सकता है। इस प्रकार के चित्रों का प्रदर्शन जनता के समक्ष होना चाहिये जो जीवन को उन्नत एवं आशावादी बनाने में सहायक हों। सिनेमा में चलचित्रों के कथानकों के विषय सामाजिक, राजनीतिक, राष्ट्रीय, धार्मिक कुछ भी हों पर उनमें इस प्रकार की भावनाओं का प्रदर्शन होना चाहिये जो जन-जीवन को उसकी भावना को समुन्नत बनाने में सचेष्ट हो। ऐसी ही दशा में चलचित्र सहायक सिद्ध हो सकते हैं। देश की कला—गायन वादन, नृत्य, में चलचित्रों की सहायता से अत्यधिक उन्नति हो सकती है। अनेकों चलचित्रों में लोक नृत्यों को प्रोत्साहन दिया जा रहा है जो देश की भूली हुई कला को कुछ ही काल बाद अपना रूप खो देती, पुनर्जीवित करने में सहायक हैं। इस प्रकार आज के जीवन पर सिनेमा का सांस्कृतिक एवं शिक्षात्मक प्रभाव निश्चय ही बहुत अधिक है।

: ६६ :

नागरिक जीवन के गुण-दोष

साधारण रूप में "नागरिक" शब्द का अर्थ है नगर निवासी। किन्तु अब "नागरिक" शब्द अपना विशिष्ट अर्थ रखता है। नागरिक दोनों ही प्रकार का हो सकता है चाहे वह ग्राम निवासी हो या नगर का रहने वाला। प्राचीनकाल में यूनान तथा रोम में नागरिक शब्द का व्यवहार उन्हीं विशिष्ट लोगों के लिए होता था जिन्हें सम्पूर्ण अधिकार प्राप्त थे। दास प्रथा के अनेक घृणित उदाहरण प्राचीन रोम यूनान की सभ्यता में पर्याप्त रूप से

मिलते हैं। इन दास बनाए हुए व्यक्तियों को वे लोग अपने समान अधिकार कदापि नहीं दे सकते थे इसलिए उन्होंने दस्यु बनाए हुए लोगों से नागरिकों के अधिकारों का अपहरण कर लिया। फलस्वरूप यह दस्यु यद्यपि उसी भूमि भाग में, एक ही राज्य की छत्र-छाया में रहते थे परन्तु उन्हें रोम के स्वतंत्र नागरिकों के समान कोई अधिकार प्राप्त नहीं थे। कालांतर में नागरिक, शब्द का अर्थ इसीलिए परिवर्तित हो गया—जिसे एक विद्वान ने इस प्रकार अभिव्यक्त किया है "केवल राज्य में रहने ही से मनुष्य नागरिक नहीं बन सकता। नागरिक बनने के लिए यह आवश्यक है कि उसे अधिकार प्राप्त हो तथा उसके कर्त्तव्य हों।"

जो व्यक्ति राजद्रोही, अपराधी, दण्डित, पागल-दिवालिए हैं उन्हें नागरिकता के अधिकार प्राप्त नहीं हो सकते।

प्रत्येक नागरिक को अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए राज्य की ओर से राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक एवं आर्थिक स्वतंत्रता प्राप्त है जो अत्यंत महत्वपूर्ण है। किन्तु यही स्वतंत्रता यदि स्वच्छन्दता में परिणित हो जाए तो यह जन समुदाय के लिए घातक सिद्ध होगी। नागरिकों को अपने कर्त्तव्य के प्रति सजग होने की आवश्यकता है।

मुख्यतः प्रत्येक राज्य में चार प्रकार के नागरिक होते हैं (१) अल्पवयस्क नागरिक (२) मताधिकार प्राप्त वयस्क नागरिक (३) मताधिकार से वंचित वयस्क नागरिक (४) नागरिकता प्राप्त किये हुए नागरिक। नागरिकों की उन्नति का उत्तरदायित्व स्वयं नागरिकों पर ही निर्भर करता है। राज्य तो प्रत्येक उन्नति के कार्य में यथेष्ट सहायता प्रदान करता है। नागरिक जीवन में राज्य की ओर से हमें नागरिक स्वतन्त्रता प्राप्त है। हमें भाषण देने और लेख लिखने की पूर्ण स्वतंत्रता है किन्तु साथ ही नागरिकों का कर्तव्य है कि ऐसे लेख तथा ऐसे भाषण न दें कि जिनसे जनता की सांप्रदायिक एवं धार्मिक भावना कटुता से उभर उठे। नागरिक जीवन का प्रथम चरण है सहयोग अर्थात् मनुष्य समाज में किस प्रकार अधिक से अधिक शांतिपूर्ण अवस्था में रहकर अपनी उन्नति करते जायें। यदि कोई व्यक्ति किसी की हत्या करने की

चेष्टा करता है तो राज्य का कर्त्तव्य है ऐसे व्यक्ति को उसके अपराध का उचित दण्ड दे। राज्य का कार्य सुव्यवस्था स्थापित करना है। अच्छे नागरिक को चाहिए कि वह निष्पक्ष, निर्लोभी और सहिष्णु हो, तभी वह समाज की सच्ची सेवा कर सकता है। उसे इस दायित्व का अनुभव करना चाहिए कि उसका समुदाय समाज, देश तथा राष्ट्र के प्रति क्या कर्त्तव्य है। वह ऐसा कोई भी कार्य न करे जो जनहित के विरुद्ध हो। नागरिक जीवन हमें सहयोग का पाठ पढ़ाता है। मनुष्य एक सामूहिक प्राणी है वह केवल एकान्त निर्जन पहाड़ों में अपना समस्त जीवन नहीं व्यतीत कर सकता, कितनी ऐसी वस्तुएँ उसके दैनिक जीवन के प्रयोग में आती हैं जो न जाने कितने मनुष्यों के सहयोग से उसे प्राप्त हुई हैं। सभ्यता के प्रारंभिक काल चरणों में भी मनुष्य ने अपनी सुरक्षा और आवश्यकता के हेतु काफिले बनाये थे, अकेला वह तब भी नहीं रह सका था। आज सभ्यता ने जब मनुष्य को समस्त सुख एवं शांतिमय जीवन का आश्वासन दिया है तब तो उसके प्रति हमारे कुछ निश्चित कर्त्तव्य भी हैं जिनका पालन करना नितान्त आवश्यक है। राज्य की ओर से हमें विशिष्ट अधिकार प्राप्त हैं जिनमें सबसे महत्वपूर्ण है शान्ति और सुरक्षा का अधिकार। राज्य का कर्त्तव्य है वह चोर, डाकुओं तथा गुंडों से हमारी रक्षा करे। इसलिए सरकार की ओर से सुव्यवस्था स्थापित्त करने के लिए पुलिस नियुक्त होती है। वाह्य आक्रमणों से देश की रक्षा होना आवश्यक है। यदि कोई मनुष्य दूसरों को व्यर्थ ही हानि पहुँचाने की चेष्टा करे, मारे पीटे, यहाँ तक कि हत्या इत्यादि करे तो इन सब अपराधों का दण्ड राज्य की ओर से उस व्यक्ति को देना आवश्यक है क्योंकि वह सामाजिक जीवन की शांति सुव्यवस्था को भंग करता है। इस सुव्यवस्था को बनाए रखने के लिए राज्य न्यायालय बनाती है जिसमें व्यक्ति के समस्त अपराधों का उचित दण्ड निश्चित हो जाता है। नागरिक जीवन में मेल-जोल की बहुत बड़ी आवश्यकता है इसीलिए सरकार भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों में शांति स्थापित करने की पूर्ण चेष्टा करती है। राज्य हमारी जान-माल की रक्षा करता है। नागरिक जीवन में हमें इतनी अधिक

सुविधाएँ राज्य की ओर से प्राप्त हैं। प्रत्येक नागरिक जब इतने अधिकारों का भागी है तो उसके कर्त्तव्य भी हैं जिन्हें उसे पूरा करना चाहिए। विशिष्ट कर्त्तव्यों का पालन करके ही समस्त राष्ट्र का जीवन सुखी हो सकता है। जैसे हमें आर्थिक स्वतंत्रता का अधिकार प्राप्त है, हमें यह अधिकार है कि हम जिस व्यवसाय को अपनाना चाहें अपनाएँ। बाहरी देशों से व्यापार करने की स्वतंत्रता है लेकिन हमें इस प्रकार के कोई भी कार्य करने की राज्य अनुमति नहीं देगा जो देश की भलाई और प्रतिष्ठा के विरुद्ध हों।

हमें अपना स्वतंत्र रूप के वैयक्तिक विकास करने का अधिकार प्राप्त है। हम जिस धर्म को अपनाना चाहें अपनाएँ। धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार प्रत्येक नागरिक को है। वह जिस देवी देवता की उपासना करना चाहे करे किन्तु सामाजिक जीवन को शांतिमय बनाने के लिए यह आवश्यक है कि वह अन्य धर्मों के प्रति उदार भी हो। अच्छे नागरिक को समस्त साम्प्रदायिक वैमनस्यों और भेदभावों को भुला देना होगा। भारतवर्ष में जाति प्रथा के जटिल हो जाने के साथ, धार्मिक मान्यताओं के बन्धन जकड़ते गये। शूद्र ईश्वर के मन्दिर में उपासना नहीं कर सकता था। छूआछूत ने मानव को मानव से ही कितनी दूर हटा दिया। कबीर से लेकर दयानन्द, महात्मा गांधी आदि सभी सुधारकों ने समाज से छूआछूत की प्रथा को उखाड़ फेंकने का सतत प्रयास किया। सुधारकों के उपदेशों ने सामाजिक जीवन में सहिष्णुता उत्पन्न कर दी जिसके फलस्वरूप ऊँच-नीच एवं छूआछूत के जटिल बन्धन बहुत कुछ ढीले पड़ गए हैं। वह समय निकट ही है जब मानव मानवता के नाते समान होगा।

स्वतंत्र देश में नागरिकों को राज्य की ओर से भाषण देने की पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त है। किन्तु नागरिक का कर्त्तव्य है कि इस अधिकार का दुरुपयोग न करे। वह ऐसे भाषण न दे जो जनहित एवं राष्ट्रहित में बाधक हों और साम्प्रदायिक वैमनस्यों को उभाड़ें। सभाएँ करने और मिलने-जुलने का अधिकार, राज्य की ओर से प्रत्येक नागरिक को प्राप्त है किन्तु गुप्त षड़यंत्रकारी सभाएँ करने का अधिकार उसे नहीं है। जब भारतवर्ष में

एक बार सांप्रदायिक दंगे उभर उठे थे सुव्यवस्था स्थापित करने के लिए
कर्फ्यू लगा दिया गया था। नागरिक जीवन में राज्य प्रत्येक व्यक्ति को समान
स्वतंत्रता का अवसर देता है, शिक्षा की सुविधा प्रदान करता है। भारत
सरकार ने पिछड़ी हुई अशिक्षित जातियों को शिक्षा देने का विशेष प्रबन्ध
किया है, उनके लिए गाँवों में स्कूल खोले गए हैं। ऐसे चलचित्रों का निर्माण
कराया है जिससे वह सरलता से शिक्षा ग्रहण कर सकता है। सरकार ने
साक्षरता भवन भी खुलवाए हैं। राज्य हमें अधिक से अधिक सुख प्रदान
करने की चेष्टा करता है वह हमें अपने सम्पूर्ण व्यक्तितत्व का विकास करने
का अवसर प्रदान करता है। देश के समस्त नागरिकों के जीवन को समुन्नत
बनाने के लिए यह आवश्यक है कि देश में पूर्ण रूप से शांति और सुव्यवस्था हो
इसलिए सबके साथ परस्पर समानता का व्यवहार होना भी अत्यन्त अपेक्षित
है। कानून की दृष्टि में अमीर, गरीब सब समान हैं। जो दोषी है उसे दण्ड
का भागी होना पड़ेगा। न्यायालय के समक्ष जब अपराध प्रमाणित हो
जाता है तब उसी के अनुसार उस अपराधी को दण्ड दिया जाता है। दण्ड-
विधान का एकमात्र उद्देश्य नागरिक जीवन की सुरक्षा रही है। कानून
का कठोर होना भी आवश्यक है। तभी अपराधों की संख्या कम हो सकती
है। नागरिकों को स्वतंत्र देश में अपना मत देने का अधिकार प्राप्त है जिसे
"मताधिकार" कहते हैं। नागरिकों को चाहिए कि वह ऐसे सुयोग्य व्यक्तियों
को अपना मत प्रदान करें जो देश की कल्याण भावना को अपनी दृष्टि में
रखकर कार्य कर सकें। तभी देश की वास्तविक भलाई हो सकती है।
सामूहिक जीवन तभी शांतिमय हो सकता है जब कि प्रत्येक नागरिक अपने
कर्त्तव्य को भली-भाँति समझे। राज्य के समस्त विधानों का उचित रूप से
पालन करे। ठीक समय पर 'कर' दे। साथ ही किसी राष्ट्र के नागरिकों
को निष्पक्ष, निर्लोभी, स्वावलम्बी, मितव्ययी, और आत्मनिर्भर होना आवश्-
यक है। अच्छे नागरिक बनने में कुछ बाधाएं हैं जो कुछ नागरिकों में पाई
जाती हैं। मुख्य रूप से ये बाधाएँ हैं—आलस्य, स्वार्थपरता, अज्ञानता,
अकर्मण्यता, साम्प्रदायिकता, इत्यादि। यदि कोई नागरिक पूंजीपति है

और दीन-हीन मजदूरों के शोषण में व्यस्त है तो यह भी उसको अच्छे नागरिक बनाने में घातक ही सिद्ध होगा। गुटबन्दी, दलबन्दी आदि सामाजिक एकता और सुव्यवस्था में विशेष रूप से बाधक सिद्ध हुई हैं। प्रत्येक देश के इतिहास में जब भी समय-समय पर साम्प्रदायिक झगड़े बढ़े हैं देश के नागरिकों का जीवन शांतिमय नहीं रह सका है। इस प्रकार अन्य अभावों को प्रत्येक नागरिक को दूर करने का सतत प्रयास करना चाहिए। एक अन्य महत्वपूर्ण बात है स्वास्थ्य-रक्षा। यदि हमारा स्वास्थ्य ही ठीक नहीं होगा तब हम कार्यों को भली प्रकार नहीं कर सकेंगे। सच्चे नागरिक के लिए नैतिक बल की आवश्यकता है जो इन सबके मूल में है।

नागरिक इस ओर पूर्ण रूप से ध्यान दें तो निश्चय ही देश में आशातीत उन्नति हो सकती है।

: ७० :

प्रजातंत्र और वैयक्तिक शासन

आधुनिक सुशिक्षित समाज को प्रजातंत्र, लोकतंत्र, वयक्तिक शासन आदि के अर्थ बिल्कुल स्पष्ट हो चुके हैं। जन-जागृति की इस वेला में समाज के अन्य वर्ग भी इन शब्दों से अपरिचित नहीं हैं। यदि भलीभाँति नहीं तो कुछ अंश तक तो वह इनके अर्थ अवश्य ही जानते हैं। प्रजातंत्र, जैसा कि स्पष्ट है वह शासन है जिसमें जनता की सम्मति प्रधान हो। जनता के चुने हुए व्यक्ति जनता के हित को दृष्टि में रखकर देश का शासन चलावें। प्रजातंत्र, वैयक्तिक शासन से नितान्त भिन्न है। ऐसे शासन में प्रधानतः एक ही व्यक्ति स्वयम् अथवा कुछ इने गिने व्यक्तियों के परामर्श से शासन

करता है। ऐसे शासन में भला फिर जनता के हित अथवा उनके अधि-
कारों की सुरक्षा का प्रश्न ही कहाँ उठता है?

इतिहास साक्षी है कि वैयक्तिक शासन किसी भी देश में सफल नहीं
रहा। अपने ही बनाये नियम उसके लिए अभिशाप सिद्ध हुए और चार
दिन की चाँदनी के उपरान्त वे सदा के लिए नष्ट हो गए। ऐसे उदाहरण
एक नहीं अनेक मिलते हैं। वर्तमान जागृति के युग में ऐसे शासन की
कल्पना करना मूर्खता है जब दिनोंदिन स्वतंत्रता का साम्राज्य होता जा
रहा है और जन चेतना उत्तरोत्तर बढ़ रही है।

१८ वीं शताब्दी का अन्त प्रजातंत्र का प्रारम्भकाल माना जा सकता
है। इसी समम सर्वप्रथम पश्चिमी देशों में प्रजातंत्र की नींव पड़ी और उसकी
विजय भी हुई। इतिहास की दृष्टि से प्रजातंत्र को सर्वप्रथम अपनाने वाले
यूनानी थे। उस समय गुलामी प्रथा होने के कारण देश का समस्त कार्य
तो वही करते थे और सभ्य जनता के लिए था केवल देश की समस्याओं
पर विचार करना तथा शासन प्रणाली में सुधार करना।

प्रजातंत्र के उद्देश्य वास्तव में महान और आदर्श स्वरूप हैं। यहाँ
देश की जनता को पूर्ण स्वतंत्रता दी जाती है। लिखने-बोलने की स्वतंत्रता,
विचारों की स्वतंत्रता, धार्मिक स्वतंत्रता तथा शासन आलोचना की स्वतंत्रता
तक दी जाती है। प्रजातंत्र में जनता धार्मिक रूप से वहीं तक स्वतंत्र है जहाँ
तक वह दूसरे धर्मों का विरोध न करे। शासन की आलोचना भी उसी
सीमा तक क्षम्य है जहाँ तक वह किसी विद्रोह का रूप नहीं धारण कर
लेती। अपने अधिकारों के लिए प्रदर्शन करना अथवा शासन से अपील
करना जनता को आवश्यक भी है और इसके लिए उन्हें स्वतंत्रता भी प्राप्त
है। प्रजातंत्र में प्रत्येक व्यक्ति को कुछ मौलिक अधिकार प्राप्त हैं, और उनकी
सुरक्षा के हेतु देश में एक शासन विधान होता है। यह विधान जनता के
चुने हुए व्यक्ति ही बनाते हैं और इसके अन्तर्गत देश के प्रत्येक वर्ग के लोग
आते हैं। सामाजिक वर्गीकरण प्रजातंत्र के सिद्धांतों के विरुद्ध है। इसमें प्रत्येक
को समान अधिकार प्राप्त होते हैं और विधान की दृष्टि में भी वे सभी **एक हैं।**

वैयक्तिक शासन में जनता को एक ही व्यक्ति विशेष के इंगित पर चलना होता है। उसका शब्द विधान होता है और उसकी आज्ञा शासन। जनता की आवाज वैयक्तिक शासन के आधारों में ही दब जाती है। भला एक व्यक्ति का मस्तिष्क एक देश की सब समस्यायें कैसे सुलभा सकता है? इस प्रकार देश का शासन किस प्रकार सम्भव है। अधिकारों का दुरुपयोग ऐसे शासन में बहुत संभव है। ऐसे ही अधिकारों के दुरुपयोग के विरुद्ध फ्रांस की जनता एक बार विद्रोह कर उठी थी और उस विद्रोह का जो फल हुआ वह समस्त विश्व जानता है। फिर आज के युग में ऐसा शासन कहाँ संभव है जिसमें जनता की आवाज का मूल्य न हो। प्रजातंत्र में, जहाँ व्यक्ति को हर प्रकार की स्वतंत्रा है जनता की जान और माल की सुरक्षा का भार सरकार पर है—कुछ मौलिक दोष भी हैं जो स्वाभाविक ही हैं। यह तो सभी जानते हैं कि कोरे आदर्शवाद से देश का कार्य नहीं चल सकता आदर्शों को कार्यरूप में परिणित करना आवश्यक है। बस यहीं पर मतभेद है। देश सेवक समझते हैं कि हम अपने आदर्शों की सेवा कर रहे हैं—और उन्हें कार्यान्वित कर रहे हैं—परन्तु वास्तविकता कुछ भिन्न ही रहती है। चुने जाने के पश्चात् देश के सेवकों में स्वार्थ का प्रवेश हो जाता है जो मनुष्य प्रकृति होने के नाते स्वाभाविक ही है। उन्हें अपने मान और सम्मान का कुछ दूसरा ही रूप दीख पड़ता है देश सेवा की भावना, केवल आदर्श रूप में रह जाती है और उनके किए कार्य अधिकांशतः व्यक्तिगत अथवा किसी वर्ग विशेष के हित में होते हैं। अधिकांशतः जनता इस 'जन हित' से अछूती रह जाती है। दोष किसका है? जनता का, जिसने उन्हें चुना है, अथवा उनका जो चुने गए हैं—? एक ही बात सार्थक होती है 'प्रभुता पाय काहि मद नाहीं'......। दोषी दोनों हैं और कोई भी नहीं—अपनी-अपनी समझ ही इस विषय में मान्य है।

वैयक्तिक शासन में यदि जनता यह कह उठे कि हम उन लोगों से अच्छे हैं जिन पर उन्हीं के चुने हुए व्यक्ति शासन करते हैं और फिर भी वे प्रसन्न नहीं हैं—क्योंकि हमारे ऊपर तो केवल एक ही का शासन है तो यह

कोई प्रजातंत्र को विपक्ष में अथवा वैयक्तिक शासन के पक्ष में विशेष महत्व की बात नहीं हुई। प्रजातंत्र के लाभ अधिक हैं और दोष कम, और इसके विपरीत वैयक्तिक शासन के दोष अधिक हैं और लाभ कम। लाभ केवल इतना है कि देश की जनता वैयक्तिक शासन में अनुशासन में आ जाती है। राज्य के विरुद्ध वह कोई आवाज नहीं उठा सकती। परन्तु यह अनुशासन ऐच्छिक नहीं होता। जनता का अन्तःकरण शासन के विरुद्ध धधका करता है परन्तु उसकी ज्वाला का उद्गार उसी के लिए अहितकर सिद्ध होता है। वह शरीर और आत्मा दोनों ही से शासन की गुलाम हो जाती है। यह कहना भी ठीक नहीं होगा कि वैयक्तिक शासन में वह व्यक्ति विशेषतः अपने स्वार्थ के लिए ही कार्य करता है। कार्य तो वह अवश्य ही देश के हित के लिए करता है परन्तु देश की अनेकों समस्याओं में वह केवल किसी एक ही को महत्व दे पाता है। यदि देश की सुरक्षा उसके विचार से प्रधान है तो, देश की अन्न समस्या, औद्योगिक समस्या तथा अन्य समस्याएँ ऐसी ही पड़ी रह जाती हैं और हानि होती है केवल मूक और निःसहाय जनता की जर्मनी, इटली आदि देशों के उदाहरण हमारे समक्ष अभी तक जीवित हैं। इन देशों की शासन-प्रणाली प्रजातंत्र के विरुद्ध उठ खड़ी हुई थी—परन्तु अपने ही दोषों के कारण फिर हमेशा के लिए सो गई।

प्रजातंत्र में जितने दोष हैं—उनको ठीक करने के उपाय भी अनेकों हैं। यह आवश्यक है कि जनता अपने आप ही व्यक्तियों को चुने, उनके द्वारा विधान बनवाये और देश का शासन भी चलवाए परन्तु साथ-साथ अपने अधिकार भी सुरक्षित रखे। यदि जनता राज्य में अधिकारियों द्वारा अधिकारों का दुरुपयोग होते देखें तो उन्हें हटाकर फिर से चुन लेने का अधिकार सुरक्षित रखे।

यदि शासन में अधिकारों का दुरुपयोग हो रहा है तो वह प्रदर्शन को शासन के समक्ष अपने अधिकारों की सुरक्षा की अपील करे······और आवश्यकता समझे तो विधान में भी परिवर्तन कराए।

प्रजातंत्र की सुरक्षा के लिए यह आवश्यक है कि अधिकारों का दुरुपयोग न हो अन्यथा इस से प्रजातंत्र की नीव ही ढीली हो जायगी।

आज के वर्तमान युग में वही जनता स्थायी रूप से प्रजातन्त्र रख सकती है जिसमें उसे निभाने की और चलाने की क्षमता है। जिसमें अपने अधिकारों और कर्त्तव्यों को समझने और निभाने का बल है—और वही जनता प्रजातंत्र की अधिकारी है जो जग चेतना के प्रति सजग और सजीव हो। वैयक्तिक शासन के दिन जा चुके यह जन चेतना का युग है, प्रजातंत्र का युग।

: ७१ :

राष्ट्रनिर्माण में चलचित्रों की उपयोगिता तथा आवश्यकता

आधुनिक युग को यदि 'चेतना युग' कहा जाय तो अनुचित न होगा। प्रत्येक राष्ट्र द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् आज अंगड़ाई लेकर उठने और चेतन होने की चेष्टा कर रहा है। स्पष्ट है कि परिस्थिति वह नहीं रही जो आज से कुछ वर्ष पहले थी। बढ़ते हुए समय को आजतक कोई बांध नहीं सका है और इसी प्रकार उठते हुए राष्ट्र को रोकने की भला किसमें सामर्थ्य है। समुन्नत राष्ट्र वही हो सकता है जिसका प्रत्येक अंग अपने में सम्पूर्ण हो। राष्ट्र का साहित्य, राष्ट्र की शिक्षा प्रणाली, सांस्कृतिक परम्पराएँ और राष्ट्र के उद्योग-धंधे, राष्ट्र के मुख्य अंगों के अन्तर्गत आते हैं; उनका समुचित विकास एक राष्ट्र के लिए अत्यन्त आवश्यक है। आज आधुनिक युग में होने वाले अनेक आविष्कारों में से चलचित्रों का अपना महत्व है। एक समय था जब चलचित्र केवल एक ही वर्ग के मनोरंजन के हेतु थे। अन्य वर्गों से इनका घोर विरोध भी हुआ। कारण स्पष्टतः यह था कि इनमें

अभिनेताओं का चलना-फिरना तथा अंग संचालन तो हम देख सकते थे किंतु ध्वनि का नितांत लोप था किन्तु धीरे-धीरे अन्य वर्गों का भी ध्यान मंच पर खेले जाने वाले नाटकों से हटकर इनकी ओर आकर्षित हुआ। यह रुचि देखकर वैज्ञानिकों को भी प्रोत्साहन मिला और ज्यों-ज्यों जनता की आवाज ऊँची हुई चलचित्रों में भी ध्वनि आ गई और चलचित्रों को वह रूप मिला जो आज जनता के समक्ष है।

चलचित्र केवल मनोरंजन की सामग्री न होकर अब उपयोगी भी सिद्ध हो रहे हैं। गर्व का विषय है कि भारत संसार में चलचित्र उत्पादन में द्वितीय स्थान रखता है। अब यह हमारे चलचित्र निर्माताओं का कर्त्तव्य है कि चलचित्रों का महत्व बढ़ाने के लिए उन्हें अपने देश के विकास के सब अंगों का अध्ययन करके उन्हीं के अनुसार चलचित्रों का निर्माण करना चहिए। जनता के समक्ष वे ऐसे चित्र रक्खें जिनसे उनके सामाजिक, धार्मिक तथा ऐतिहासिक ज्ञान में वृद्धि हो। भारत जैसे वृहत राष्ट्र में जिसके कण-कण में ऐतिहासिक कहानियाँ भरी पड़ी हैं परन्तु भाषाएँ विभिन्न होने के कारण उनका प्रचलन नहीं हो पाया है ऐसी ही कुछ असाधारण एवं शिक्षात्मक कहानियाँ ले कर चलचित्रों के माध्यम द्वारा उन्हें देश के हर कोने तक पहुँचाया जा सकता है। सदियों से दास्ता के पंजे में जकड़ा हुआ भारत अभी अपनी जंजीरें तोड़कर अपने पंख तौल रहा है। कहना अनुचित न होगा कि भारत का इतिहास जो दास्ता के दिनों में लिखा गया था, भारत का सच्चा इतिहास नहीं माना जा सकता। भारतीय पराक्रम और वीरता की सच्ची कहानियाँ अभी तक एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक सजीव चली आ रही हैं और अभी तक कितने ही भारतवासियों के अन्तःकरण में जीवित हैं। भारतीय इतिहास की यही कहानियाँ यदि चलचित्र के माध्यम से सर्व-साधारण तक पहुँच जायँ तो अधुनिक जनता अपने आपको अपने गौरवमय रूप में देख सकेगी। हमारे इतिहास में जो कहानियाँ हमको सुनाई गई हैं सम्भव है वह वैसी न रही हों। उनका सच्चा रूप तो हमें उस प्रान्त विशेष के निवासियों से ही मिल सकता है।

आज जब चलचित्रों में दिनोंदिन नए-नए सुधार होते जा रहे हैं हमारी आशाएँ भी उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही हैं। आवश्यकताएँ बढ़ने पर आविष्कार होते हैं और, अविष्कार होने पर उनकी उपयोगिताओं में वृद्धि होती जाती है। चलचित्रों के आविष्कार के पश्चात् हमें उसकी आवश्यकता का आभास होने लगा। चाहे मनोरंजन के लिए ही क्यों न हो किन्तु फिर भी अब पारिवारिक, सामाजिक समस्याओं से कहीं अधिक महत्व हम देश की अन्य मुख्य समस्याओं को देते हैं। देश की सांस्कृतिक, सामाजिक, धार्मिक, साहित्यिक परम्पराएँ बनाने के लिये यह आवश्यक है कि देश की शिक्षा प्रणाली में कुछ आवश्यक सुधार किए जाएँ। देश के जागृत समाज के समक्ष शिक्षा प्रधान है। हमारे देश की विशेषकर अधिकांश जनता गाँवों में ही रहती है। गाँव हमारे देश के आधार हैं। एक समुन्नत देश की जनता का शिक्षित होना आवश्यक है, मुख्यतः हम अपने चलचित्रों को कुछ विशिष्ट वर्गों में विभक्त कर सकते हैं कुछ वह चित्र जो जन भाषा में हमको भारतीयता की सांस्कृतिक विशेषताएँ बतलाते हैं।

राष्ट्र निर्माण के लिए यह आवश्यक है कि जनता के समक्ष ऐसे चलचित्रों का प्रदर्शन किया जाय जो राष्ट्र के चरित्र निर्माण में सहयोग दे सकें। ऐसे चित्रों में विशेष स्थान उन चित्रों का है जो ऐतिहासिक हों, किसी महापुरुष के जीवन से संबंधित हों अथवा देश की गौरवमयी परम्पराओं से सम्बन्धित हों। देश के उदीयमान बच्चों के लिए विशेष प्रकार के चित्रों की आवश्यकता है जिनसे उनका मानसिक विकास हो सके। साहसी बच्चों की कहानियाँ उपयोगी वैज्ञानिक आविष्कारों की कथाएँ, इतिहासकार, वैज्ञानिक तथा वीर पुरुषों का जीवन उनके समक्ष साधारण भाषा में रक्खा जाना आवश्यक है। चलचित्रों के माध्यम से ही यह सम्भव है क्योंकि यह इस प्रकार उनके मस्तिष्क पर एक स्थायी प्रभाव छोड़ सकेगा। एक वृहत् देश की प्राकृतिक, ऐतिहासिक व धार्मिक महत्व की वस्तुओं को देख लेना प्रत्येक जन के लिये सम्भव नहीं है उनको यदि अपने धार्मिक स्थानों, ऐतिहासिक भवनों तथा प्राकृतिक स्थानों की झांकी एक ही स्थान पर बैठे हुए मिल सके तो इससे

उत्तम और क्या हो सकता है। उन्नति के पथ पर चलने वाले राष्ट्रों ने सफल चलचित्रों का निर्माण किया है जिसके फलस्वरूप देश के कोने-कोने में जनसाधारण को अपने देश में होने वाली प्रगति, औद्योगिक विकास तथा राष्ट्रीय योजनाओं का सहज ही में ज्ञान प्राप्त हो सकता है। आज के संसार में विभिन्न राष्ट्रीय सम्मेलन, विश्व शांति सम्मेलन तथा सांस्कृतिक मैत्री एवं सद्भावना बनाए रखने के हेतु जो कार्य हो रहे हैं उनका परिचय भी हमें चलचित्रों से मिल जाता है। इसके अतिरिक्त हमारे लिए विदेशी चलचित्र भी कम महत्व के नहीं हैं जो हमें विदेशी सभ्यता, रीति-रिवाजों और उस देश-विशेष की संस्कृति का परिचय कराते हैं।

चलचित्रों में अभी हाल ही में जो सुधार हुए हैं वे विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं, इनमें पहला सिनेमास्कोप तथा दूसरा टेलीविजन है। टेली-विजन वैसे तो रेडियो का एक परिष्कृत रूप है किन्तु वास्तव में इसका महत्व चलचित्रों से कम नहीं है। उसमें हम चलचित्रों के समान ही अपने सामने कहीं भी होने वाली किसी घटना को तत्काल ही देख सकते हैं। विशेष महत्व तो इसका शल्य चिकित्सा में है। किसी महत्वशाली आपरेशन का चित्र हमें उसके बाहर तत्काल ही मिल जाता है जिससे शल्य विज्ञान के विद्यार्थियों को विशेष लाभ होता है।

सामाजिक दृष्टिकोण से चलचित्रों का अपना महत्व है। सामाजिक कुरीतियों का उन्मूलन इसी माध्यम से सम्भव है। किसी विशिष्ट प्रणाली का प्रचार भी यदि करना चाहें तो चलचित्रों की सहायता लेनी होगी। इस प्रकार चलचित्रों की उपयोगिता बहुमुखी है। एक ही स्थान पर बैठे समस्त राष्ट्र के प्राकृतिक सौन्दर्य, एवं प्रगति की झांकी सहज ही में मिल जाती है इसके अतिरिक्त राष्ट्र की ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, सामाजिक परम्पराओं की कहानी सजीव होकर समक्ष आ जाती है। चलचित्रों के माध्यम ने राष्ट्र निर्माण में उसकी शिक्षा प्रणाली में सहयोग देकर राष्ट्र का बड़ा उपकार किया है। हमारे मनोरंजन के क्षण इसी के सहारे कितनी

भली प्रकार व्यतीत हो जाते हैं। राष्ट्र निर्माण में चलचित्रों का महत्व तो स्पष्ट ही है।

उठते हुए राष्ट्र के लिए यह आवश्यक है कि उसकी जनता अपनी राष्ट्र चेतना के प्रति सजग हो। इस चेतना को और भी सजीव बनाने का कर्त्तव्य चलचित्र निर्माताओं का है। उनको चाहिये कि वह देश की जनता के लिये ऐसे चित्रों का निर्माण करें जो उनके नैतिक जीवन एवं आचार-विचारों को, उच्च स्तर पर उठाने की चेष्टा करें। वास्तव में देखा जाय तो चलचित्र राष्ट्र निर्माण के प्रमुख अंगों में से एक है। केवल उनका सदुपयोग करना, जनता और राष्ट्र का कर्त्तव्य है। चलचित्रों में उत्तरोत्तर होने वाले सुधारों से तो राष्ट्रों को और भी आशा रखनी चाहिए क्योंकि यही एक ऐसा माध्यम है जिससे हमारे ऐतिहासिक पात्र, साहित्यक नाटक, महापुरुष, सजीव हो कर हमारे समक्ष आ जाते हैं और हमको जीवन में उत्साह दे जाते हैं। चल-चित्रों की उपयोगिता हमारे जीवन में बहुत अधिक बढ़ती जा रही है।

: ७२ :

जीवन में साहित्य का महत्व

जीवन और साहित्य एक दूसरे से सम्बद्ध हैं। साहित्य और जीवन का वही सम्बन्ध है जो शरीर और आत्मा का है। हम साहित्य को जीवन से और जीवन को साहित्य से पृथक नहीं कर सकते। साहित्य में जीवन की अभिव्यक्ति और उसकी वास्तविकता दोनों होती है। वह काल विशेष की समस्त परिस्थितियों को हमारे समक्ष रख देता है। किसी भी देश की सभ्यता तथा संस्कृति का परिचय हमें उस देश के साहित्य के माध्यम से ही प्राप्त हो सकता है। साहित्यकार अपने युग की चेतना का प्रतिनिधि होता है उसका साहित्य अपने युग की समस्त जटिलताओं को, समस्त समस्याओं को हमारे

समक्ष रख देता है, यद्यपि अभिव्यक्ति के रूप में भिन्नता हो सकती है। जीवन को अभिव्यक्ति करने का माध्यम कहानी, उपन्यास, निबन्ध, एकांकी कुछ भी हो सकता है। एक बार मैक्सिम गोर्की ने एक महत्वपूर्ण प्रश्न एक लेखिका से पूछा था कि—"किसलिए साहित्य का सृजन करती हैं" रूस की दरिद्र लेखिका केवल यही कह पाई कि मैं अपनी आर्थिक परिस्थिति को सुधारने के लिए अब तक लिखती रही हूँ...पर लड़की की आँखों में करुणा झलक उठी थी। गोर्की ने उससे आगे कुछ नहीं पूछा। दूसरे साहित्यिक से गोर्की ने वही प्रश्न किया, उत्तर मिला "हम साहित्य का सृजन इसलिए करते हैं कि हमारे चारों ओर की परिस्थिति हमें प्रेरित करती है। कलाकार का भावुक हृदय सुख-दुख से द्रवीभूत हो उठता है वह अपने हृदय की शांति पाने के लिए ही अपने हृदय का भार इस रूप में हल्का कर लेता है।" सत्य कुछ भी रहा हो पर इतना निश्चित है कि साहित्यकार जीवन से ही प्रेरणा लेकर लिखता है। जब भावुक हृदय अपनी लेखनी से जीवन की समस्याओं को सुलझाने लगता है तभी साहित्य का निर्माण होता है। समय के साथ-साथ साहित्य भी परिवर्तित होता रहता है। कितने ही उपन्यास ऐसे हैं जो अपने काल विशिष्ट में प्रमुख थे पर आज वह हमारी परिस्थितियों से मेल नहीं खाते, इसलिए आज उनका महत्व हमारी दृष्टि में उतना नहीं रह गया है किन्तु फिर भी उस युग की परिस्थितियों का आभास हमें मिल जाता है। शरतचंद्र चट्टोपाध्याय रचित उपन्यास 'बड़ी बहन', 'देवदास' आदि को पढ़कर हम उस समय के समाज, सामाजिक मान्यताओं, प्रचलित कुरीतियों अन्धविश्वासों, यहाँ तक कि उस समय की जनता के विचारों की गहराई तक पहुँच सकते हैं। परिस्थितियों का घटना-चक्र मनुष्य की भाँति साहित्य को भी प्रभावित करता है। जमींदार-उन्मूलन से पूर्व का साहित्य जमींदारों के अत्याचारों के वर्णनों से भरा पड़ा है। प्रेमचन्द ने अपने युग की परिस्थितियों से प्रभावित होकर अपनी अमर कृति 'गोदान' का सृजन किया था। उन्होंने सारे समाज को अपने साहित्यिक कौशल से सजग कर दिया। उस समय के कृषकों की हीन दशा का मार्मिक प्रतीक 'गोदान' का

निरीह पात्र "होरी" है जो जीवन भर आर्थिक-संकट से ग्रस्त रहा और अन्त तक अपने विश्वास और धर्म पर अटल रहा। पर परिस्थिति उसे अशक्त करती गई। अन्त में होरी की मृत्यु भी कितने करुण वातावरण का सृजन करती है। प्रेमचन्द के इस होरी में न जाने कितने देश के 'होरी' सिमट आए हैं। प्रेमचन्द ने अपने समय के गाँवों का, वहाँ के निवासियों का सजीव वर्णन किया है जिसमें मनोविज्ञान का पुट जीवन भर देता है। प्रेमचन्द की सफलता का सबसे बड़ा कारण यही था कि उन्होंने जो कुछ भी लिखा जीवन की अनुभूति से ओत-प्रोत है।

साहित्यकार समाज सुधारक होता है। समस्त अन्धविश्वासों तथा कुरीतियों का उन्मूलन वही कर सकता है। साहित्य किसी देश की आत्मा है। इतिहास तो केवल घटना क्रमों का, विशिष्ट व्यक्तियों के कार्य-कलापों का संकलन मात्र है। किन्तु साहित्य तो इतिहास से भी अधिक मूल्यवान है वह जनता के जीवन का साक्षी है। कब-कब कैसे-कैसे परिवर्तन जन-जीवन में आते गए। साहित्यकार का काम यहीं तक सीमित नहीं है। वरन् वह समाज में जो कुरीतियाँ हैं, उनकी ओर भी इंगित करता है। साहित्यकार की दृष्टि जितनी सूक्ष्म होगी वह उतना ही सफल होगा। इस दृष्टि में वह एक सुधारक का भी कार्य करता है—साहित्यकार समाज में चेतना भरता है, वह उसे सजग कर देता है। साहित्यकार का दायित्व बहुत बड़ा है। वह पथ प्रदर्शक है। एक बार निराश हिन्दू जनता को तुलसी के "राम" ने कितना बड़ा सम्बल दिया था? दासत्व के समय में समस्त जनता में चेतना भरने का प्रयास हमारे साहित्यिकों ने किया था। भारतवर्ष के स्वतन्त्र होने से पूर्व सुभद्रा कुमारी चौहान ने कितने मार्मिक शब्दों में अपने भाव इस कविता में व्यक्त किये हैं "वीरों का कैसा हो वसन्त"। जिसे पढ़कर कायर भी अपने हृदय में पहले से अधिक उत्साह का अनुभव कर उठता है। इस प्रकार के भावों को लेकर उस समय अनेक कविताएँ लिखी गईं। इस प्रकार के उदाहरण हमें समस्त देशों के साहित्य में मिलते हैं। आज का युग भी नए मोड़ पर खड़ा है जहाँ से हमारा पिछला और आगे का मार्ग दृष्टिगोचर हो रहा है;

जहाँ समस्त बीती हुई घटनाएँ अपना अमिट प्रभाव हमारे मानस-पटल पर अंकित कर गई हैं "तुम मानव हो और अधिक सभ्य बनो...।" साम्प्रदायिक झगड़े एक बार भारत में स्वतंत्रता के पश्चात् उभर उठे थे कितने निरीह प्राण उसमें सो गए और देश की कितनी ही प्रतिभाएँ उसमें खो गई होंगी। साहित्यकार ने अपनी लेखनी द्वारा जनता की साम्प्रदायिक भावना को शांत करने का सतत प्रयास किया। आज का युग शोषण और आर्थिक-संकट का युग है। साहित्यकार सजग है उसने अपनी आँखों से देखा है—

"हरियाली में देखे हैं
जिसने भूखे सूखे किसान
वह कैसे गाएँ प्रणय-गान"

आज का मानव कितना जर्जर कंकाल हो गया है। आज का साहित्य भी अपने युग की अभिव्यक्ति कर रहा है पर साथ ही वह मानव के समस्त हृदय को आश्वासन भी दे रहा है। प्रत्येक देश का साहित्य सदैव अपनी जनता में जीवन भरता रहा है। प्राचीन समय से आज के जीवन में जो अन्तर आता गया उसका ज्ञान हमें एक प्राचीन साहित्य से आज तक के साहित्य का अध्ययन कर सहज ही में ज्ञात हो सकता है।

किन्तु एक बात अत्यन्त महत्वपूर्ण है हम केवल अपने युग विशेष के साहित्य से ही प्रभावित नहीं होते वरन् हमारा प्राचीन साहित्य भी हमें उसी रूप में प्रभावित करता है। प्राचीन काल के महाकाव्य रामायण, महाभारत साहित्य की अमर निधियाँ हैं। जिनके अमर पात्र दशरथ, राम, कृष्ण, युधिष्ठिर, लक्ष्मण, सीता, कौशिल्या, कैकेई, मन्थरा, द्रोपदी जीवन के अनेकों अनुभवों को हमारे समक्ष रखती हैं। नैतिक जीवन को उन्नत करने के लिए हमारे समक्ष राम, भरत, सीता, कौशिल्या इत्यादि का कितना महान् आदर्श उपस्थित है, साथ ही भारतीय जीवन तथा विचारधारा को भी उन्नत करते रहे हैं। एक अन्य महत्वपूर्ण प्रश्न हमारे समक्ष आता है

साहित्य किस प्रकार का होना चाहिए, क्या वह जीवन की यथार्थता को अभिव्यक्त करे या हमारे सम्मुख एक आदर्श को प्रस्तुत करे। हमरी दृष्टि से साहित्य एक ऐसी विचारधारा है जो यथार्थ को छूती हुई हमें कल्याण पथ की ओर ले जाती है। साहित्य यदि निम्नकोटि का है तो जीवन का सच्चा मार्ग प्रदर्शित करने में असमर्थ होगा ऐसा अश्लील दूषित साहित्य जनता की मनोवृत्ति को गन्दा कर देने में सहायक होगा। इस प्रकार के साहित्य को समूल उखाड़ फेंकने की चेष्टा करनी चाहिए। साहित्य का सृजन वही सफल है जो जनता के लिए कल्याणकर है। साहित्यकार का अपना दायित्व देश और जनता के लिये अत्यन्त महत्वपूर्ण है क्योंकि साहित्य का जीवन पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है।

: ७३ :

बिहारी लाल

कवि परिचय—जन्म ग्वालियर जानिये, खंड बुंदेले बाल।
तरुनाई आई सुघर मथुरा बसि ससुराल॥

जन्म संवत् १६५२ में हुआ। ये माथुर चौबे थे। बाल्यावस्था बुंदेलखंड के गाँवों में पनपी और जवानी ससुराल (मथुरा) की संकरी गलियों में। ससुराल में निरादर होने के कारण संभवतः ये जयपुर चले गये। वहाँ के महाराज जयसिंह अपनी नवेली रानी के प्रेम में पड़ कर सब राज-काज भुला बैठे थे। बिहारी ने अपनी प्रतिभा के बल से अन्योक्ति का सहारा लेकर उन्हें इस मोहनिद्रा से जगाया। कवि की अचूक औषधि यह थी—

नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास यहि काल।
अली कली ही सो बंध्यो, आगे कौन हवाल॥

तीर निशाने पर बैठा, दवा कारगर कर गई, दूसरे को शायद प्राणदंड का पुरस्कार मिलता, परन्तु बिहारी को प्रति दोहा पर एक अशर्फी का पुरस्कार घोषित किया गया। इनकी बिहारी सतसई में ७२६ दोहे हैं। देहावसान संवत् १७२० में हुआ।

व्यक्तित्व—(१) रसिक पके-पकाये, काली-गोरी सभी पर सौ जान से फिदा होते रहे (नारि सलोनी सांवरी, नागिन लौं डसि जाय) जीवन भर गाँवों के बेशकीमती फूलों की असार्थकता पर सिर धुनते रहे (फूल्यौं अनफूल्यौं भयो, गंवई गाँव गुलाब)।

(२) स्वाभिमानी और स्पष्टवादिता में रसिकता से भी एक पग आगे बढ़े, जयसिंह को जगाया और दूसरी ओर जयसिंह को मुगलों की ओर से किसी हिन्दू राजा पर आक्रमण करने से भी रोका—

स्वार्थ, सुकृत न श्रम वृथा देख विहंग विचारि।
बाज पराये पानि पर तू पच्छीनु न मारि॥

(३) कृत्रिमता और मिथ्याडम्बर से कोसों दूर एक सहृदय और भावुक भक्त—

जप माला छापे तिलक, सरै न एकौ काम।
मन काँचै नाचै वृथा, साँचै राँचै राम॥

काव्य सौष्ठव——(बहुज्ञता) बिहारी एक प्रतिभाशाली कवि होने के साथ-साथ हर विषय के अधिकारी विद्वान थे। इन्होंने राजनीति, वैद्यक, ज्योतिष, विज्ञान, सांख्यशास्त्र आदि विभिन्न विषयों पर बड़ी सारगर्भित उक्तियाँ कही हैं। उनकी दार्शनिक उक्तियों का एक उदाहरण लीजिए—

मैं समझ्यो निरधार, यह जग कांचो कांच सौ।
एकै रूप अपार, प्रतिबिंबित लखियत जहाँ॥

संसार की निस्सारता एवं ब्रह्म ज्ञान का कितना विद्वत्तापूर्ण दृष्टांत है।

इसी प्रकार नीरस गणित के सामान्य सिद्धान्तों पर अपनी प्रतिभा की पालिश कर के बिहारी ने कितना चमका दिया है—

कहत सबै बेंदी दिये, आंकु दसगनौ होतु।
तिय लिलाट बेंदी दियै, अगनित बढ़त उदोत ॥
कुटिल अलक छुटि परत मुख, बढ़िगो इतौ उदोतु।
वंक बिकारी देत ज्यौं, दाम रुपैया होतु ॥

वैद्यक शास्त्र में भी शृंगार का माध्यम कितनी न्याय संगति के साथ घटाया है—

मैं लखि नारी ज्ञान, करि राख्यौ निरधारू यह।
वहई रोग निदान, वहै वैदु औषधि वहै ॥

आचार्यत्व—केशव या अन्य रीतिकालीन कवियों की भाँति बिहारी ने कोई लक्षण ग्रंथ नहीं लिखा। सच बात तो यह है कि जिस लालसा या राज कवि बनने की आकांक्षा से लक्षण ग्रंथ लिखा जाता था वह पद बिहारी को पहले से ही प्राप्त हो चुका था परंतु शृंगार संबंधी जितने अनुभाव, विभाव, संचारी भाव आदि हैं उन सबके पुष्ट उदाहरण उनकी सतसई में यथास्थान प्राप्य हैं। उनका एक-एक दोहा लक्षण ग्रंथ बतलाने का ही एक उदाहरण है। प्रत्येक दोहे में 'गागर में सागर' भरा गया है। लक्षणा व्यंजना आदि शब्द शक्ति के गुणों से प्रत्येक दोहा लबालब भरा है। इसी से तो उनके दोहों को 'नाविक के तीर' की संज्ञा दी गई है। जो देखने में तो छोटे लगते हैं किंतु गंभीर घाव करने में पूर्व पटु हैं। एक ही दोहे में बिहारी ने अनेकों अनुभाव, भाव सौंदर्य तथा सूक्ष्म मनोवृत्तियों का अंकन बड़ी सफलता तथा सफाई के साथ किया है। भाव सबलता का उदाहरण देखिये—

कहत नटत रीझत, खिझत मिलत, खिलत लजियात।
भरे भौन में करत हैं, नैनन ही सो बात ॥
बतरस लालच लाल की, मुरली धरी लुकाय।
सौंह करै भौंहनि हंसे, दैन कहे नटि जाय ॥

श्रृंगार वर्णन—सतसई शृंगार रस की खान है। बिहारी ने शृंगार रस के प्रत्येक पहलुओं पर बड़ी सूक्ष्मता के साथ प्रकाश डाला है। किन्तु रसिकता की मात्रा का आधिक्य होने के कारण वासना की तेज धूप में सात्विकता की चंद्रिका कुम्हला कर अस्तोन्मुख हो जाती है—

लरिका लैबे के मिसन, लंगर मों ढिग आय।
गयो अचानक आंगुरी, छाती छैल छुवाय॥

यहाँ शिशु के प्रति वात्सल्य प्रेम की भावना का तो पता नहीं चलता छैल का छाती छूना ही छिछुलाहट के साथ छप-छप करता है। इसी प्रकार मातृत्व के पवित्र भावों से दबी गर्भिणी को बिहारी 'सुरति सुखित सी' देखते हैं। इसके अतिरिक्त उनकी दृष्टि कहीं और जाने का नाम तक नहीं लेती—

दृग थिरकौहें अधखुले देह थकौहें ढार।
सुरत सुखित सी देखियत, दुखित गरभ के भार॥

किन्तु कहीं कहीं जब वासना का भूत बिहारी जी के सिर से उतरा है तब-तब उन्होंने अत्यंत पवित्र तथा सात्विक शृंगार की सृष्टि की है। प्रस्तुत दोहे में प्रियतम की वस्तु के साथ प्यारी की कितनी सात्विक और प्रगाढ़ प्रीति है—

उड़ी गुडी लखि लाल की अंगना अंगना मांह।
बौरी लौं दौरी फिरति, छुवत छबीली छांह॥

विरह वर्णन—बिहारी का विरह वर्णन अतिशयोक्ति की तीखी चासनी में पड़ कर अत्यधिक मीठा हो जाने के कारण उपहासास्पद (ऊब पैदा कर देने वाला) बन गया है। जहाँ पर बिहारी सच्चे प्रेम की पीर पर प्रकाश न डाल कर उसे अपने वाग्वैदग्ध्य में उलझा देते हैं वहीं पर वह केवल चमत्कार प्रदर्शन करने की मशीन बन जाता है। उसमें सजीवता मनोहारिता तथा मन की सूक्ष्म अभिव्यक्तियों का अभाव खलने लगता है। तर्क और अनुमान के आश्रय से बिहारी ने विरह वर्णन करने में जो खिलवाड़

किये हैं उससे शुद्ध सात्विक रसानुभूति न हो कर हँसी आती है। कुछ उदाहरण लीजिये—

सुनत पथिक मुँह माह निसि, चलत लुवैं उहि ग्राम।
बिन बूझे बिन ही कहैं, जियत विचारी बाम॥
आड़े दै आले बसन, जाड़े हूँ कि राति।
साहस ककै सनेह बस, सखि सबै ढ़िग जाति॥

किन्तु अतिशयोक्ति के आश्रय से रहित स्वाभाविकता से सने प्रोषित पतिका के विरह वर्णन रसानुभूति के साथ हमारे हृदयों पर गंभीर घाव करने में पूर्णतया समर्थ हैं—

अजौं न आये सहज रंग, विरह दूबरे गात।
अब ही कहा चलाइयत, ललन चलन की बात॥

नीति के दोहे—बिहारी ने दैनिक जीवन में आई गुत्थियों को सुलझाने के लिये अनेकों अनुभव पूर्ण दोहे में लिखे हैं। जिनमें उनका अथाह अनुभव, पुष्कल पांडित्य तथा व्यापक दृष्टि का परिचय मिलता है—

नीच हिये हुलसे रहें, गहे गेंद के पोत।
ज्यौं ज्यौं माथे मारियत, त्यों त्यों ऊंचे होत॥
कैसे छोटे नरन ते, सरत बड़ेन के काम।
मढ़्यो दमामो जात किमि, कहि चूहे के चाम॥

कलापक्ष—

भाषा—भाषा ब्रजभाषा बुंदेलखंडी का पुट लिये हुए (रीझबो, दीखबो) अरबी, फारसी के शब्दों से (ताफ़ता, इज़ाफ़ा, ग़नी, सबील, अदब, दाग़) से सजी हुई। कहीं-कहीं शब्दों का मनमानी तोड़-मरोड़ (समर-समर, हलाहल-हराहरु, अग्नि-अगिनि) दुर्बोधता उत्पन्न कर देता है। रहचट,

चुपरी, पिछान, कैवा, चोरटी, गोरटी आदि अव्यावहारिक शब्दों का प्रयोग भी मिलता है।

अलंकार योजना—यमक, श्लेष, अनुप्रास, वीप्सा, असंगति के उत्कृष्ट उदाहरण भरे पड़े हैं।

यमकः—हरिनी के नैनान तैं, हरि नीके ए नैन।

शब्दश्लेषः—चिरजीवो जोरी जुरै, क्यों न स्नेह गंभीर।
को घटि ए वृषभानजा, वे हलधर के बीर॥

अनुप्रास-यमक-वीप्सा युक्त—

रनित भृंग घंटावली, झरित दान मधु नीर।
मंद मंद आवतु चल्यौ, कुंजरु कुंज समीर॥

छंद—एकमात्र दोहा पद्धति।

योरुप की किसी भी भाषा में बिहारी की टक्कर की रचना नहीं मिलती—डा० गियर्सन।

: ७४ :

जयशंकर प्रसाद

कवि परिचय—जन्म संवत् १९४६। मृत्यु संवत् १९९४। जन्म काशी के प्रतिष्ठित वैश्य परिवार में हुआ। पिता का नाम देवीप्रसाद तथा पितामह का नाम शिवरत्न साहु था। ये काशी में सुंघनी साहु के नाम से विख्यात थे, दानशीलता में ये इतने बढ़े-चढ़े थे कि गंगास्नान से लौटते समय भिक्षुकों को कभी-कभी अपना लोटा, कम्बल, धोती तक दान करके एक अंगोछा लपेटे घर वापस आते थे। ऐसे उत्कृष्ट एवं संस्कार श्रेष्ठ परिवार में प्रसाद जी का जन्म हुआ। पिता कुशल व्यवसायी के साथ साहित्यिक भी

थे। इनका समय विशेष रूप से साहित्यिक चर्चा में ही कटता था। हर समय कवियों एवं विद्वानों का जमघट लगा रहता था। इन सब का प्रभाव प्रसाद जी की बाल्यावस्था पर विशेष रूप से पड़ा। प्रसाद जी ने स्कूल में बहुत कम शिक्षा पाई। अल्पायु में ही पिता और अग्रज शंभुरत्न के असामयिक देहावसान से प्रसाद जी को गृहस्थी के चक्कर में फंसना पड़ा किन्तु विशेष प्रतिभा संपन्न होने के कारण इन्होंने घर पर ही समय निकालकर हिन्दी, संस्कृत, उर्दू, फारसी, अँग्रेजी आदि का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया। संस्कृत का विशेष अध्ययन करते हुए पुरातत्व साहित्य की ओर प्रसाद जी की विशेष अभिरुचि रही जो आगे चलकर इनकी अनेक रचनाओं की उत्कृष्टता का कारण सिद्ध हुई। इनकी प्रारंभिक रचनाओं का प्रकाशन काल १९०८ सन् से प्रारंभ हुआ। आप ही के द्वारा प्रकाशित 'इन्दु' नामक मासिक पत्रिका में इनकी कवितायें नित्य निकलने लगीं। प्रसाद जी तीर्थ-यात्रा तथा प्रकृति पर्यवेक्षण प्रेमी थे। सन् १९३१ में आपने पुरी की सपरिवार यात्रा की। प्रसाद जी छायावाद तथा रहस्यवाद के कवियों में सर्वश्रेष्ठ स्थान रखते हैं।

व्यक्तित्व—(१) उदार, सरल, मितभाषी, गंभीर एवं देव मूर्ति के समान मानो मनु के माध्यम से अपना ही व्यक्तित्व प्रकाशित करते हों—

> **अवयव की दृढ़ मांस पेशियां, उर्ज्वसित था वीर्य अपार।**
> **स्फीत शिरायें स्वस्थ रक्त का, होता था जिनमें संचार॥**

(२) साहित्यिक दलबंदियों से बहुत ऊपर उठे हुए तटस्थ जागरूक मनीषी की तरह।

रचनाएँ—नाटक-स्कंदगुप्त, चंद्रगुप्त, अजातशत्रु, कामना, विशाखा, जनमेजय का नागयज्ञ, राज्यश्री, एक घूँट।

काव्य—कामायनी, आँसू, लहर, झरना, करुणालय, प्रेमपथिक, कानन कुसुम।

उपन्यास—कंकाल, तितली, इरावती, आदि।

काव्य सौष्ठव—प्रसाद जी आधुनिक हिंदी कविता के प्रवर्तक माने जाते हैं। आधुनिक छायावादी तथा रहस्यवादी कवियों में उनका स्थान तो सर्वोच्च है ही, प्रसाद जी ने बौद्ध दर्शन तथा संस्कृति का विशेष अध्ययन किया था। वे बौद्ध धर्म के शून्यवाद से विशेष प्रभावित थे, वे शिव के एक मात्र उपासक थे। जीवन में शिव की तरह उन्होंने हलाहल पचाकर मस्त रहना सीखा था। इस प्रकार की विचारधाराओं का प्रभाव उनके नाटकों तथा काव्यों में स्पष्ट देखा जा सकता है। बाल्यावस्था से ही जीवन की क्रूर असह्यनीय विभीषिकाओं से परिचित होने के कारण वेदना से उनकी प्रीति हो गयी थी। इसी से उनकी कविताओं में हमें प्रेम की पीड़ा तथा तज्जन्य अनुभूति विशेष रूप से दिखाई पड़ती है। प्रसाद जी लगातार जीवन संघर्षों से लड़भिड़ कर असफल होने पर भी निरंतर आशावादी बने रहे। उनके जीवन का एकमात्र लक्ष्य यह था—

> **इस पथ का उद्देश्य नहीं है शान्त भवन में टिक रहना।**
> **किंतु पहुँचना उस सीमा तक जिसके आगे राह नहीं॥**

प्रसाद जी की काव्यगत विशेषतायें ये हैं—

(१) नवीन एवं मौलिक विषयों की सृष्टि—प्रसाद जी को किसी का अन्धानुकरण करना इष्ट न था। वे स्वभाव से ही विद्रोही किन्तु संतुलित स्वभाव के थे। इन्होंने हिंदी काव्य की रूढ़िगत शृंखलायें तोड़कर उसे एक नई दिशा दी।

(२) प्रसाद जी ने काव्यगत भावों का एक नये सिरे से सुरुचिपूर्ण संस्कार किया। उनका शृंगार उच्चकोटि का सात्विक शृंगार है। रीतिकालीन शृंगारिक भावनायें अनैतिकता को प्रश्रय देने वाली है। प्रसाद जी ने उनके वाह्य रूप-रंग पर ही न रुककर उनके आन्तरिक सौंदर्य को भी अपनी दिव्य दृष्टि से देखा। बिहारी लाल गर्भिणी स्त्री को जो कि मातृत्व के पुनीत भावों से ओतप्रोत स्थिति पर आसीन है उसे 'सुरति सुखित' सी देखते हैं, किंतु प्रसाद जी—

केतकी गर्भ सा पीला मुँह, आँखों में आलस भरा स्नेह।
कुछ कृशता नई लजीली थी, कंपित लतिका सी लिये देह॥
मातृत्व बोझ से झुके हुए बँध रहे पयोधर पीन आज।
कोमल काले ऊनों की नव, पट्टिका बनाती रुचिर साज॥

कितना सात्विक एवं पवित्र वर्णन है वासना की एक हल्की लकीर तक नहीं उभरती। अभी तक प्रायः कवियों ने नारी को वासना की पाशविक मूर्ति के ही रूप में देखा था यहाँ तक कि कवि वरेण्य गोस्वामी तुलसीदास जी ने 'प्रमदा सब दुख खानि' कहकर पूरा का पूरा प्रकरण 'नारी निंदा' से रंग डाला है किंतु प्रसाद जी ने नारी के प्रति कितनी श्रद्धालु मौलिक उद्भावना व्यक्त की है—

नारी तुम केवल श्रद्धा हो, विश्वास रजत नग पग तल में।
पीयूष स्रोत सी बहा करो, जीवन के सुन्दर समतल में॥

प्रसाद जी ने नर-नारी के पवित्र संबंध को पुरुष और प्रकृति के रूप में सामने रखकर तत्कालीन दूषित शृंगारिक भावना का मूलोच्छेदन किया तथा मानव और प्रकृति के बीच सुहावना नैसर्गिक सामंजस्य स्थापित किया। फलस्वरूप साहित्य में अनेक पूत भावनाओं का (करुणा, दया, सहानुभूति, सौहार्द, विश्व प्रेम) समावेश हुआ। यह प्रसाद जी की महान् प्रतिभा से ही संभव था और इस नाते प्रसाद जी की गणना विश्व के प्रतिष्ठित साहित्य-कारों में की जा सकती है।

(३) भाव एवं विचारों का साम्य—प्रसाद जी ने अपनी कविताओं में आदर्शवाद तथा यथार्थवाद का सुन्दर सामंजस्य प्रस्तुत किया है। उनके एक-एक संदेश जीवन के उत्थान के लिये संजीवनी औषधि का सा काम करते हैं।

जिसे तुम समझे हो अभिशाप, जगत की ज्वालाओं का मूल।
ईश का वह रहस्य वरदान, इसे तुम कभी न जाना भूल॥

दुःख की पिछली रजनी बीच, विकसता सुख का नवल प्रभात।
एक पर्दा यह झीना नील, छिपाये है जिसमें सुख गात॥

प्रसाद जी के भावों में न तो कोरी भावुकता ही है और न विचारों में नीरस, उपदेश, शक्ति किन्तु दोनों का सहज संतुलित रूप है जिससे वह अत्यंत मर्मस्पर्शी बन पड़ा है।

(४) प्रसाद जी के काव्य में कल्पना तथा सौन्दर्य का सुन्दर समन्वय हुआ। उनकी कल्पना सर्वथा अनूठी और मौलिक है। 'आँसू' नामक काव्य उनकी कल्पना का उत्कृष्ट रूप प्रस्तुत करता है और उसके निर्माण की ही सुकुमार सूक्त सुनिये—

जो घनीभूत पीड़ा थी मस्तक में स्मृति सी छायी।
दुर्दिन में आँसू बन कर, वह आज बरसने आयी॥

प्रेमी अपने आराध्य के सौन्दर्य से अभिभूत हो किस प्रकार सुध-बुध खो बैठता था—

मधुराका मुस्काती थी, पहले देखा जब तुमको।
परिचित से जाने कब के, तुम लगे उसी क्षण हमको॥

प्रसाद जी ने अपने प्रियतम का रूप-वर्णन कितना सजीव, मनोहारी एवं आकाशी वर्णन किया है—

चंचल स्नान कर आवे, चंद्रिका पर्व में जैसे।
उस पावन तन की शोभा, आलोक मधुर थी वैसे॥
परिरंभ कुंभ की मदिरा, निश्वास मलय के झोंके।
मुख-चंद्र चाँदनी जल से, मैं उठता था मुँह धोके॥

(५) मानवीय एवं प्राकृतिक सौंदर्य-चित्रण—में प्रसाद जी को अभूतपूर्व सफलता मिली है। प्राकृतिक सौंदर्य के करुण एवं क्रूर सभी प्रकार

के चित्रों को सजीवता प्रदान की है। सूर्योदय के समय का एक उद्बोधन गीत सुनिये जो कि समस्त हिन्दी साहित्य में अपने ढंग का एक मात्र अकेला गीत है। इसकी ध्वनि सुषमा तो देखते ही बनती है—

बीती विभावरी जाग री,
अम्बर पनघट पर डुबो रही, तारा घट उषा नागरी।
खग कुल कुल कुल सा बोल रहा, किसलय का अंचल डोल रहा।
लो यह लतिका भी भर लायी, नव मुकुल, नवल रस गागरी॥
अधरों में राग अमन्द पिए, अलकों में मलयज बंद किये।
तू अब तक सोयी है आली, आँखों में भरे विहाग री॥

और दूसरी ओर प्रलयकालीन प्रारंभिक प्रकृति का भयंकर रूप देखिए—

उधर गरजती सिंधु लहरियाँ, कुटिल काल के जालों सी।
चली आ रहीं फेन उगलती, फन फैलाये व्यालों सी॥

सूक्ष्म मनोभावों से पूर्ण 'लज्जा' के मुँह से ही लाज की लजाधुर व्याख्या सुनिए—

लाली बन सरस कपोलों में, आँखों में अंजन सी लगती।
कुंचित अलकों सी घुंघराली, मन की मरोर बनकर जगती॥
चंचल किशोर सुंदरता की, मैं करती रहती रखवाली।
मैं वह हलकी सी मसलन हूँ, जो बनती कानों में लाली॥

भाषा-शैली—(१) शुद्ध—सरस, संस्कृतनिष्ठ, किंतु सर्वत्र स्वाभाविकता से पूर्ण एक अनूठी ध्वनि बलिष्ठता लिये—

मधुमय बसंत जीवन बनके, वह अंतरिक्ष की लहरों में।
कब आये थे तुम चुपके से, रजनी के पिछले पहरो में॥

(२) भाव का सहज रूप—

देखे मैंने वह शैल शृंग
जो अचल हिमानी से रंजित उन्मुक्त उपेक्षा भरे तुंग।

: ७५ :

मैथिलीशरण गुप्त

कवि परिचय—जन्म संवत् १९४३। जिला झाँसी (चिरगाँव) पिता का नाम सेठ रामचरण था। ये अग्रवाल वैश्य हैं और वैष्णव मत के अनुयायी। इनके पिता अत्यन्त सुहृदय, भावुक और काव्य प्रेमी थे। उन्हीं के प्रभाव से गुप्तजी में भी काव्यांकुर उत्पन्न हुआ और भविष्य में चलकर ऐसा व्यापक रूप धारण किया कि आप पढ़ना-लिखना सब छोड़कर 'सरस्वती के द्वारा सरस्वती की पावन उपासना में लग गये।' गुप्त जी की कविताओं में राष्ट्रीय, जातीय तथा भक्तिमूलक भावनाओं का सुन्दर समन्वय हुआ है। आप खड़ी बोली के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। नई पीढ़ी के लेखक कवियों के लिये साक्षात् तीर्थ स्वरूप हैं। आपकी कविता में देशभक्ति उच्च आदर्श तथा राष्ट्रीयता के ओजपूर्ण भाव सर्वत्र पाये जाते हैं।

व्यक्तित्व—(१) सरल, निरीह, परम वैष्णव, मानवता प्रेमी तथा अत्यंत हँसमुख व्यक्ति। महा व्यक्तित्व की झलक इतने से ही मिल जायगी—साहित्यकार संसद के अधिवेशन के समाप्त होने पर गुप्त जी अपने छोटे भाई सियाराम शरण जी तथा अन्यान्य साहित्यकार बंधुओं के साथ घर लौट रहे थे। महादेवीजी, गंगाप्रसाद पांडेय तथा प्रयाग के चोटी के साहित्यिक उन्हें स्टेशन पर विदाई देने को आये थे। पहले से ही प्रथम श्रेणी का एक डिब्बा देवी जी ने रिजर्व करा लिया था किन्तु गुप्तजी ने तृतीय श्रेणी में यात्रा करने का निश्चय किया। स्थान पर्याप्त होने से सब लोग निश्चिंतता से बैठ गये। मुझे भी सौभाग्य से उसी दिन कर्वी तक आने का सुअवसर मिल गया

था। सफर काफी लम्बा होने के नाते वे बर्थ पर लेट गये। संभवतः उनका मस्तक पीड़ा से फटा जा रहा था। वे लेटे ही लेटे हल्के हाथों से मस्तक दबा रहे थे और रघुवंश महाकाव्य की पंक्तियाँ बड़ी तन्मयता से धीरे-धीरे गुन-गुना रहे थे। मैंने सिर दबाने का बहुत-बहुत अनुरोध किया। किन्तु उन्होंने बड़ी विनम्रता तथा सौहार्द के साथ अस्वीकार कर दिया। बरगढ़ स्टेशन पर रेलवे की पटरियों पर काम करने वाले बारहमासी मजदूर डिब्बे में मय अपने समस्त सामान (टोकरी, खंती, कुदाली) के घुस आये। संख्या में कुल बीस थे। झपकी टूटने पर क्या देखता हूँ कि मस्तक की भयंकर यातना से संत्रस्त देव पुरुष उन लोगों का सामान उठा उठाकर ठीक से रखवा रहा है और उन लोगों के बैठने की सुव्यवस्था कर रहा है। यह है गुप्त जी की मानवता प्रेमी प्रवृत्ति का एक दृश्य।

काव्य सौष्ठव—गुप्तजी वर्तमान खड़ी बोली के कवियों में सर्वोच्च हैं। आपकी रचनाओं का जितना अधिक प्रचार है कदाचित् ही किसी अन्य कवि की रचनाओं का हो। आपकी रचनाओं को साधारण पढ़े-लिखे और विद्वान सभी पढ़ते हैं। आपके काव्य में माधुर्य, ओज, प्रसाद तीनों गुण पर्याप्त मात्रा में पाये जाते हैं। आपने प्राचीन भावों तथा विचारों की रक्षा करते हुए अर्वाचीन विचारों और भावों की अद्वितीय विवेचना की है। शताब्दियों की पदाक्रांत हिन्दू जाति की दयनीय दशा पर बहाये गये आँसुओं की अमानत 'भारत भारती' में पूर्णतया सुरक्षित है।

> हम कौन थे क्या हो गये, और क्या होंगे अभी।
> आओ विचारें आज मिलकर ये समस्यायें सभी॥

मानवता प्रेमी गुप्तजी की मङ्गल कामना इन शब्दों में मुखरित हो उठी है—

> सब की नसों में पूर्वजों का पुण्य रक्त प्रवाह हो।
> हमको तुम्हारी चाह हो तुमको हमारी चाह हो॥

मैथिलीशरण गुप्त

भारत के स्वर्णिम अतीत की स्मृति पर प्रकाश डालते हुए कवि की वर्तमान दशा पर बहाये गये आँसुओं की बानगी लीजिये—

> भारत तुम्हारा आज यह कैसा भयंकर भेष है।
> है और सब निःशेष केवल नाम ही अवशेष है॥
> हा राम! हा हा कृष्ण! हा हा नाथ हा रक्षा करो।
> मनुजत्व दो हमको दयामय! दुःख दुर्बलता हरो॥

गुप्त जी की रचनाओं को हम तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं। (१) राष्ट्रीय, (२) चरित्रात्मक, (३) छायावादी। राष्ट्रीय रचनाओं के अंतर्गत स्वदेश संगीत, भारत-भारती तथा अन्यान्य राष्ट्रीय रचनाएँ आती हैं। गुप्तजी के चरित्रात्मक काव्य ग्रंथों में साकेत और यशोधरा का प्रमुख स्थान है। 'अनघ' में महात्मा गाँधी की प्रतिच्छाया है। बक संहार, वन वैभव तथा सैरंध्री आदि उनके सुन्दर कथात्मक काव्य हैं। पञ्चवटी, साकेत और यशोधरा में हृदय की उन विश्वव्यापी समस्याओं तथा सहज अनुभूतियों का चित्रण मिलता है जो एक महाकवि की ही प्रतिभा से संभव था। गुप्तजी ने अपनी मौलिक प्रतिभा के बल से उन विस्मृत विषयों की ओर ध्यान आकर्षित करके खोज निकाला है, जो महाकवि तुलसीदास जी की भी दिव्य दृष्टि से ओझल हो गये थे। उपेक्षिता उर्मिला के आँसुओं का मोल चुकाकर आपने अपनी अनुपम सहृदयता का परिचय दिया है।

गुलाब राय जी के शब्दों में 'साकेत' का प्रारंभिक प्रेम प्रमोदमय दृश्य यद्यपि कहीं कहीं अश्लीलता के तट को स्पर्श कर गया है तथापि वह उस नव दंपति के त्याग को और भी महत्ता दे देता है। प्रेम पयोनिधि में अवगाहन करने वाले उर्मिला और लक्ष्मण का त्याग संपत्ति संपन्न व्यक्तियों का सा महत्वपूर्ण त्याग बन जाता है। जिस दाम्पत्य प्रेम के लिए लोग साम्राज्य भी त्याग देते हैं उसका सुख उन्होंने भ्रातृ-प्रेम और सेवा-कार्य में न्यौछावर कर दिया है।

साकेत में रागात्मक तत्व का चरमतम विकास देखने को मिलता है।

बुद्धितत्त्व और कल्पनातत्त्व भी रागात्मक तत्त्व के साथ मिल कर सोने में सुगन्ध ला देते हैं। केकयी के मन में मनोवैज्ञानिक उथल-पुथल उत्पन्न कर के कवि ने इसे अत्यंत आधुनिक एवं समयानुकूल बना दिया है। स्वाभाविकता के साथ-साथ इसमें अनुपम मनोहारिता आ गई है।

भरत से सुत पर भी संदेह।
बुलाया तक न उसे जो गेह॥

साकेतकार ने केकयी के चरित्र को भी अपनी सहृदयता के सहारे आत्मग्लानि उत्पन्न करवा कर किंचित् सुधार कर स्पृहणीय बना दिया है—

युग युग तक चलती रहे कठोर कहानी,
रघुकुल में भी थी एक अभागी रानी।
जन्म जन्म में सुने जीव यह मेरा,
धिक्कार उसे था महा स्वार्थ ने घेरा।

किन्तु केकयी की प्रशंसा राम अपने श्रीमुख से स्वयं करके समस्त पश्चात्ताप धो डालते हैं—

सौ बार धन्य यह एक लाल की माई।
जिस जननी ने है जना भरत सा भाई॥

चौदह वर्ष बीतने के बाद लक्ष्मण के आगमन पर उर्मिला के सुकुमार किन्तु संयम की अग्नि से सोंधे भावों को पढ़िये—

आओ आओ तनिक तुम्हें शृङ्गार सजाऊँ।
वर्षों की मैं कसक मिटाऊँ बलि बलि जाऊँ॥
हाय सखी शृङ्गार मुझे अब भी सोहेंगे।
क्या वस्त्रालंकार मात्र से वे मोहेंगे॥
सखि यथेष्ट है यही धुली ही धोती ही मुझको।
लज्जा उनके हाथ व्यर्थ चिन्ता है तुझको॥

मैथिलीशरण गुप्त

नहीं नहीं प्राणेश मुझी से छले न जावें।
जैसी मैं हूँ नाथ मुझे वैसा ही पावें॥

सीधे साधे सरल शब्दों में उर्मिला की सात्विकता उमड़ती चली आ रही है। स्त्री जाति की कोमलता तथा करुणा पर गुप्तजी के ये उद्‌गार कितने कीमती हैं—

अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी।
आंचल में है दूध और आँखों में पानी॥

'यशोधरा' में यशोधरा के माध्यम से गुप्त जी की भक्ति कितनी सजीव शब्दों में बोलती है—

भक्त नहीं जाते कहीं, आते हैं भगवान।
यशोधरा के अर्थ है, अब भी यह अभिमान॥
मैं निज राजभवन में, सखि प्रियतम हैं बन में।
उन्हें समर्पित कर दिये, यदि मैंने सब काम॥
तो आयेंगे एक दिन, निश्चय मेरे राम॥
यहीं इस आंगन में॥

गुप्तजी का आदर्श मनुष्यत्व राम के स्वरों में स्पष्ट सुनाई पड़ता है—

भव में नव वैभव व्याप्त कराने आया,
नर को ईश्वरता प्राप्त कराने आया,
संदेश यहाँ मैं नहीं स्वर्ग का लाया,
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया।

अमिताभ गौतम के महाभिनिष्क्रमण पर गुप्तजी की संसार के प्रति उदासीनता तथा तटस्थता की भावना उनके वीतरागी मन की परिचायक है—

आज्ञा लूँ या दूँ मैं अकाम, ओ क्षणभंगुर भव राम राम।
रख अब अपना यह स्वप्न जाल, निष्फल मेरे ऊपर न डाल ॥
मैं जागरूक हूँ ले संभाल, निज राज पाट धन धरणि धाम।
रूपाश्रय तेरा तरुण गात्र, कह वह कब तक हैं प्राण पात्र ॥
भीतर भीषण कंकाल मात्र बाहर बाहर है टीम टाम ॥

छायावाद इस युग की सब से बड़ी देन हैं परन्तु गुप्तजी इसमें भी सब से दो कदम आगे हैं। आपकी छायावादी रचनाओं में तन्मयता के साथ-साथ ईश्वर संयुक्ता विशुद्ध आत्मा की पुकार है। अन्यान्य छायावादी कवियों की भाँति आपकी छायावादी कविताएँ शब्दों के कृत्रिम प्रदर्शन का साधन न हो कर भाव प्रवणता, सरसता और मार्मिकता से ओतप्रोत हैं।

प्रकृति वर्णन—गुप्तजी का प्रकृति-वर्णन प्रसंगानुकूल है, संश्लिष्ट योजना के साथ मानवीकरण की मनोरम मनोहारिता है। वाह्य प्रकृति और अन्तः प्रकृति का सुहावना सामंजस्य स्थापित किया गया है। शब्द चयन में प्रकृति का सुकुमार स्पंदन स्पष्ट सुनाई पड़ता है—

चारु चंद्र की चंचल किरणें, खेल रही हैं जल थल में।
स्वच्छ चाँदनी बिछी हुई है, अवनि और अम्बर तल में ॥
पुलक प्रकट करती है धरती हरित तृणों की नोंको से।
मानो झूम रहे हैं तरु भी, मंद पवन के झोंको से ॥

कलापक्ष-भाषा—आपकी भाषा सरल, बोधगम्य तथा सर्वांग व्याकरण संयत है। संस्कृत तत्समता के पक्षपाती होते हुए भी आपने संस्कृत बहुला न बनाकर भाषा की दुर्बोधता से बाल-बाल रक्षा की है। भाषा शुद्ध, वाक्य विन्यास, पदलालित्य एवं भावानुकूल शब्द-चयन जिसमें माधुर्य, कूट-कूट कर भरा हुआ है। कहीं-कहीं साधारण तथा स्थानीय शब्दों के प्रयोग से भाषा में अपेक्षाकृत शिथिलता आ गयी है। तुक मिलाने का प्रयोग भी विशेष खटकता है। शब्द ध्वनि इतनी स्वस्थ और सबल है कि उससे अर्थबोध अपने आप प्रकट हो

जाता है। लोकोक्तियों और मुहाविरों का भी प्रयोग कहीं-कहीं मिलता है। अलंकारों का प्रयोग स्वाभाविकता के साथ हुआ है।

शैली—भावानुरूप शैली का प्रयोग किया है। गुप्त जी ने प्रायः हिन्दी के छन्दों में ही कविता की है। उनके कथोपकथन बड़े ही सजीव होते हैं और पात्रों की मानसिक भावनाओं की अभिव्यक्ति बड़ी ही सफाई से कर देते हैं। गुप्त जी चित्र खींच देने की कला में भी विशेष पटु हैं। उनके चित्रों में सिनेमा चित्रों की भी गतिशीलता तथा चांचल्य है—

पैरों पड़ती हुई उर्मिला हाथों पर थी।

संकेतात्मकता के साथ चित्र उपस्थित करने की प्रतिभा भी विशेष प्रशंसनीय है—

अरुण पट पहने हुऐ आल्हाद में।
कौन यह बाला खड़ी प्रासाद में॥

रचनायें—(१) जयद्रथ वध, (२) भारत भारती, (३) द्वापर (४) यशोधरा, (५) स्वदेश संगीत, (६) गुरुकुल, (७) काबा और कर्बला, (८) जय भारत।

: ७६ :

सुमित्रानंदन पंत

कवि परिचय—सौन्दर्य शिल्पी पंत जी का जन्म संवत् १९५७ में कौसानी जिला अल्मोड़ा में हुआ। आपके पिता का नाम गंगादत्त जी पंत था। आपने कौसानी के नैसर्गिक पर्वतीय प्रदेश में प्रारंभिक शिक्षा प्राप्त की। प्रकृति की ओर से प्रेम बचपन से ही था। आपने जयनारायन हाई स्कूल

काशी और म्योर सेंट्रल कॉलेज में शिक्षा पाई। कवित्व-प्रेम और भावुकता-वश पढ़ना-लिखना छोड़ कर—

मैं सृष्टि एक रच रहा नवल, भावी मानव के हित भीतर।
सौंदर्य स्नेह उल्लास मुझे, मिल सका नहीं जग में बाहर॥

भगवती वीणापाणि के मंदिर में आये। प्रकृति के प्रति उत्कट प्रेम भावना का परिचय आप ही के द्वारा लीजिये। 'मेरा काव्य कंठ अभी फूटा नहीं था पर प्रकृति मुझ मातृहीन बालक को कवि जीवन के लिये मेरे बिना जाने ही जैसे तैयार करने लगी थी। मेरे हृदय में अपनी मीठी स्वप्नों से भरी हुई, चुप्पी अंकित कर चुकी थी जो पीछे मेरे भीतर अस्फुट तुतले स्वरों में बज उठी। पहाड़ी पेड़ों का क्षितिज न जाने कितने ही गहरे हल्के रंगों के चित्र और कोपलों में मर्मर ध्वनि मेरे भीतर अपनी सुंदरता की रंगीन सुगंधित तहें जमा चुका था।'

व्यक्तित्व—सहृदय, सौंदर्यप्रिय, विनम्र एवम् मधुर। प्रकृति के एकांत प्रेमी—

छोड़ द्रुमों की मृदु छाया, तोड़ प्रकृति से भी माया।
बाले तेरे बाल जाल में, कैसे उलझा दूँ लोचन॥

सहृदयता एवम् भावुकता की साक्षी ये पंक्तियाँ हैं—

भूल अभी से इस जग को।
वियोगी होगा पहला कवि, आह से उपजा होगा गान।
उमड़ कर आँखों से चुपचाप, वही होगी कविता अनजान॥
कल्पना में है कसकती वेदना, अश्रु में जीता सिसकता गान है।
शून्य आहों में निराले छंद हैं, मधुर लय का क्या कहीं अवसान है॥

रचनायें—वीणा, ग्रंथि, पल्लव, उच्छ्वास, गुंजन, युगांत, मधुज्वाल, पल्लविनी, उत्तरा, आदि।

काव्य सौष्ठव—यदि पंत जी की कविताओं पर विहङ्गम दृष्टि डाली जाय तो वह कई रूपों में मिलती है। वस्तुतः वे पथ के मोड़ों को पार करती हुई निरंतर प्रगतिशील रही है। वीणा और ग्रन्थि उनकी प्रारंभिक रचनायें हैं जिनमें प्रकृति के प्रति उत्कट प्रेमभावना का आकर्षण है। पंत जी प्रकृति को नारी के रूप में देखते हैं—

उस फैली हरियाली में,
कौन अकेली खेल रही वह अपनी वय बाली में।

उन्हें प्रकृति कभी विनम्र एवम् मधुर ज्ञात होती है तो कभी क्रूर एवम् कठोर, इस प्रकार रहस्यमुखी प्रकृति के प्रति पंत जी अनेक प्रकार की रहस्यमय उक्तियाँ कहते हैं—

न जाने तपक तड़ित में कौन, मुझे इंगित करता तब मौन।

प्रकृति हरियाली का सुनहरा रेशमी वस्त्र पहने, झरनों के झलमल हार से अलंकृत, ऐंचीले भ्रू-चाप से सजी साकार सुमुखि ही के रूप में जटल पटल के झीने आवरण में अपना मुखचंद्र दिखलाई देती दिखाई पड़ती है। 'पल्लव' में पहुँचकर पंत जी की कव्य-प्रतिभा अधिक प्रौढ़ हो जाती है। इसमें कल्पना का उत्कृष्ट रूप भाषा का भव्य प्रवाह सुकुमार मृदुल शब्द चयन के साथ सौंदर्यानुभूति मिश्रित सत्यं शिवं सुन्दरम् का सुघर सामंजस्य मिलता है। 'पल्लव' में परिवर्तन शीर्षक कविता में उनकी अगाध विचार-शीलता, गंभीरता, दार्शनिकता एवम् भावुकता के दर्शन होते हैं। नवोढा विधवा के ऊपर अश्रुपात करके पंत जी लिखते हैं—

खुले भी न थे लाज के बोल, खिले भी चुंबन शून्य कपोल।
हाय रुक गया यहीं संसार, बना सिंदूर अंगार।
वात हत लतिका यह सुकुमार, पड़ी है छिन्नाधार।
× × ×
हाय बचपन का कोमल गात, जरा का पीला पात।
चार दिन सुखद चाँदनी रात, और भी अंधकार अज्ञात।

किसी को सोने के सुख साज, मिल गये यदि कुछ ऋण में आज
चुका लेता दुख में कुल व्याज, काल को नहीं किसी की लाज।

'गुंजन' में कवि की विचारधारा विशेष चिन्तनशील एवम् गंभीरता धारण कर लेती है। संगीत पूर्ण सुमधुर ध्वनि के साथ मार्मिक अनुभूति के सरस चित्र इसमें विशेष रूप से मिलते हैं। इसमें गीति काव्यत्व की मात्रा विशेष रूप से उभर आई है, कुछ-कुछ सांसारिक संघर्षों से टक्कर खाने से कवि की विचारधारा में नैराश्य एवम् उदासी के भाव भी आ गये हैं। सच बात तो यह है कि वे पल्लव से गुंजन में अपने को सुन्दरं से शिवं की भूमि पर ले आते हैं। उनकी वहिर्मुखी प्रकृति सुख दुख से सामंजस्य स्थापित कर अंतर्मुखी बनने का प्रयत्न करती है। इसीलिए विवश होकर वे अपनी आंतरिक चेतना से कहते हैं—

तप रे मधुर मधुर मन
विश्व वेदना में तप प्रतिपल
जग जीवन की ज्वाला में जल
बन अकुलुष उज्ज्वल औ कोमल
तप रे विधुर विधुर मन।

'युगान्त' और 'युगवाणी' में आकर कवि का कल्पना रूपी मन-विहंग आकाश में उड़ान न भरके ठोस धरती पर आता है, संसार की ओर पुनः उन्मुख होता है। जीवन के अधिक निकट पहुँचकर उसे कल्पना की दृष्टि से न देखकर वास्तविकता की दृष्टि से देखता है और तब उसे जीवन कहीं अधिक कठोर, कटु एवम् भयावना दिखलाई देता है। जीवन के संघर्षों से क्षुब्ध हो कर भागने वाला कवि ऐहिक जीवन की आकाँक्षाओं, निराशाओं एवं संवेदनाओं से प्रभावित होता है। कवि की कल्पना जन्य 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' की भावना जन् जीवन एवम् लोक-कल्याण की भावना में परिवर्तित हो जाती है, एवम् कवि के लोक-कल्याणकारी स्वर उड़ने लगते हैं—

'युग प्रभात हो अभिनव
सत्य निखिल बन जाय कल्पना
मिथ्या जग की मिटे जल्पना
कला धरा पर रचे अल्पना
रुके युगों का जन रव'

समाज की ठोस भाव भूमि पर उतर कर कवि की वाणी फूटती है—

जाति पाँति की कड़ियाँ टूटें, मोह द्रोह मद, मत्सर छूटें।
जीवन के नव निर्झर फूटें, वैभव बने पराभव॥

छायावाद के गहन गर्त से निकल कर पंत जी क्रमशः मानव जीवन के निकट आते हैं। श्रमजीवी दलित वर्ग के प्रति उनके हृदय में अपार श्रद्धा एवम् दया की भावना उमड़ पड़ती है—

ये नाप रहे निज घर का मग कुछ श्रमजीवी घर डगमग पग
भारी है जीवन भारी पग।

प्रगतिशील होते हुए भी वे रूढ़ियों के प्रति विद्रोह करते हैं—

झरे जाति कुल वर्ण पर्ण घन
बँधे नीड़ जे रूढ़ि रीति छन।

स्वप्न संसार से उतर कर उनके पग लोक कल्याण की भाव भूमि पर पहुँच कर एक सुघर सृष्टि का निर्माण करते हैं—

युग कर्म शब्द, युग रूप शब्द, युग सत्य शब्द,
शब्दित कर भावी के सहस्र शत सूक्त अब्द,
ज्योतित कर जन मन के जीवन का अंधकार,
तुम खोल सको मानव उर के निश्शब्द द्वार,
वाणी मेरी चाहिए, तुम्हें क्या अलंकार।

भाषा शैली—छायावाद के प्रतिनिधि कवि होने के नाते उनकी

शब्दावली मधुर और मृदुल है। भावुकता, कोमलता, लाक्षणिक मूर्त्तिमत्ता का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। पंत जी संस्कृत के छोटे-छोटे मधुर ध्वन्यात्मक शब्दों में लक्षणा का पुट देकर उसे अनूठा सौंदर्य प्रदान करते हैं। पंत जी की भाषा में कोमलता एवं भावुकता होते हुए भी संस्कृत की अप्रचलित शब्दावली का स्पर्श है। वे कट्टर हिन्दीवादी हैं जो कि 'पानी' के स्थान पर 'वारि पी घर पूंछना' लिखना अधिक पसंद करते हैं। अँग्रेजी शैली का प्रभाव दिखायी पड़ता है। भाषा की अभिव्यंजनशीलता का गुण आपने अँग्रेजी शैली से ही उधार लिया है। चित्रमयी भाषा के विशेष प्रयोग मिलते हैं। मधुमय भाव, मर्म पीड़ा के हास, मांसल रंग, स्वरमयी वेदना, धूल की ढेरी में अनजान आदि विचित्र शब्दावली अँग्रेजी कवियों के अनुकरण स्वरूप ही है। उनकी चित्रमयी भाषा देखिए—

मारुत ने जिसकी अलकों में चुंचल चुंबन उलझाया।
अंधकार का अलसित अंचल अब द्रुत ओढ़ेगा संसार।
जहाँ स्वप्न सजते शृंगार

: ७७ :

महादेवी वर्मा

कवियित्री परिचय—आपका जन्म संवत् १९६४ में फरुखाबाद में हुआ। आपके माता-पिता संस्कृति संपन्न एवं आचारनिष्ठा वाले दंपति थे। फलस्वरूप बाल्यावस्था से ही आपमें अच्छे संस्कार पड़े। आपकी माता जी मीरा के पदों को बड़ी ही भक्तिपूर्ण मधुर स्वर लहरी से गाया करती थीं। जिससे आपके काव्यांकुर को विशेष बल मिला। आपने प्रयाग विश्वविद्यालय से संस्कृत में एम० ए० पास किया है। देश कीप्रमुख समाज-सेविका, सामाजिक एवं राष्ट्रीय कार्यों में योग देने वाली जाग्रतशील महिलाओं में आप

वरेण्य हैं। इस समय आप प्रयाग महिला विद्यापीठ की आचार्य एवं राष्ट्र-पति द्वारा मनोनीत पार्लियामेंट की माननीया सदस्या हैं। रहस्यवाद की प्रधान और प्रतिनिधि कवियित्री तो हैं ही।

व्यक्तित्व—(१) मैं नीर भरी दुख की बदली।
मेरा परिचय इतिहास यही उमड़ी कल थी मिट आज चली॥
(२) तुझ में हो तो आज तुम्हीं मैं बन दुख की घड़ियाँ देखो।
मेरे गीले पलक छुओ मत बिखरी पंखुरियाँ देखो॥

रचनायें—(१) नीहार, (२) रश्मि, (३) नीरजा, (४) सांध्य गीत।

काव्य सौष्ठव—अपने हृदय के सूक्ष्मतम कोमल भावों को कोमल सरस एवं मधुर शब्दों में बड़ी सफलता के साथ व्यक्त किया है। नीहार, रश्मि, नीरजा एवं सांध्यगीत आपकी काव्य यात्रा के चरण चिन्ह हैं। कविता का विकास क्रमशः 'नीहार' के अंधकार मिश्रित झिलमिल उदय से होकर रश्मि एवं नीरजा में प्रौढ़ता पाकर 'सांध्यगीत' में उत्कृष्टता प्राप्त कर समाप्त हो जाता है। संभवतः 'सांध्यगीत' आपके काव्यजीवन का भी सांध्यगीत सिद्ध हो रहा है क्योंकि तब से आपने कविता से एकदम सन्यास ही ले लिया है। 'नीहार' में आपकी काव्य प्रतिभा की रूप-रेखा का निर्माण होता है। एक अव्यक्त पीड़ा से आपकी छंद योजना सिहर रही है, भावना की गहराई मन को झकझोर देने की शक्ति रखती है, किंतु कवियित्री का गान किसी निश्चित उद्देश्य के लिये न होकर निष्प्रयोजन होता है। उनके मन में एक अज्ञात वेदना जगती है और उनकी स्वर लहरी फूट पड़ती है। अज्ञात प्रियतम की प्रतीक्षा में युग बीत जाते हैं वे केवल उसके एक बार के दर्शन या मिलन से ही अपने समस्त व्यथित जीवन को कृतकृत्य कर लेना चाहती हैं—

जो तुम आ जाते एक बार
कितनी करुणा, कितने संदेश, पथ में बिछ जाते बन पराग

गाता प्राणों का तार तार, आनंद भरा उन्माद राग
छा जाता जीवन में वसन्त, धुल जाता चिर संचित विराग
आँखें लेती सर्वस्व वार।

स्वयं कवियित्री का मत सुनिये—'नीहार' के रचनाकाल में मेरी अनुभूतियों में वैसी कुतूहल मिश्रित वेदना उमड़ आती थी जैसी बालक के मन में दूर दिखाई देने वाली अप्राप्य सुनहली ऊषा और स्पर्श से दूर सजल मेघ के प्रथम दर्शन से उत्पन्न हो जाती है। 'रश्मि' को उस समय आकार मिला जब मुझे अनुभूति से अधिक चिन्तन प्रिय था परन्तु 'नीरजा' और 'सांध्यगीत' मेरी उस मानसिक स्थिति को व्यक्त कर सके जिसमें अनायास ही मेरा हृदय सुख-दुख के सामंजस्य का अनुभव करने लगा।

'रश्मि' में कवियित्री की वेदना कदाचित् चिन्तनशील होने के कारण स्थूल से सूक्ष्म की ओर उन्मुख होती है। पीड़ा आत्मा के प्रकाश में परिवर्तित हो जाती है एवं कवियित्री की दृष्टि वहिर्मुखी न होकर अन्तर्मुखी हो जाती है। भावों में एक प्रकार की उदात्त-भावना के भी दर्शन होते हैं। नीहार का धुंधलापन तो तिरोहित होने लगता है किन्तु इसके साथ ही लय एवं पीड़ा के दर्शन होने लगते हैं—

सृष्टि का यह अमिट विधान, एक मिटने में सौ वरदान।
नष्ट कब अणु का हुआ प्रयास, विफलता में है पूर्ति विकास॥

इस स्थल तक पहुँचने के पश्चात् कवियित्री की संवेदना दृष्टि व्यापक हो जाती है, आत्मेतर सुख-दुख भी उसकी आत्मीयता में आ जाता है। वे 'पर' को 'स्व' में बदल लेती हैं। वे अभाव में ही सुख खोजने लगती हैं। और यह सुख विराट से निकटता स्थापित करने के प्रयत्न में अधिक स्थिर ज्ञात होता है—

जन्म ही जिसका हुआ वियोग,
तुम्हारा ही तो हूँ उच्छ्वास।

तृप्ति की आकांक्षा बलवती होने पर उसकी किसी प्रकार से पूर्ति न होने पर वे उसे 'प्रीति' से बदल लेती हैं। आत्मीयता की भावना इतनी वेग से उमड़ पड़ती है कि कवियित्री को असीमता की सीमा में नहीं बांधा जा सकता—

विश्व में वह कौन सीमा हीन है, हो न जिसका खोज सीमा में मिला
क्यों रहोगे क्षुद्र प्राणों में नहीं, क्या तुम्हीं सर्वेश एक महान हो

वर्मा जी ने कबीर की आध्यात्मिक भावना को मीराँ की सुमधुर संगीत-पूर्ण भाषा में व्यक्त करने का सराहनीय प्रयास किया है, वे कण-कण में, अणु-परमाणु में उस विराट की झाँकी देखती हैं, आपका काल्पनिक संसार करुणा की कठोर चट्टानों पर टिका है एवं उसी में रह कर प्रियतम की आराधना तथा प्रतीक्षा में आँसू बहाया करती हैं—

श्वासें कहतीं आता प्रिय. निश्वास बताते वह जाता,
आँखों ने समझा अनजाना, उर कहता चिर यह नाता,
सुधि से सुन वह स्वप्न सजीला, क्षण-क्षण नूतन बन आता,
दुख उलझन में राह न पाता, सुख दृग जल में बह जाता।

'नीरजा' और 'सांध्यगीत' तक पहुँचते-पहुँचते महादेवी जी का हृदय सुख दुख में सहज सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास करती हैं। किन्तु कहीं-कहीं विरोधी भावनायें मिल जाती हैं—

जलना ही प्रकाश उसमें सुख, बुझना ही तम है तम में दुख।
तुझमें चिर दुख मुझमें चिर सुख कैसे होता प्यार॥

सुख-दुख के सहज सामंजस्य की मधुर एवं कोमल अनुभूतियाँ अनूठी हैं—

उन मिलन विरह, शिशुओं के बिन, विस्तृत जग का आंगन सूना

× × ×

तुम मुझमें अपना सुख देखो, मैं तुममें अपना दुख प्रियतम

कहीं-कहीं अद्वैत की भावना पराकाष्ठा पर पहुँच गयी है—

मेरे सब, सब में प्रियतम, किससे व्यवहार करूँगी मैं,
आँसू का मोल न लूँगी मैं।

'सांध्यगीत' में भावुक मन प्रणय के गंभीर गीत गाता हुआ जाग उठता है और दिवस-अवसान की आकांक्षा धीमी न होकर अत्यधिक वेग से बलवती होने लगती है, प्रिय प्राप्ति के स्वप्न देखने लगती है—

अश्रु मेरे मांगने जब नींद से वह पास आया।
अंक में तब नाश को लेने अनंत विकास आया॥

प्रियतम को रिझाने के लिये वे शृंगार की भी आवश्यकता समझती हैं, शृंगार सजने का उपक्रम करती हैं—

शीश के दर्पण में देख देख, मैंने सुलझाये तिमिर केश।
गूँथे चुन तारक पारिजात अवगुंठन कर किरणें अशेष॥

पर जब इस प्रकार का अभिनव शृंगार उस निर्मोही प्रियतम को नहीं रिझा पाता, तब 'क्यों वह प्रिय आता पार नहीं' की शिकायत के पश्चात् 'रे पपीहे पी कहाँ' में बोध जाग्रत होता है। आराधना से आराध्य की कोटि में पहुँचकर वे स्वयं तदाकार हो जाती हैं—

हो गई आराध्य मैं चिर विरह की आराधना ले
विरह का युग आज दीखा, मिलन के लघु पल सरीखा
दुख-सुख में कौन तीखा, मैं न जानी औ न सीखा
मधुर मुझको हो गये सब, मधुर प्रिय की भावना ले।

भाषा शैली—देवी जी की भाषा में संस्कृत के शब्दों का बाहुल्य है। भाषा परिष्कृत, परिमार्जित, सुश्लिष्ट, एवं मधुर है। इनकी भाषा में खड़ी बोली का सुकुमारतम स्वरूप दिखाई पड़ता है। संस्कृत की कोमलकान्त पदावली का पुट सर्वत्र मिलता है। संयुक्ताक्षर एवं कर्ण कटु शब्दों का नितान्त अभाव है, ध्वनि से ओतप्रोत संगीत पूर्ण भाषा लिखने में आप

सिद्धहस्त हैं। कुशल शब्द शिल्पी होने के साथ-साथ चित्रकर्त्री होने के नाते भाषा में चित्रमयता आ गई है। आपकी भाषा का स्वरूप देखिये—

मधुरमधुर मेरे दीपक जल !
युग युग प्रतिदिन, प्रतिक्षण, प्रतिपल
प्रियतम का पथ आलोकित कर !
सौरभ फैला विपुल धूप बन; मृदुल मोम सा घुल रे मृदुतन;
दे प्रकाश का सिंधु अपरिमित, तेरे जीवन का अणु गलगल।
पुलक पुलक मेरे दीपक जल।

आपकी छन्द शैली सर्वथा आधुनिक है।

: ७८ :

रामधारी सिंह दिनकर

कवि परिचय—दिनकर जी का जन्म १६०८ में सेमरिया जिला मुँगेर (बिहार) में हुआ। आप पटना विश्वविद्यालय के सम्माननीय स्नातक हैं। इस समय आप केन्द्रीय सरकार की सेवा में दिल्ली में रहते हैं। साथ ही एम० पी० और फिल्म सेंसर बोर्ड के सदस्य हैं।

व्यक्तित्व—प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त के शब्दों में 'गेहुँआ रंग, छरहरा बदन, गुलाबी चेहरा—दिल में धधकता अंगारा जिस पर इन्द्र धनु खेल रहे हों।'—दिनकर की आत्मा, रचना का यही संक्षिप्ततम परिचय है।

रचनायें—(१) रेणुका, (२) द्वंदगीत, (३) हुंकार, (४) रसवन्ती, (५) सामधेनी, (६) कुरुक्षेत्र, (७) रश्मि-रथी, (८) मिट्टी की ओर।

काव्य सौष्ठव—हिन्दी के प्रगतिशील साहित्य में दिनकर जी का विशिष्ट स्थान है। उन्होंने काव्यगत भावों में प्राचीन परंपराओं को त्याग

कर नवीन संस्कृति एवं समाज की सृष्टि की है। 'दिनकर' की आत्मा को भरी जवानी की चट्टानी उमंगों ने विद्रोह करने के लिये विवश किया है। उनके काव्य का प्रारम्भ यौवन सुलभ सौन्दर्योपासना से होता है। जीवन का सुन्दर शृंगार, प्रकृति का नैसर्गिक सौंदर्य एवं रूप की अटूट प्यास इन कविताओं में निहित है—

व्योम कुंजों की सखी अयि कल्पने आ उतर हँस ले जरा वन फूल से।

तत्पश्चात् तरुण अवस्था के खौलते रक्त ने कवि की वाणी में विद्रोही स्वर सजा दिये—

चांदनी की अलकों में गूँथ, छोड़ दूँ क्या अपने अरमान।
आह! कर दूँ कलियों के बन्द, मधुर पीड़ाओं के वरदान॥

आपकी रचना में मस्ती, तन्मयता और ओज विशेष रूप से हैं। मानवता के महान प्रेमी होने के नाते आपकी कविताओं में कल्याणकारी तत्त्व विशेष रूप से उभर आया है। सफल गायक होने के कारण आपकी रचनाओं में पीड़ा है। भारतीय हृदय को मग्न कर देने वाली गर्जना है। और है निर्जीव शिराओं में प्राण फूंक देने वाली हुँकार। आपकी 'हिमालय' शीर्षक कविता में उत्कृष्ट कल्पना भावना एवं चिन्तनशीलता के उद्‌गार व्यक्त किये गये हैं—

मेरे नगपति! मेरे विशाल?
साकार, दिव्य, गौरव विराट? पौरुष के पूंजीभूत ज्वाल,
मेरी जननी के हिमकिरीट? मेरे भारत के दिव्य भाल।
सुख-सिन्धु पंचनद, ब्रह्मपुत्र, गंगा यमुना की अमिय धार,
जिस पुण्य भूमि की ओर बही, तेरी विगलित करुणा उदार।
कितनी मणियाँ लुट गईं, मिटा कितना तेरा वैभव अशेष।
तू ध्यान मग्न ही रहा इधर, वीरान हुआ प्यारा स्वदेश॥
कितनी द्रुपदा के बाल खुले, कितनी कलियों का अंत हुआ।
कह हृदय खोल चित्तौर यह, कितने दिन ज्वाल वसंत हुआ?

वैशाली के भग्नावशेष से पूछ, लिच्छवी शान कहाँ ?
वन वन स्वतंत्रता-दीप लिये, फिरने वाला बलवान कहाँ ?

दिनकर जी शांति के समर्थक न होकर घोर विद्रोही एवं आमूल क्रांति के समर्थक हैं—

रे रोक युधिष्ठिर को न यहाँ, जाने दे उनको स्वर्ग धीर ।
पर फेर हमें गांडीव गदा, लौटा दे अर्जुन भीम बीर ॥
कह दे शंकर से आज करें फिर, प्रलय नृत्य वे एक बार ।
सारे भारत में गूँज उठे, हर हर बम बम का महोच्चार ॥

× × ×

नचे तीव्र गति भूमि कील पर, अट्टहास कर उठें धराधर,
उपटे अनल फटे ज्वाला मुख, गरजे उथल पुथल कर सागर,
गिरे दुर्ग जड़ता का ऐसा, प्रलय बुला दो प्रलयंकर ।

दिनकर जी ने दलित वर्ग एवं दीन दुखियों के मूक भावों को वाणी प्रदान की है । इस रूप में हम उन्हें दलित दुखियों का प्रतिनिधि कवि कह सकते हैं, क्योंकि उन्हीं का करुण क्रन्दन सुनकर दिनकर का कोमल एवं भावुक मन 'हुंकार' कर उठा है—

"श्वानों को मिलता दूध वस्त्र, भूखे बालक अकुलाते हैं ।
माँ की हड्डी से चिपक, जाड़ों की रात बिताते हैं ।
युवती की लज्जा बसन बेंच, जब ब्याज चुकाने जाते हैं ।
मालिक तब तेल फुलेलों पर, पानी सा द्रव्य बहाते हैं ।
पापी महलों का अहंकार, देता मुझको तब आमंत्रण ॥"

'सामधेनी' में कवि का मन जग के कटु सत्य से परिचित होकर आक्रांत क्रन्दन करने लगा है—

रात यों कहने लगा मुझसे गगन का चाँद,
आदमी भी क्या अनोखा जीव होता है।
उलझनें अपनी बढ़ाकर, स्वयं ही फंसता,
और फिर जग बीच यों जगता न सोता है॥

मैं न बोला किन्तु मेरी आत्मा बोली,
कल्पना की जीभ में भी धार होती है।
बाण होते हैं विचारों के नहीं केवल,
स्वप्न के भी हाथ में तलवार होती है॥

'रसवन्ती' कवि की रसीली कविताओं का उत्कृष्ट संग्रह है। इसमें कवि ने भूमिका में स्वयं कहा है कि मैं प्रगल्भ अप्सरा के पीछे भटकता फिरा हूँ और 'रहे फिर मेरे अनु अनु देवि, लुब्ध भिक्षुक से गीले गान'। रसवन्ती के गीतों को आपने अबोध कल्पक के शिशु माना है—

ये अबोध कल्पक के शिशु, क्या रीति जगत का जानें।
कुछ फूटे रोमांच पुलक से, कुछ अस्फुट विस्मय से॥
रुन झुन झुन पैंजनी चरण में, केश कुटिल घुंघरारे।
नील नयनि इनके माँ देखो, दाँत धुले हैं पय से॥
नहीं सीख पाये फिर भी, रुक सके न पुण्य प्रहर में।
घुटनों बल चल पड़े, पुकारा तुमने देवालय से॥

रसवन्ती की 'बालिका से वधू' कविता में आपकी भावुकता एवं वात्सल्य भावना उमड़ आई है।

पीला चीर कोर में जिसके चकमक गोटा जाली।
चली पिया के गाँव उमर के सोलह फूलों वाली॥
भीग रहा मीठी उमंग से दिल का कोना कोना।
बाहर बाहर हँस देख लो, भीतर भीतर रोना॥
माँ की ढीठ दुलार पिता की, ओ लजवन्ती भोली।
ले जायेगी हिय की मणि को, अभी पिया की डोली॥

मंगल मय हो पंथ सुहागिन यह मेरा वरदान।
हरसिंगार की टहनी से, फूलें तेरे अरमान॥

नारी के प्रति इनकी श्रद्धालु भावना कितनी पवित्र है—

तुम्हारे अधरों का रस प्राण, वासना तट पर पिया अधीर।
अरी ओ माँ हमने है पिया, तुम्हारे स्तन का उज्ज्वल क्षीर॥

सूक्ष्म कल्पना का भी रसवन्ती में अभाव नहीं है—

एक तार भी कात सुहागिन यह भी नहीं अकाज।
स्यात् छिपा दे यहीं नग्न के किसी रोम की लाज॥

'कुरुक्षेत्र' दिनकर जी की उत्कृष्ट काव्य कृति है। नंददुलारे वाजपेयी जी ने उसे प्रतिनिधि रचना मानी है। भदन्त आनंद जी ने नये युग की नई गीता तथा हजारीप्रसाद द्विवेदी जी ने कुरुक्षेत्र को हिन्दी भाषा का गौरव स्वीकार किया है। माखनलाल चतुर्वेदी के शब्दों में 'दिनकर ने मैथिलीशरण के आदर्श को प्रसाद के सपनों में तुलसीदास की सरलता से लिखा है।' दिनकर जी ने कुरुक्षेत्र की भूमिका में लिखा है —

"दर असल इस पुस्तक में मैं प्रायः सोचता ही रहा हूँ। भीष्म के सामने पहुँच कर कविता जैसे भूल सी गई हो, फिर भी कुरुक्षेत्र न तो दर्शन है और न किसी ज्ञानी के प्रौढ़ मस्तिष्क का चमत्कार। यह तो अन्ततः एक साधारण मनुष्य का शंकाकुल हृदय ही है जो मस्तिष्क के स्तर पर चढ़कर बोल रहा है।" इसमें दिनकर जी ने महाभारत के भीष्म को आधुनिक दृष्टि से देखने का प्रयास किया है। दिनकर द्वारा कल्पित भीष्म का उदात्त वरेण्य रूप देखिए—

आई हुई मृत्यु से कहा अजेय भीष्म ने कि,
योग नहीं जाने का अभी है इसे जानकर
रुकी रहो पास कहीं और स्वयं लेट गये,
बाणों का शयन, बाण का ही उपधानकर॥
व्यास कहते हैं रहे यों ही वे पड़े विमुक्त,
काल के करों से छीन मुष्टिगत प्राण कर।

और पंथ जोहती विनीत कहीं आस पास,
हाथ जोड़ मृत्यु रही खड़ी शास्ति मानकर ॥

दिनकर जी की चिन्तनशीलता कितनी प्रौढ़ एवं स्पष्ट है—

वह कौन रोता है यहाँ, इतिहास के अध्याय पर।
जिसमें लिखा है, नौजवानों के लहू का मोल है ॥
प्रत्यय किसी बूढ़े कुटिल नीतिज्ञ के व्यवहार का।
जिसका हृदय उतना मलीन जितना कि शीर्ष वलक्ष है ॥
जो आप तो लड़ता नहीं,
कटवा किशोरों को मगर।
आश्वस्त होकर सोचता, शोणित बहा,
लेकिन गई बच लाज सारे देश की ?

× × ×

हर युद्ध से पहले द्विधा लड़ती उबलते क्रोध से,
हर युद्ध के पहले मनुज है सोचता,
क्या शस्त्र ही उपचार एक अमोघ है,
अन्याय का, अपकर्ष का, विष का, गरलमय द्रोह का।

भाषा शैली—दिनकर जी की भाषा में ओज, प्रसाद एवं प्रवाह पर्याप्त मात्रा में है।

शब्द चयन में हुंकार की सी ध्वनि सुनाई पड़ती है। भावानुकूल भाषा का रूप दर्शनीय है। शैली नवीनता लिये है। इनकी भाषा का रूप देखिए—

लहू में तैर तैर के नहा रहीं जवानियाँ।

× × ×

साम्य की वह रश्मि स्निग्ध उदार
कब खिलेगी, कब खिलेगी विश्व में भगवान ?
कब सुकोमल ज्योति से अभिषिक्त
हो सरस होंगे जली सूखी रसा के प्राण ?

: ७६ :

बुल्गानिन की भारत यात्रा

भारत प्राचीन काल से ही अपने प्राकृतिक सौंदर्य एवं सांस्कृतिक समृद्धि के लिए विश्व में प्रख्यात रहा है। इसकी आर्थिक परंपरा भी कम गौरव पूर्ण नहीं रही। संभवतः इन्हीं अनेक विचित्र विशेषताओं से आकर्षित होकर विदेशियों ने भारत-यात्रा की थी। फाह्यान, ह्वानसांग, इब्नबतूता, सर टामसरो के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। महात्मा गाँधी की शांति प्रिय अहिंसक नीति से हमारा भारत स्वतंत्र हुआ और विश्व में एक नए अध्याय का सूत्रपात हुआ। गौतम बुद्ध की परंपरा को आगे ले जाने वाले महात्मा गांधी के इस देश ने युद्धों की कटुतम विभीषिकाओं के बीच शांति एवं अहिंसा का पवित्र संदेश दिया। गांधी जी के सुयोग्य उत्तराधिकारी पं० जवाहर लाल नेहरू ने शांतिमय सह अस्तित्व से युक्त पंचशील का प्रचार किया। जिसका स्वागत विश्व के बड़े बड़े राष्ट्रों में बड़ी शान के साथ किया गया। विश्व की वर्तमान राजनीति के झुलसे प्राणों में पंचशील की शीतल फुहार पीयूषवर्षी सिद्ध होगी, ऐसा विश्वास है।

हाल ही में पंडित जी ने सोवियत संघ के साथ भारत के मैत्रीपूर्ण संबंधों को विकसित करने के लिए रूस की यात्रा की थी। वहाँ उनका अभूत पूर्व स्वागत हुआ था। इसी अवसर पर पंडित जी ने सम्माननीय अतिथियों को भारत में पधारने का निमंत्रण दिया जिनको उन्होंने सहर्ष स्वीकार किया। रूसी नेता शांतिप्रिय भारत को देखने का लोभ बहुत समय तक संवरण न कर सके। २१ नवम्बर १९५५ का शुभ दिवस भारत के इतिहास में ही नहीं, वरन् विश्व के इतिहास में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखने की शक्ति से सम्पन्न है जब कि एक शक्तिशाली राष्ट्र के दो महान् नेताओं ने एक दूसरे राष्ट्र की संसद में जाकर अपनी गृह तथा विदेशी नीति, वर्तमान प्रगति एवं गतिविधि का मैत्रीपूर्ण ढंग से उद्घाटन किया। संसद के केन्द्रीय भवन में रूस के प्रधान मंत्री मार्शल बुल्गानिन तथा कम्युनिस्ट दलीय महामंत्री

श्री क्रुश्चेव ने उपराष्ट्रपति श्री राधा कृष्णन की अध्यक्षता में रूसी भाषा में संक्षिप्त सा भाषण किया। दुभाषिये द्वारा भाषणों का हिंदी अनुवाद प्रस्तुत किया गया जिसका स्वागत बड़ी प्रसन्नता के साथ तालियों की गड़गड़ाहट से हुआ। श्री बुल्गानिन ने कहा—यहाँ के मंच से भाषण करने का सर्वप्रथम अवसर जो आप लोगों ने मुझे प्रदान किया है, इसे मैं अपनी भारी प्रतिष्ठा समझता हुआ आप सबों के प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रगट करता हूँ। जिस एकता और निष्ठा से राजधानी की जनता ने हमारा स्वागत किया उससे हमें विश्वास हो गया है कि भारतीय जनता सोवियत जनता की सच्ची हितैषिणी है। उस मैत्री को व्यापक बनाने के लिए सोवियत जनता अपनी ओर से कुछ उठा न रखेगी।

हमारा आपका संबंध कोई नया नहीं है, आज से ५०० वर्ष पहले जब यूरोपीय जहाज भारतीय तट को छू भी नहीं सके थे, तब एक रूसी अन्वेषक अफेंसव निकितन भारत आया था और यहाँ का आँखों देखा हाल उसने एक पुस्तक में लिपिबद्ध किया था, इसके द्वारा उसकी भारत के प्रति प्रगाढ़ मैत्री का परिचय मिलता है। यह भारत की रूसियों द्वारा प्रथम खोज थी। हमारी आपकी साहित्यिक मैत्री तो और भी अधिक आश्चर्य जनक है क्योंकि भारत के महान् नाटककार महाकवि कालिदास के ग्रंथों के अनुवाद रूस में १८वीं शताब्दी में ही हो चुके थे, तत्पश्चात् भारतीय पौराणिक कथाओं के अनुवाद व्यापक रूप से प्रकाशित किये गये। पहली नवम्बर १९१८ में रूस में भारतीय प्रतिनिधि मंडल का आगमन हुआ था जिसका हार्दिक स्वागत लेनिन ने किया था। यह स्पष्ट प्रमाणित करता है कि उस समय हमारे देश में होने वाली उन्नतियों के प्रति भारत कितनी दिलचस्पी ले रहा था। भारतीय जनता ने उपनिवेशवाद तथा मातृ भूमि की स्वतंत्रता के लिए जो निस्वार्थ तथा निर्भीक संघर्ष किया, उसके प्रति सोवियत जनता में गहरी सहानुभूति थी।

रूसी जनता की स्वतंत्र भारत के प्रति दिलचस्पी उसके इतिहास, संस्कृति, जनता के जीवन और उन परिवर्तनों के प्रति है जो आपके देश

में हो रहे हैं। हमारे देश में कई भारतीय प्रदर्शिनियों को देख कर सोवियत जनता ने प्रसन्नता प्राप्त की है। रवींद्रनाथ टैगोर की रचनाएँ रूस में कई बार प्रकाशित हो चुकी हैं। नेहरू जी की रूस यात्रा से भारत के मैत्रीपूर्ण संबंध को विकसित करने में बड़ी सुविधा हो गयी। यह यात्रा हमारी जनता की एक महत्वपूर्ण घटना थी। हम दोनों देश एक दूसरे से सीख सकते हैं और लाभ उठा सकते हैं। हम जिस युग में रह रहे हैं उसके महान् परिवर्तनों तथा वैज्ञानिक शोधों ने मानव जगत की सांस्कृतिक और आर्थिक संभावनाओं के अभूतपूर्व विकास के लिए मार्ग खोल दिया है। हम स्वीकार करते हैं कि कोई भी आक्रमण किसी भी राष्ट्र की आत्मा और सम्मान को ठेस पहुँचाता है, बड़े कीमती भौतिक मूल्यों को नष्ट कर डालता है इसी कारण से हम विवादग्रस्त अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों को हल करने के लिए युद्ध के माध्यम को अस्वीकार करते हैं तथा विभिन्न समस्याओं को शांति के साथ हल करने के पक्ष में हैं। इस दिशा में शांतिपूर्ण देशों के प्रयत्नों ने जिनमें भारत तथा सोवियत संघ के प्रयत्न भी सम्मिलित हैं, ठोस परिणाम उत्पन्न किये हैं और विशेषतः चार शक्तियों के प्रधानों के जिनेवा सम्मेलन के परिणामों को प्रभावित किया है।

इस सम्मेलन ने सहयोग की भावना से काम किया और अन्तर राष्ट्रीय तनातनी को शांतिपूर्ण ढंग से कम करने का महत्वपूर्ण कार्य किया। इस सम्मेलन ने यह सुलभ कर दिया कि चार शक्तियों के विदेश मंत्री ऐसी समस्याओं जैसे निःशस्त्रीकरण, यूरोपीय सुरक्षा और जर्मनी तथा पूर्व-पश्चिम में संपर्क के विकास के प्रश्नों पर चर्चा कर सके। निःशस्त्रीकरण की समस्या मानवता का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करती है क्योंकि पुराने हथियारों तथा सामूहिक संहार के हथियारो के उत्पादन में वृद्धि संसार के लोगों में भय उत्पन्न करती है। सोवियत संघ सदा से निःशस्त्रीकरण और अणु तथा उद्जन हथियारों पर पाबंदी लगाने का समर्थक है।

सामूहिक शांति की सुरक्षा के लिए, आक्रामक सैनिक गठबंधन की नीति के विरुद्ध तथा अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों को सुलझाने के लिए सोवियत

संघ की जनता भारत सरकार के प्रयत्नों का हृदय से स्वागत करती है। प्रसिद्ध पंचशील सिद्धान्तों पर आधारित सोवियत-भारत संबंध विभिन्न सामाजिक-राजनीतिक प्रणालियों वाले राज्यों में शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व तथा मैत्रीपूर्ण सहयोग की संभावनाओं के सिद्धान्तों की यथार्थता सिद्ध करते हैं।

सैनिक-गठबंधन की नीति कभी भी शांति की ओर नहीं ले जा सकती इसीलिए हमारा देश इसके विपरीत है। हमारे दोनों देशों की वैदेशिक नीतियों में बड़ी समानता है। हम सभी एक ही लक्ष्य के लिए प्रयत्नशील हैं—अन्तर्राष्ट्रीय तनाव कम करना, युद्ध रोकना, मानव जाति को युद्ध के आतंक से बचाना, तथा संसार के लोगों को उनके परिश्रम का पुरस्कार मिलने देना। इससे ज्यादा पवित्र कार्य क्या हो सकता है।

भारतीय जनता द्वारा प्रदर्शित आशातीत स्नेह-भार को पुरस्कार जैसा ग्रहण करते हुए श्री क्रुश्चेव ने कहा कि प्रायः हम लोगों पर साम्यवादी विचारधाराओं को दूसरे देशों में फैलाने के मिथ्या आरोप लगाए जाते हैं किंतु मैं यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि हम लोग कभी भी किसी राष्ट्र को विवश नहीं करते कि वह हमारी विचारधारा अथवा समाज रचना को स्वीकार करे। रूस की जनता ने समाजवादी पथ चुना है और इस रास्ते उसने असाधारण उन्नति कर ली है। जारशाही की समाप्ति के पश्चात् सन् १९१३ की अपेक्षा १९५५ में रूस के भीतर २७ गुना अधिक उत्पादन हुआ है। विद्युत शक्ति और मशीनों के निर्माण में तो ८७ गुनी और १९० गुनी वृद्धि का क्रम है। भारतीय जनता के इस सच्चे मैत्रीभाव को हम रूसी जनता के उन कार्यों का पुरस्कार समझते हैं जो समस्त प्रकार की जनता की सेवा के लिए उसने निःस्वार्थ तरीके से किये हैं। आपके देश के ऐतिहासिक स्थानों के अवलोकन के समय हम लोगों को जनता के प्रेमभाव का अनुभव हुआ है और 'भारतीय-रूसी भाई-भाई' जैसे नारे भी हमलोगों को सुनाई पड़े हैं। रूस और भारत के नागरिक सच्चे अर्थों में भाई भाई की तरह हैं। दोनों देशों का यह संबंध युग युग तक सुरक्षित रहेगा।

इस प्रकार तीन सप्ताह तक रूसी नेताओं ने भारत का तूफानी दौरा किया। भारत के प्रमुख नगर बम्बई, मद्रास और कलकत्ता को देखा। पंचवर्षीय योजना के अंतर्गत सम्पन्न होने वाली बड़ी बड़ी योजनाओं को देखा और प्रसन्नता प्रकट की तथा लाखों किसानों, मजदूरों, विद्वानों एवं राजनीतिज्ञों की अनेक सभाओं में भाषण किया। उन्होंने भारतीय लोक-नृत्यों का आनन्द लिया एवं भारतीय संगीत से मुग्ध हुए, भारतीय भोजन एवं पोशाक धारण की। गाँधी टोपी, राजस्थानी साफा एवं तिलक लगाने तथा 'नमस्ते' और 'हिंदू-रूसी भाई भाई' का उच्चारण करके भारतीयों के बहुत निकट आ गये। भारत के जिस कोने में वे गये, भारतीयों ने पुष्प-मालाओं एवं अक्षत-चंदन से उनका हृदय खोलकर स्वागत किया। भारतीय महिलाओं ने उनके स्वागत में मंगल-गीत गाये। काश्मीर और गोवा की समस्याओं पर भी इन नेताओं ने दृष्टि डाली। काश्मीर को इन्होंने भारत का एक भाग बताया तथा गोवा को यह घोषित किया कि वह भारत को छोड़कर किसी अन्य का हो ही नहीं सकता। उन्होंने राज-धानी में आयोजित भारतीय औद्योगिक मेले को देखा तथा यह देखकर बड़े प्रभावित हुए कि भारत किस प्रकार शनैः शनैः औद्योगिक दृष्टि से प्रगति कर रहा है तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एवं आर्थिक सहकारिता में एक व्यापक क्षेत्र प्रशस्त कर रहा है। भारत के शांतिपूर्ण प्रयासों, सिद्धान्तों एवं राजनीतिक-आर्थिक-सांस्कृतिक प्रतिनिधियों की मुक्त कंठ से सराहना की। हवाई जहाज एवं रेल द्वारा इक्कीस दिनों के भीतर उन्होंने हजारों मील जमीन नाप डाली एवं भारतीय जनता का 'शीतल जल फल-फूल' वाला आतिथ्य ग्रहण कर तृप्त हो गये।

१३ दिसम्बर १९५५ को ८॥ बजे अखिल भारतीय रेडियो के दिल्ली केन्द्र से प्रसारित भाषण में मार्शल बुल्गानिन ने कहा कि हम कल इस देश से विदा हो रहे हैं जो अपने आतिथ्य के लिए प्रसिद्ध है। हम इस देश और इसके निवासियों की अनेक सुखद स्मृतियाँ सदैव अपने हृदय में संजोये रहेंगे। जिस मैत्री भाव से आप लोग हमसे मिले और जिस स्नेह के साथ

आपने हमारा हार्दिक स्वागत किया, वह भुलाया नहीं जा सकता। हमने अपनी इस यात्रा में भारत के अनेक नगर और प्रदेश देखे। हमने वे स्थान देखे जहाँ निर्माण के महान् कार्य हो रहे हैं। बम्बई, कलकत्ता, बंगलोर, मद्रास और सिन्द्री के औद्योगिक कारखाने देखे, कृषि-विकास के केन्द्र देखे, अनेक वैज्ञानिक संस्थाओं के बारे में जानकारी प्राप्त की और प्राचीन वास्तु-कला के अनेक भव्य स्मारक देखे। हमें आपके इस बहु-जातीय राष्ट्र की जनता के जीवन और कार्य से और उसकी संस्कृति से परिचित होने का अवसर मिला।

हम यहाँ की जनता के उत्साह और उसकी स्फूर्ति, उसके प्रफुल्लित नवयुवक और नवयुवतियाँ, उसकी प्रतिभा और दक्षता, शांति के लिए और सभी शांतिप्रिय राष्ट्रों के साथ सहयोग के लिए उसकी चिर-आकांक्षा देख कर सबसे अधिक प्रभावित हुए हैं और इन सब की हमारे हृदय पर एक अमिट छाप अंकित हो गयी है। जहाँ भी हम गये भारतीयों ने हमारा हृदय से स्वागत सत्कार किया। हमने यहाँ हर स्थान पर सोवियत संघ की जनता के प्रति मैत्री का सच्चा और गहरा भाव पाया।

राजनीतिक स्वाधीनता के इन कुछ वर्षों में भारत ने बड़े-बड़े काम कर दिखाये हैं। अब भारत महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को सुलझाने में महत्वपूर्ण योग दे रहा है। हमने स्वयं अपनी आँखों से देखा है, भारत ने अपनी अर्थ व्यवस्था के विकास और औद्योगिक निर्माण में भी महान् सफलताएँ प्राप्त की हैं। मुझे खेद है कि समयाभाव के कारण हम सारे निमंत्रण स्वीकार नहीं कर सके और सब स्नेहपूर्ण संदेशों का उत्तर नहीं दे सके। प्रिय मित्रों, आपको एकबार फिर धन्यवाद ! नमस्कार !

अखिल भारतीय रेडियो दिल्ली के प्रसारण भवन में केन्द्रीय सूचना एवं प्रसारण मंत्री डाक्टर बालकृष्ण विश्वनाथ केसकर ने अन्य उपहारों के साथ महात्मा गाँधी की प्रार्थना सभाओं के प्रवचनों के रिकार्ड भी भेंट किये। उन्हें उनकी भारत-यात्रा के विवरण के कुछ रिकार्ड तथा रामचरितमानस के पाठ और सरल संगीत के कुछ रिकार्ड भी भेंट किये।

साथ ही ऐसे चित्रों के संग्रह भी भेंट में दिये गये जिनमें भारत के जीवन और विविध विकास कार्यों पर प्रकाश डाला गया है।

भारत और रूस की मैत्री को ऐतिहासिक घोषित करते हुए दिल्ली रेडियो से श्री क्रुश्चेव ने कहा—यहाँ आकर हमने जो कुछ देखा और अनुभव किया, उसकी हमने कभी कल्पना तक न की थी। भारत की जनता के साथ हमारी भेंट इतनी सुखदायी रही, जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता। अपने हृदय के उद्‌गारों को शब्दों में व्यक्त कर पाना हमारे लिए कठिन है।

हम इस मैत्री को सुदृढ़ बनाना चाहते हैं जो इतिहास की छाया में पली, पनपी और निरंतर घनिष्ट होती जा रही है। भारत और सोवियत संघ की मैत्री बढ़ना दोनों देशों की उन्नति और प्रगति में तथा विश्व शांति को चिरस्थायी बनाने में सहायक सिद्ध होगा। विभिन्न राष्ट्रों के साथ हमारे सुविख्यात पाँच सिद्धान्तों पर आधारित हैं जिनका अब अनेक देश पालन कर रहे हैं। हमें इस बात पर बड़ी प्रसन्नता होगी कि हमारे भारतीय मित्र अधिक से अधिक संख्या में हमारे देश आयें और हमारी जनता के जीवन, कार्य और अनुभव से परिचित हों। हमारी जनता आप का हृदय से स्वागत करेगी। मित्रों, विदा फिर मिलेंगे।

१४ दिसम्बर १९५५ को प्रातः काल पालम हवाई अड्डे पर रूसी नेताओं को विदा करते हुए प्रधान मंत्री श्री जवाहर लाल नेहरू ने कहा—मेहमानों और प्रिय दोस्तों श्री बुल्गानिन और क्रुश्चेव; 'कुछ दिन हुए जब आप यहाँ पहुँचे थे और हिन्दुस्तान की जमीन पर पहली बार कदम रखे थे। इस दर्म्यान में जो कुछ दिन गुजरे वे ऐतिहासिक रहे हैं और हमारी तवारीख में इसकी चर्चा जरूर होगी। जिंदगी की सफर में हम एक मंजिल तक पहुँच चुके हैं, जो मकसद हैं उनके करीब आये हैं। वे मकसद क्या हैं, जाहिर है हम लोगों की तरक्की और दुनिया के साथ दोस्ती। जो हमारे पड़ोसी देश हैं, उनसे रिश्ता सहयोग का बढ़ेगा। जैसा आपने कल शाम को फर्माया था, हमारी दोस्ती ऐसी नहीं जो किसी मुल्क के खिलाफ हो। हर एक से हम

दोस्ती बढ़ाना चाहते हैं। हर एक से प्रेम और मुहब्बत के ताल्लुक पैदा करना चाहते हैं। हमारी और रूस की दोस्ती में एक विशेष बात है, वह यह है कि हम एक दूसरे के विचारों की कद्र करते हैं, हालांकि हमारे कई ख्यालात और राय अलग अलग हैं, इसी तरह दुनियाँ में एक दूसरे से दोस्ती होती है, सहयोग होता है। हम दूसरों के विचारों के मुताबिक आगे बढ़ें, एक दूसरे के तजुर्बे से लाभ उठायें। यह माने हैं उस पंच शील के जिसकी चर्चा आप सुनते हैं। मुझे यकीन है कि दुनियाँ के मुल्कों पर इसका अच्छा असर पड़ेगा। जब हमारे दिल साफ हैं और हम दोस्ती की निगाह से सबको देखते हैं तो गलत फहमियाँ मिट जाती हैं, हमें इसीलिए सचाई से चलना है।

× × याद दिलाने की बात है कि आप दोनों हिन्दुस्तान के अनेक शहरों में गये। उसके अनेक रूप देखे, अनेक शक्लें, पुराने और नये बेशुमार हिन्दुस्तान के चेहरे देखे, लाखों आँखों में हिंदुस्तान की झलक पायी। मैं एक छोटा अदना सा टुकड़ा क्या कह सकता हूँ। कुछ इस हिंदुस्तान की शक्लें देख कर आपने अंदाज किया होगा। पुराने ही नहीं, नये जमाने की आरजुएँ, ख्वाहिशें हैं कि हम बढ़ना चाहते हैं।

आप के रुख्सत का वक्त अब करीब सा आ गया है। रुख्सत का वक्त चाहे नहीं हुआ, मालूम होता है कि अपना एक टुकड़ा अलग हो गया, लेकिन आप को बड़े-बड़े काम हैं। हमें भी बड़े-बड़े काम हैं। अपनी अपनी जगह पर हम लोगों को बहुत काम करने हैं। इसलिए मैं अपनी सरकार की तरफ से और हिंदुस्तान के लोगों की तरफ से और अपनी तरफ से शुक्रिया अदा करता हूँ कि आप यहाँ आये, मुहब्बत से रहे और हर तरह से आपने इजहार मदद की है। ये दिन जो गुजरे हैं, मेरा ख्याल है कि हिन्दुस्तान को याद रहेंगे। आप जो कुछ यहाँ से ले जा रहे हैं, वह लेते जाइये, मगर एक कीमती चीज भी लेते जाइये। वह है हिन्दुस्तान की मुहब्बत का पैगाम। फिर आखिरी बार मैं वही रूसी अलफाज दोहराता हूँ, जिसके माने हैं कि जब तक आप फिर से आयेंगे, तब तक हम इन्तजार करेंगे।

: ८० :

भारतीय उद्योग मेला (प्रदर्शिनी)

'वसुधैव कुटुम्बकम्' के सिद्धान्त को व्यवहारिकता प्रदान करते हुए पं० जवाहर लाल नेहरू ने जिस 'पंचशील' की भावना को जन्म दिया है उसमें 'सह-अस्तित्व' विशेष उल्लेखनीय है। इसी 'सह-अस्तित्व' का व्यवहारिक प्रयोग मथुरा रोड नई दिल्ली में आयोजित भारतीय उद्योग मेला (प्रदर्शिनी) है जो कई महीनों तक भारतवर्ष का गौरव एवं सम्पूर्ण विश्व की चर्चा का विषय बना रहा। उद्योग-मेलों की परंपरा भारत के लिए नई नहीं है। उखड़े हुए हृदयों को जोड़ने या मिलाने के लिए ही 'मेलों' की स्थापना हुई थी। धार्मिक मेलों के लिए तो भारत विश्वविख्यात है, उद्योग-मेलों की परंपरा में इतने विशाल आकार-प्रकार एवं विराट आयोजन से समन्वित यह उद्योग-प्रदर्शिनी भारत के लिए एक दम नयी एवं ऐतिहासिक वस्तु है।

यह अन्तर्राष्ट्रीय औद्योगिक प्रदर्शिनी भारतीय इतिहास की एक अपूर्व अद्वितीय घटना है। इतनी विशाल प्रदर्शिनी संभवतः रूस को छोड़ कर किसी भी एशियाई देश में अब तक नहीं आयोजित हुई। इसमें विश्व के २१ उद्योग-प्रधान राष्ट्र अपनी संपूर्ण शक्ति एवं साधनों सहित प्रदर्शित हुए। भारत सरकार के पूर्ण समर्थन से फेडरेशन आफ् इंडियन चेम्बर्स आफ् कॉमर्स एण्ड इण्डस्ट्री द्वारा संगठित भारतीय औद्योगिक प्रदर्शिनी एशिया में आयोजित आज तक सब से बड़ी प्रदर्शिनी है। इसकी विदेशी शाखा में इक्कीस राष्ट्रों तथा अनेक व्यवसायिक संस्थाओं का प्रतिनिधित्व किया गया था जिसमें अत्यंत आधुनिकतम वस्तुएँ प्रदर्शित की गयीं थीं। इसमें आस्ट्रिया, बेल्जियम, बर्मा, चीन, चेकोस्लोवकिया, पूर्व जर्मनी, फ्रांस, हंगरी, ईराक, इटली, जापान, नदेरलैंड, पाकिस्तान, पौलेण्ड, रूमानिया, ब्रिटेन, संयुक्तराज्य अमेरिका, सोवियत यूनियन, पश्चिम जर्मनी और यूगोस्लाविया आदि देशों के पृथक् पृथक् राष्ट्रीय

मंडप थे। भारतीय शाखा में संगठित भारतीय उद्योगों का व्यापक प्रतिनिधित्व हो रहा था। स्टैंडों पर दर्शकों को भारत की औद्योगिक प्रगति एवं प्रथम पंचवर्षीय योजना के प्रभाव के स्पष्ट चित्र दिखलाये गये थे। छोटे उद्योग धंधे एवं कुटीर उद्योग किस प्रकार राष्ट्रीय अर्थ व्यवस्था में सहायता कर रहे हैं, इन सब की पूर्ण झांकी भारतीय शाखा में प्रस्तुत थी। अन्यान्य आकर्षणों के अन्तर्गत टेलीविजन ब्राडकास्ट, सौर मण्डल का प्रतिरूप, भाकरा और हीराकुंड बाँधों के माडल आदि प्रस्तुत किए गये थे।

भारतीय उद्योग मेला स्वतन्त्र भारत के आर्थिक पुर्ननिर्माण का एक सचेष्ट कदम है। अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक क्षेत्र में भारत का क्या सहयोग है, इसके द्वारा भली भाँति जाना जा सकता है। किस प्रकार आज का स्वतंत्र भारत विश्व के अन्य राष्ट्रों से कंधे से कंधा मिलाकर भुखमरी, गरीबी एवं बेकारी को जड़ के मिटा देने के लिए व्यापक औद्योगिक युद्ध कर रहा है, इसका प्रत्यक्ष प्रमाण इस प्रदर्शिनी के अतिरिक्त अन्यत्र कहाँ मिल सकता था? इस प्रदर्शिनी के आयोजन-स्थल के विस्तार की तुलना सौ वर्ष पूर्व लंदन में आयोजित प्रथम विश्व प्रदर्शिनी से की जा सकती है। भारत सदैव से ही शांति का समर्थक एवं अग्रगामी रहा है। यदि विश्व के अन्य राष्ट्र शांति एवं अन्तर्राष्ट्रीय सहकारिता की सैद्धांतिक चर्चा मात्र करते हैं तो भारत उसे व्यवहारिकता प्रदान कर विश्व के सन्मुख एक नवीन आदर्श प्रस्तुत करता है। विश्व के अनेक राष्ट्रों के बीच आर्थिक सहकारिता बढ़ाने का यह मौलिक प्रयोग सचमुच सराहनीय है।

इस मेले के विस्तार को शब्दों में नहीं बांधा जा सकता, इसे तो वही जान सकता है जिसकी आँखों को इसे देखने का सौभाग्य मिला हो। लगभग अस्सी एकड़ के विस्तार को समेटने वाला यह मेला अपनी व्यापकता में सानी नहीं रखता। इस मेले के स्टाल एवं मण्डप बनाने में प्रतिदिन बीस हजार मजदूरों एवं कुशल कर्मचारियों का दल कई सप्ताह तक व्यस्त रहा। इस मेले को देखने के लिए दर्शक को १२ मील भूमि की परिक्रमा करनी पड़ती थी। मेले का संपूर्ण भूमि-भाग पार्कों, फुहारों एवं

कृत्रिम झीलों से सुसज्जित किया गया था। झील के तट पर स्थित मनोहारी जल पान गृह नंदन वन की सी सुरम्य छटा विखेर रहा था। दो हजार टन से भी अधिक लोहा और इस्पात तथा सौ हजार फीट लम्बी कार्डबोर्ड से यहाँ के मण्डप और स्टाल बनाये गये थे। इन सबके निर्माण में लगभग पाँच करोड़ रुपये व्यय किये गये थे।

मेले के प्रवेश द्वार से भीतर जाते ही दर्शक किसी दूसरे लोक में अपने को अनुभव करने लगता था क्योंकि उसकी रुचि एवं मन को आकर्षित करने के लिए सैकड़ों आकर्षण वहाँ उपस्थित थे। कोई कोई दर्शक तो अपनी चेतना तक खो देते थे, स्वयं को भूल जाते थे एवं एक अज्ञात प्रेरणा वश मंत्राभिषिक्त आगे बढ़ते जाते थे। इक्कीस प्रधान राष्ट्रों ने अपनी श्रेष्ठतम साधनाओं का प्रदर्शन इस मेले में किया था। औद्योगिक आविष्कारों की अनेकता दर्शकों को अपनी ओर अभिभूत कर रही थी। सर्वसाधारण के लिए टेक्निकल सेक्शन विशेष महत्व का था। वह बड़ी-बड़ी भीमकाय मशीनों के आगे मानवीय बुद्धि पर विचार करता हुआ स्तंभित सा खड़ा रह जाता था। अणुयुग की देनों को देखकर उसे अपनी नगण्यता का भान होने लगता था। यांत्रिक कक्ष से बाहर निकलने पर उसे ऐसा आभास मिलता था कि अभी तक वह न जाने किस अज्ञेय लोक की सैर करता रहा है, जहाँ पर मानवीय सहानुभूति एवं सम्वेदना का स्थान ही नहीं था।

इस औद्योगिक प्रदर्शिनी में सब से विशाल सोवियत मण्डप था जिसका क्षेत्रफल १७००० वर्ग मीटर था। मण्डप के अन्तर्गत पाँच हाल (Hall) थे। मुख्य हाल में प्रवेश करते ही रूस-यात्रा के समय लिए गए पंडित नेहरू के आदमकद फोटो दो महान् राष्ट्रों की घनिष्ठता एवं सुदृढ़ मैत्री के प्रतीक थे। हाल के १४ मीटर के अर्द्धवृत्त में सोवियत संघ के समस्त सोलह जनतंत्रों के राज्यचिह्न थे। मध्य में जनतन्त्र संघ के संस्थापक लेनिन की वृहदाकार मूर्ति थी।

एक हाल में समस्त औद्योगिक संस्थाओं तथा पृथक् कारखानों के नमूने प्रदर्शित किये गये थे। आधुनिक वायवीय भट्ठा का नमूना विशेष रूप

से रोचक था जिसमें सोवियत धातु विज्ञान की उच्च कोटि की टेकनीक विस्तार के साथ प्रदर्शित की गयी थी। इसमें छोटे और बड़े जल-विद्युत स्टेशन, ताप शक्ति-चालित बिजली घर, १५,००० किलोवाट क्षमता का टर्बोजेनेरेटर, १०५,००० किलोवाट का हाईड्रोजेनेरेटर, अनाज उठाने की मशीन तथा बिजली के रेलपथ प्रदर्शित किये गये थे। लेनिनग्राद में तैयार किये गये आधुनिकतम ढंग के करघे, और छापेखाने की मशीनें, गार्की स्थित मोलोतोव मोटर वर्क्स की गाड़ियाँ, रोलर और बील बायरिंग का एक बड़ा सैट, बिजली की वेल्डिंग मशीनें, विद्युत मापक यंत्र, सिनेमा प्रोजेक्टर आदि दिखाये गये थे। एक अन्य हाल में चिकित्सा संबंधी आधुनिकतम सामान, रेडियोलाज, टेलीविजन सैट वाद्ययंत्र आदि थे।

सुरुचिपूर्ण साज से चीनी मंडप सर्वोत्तम था। इस मंडप का सबसे अधिक मनोहारी अनुकरणीय आकर्षण भव्य पोशाक में सुसज्जित चीनी-बंधुओं का हिन्दी बोलना था। वे दर्शकों को हिन्दी के माध्यम से प्रदर्शित वस्तुओं का ज्ञान करा रहे थे। भारतीयों के हृदयों पर अधिकार करने के लिए उनकी यह मनोवैज्ञानिक विजय सचमुच स्पृहणीय थी।

भारतीय मंडप में कृषि उद्योग, यातायात एवं परिवहन की झाँकियाँ विस्तार के साथ प्रदर्शित की गई थीं। मोटर-उद्योग का प्रदर्शन विशेष रूप से आकर्षण का केन्द्र था। भारत में बनी मोटरें एवं मोटर साइकिलें भारतीय गौरव एवं कार्य कुशलता का प्रतिनिधित्व कर रही थीं। छोटे पैमाने पर आयोजित कुटीर उद्योगशालाओं के एक कक्ष में प्रथम पंचवर्षीय योजना द्वारा हुई प्रगति का प्रदर्शन किया गया था। इस प्रकार के उद्योग भारतीय बेकारी को दूर करने के अचूक साधन सिद्ध हुए हैं। इसके अतिरिक्त अन्य आकर्षण की वस्तुएँ थीं जो फुटकर ढंग से बेंची जा रही थीं।

अमेरिकन कक्ष में सुसज्जित टेलीविजन विशेष रूप से दर्शकों के आकर्षण का केन्द्र था, सारा मंडप नयनाभिराम रंगबिरंगे विद्युत-प्रकाश से जगमगा रहा था जिसे देखकर परी-देश का भ्रम हो रहा था। संपूर्ण मेले

को हल्के ढंग से देखने के लिए कम से कम तीन दिन और भली भाँति देखने के लिए एक सप्ताह का समय भी कम था।

भारतीय उद्योग मेले की महत्ता तो निर्विवाद है ही, हर एक दृष्टि से इसका महत्व आज के युग में उल्लेखनीय है। आज के इस अणुयुग में जब कि सारा संसार सामूहिक प्रति स्पर्द्धा एवं तनातनी की दूषित भावनाओं से व्यग्र है, पंचशील के प्रचारक भारत ने शत्रु-मित्र को एक ठौर एकत्र कर पारस्परिक मनोमालिन्य को अंशतः कम करने का क़दम उठया है। संसार का ध्यान युद्ध की विभीषिका एवं विनाश से हटा कर शांति एवं निर्माण की ओर खींचा है। भारत ने इस मेले में सारे विश्व को आमंत्रित किया, अपनी औद्योगिक एवं हस्तकौशल की पूरी झाँकी उपस्थित की ताकि यह पता स्पष्ट रूप से चल जाय कि संसार की तीव्रगामी प्रगति के बीच हमारी क्या स्थिति है? हमें अभी क्या क्या करना है, विश्व को हम क्या सहयोग दे सकते हैं? विश्व के नूतन निर्माण में हम किस प्रकार हाथ बँटा सकते हैं? इस प्रकार संसार एवं भारत की वर्तमान गतिविधि से जानकारी प्राप्त करने की यह औद्योगिक प्रदर्शिनी एक शक्तिशाली माध्यम बन कर आयी है। हमें इस प्रदर्शिनी की तड़क-भड़क, आँखों को चकाचौंध कर देने वाली रंग बिरंगी बिजली की रोशनी में ही न खो जाना चाहिए बल्कि अधिक गहराई में उतरने की आवश्यकता है, इस मेले के द्वारा भारत की नयी पीढ़ी के मष्तिष्क पर शीघ्रता से सर्वांगीण उन्नति करने के जिस संकल्प की रचना हुई है, वह इस देश की भावी समृद्धि में सहायक सिद्ध होगा।

कुल मिलाकर यह औद्योगिक प्रदर्शिनी अपने ढंग की बेजोड़ थी किन्तु फिर भी कुछ न कुछ कहने को शेष रह ही जाता है। हर एक वस्तु प्रकाश के साथ एक क्षीण अंधेरा अपने पीछे छिपाये रहती है, इस प्रदर्शिनी में भी कुछ त्रुटियाँ थीं जो प्रदर्शिनी के सुखद आनंद में बाधक बन गई थीं। प्रदर्शिनी में प्रायः नुमायशी वस्तुएँ ही प्रदर्शित की जाती हैं। उनकी जानकारी दर्शकों को प्रायः नहीं होती तभी तो वे आश्चर्य-विस्फारित मुद्रा में उन वस्तुओं को देखा करते हैं। इस प्रदर्शिनी के

विदेशी प्रदर्शन गृहों में कक्ष की वस्तुओं की जानकारी कराने वाले प्रायः उदासीन या मौन रहते थे। केवल चीन या सोवियत प्रजातंत्र के प्रदर्शन गृह के व्यक्ति सक्रिय थे। कई प्रदर्शन कक्ष ऐसे थे जहाँ पूछे जाने पर भी संतोष जनक उत्तर नहीं मिलता था या उत्तर भी मिलता था तो अधूरा और वह भी अंग्रेजी में, दुर्भाग्य से भारतीय कक्ष में भी अंग्रेजी का दौरदौरा था। स्टालों पर नियुक्त कर्मचारी प्रदर्शिनी में आने वाले दर्शकों की परवाह न करके अपनी मौज में मस्त थे। कहीं कहीं तो नियुक्त व्यक्ति स्वयं उस विषय में बिल्कुल कोरे थे, और वे किसी प्रश्न के उत्तर में एक छपा हुआ विज्ञापन संबंधी कागज पकड़ा देते थे। अमेरिकन कक्ष की स्टालों में नियुक्त युवतियाँ स्वेटर बुनने में तल्लीन थीं, वे दर्शकों को कुछ बताने की अपेक्षा अपने को सौंदर्य-शालिनी सिद्ध करने की चेष्टा में विशेष सजग थीं। इस प्रकार की उदासीनता एवं बातचीत का माध्यम अंग्रेजी एक सामान्य भारतीय के लिए भारस्वरूप हो सकता है, एवं दिल्ली तक जाने के व्यय को वह भलीभाँति जानकारी न पा सकने के कारण कष्ट साध्य मान बैठे तो कुछ अनुचित नहीं। फिर भी गृह प्रदर्शिनी विश्व के बीच मैत्री भावना को विकसित करती हुई संसार की समृद्धि सुख-शांति में एक नूतन प्रयोग कर सकी है, इसमें किसी को आपत्ति नहीं हो सकती। निस्संदेह इतिहास के औद्योगिक पृष्ठों में इस प्रदर्शिनी का वर्णन विस्तार के साथ किया जायेगा और भविष्य के लिए औद्योगिक पथ को प्रशस्त करने के लिए यह प्रकाश स्तंभ का काम देगा।

: ८१ :

द्वितीय पंचवर्षीय योजना

प्रथम पंचवर्षीय योजना का कार्यकाल प्रायः समाप्त होने को है इस योजना से हमारी अर्थ व्यवस्था में पर्याप्त सुधार हुआ है, मुद्रा प्रसार में

स्थिरता आयी है, चीजों के चढ़े हुए भाव गिर गये हैं तथा अन्न और कच्चे माल की कमी अंशतः दूर न होकर प्रर्याप्त मात्रा में हुई है। अनाज की उपज में लगभग २७% की वृद्धि हुई है। एक लाख सत्तर हजार एकड़ और जमीन की सिंचाई की जाने लगी है। देश की बिजली तैयार करने की शक्ति में दस लाख किलोवाट की वृद्धि हुई है। स्वास्थ्य, शिक्षा, परिवहन, एवं संचार-साधनों में पर्याप्त प्रगति हुई है। व्यापार में संतुलन स्थापित हुआ है फिर भी देश की बढ़ती हुई आवश्यकताओं को देखते हुए यह प्रगति आंशिक ही है, रोजगार के साधनों में अपेक्षाकृत अल्पवृद्धि ही हुई है। रहन सहन के स्तर में भी कोई विशेष वृद्धि नहीं हुई। इन अभावों को दूर करने के लिए द्वितीय पंचवर्षीय योजना का निर्माण किया गया है, इसकी कच्ची रूपरेखा प्रोफेसर पी० सी० महलनिर्वास ने प्रस्तुत की है।

प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत अनाज और कच्चे माल की कमी को दूर करने के लिए कृषि, सिंचाई, तथा अन्य लाभप्रद योजनाओं को प्रधानता दी गई थी किंतु इस योजना में औद्योगिक विकास पर विशेष बल दिया जा रहा है जिससे हमारे भावी आर्थिक जीवन की जड़ें शक्तिशाली बन सकें।

योजना के उद्देश्य—जनता के सुख और समृद्धि की वृद्धि के लिए

(१) अधिकतर उत्पादन
(२) अधिकाधिक रोजगार
(३) आर्थिक विषमता का अन्त

इस योजना में भौतिक दृष्टिकोण को प्रधानता दी गयी है। गरीबी और बेरोजगारी की समस्याओं को हल करने के लिए इस योजना में विशेष साधन प्रस्तुत किये जायंगे। प्रथम योजना के द्वारा अन्न, वस्त्र, चीनी और कुछ अन्य वस्तुओं की खपत में पर्याप्त वृद्धि हुई है फिर भी पोषक आहार, कपड़ा, स्वास्थ्य सुविधाओं, मकान और शिक्षा संस्थाओं की दृष्टि से अभी भी भारत को काफी प्रगति करना है। यहाँ के निवासियों के लिये संतुलित

भोजन की दृष्टि से विटामिन युक्त पौष्टिक भोजन जुटाने की आवश्यकता है। यहाँ पर प्रतिवर्ष प्रति व्यक्ति कपड़े की खपत १५ गज है जब कि मिश्र एवं वैस्टइंडीज़ ऐसे छोटे देशों में १८ और २२ गज है अतः १९६० तक प्रतिव्यक्ति कपड़े की खपत कम से कम १८ गज करने की सिफारिश 'वस्त्र जाँच समिति' ने की है। शहरों में मकानों की बेहद कमी है। इस योजना में ३० लाख नए मकान निर्माण की योजना है। १९५०-५१ में ६ से १४ वर्ष तक के आयु के लगभग ३२% विद्यार्थी स्कूल जाते थे, अब उसमें ८% की वृद्धि हो गयी है। हमारे संविधान के निर्देशात्मक सिद्धान्तों के अनुसार राज्य को दस वर्ष में १४ वर्ष तक की आयु के सभी बच्चों को अनिवार्य और मुफ्त शिक्षा का प्रबन्ध कर देना अनिवार्य है। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में ६०% विद्यार्थियों के लिए शिक्षा का प्रबन्ध किया गया है। स्वास्थ्य में भी अस्पतालों, डाक्टरों, पलंगों एवं स्वास्थ्य सेवा सहकारियों की संख्या में पहले से पर्याप्त वृद्धि कर देने की योजना बनाई गई है।

राष्ट्रीय आय—भारतीय जनता के जीवन स्तर को ऊँचा उठाने के लिए उत्पादन को बढ़ाना आवश्यक है। इस योजना में राष्ट्रीय आय में २५% की वृद्धि का अनुमान है। पहली पंचवर्षीय योजना से १० से १५ प्रतिशत तक की वृद्धि का अनुमान है। राष्ट्रीय आय में वृद्धि होने से रहन-सहन के स्तर में सुधार होना स्वाभाविक है।

उद्योगों पर बल—प्रथम पंचवर्षीय योजना में कुल व्यय का ४४ प्रतिशत भाग कृषि संबंधी सुधारों के लिये निश्चित कर दिया गया था किन्तु द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत लोहा, इस्पात, खनिज, भारी मशीनें, बिजली के सामान और मूल रसायन आदि उद्योगों पर सबसे अधिक व्यय किया जायगा। मुख्य रूप से मूल उद्योगों की उन्नति बड़ी पूंजी लगाकर सरकारी क्षेत्र में की जायगी इसलिये आगे चलकर राज्य को बैंक और बीमे का काम, मुख्य मुख्य वस्तुओं का देशी और विदेशी व्यापार और उपभोग की कुछ विशेष वस्तुओं का उत्पादन भी हस्तांतरित करना होगा। गैर सरकारी क्षेत्रों को पूरी और खुली छूट न देकर राज्य का हस्तक्षेप अनिवार्य

होगा। कृषि, घरेलू उद्योग धंधों को तो छूट रहेगी ही।

रोजगार के अवसर :—भारत की जनसंख्या में प्रति वर्ष ४५ लाख की वृद्धि होती है एवं प्रतिवर्ष १८ लाख नए लोगों को काम का प्रबंध करना पड़ता है। इस प्रकार द्वितीय पंचवर्षीय योजना के द्वारा देश की बढ़ती उग्र बेकारी की समस्या को हल करने के लिए अगले पाँच वर्षों में यह लक्ष्य निर्धारित किया गया है कि अगले पाँच वर्षों में एक करोड़ से एक करोड़ बीस लाख व्यक्तियों को रोजगार का अवसर प्रदान किया जाय। प्रो० महलनबीस के कथनानुसार 'रोजगार बढ़ाने के विषय में हमारी मूल नीति यह होगी कि लोहा, इस्पात, मूल मशीन, रासायनिक खाद, बिजली, सिंचाई और रेल आदि सरकारी क्षेत्र के मूल उद्योगों पर बहुत सा धन खर्च किया जायगा और स्वास्थ्य, शिक्षा, अनुसंधान, समाज कल्याण, सामाजिक सुरक्षा, सांस्कृतिक कार्यों और खेल कूद आदि विकास कार्यों पर भी व्यय बढ़ेगा। इन सबसे रोजगार की वृद्धि होगी, क्रय शक्ति बढ़ेगी और चीजों की माँग बढ़ जायगी। यह माँग बड़े बड़े कारखानों द्वारा नहीं वरन् छोटे और घरेलू उद्योग धंधों से पूरी की जायगी।'

मूल उद्योग :—भारत के खनिज लोहे की मात्रा संसार में सबसे अधिक तथा अमेरिका से तिगुनी हैं फिर भी यहाँ १० लाख टन के लगभग ही इस्पात का उत्पादन होता है जबकि अमेरिका प्रतिवर्ष २३ करोड़ टन का उत्पादन करता है अतः अगली पंचवर्षीय योजना में लोहे की केवल तीन नए कारखाने खोलने की योजना है, क्योंकि १० लाख टन का एक नया इस्पात का कारखाना खोलने के लिये १०० करोड़ रुपये की लागत लगती है। छोटे और घरेलू उद्योग धंधों से बड़े उद्योगों को जिनकी पूँजी लगाने पर उससे पंद्रह बीस गुना अधिक लोगों को काम मिलता है, देश की आर्थिक गति में तीव्रता आती है अतः इन उद्योग धंधों को पूर्ण रूप से प्रोत्साहन दिया जायगा। कारीगरों को बिजली तथा आधुनिक मशीनों की सुविधा देने का प्रयत्न किया जायगा जिससे प्रत्येक कारीगर की उत्पादन शक्ति में वृद्धि होने से देश के धन में समृद्धि हो सके।

समाजवादी व्यवस्था :—देश ने समाजवादी ढंग की सामाजिक व्यवस्था स्थापित करने का आदर्श अपनाया है। ऐसे समाज की स्थापना जिसमें उत्पादन के प्रमुख साधन राज्य के अधिकार या नियंत्रण में हों, उत्पादन की दिनोंदिन वृद्धि हो तथा राष्ट्रीय धन का न्यायपूर्ण वितरण हो। योजना के प्रारूप में यह सुझाव दिया गया है कि किसान की भूमि की अधिकतम सीमा निश्चित कर दी जाय और इस प्रकार जो भूमि बचे उसे अधिक से अधिक १९५८ तक किसानों में बाँट दी जाय। देश के साधनों का उपयोग नये उद्योगों की स्थापना में किया जायगा। देश की कर व्यवस्था इस प्रकार की होगी जिससे बढ़ती हुई राष्ट्रीय आय का अधिकाधिक भाग पूँजी निर्माण एवं समाज कल्याण के कार्यों के लिए उपलब्ध हो सकेगा। मृत्युकर एवं लाभ कर लगा कर लोगों की अधिकतम एवं न्यूनतम आय की खाई पाटी जायगी। समाज की असह्य आर्थिक विषमता को दूर करने के लिए उच्च-वर्ग की विलासिता का निषेध किया जायगा, मितव्ययिता सिखाई जाय, अधिक मात्रा में शुल्क लगाकर अनावश्यक प्रसाधन सामग्री एवं विलासिता की वस्तुओं का आयात सीमित कर दिया जायगा। देश में सामाजिक सेवाओं का व्यापक विस्तार लिंग जाति धर्म या माता पिता की सामाजिक विषमता को भूलकर किया जायगा। स्त्रियों एवं पिछड़े वर्ग के लोगों को शिक्षा के लिए छात्रवृत्तियाँ दी जाँयगी। डाक्टरी सुविधाओं के सिलसिले में गाँवों के लिए राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा की स्थापना की जायगी। बाल अपराधियों, गूँगे बहरों, अपाहिजों के कल्याण के लिए सुविधाओं का प्रबन्ध किया जायगा। मजदूरों की शिक्षा-दीक्षा, खेल कूद एवं मनोरञ्जन का प्रबन्ध किया जायगा तथा निर्वाहनिधि (प्रविडेन्ट फंड) की योजना का और भी अधिक विस्तार किया जायगा।

योजना मंत्री श्री गुलज़ारीलाल नंदा के शब्दों में "इनमें से प्रत्येक उद्देश्य अलग से पूरा कर लेना शायद इतना कठिन न हो पर हमारा ध्येय तो यह है कि ये तीनों उद्देश्य एक साथ पूरे हों, देश में समाजवादी ढंग की सामाजिक व्यवस्था कायम करने के हमारे प्रयत्न का यही सार है।"

द्वितीय पंचवर्षीय योजना का कार्य काल अप्रैल १९५६ से मार्च १९६१ तक का है। इसमें सरकारी तथा गैर सरकारी क्षेत्र में मिलाकर ५६०० करोड़ रुपये खर्च करने का अनुमान है। सरकारी क्षेत्र में ३४०० करोड़ रुपया तथा गैर सरकारी क्षेत्र में २२०० करोड़ रुपया व्यय होगा। इसके अतिरिक्त ९०० करोड़ रुपये ग्राम विकास, शिक्षा, राष्ट्र निर्माण आदि कार्यों पर चालू व्यय के रूप में व्यय होगा। इस प्रकार सरकारी क्षेत्र व्यय की रकम ४३०० करोड़ रुपये हो जायगी।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना बड़े वेग से राष्ट्रीय बचत बढ़ाने में सहायक सिद्ध होगी, साथ ही सार्वजनिक पूँजी बढ़ायेगी। यदि पंचवर्षीय योजना कृषि प्रधान थी तो इसे हम उद्योग प्रधान कह सकते हैं।

इस योजना की सफलता के बारे में लोग तरह तरह की शंकायें करते हैं। शंकालुओं का कहना है कि विश्वास नहीं होता कि इतनी बड़ी धनराशि कहाँ लगाई जायगी। यहाँ पर यह जान लेना अनुपयुक्त न होगा कि प्रथम पंचवर्षीय योजना में भी अनुमानित व्यय से कम ही खर्च हुआ है।

इस योजना में भारत की राष्ट्रीय आय का १० प्रतिशत लग जायगा जब कि प्रथम पंचवर्षीय योजना में केवल ४ प्रतिशत ही लग सका। इस दस प्रतिशत आय लगने के लिए जनता एवं राज्य का अधिक सहयोग आवश्यक है, अन्यथा योजना को कार्यान्वित कर सकना सम्भव न होगा। प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्त में राष्ट्रीय आय कुल ११००० करोड़ रुपये होगी जिसका दस प्रतिशत ११०० करोड़ रुपये प्रति वर्ष होता है, पाँच वर्ष में योग ६००० करोड़ रुपये आयेगा जबकि हमारी राष्ट्रीय आय प्रति वर्ष ५ प्रतिशत प्रगतिशील हो जाय।

अत्यधिक कर लगाने की नीति व्यक्तिगत बचत को निरुत्साहित कर रही है। भय है कि कहीं अनुमानित व्यक्तिगत पूंजी की रकम भी राज्य को अपनी सार्वजनिक पूँजी में सम्मिलित न करना पड़ जाय। यदि ऐसा हुआ तो योजना की सफलता की आशा नहीं के बराबर है। यह सत्य है कि विदेशी सहायता से मिलने वाली रकम अधिक प्राप्त हो सकेगी पर यदि

विदेशों की ओर आशा न लगा कर हम अपनी आंतरिक शक्ति पर निर्भर रहें तो कहीं अच्छा हो।

सब से बड़ा भय अर्थ व्यवस्था के असंतुलित हो जाने का है। इस योजना में हम भारी उद्योगों पर अधिक जोर दे रहे हैं पर इन कारखानों द्वारा उत्पादित कल-पुरजों के लिए, आवश्यक वस्तुओं के उत्पादनार्थ कल-कारखानों पर हमारा ध्यान कम है। हमारी यह अत्यंत त्रुटिपूर्ण नीति होगी। आर्थिक नीति को संतुलित बनाने के लिए आवश्यक है कि ऐसी योजना बनाई जाय जिससे उत्पादन की खपत भी हम स्वयं कर सकें।

इस योजना के द्वारा देश ने समाजवादी ढंग की सामाजिक व्यवस्था कायम करने का ध्येय अपनाया है और वह भी संसदीय लोकतन्त्र उपायों को अपना कर माननीय नंदा जी के कथनानुसार "भारत में योजना का उद्देश्य रहन-सहन का स्तर उठाना मात्र ही नहीं है, उसका ध्येय देश में ऐसी लोकतंत्र व्यवस्था कायम करना है जो हमारी आवश्यकताओं को पूरा करती हुई हमारे अपने व्यक्तित्व को प्रतिविम्बित कर सके। स्वतन्त्र और सामाजिक न्याय के आधार पर हम ऐसे समाज की स्थापना करना चाहते हैं जिसके अन्तर्गत व्यक्ति एवं समुदाय को अधिकतम स्वतन्त्रता प्राप्त हो।"

पूँजीवादी तथा सर्वाधिकारवादी व्यवस्थाओं को त्रुटिरहित बनाने के लिए आवश्यक है कि उद्योगों का विकेन्द्रीकरण किया जाय, सत्ता पुंजीभूत न होकर सर्वत्र वितरित रहे, प्रादेशिक एवं स्थानीय योजना उपक्रम को प्रोत्साहन दिया जाय।

इस प्रकार द्वितीय पंचवर्षीय योजना समूचे राष्ट्र के लिए एक चुनौती है। इसका सफलता पूर्वक सामना करने के लिए व्यापक रूप से प्रयत्न करना आवश्यक है।

: ८२ :

वर्तमान बिक्री कर और उसका औचित्य

किसी भी देश के निवासियों की सुख-समृद्धि उनके जीवन स्तर तथा क्रयशक्ति के द्वारा मापी जाती है। अभी युद्धकालीन मँहगाई से सर्वसाधारण को मुक्ति न मिली थी, जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन अन्न और कपड़े के मूल्यों में आंशिक गिरावट ही आई थी कि वजनदार बिक्री करों के समूहों ने जनता के चित्त को डांवाडोल कर दिया। हम यह शांत चित्त से स्वीकार करते हैं कि इस प्रकार के करों द्वारा अन्ततः जनता का ही हित होगा किंतु सीमा के बाहर जाकर अन्न और नमक ऐसी वस्तुओं पर कर लगाने की सोचना कहाँ की बुद्धिमानी है। नमक-कर के विरुद्ध तो बापू ने अपनी सारी शक्ति लगाकर व्यापक सत्याग्रह किया किंतु अपने ही देश में बापू के ही चरणों पर चलने वाले लोगों ने नमक पर कर लगाने की सोची किंतु सफलता न मिल सकी।

बिक्री कर के सम्बन्ध में गाँधी जी के मत को जान लेना यहाँ पर अधिक उपयोगी होगा। 'मैं जानता हूँ कि प्रायः लोग यह चाहते हैं कि बिक्री-कर लगाया ही न जाय। इस बात के पक्ष में बहुत कुछ कहा गया है, किन्तु कोई भी सरकार जो इस प्रकार के विरोधों को मान ले, कायम नहीं रह सकती। इसलिए ऐसी बहस में न पड़ना ही बुद्धिमानी है।

बिक्री कर कई सूबों में लागू है, किसी कर की बुराई या भलाई जाँचने की सच्ची कसौटी यह है कि उसका भार गरीबों पर न पड़े। यह भी देखना चाहिए कि टैक्स से जो रुपया जमा हो, वह जनता की भलाई के लिए खर्च किया जाय। जनता की एक आदत का खास तौर से ध्यान रखना चाहिए— वह किसी भी टैक्स को पसन्द नहीं करती। जहाँ अच्छी हुकूमत है, वहाँ टैक्स देने वाले का रुपया बेकार नहीं जा सकता है। यह सच है कि यह साबित नहीं किया जा सकता कि हर टैक्स से क्या लाभ है। समाज जितना उन्नत होता जाता है और सरकार के कर्त्तव्यों में जितनी वृद्धि होती है

उतना ही टैक्स देने वालों को यह बताना कठिन हो जाता है कि टैक्स के रुपये से उन्हें क्या लाभ पहुँच रहा है किंतु इसमें कोई सन्देह नहीं कि टैक्स का उद्देश्य जनता की भलाई में होना चाहिए और बिक्री-कर को हमें इसी कसौटी पर जाँचना चाहिए।'

गाँधी जी के इस मत से हमें दो आवश्यक निष्कर्ष मिलते हैं—

(१) टैक्स का भार गरीबों पर न पड़े अर्थात् जीवन की अनिवार्य आवश्यक वस्तुएँ बिक्री-कर से सर्वथा मुक्त हों क्योंकि गरीबों की आमदनी का ८०% प्रायः इन्हीं पर व्यय होता है।

(२) टैक्स का उद्देश्य जनता की भलाई में होना चाहिए। इतना अधिक बिक्री-कर न लगा दिया जाय कि सर्व साधारण को भार स्वरूप मालूम पड़ने लगे।

गत ४ अप्रैल १९५६ को जब कि बिक्री-कर के अध्यादेश के विरुद्ध प्रान्त व्यापी हड़ताल बड़े जोरों से चल रही थी प्रयाग की एक विराट सभा में, एक लाख श्रोताओं के समारोह में प्रधान मंत्री जी ने बिक्री-कर के विषय में अपना मत इस प्रकार प्रकट किया :—

'ऐसा कर भी नहीं लगाना चाहिए, जिससे जनता की कमर ही टूट जाय।' उनके भाषण से ऐसा ज्ञात होता था कि वे खाद्यान्नादि जीवनोपयोगी आवश्यक वस्तुओं पर कर लगाने के पक्ष में नहीं हैं।

भारत में सर्व प्रथम बिक्री-कर विशिष्ट बिक्री-कर के रूप में लागू किया गया था। सन् १९३८ में यह पेट्रोल कर के रूप में मध्य प्रदेश में लगाया गया। तत्पश्चात् मोटर में प्रयुक्त होने वाले तेल तथा चिकनाहट उत्पन्न करने वाले पदार्थों पर जारी किया गया। बहुपदीय कर व्यवस्था के रूप में सन् १९३९ में यह मद्रास में लागू किया गया तथा १९४१ में बंगाल में एक पदीय व्यवस्था के रूप में लागू हुआ। सन् १९४६ से १९४८ तक का समय बिक्री-कर के दृष्टिकोण से विशेष महत्त्वपूर्ण है। पहली अप्रैल सन् १९४८ के पूर्व ही बिक्री-कर के अधिनियम को बम्बई, आसाम, मध्यप्रदेश, उड़ीसा के प्रान्तों में एक पदीय कर व्यवस्था के रूप में तथा उत्तर प्रदेश में

बहुपदीय कर व्यवस्था के रूप में लागू कर दिया गया। १६४८ के अंत तक तो 'ब' श्रेणी तथा अवशिष्ट प्रदेशों तक में इसकी पहुँच हो गई। उत्तर प्रदेश में सम्पूर्ण बिक्री की वार्षिक रकम १५००० रुपये पर यह कर लगाने का आदेश दिया गया। समय-समय पर इस नियम में संशोधन भी होते रहे। अनाज, दाल, आटा, गुड़, मछली, नमक, कोयला, लकड़ी, मिट्टी का तेल, घानी का तेल तथा कागज आदि इस कर से सर्वथा मुक्त रहे। इसके अतिरिक्त सोना-चाँदी, सिक्के, रूई की रद्दी, चमड़े, दवाइयाँ और हुक्के की तम्बाकू आदि वस्तुएँ वार्षिक शुल्क लेकर कर से मुक्त कर दी गईं। कुछ वस्तुओं पर एक पदीय व्यवस्था के अनुसार तीन पाई तथा ६ पाई प्रति रुपये बिक्री-कर निर्धारित किया गया। सन् १६४८ में ६ पाई और एक आना प्रति रुपया कर की जगह ६ पाई प्रति रुपया कर लागू किया गया। सन् १६५२ में बीड़ी, दियासलाई, सन के सामान तथा खाँड-सारी चीनी पर एकपदीय कर व्यवस्था के आधार पर ६ पाई प्रति रुपया कर लागू किया गया तथा चुरुट, सिगरेट, पाइप की तम्बाकू आदि पर ६ पाई प्रति रुपये के हिसाब से कर लागू किया गया। इस वर्ष के परमावश्यक माल अधिनियम के अन्तर्गत :—खाद्यान्न तथा सब प्रकार की दाल जिसमें पावरोटी, आटा, मैदा, सूजी, भूसी, मांस, मछली, अंडे आदि सीलबंद डिब्बों में बेंची जाने वाली वस्तुओं पर कर लगाया गया, खुली बेंची जाने पर वे कर-मुक्त थीं क्योंकि उनकी गणना जीवनोपयोगी वस्तुओं में की जाती थी। इसी प्रकार ताजे फल, दूध, मक्खन, घी, खाने योग्य तेल, गुड़, नमक, मांस मछली, कपास, रूई, मिल के बने कपड़े, चमड़ा, खाद, खेती के सामान, कोयला, मिट्टी का तेल, मोटर स्प्रिट, लोहा, फौलाद, किताब कापियाँ, स्लेट, पैंसिल, सामयिक पत्र-पत्रिकाएँ आदि जीवनोपयोगी वस्तुओं को कर से मुक्त करने की व्यवस्था की गई।

किंतु अब जो वस्तुएँ पहले बिक्री-कर से मुक्त थीं, उनमें से कई पर राज्यपाल द्वारा नए अध्यादेश के अनुसार कर लगा दिया गया। उनकी तालिका इस प्रकार है :—

एक आना कर वाली वस्तुएँ :—(१) मनुष्य अथवा पशुश्रम द्वारा चालित उपकरणों से भिन्न कृषि उपकरण (२) बाइसिकलें एवं उनके भाग (३) बीड़ी (४) हथकरघे के कपड़े के अतिरिक्त **सभी प्रकार के कपड़े, नमक** (५) सौंदर्य वर्धक एवं प्रसाधन की सामग्रियाँ (६) सभी प्रकार के रासायनिक द्रव्य (७) सिगार, सिग्रेट तथा पाइप की तम्बाकू (८) क्रोकरी, छुरी, काँटे, चीनी, मिट्टी के बर्तन (९) बिजली का सामान, फाउंटेनपेन, फर्नीचर' काँच की चूड़ियाँ, मोजे बनियाइनें, **मिट्टी का तेल, दियासलाई,** मोटर गाड़ियाँ, फोटो ग्राफी का सामान, रेफ्रीजेटर्स, इत्र तथा सुगंधियाँ। देशी शराब से भिन्न सभी प्रकार की शराबें तथा स्प्रिट, विभिन्न प्रकार की घड़ियाँ, रेडियो, ग्रामो-फोन तथा उनके भाग, एक्सरे मशीन एवं उससे सम्बद्ध सामान।

तीन पैसे कर वाली वस्तुएँ :—ईंट, सीमेन्ट, औद्योगिक ल्यूब्रीकेण्ट्स।

दो पैसे कर वाली वस्तुएँ :—खांडसारी शक्कर, उर्वरक, कपड़ा धोने का साबुन, सूत (हाथ से करते हुए सूत के अतिरिक्त)

एक आना फुटकर कर वाली वस्तुएँ :—भाँग, देशी शराब, गाँजा, अफीम।

इनके अतिरिक्त अन्य सभी वस्तुओं पर पहली अप्रैल सन् १९५९ से बिक्री कर लागू कर दिया गया है। यह कर दस हजार की वार्षिक बिक्री वाले सभी व्यापारियों पर लगेगा तथा प्रत्येक व्यापारी को दस रुपया फीस देकर रजिस्ट्री कराना होगी। इससे पहले रजिस्ट्री करवाना अनिवार्य नहीं था और फीस भी ६) वार्षिक थी। वार्षिक बिक्री की रकम पंद्रह हजार से घटाकर दस हजार कर दी गई है, इस चंगुल में तीस पैंतीस रुपैये की प्रति दिन बिक्री करने वाले सभी छोटे मोटे दूकानदार आ जाते हैं जिनकी मासिक आय मुश्किल से ६०,७० रुपये के लगभग होगी। साथ ही प्रत्येक व्यापारी को ४-५ रजिस्टर भरने होंगे। ऐसी स्थिति में दूकानदारों की क्या हालत होगी, वह सहज ही में जाना जा सकता है।

इस अध्यादेश में नियोजित बिक्री कर से उत्तर प्रदेशीय राज्य सरकार की आय ५॥ करोड़ से बढ़कर १२॥ करोड़ रुपये अवश्य हो जायगी किन्तु

इस सबका भार अन्ततः निर्धन उपभोक्ताओं पर ही पड़ेगा जिनकी आर्थिक कमर पहले से ही कमजोर है। दूकान से पेट न चल सकने के कारण दूकानदारों का बेकारी की सूची में नाम लिखवाना भी संभव है, उस समय सरकार के सामने एक नयी किन्तु बड़ी जटिल समस्या आ जायगी जिसका मुकाबला एक सिरदर्द मोल लेना होगा। विकास योजनाओं के नाम पर जनता के ऊपर इतना अधिक भार डाल कर कर-वसूल करने का सिद्धान्त लोक-तंत्र के युग में न्याय संगत नहीं कहा जा सकता। लोक-तंत्र में जनता की आवाज का जबरदस्त मूल्य होता है, इसकी अवहेलना नहीं की जा सकती। यों तो मिट्टी का तेल, नमक और खाद्यान्न ऐसी जीवनोपयोगी वस्तुएँ गरीब-अमीर सभी के काम आती हैं किन्तु निर्धन व्यक्तियों की आय का तीन चौथाई से भी अधिक भाग ले लेती हैं, एक तो वैसे ही खाये अघाये नहीं होता था, कर भार को सम्हालने की शक्ति कहाँ है, क्रय शक्ति के निरंतर ह्रास में भयंकर असंतोष फैलेगा। श्रम-शक्ति क्षीण होने से भुख-मरी, गरीबी एवं व्यर्थ के अनेकों उत्पात खड़े हो जायंगे।

१७ मई १९५६ को उत्तर प्रदेश की विधान सभा में बिक्री कर संशोधन विधेयक पास हो गया, इसमें ७ किस्म के मोटे अनाज कर से मुक्त कर दिये गये। वित्त तथा विद्युत मन्त्री हाफिज मुहम्मद इब्राहीम ने विधेयक को तृतीय वाचन के लिए पेश करते हुए घोषित किया कि ११ किस्म के अनाजों में से ७ को बिक्री कर से मुक्त कर दिया गया है, इनमें समई, कोदो, मडुवा, खेसार आदि शामिल हैं, शेष चार किस्म के मोटे अनाजों पर से कर हटाने का मामला सरकार के विचाराधीन है। मन्त्री महोदय ने कहा कि हमें राज्य के विकास के लिए धन की जरूरत पड़ेगी। प्रथम पंचवर्षीय योजना में राज्य की काफी तरक्की हुई है। राज्य खाद्यान्न के मामले में आत्मनिर्भर हो गया है और प्रति व्यक्ति की वार्षिक आय बढ़कर २७७ रुपये हो गयी है। श्री शिवनाथ काटजू ने कहा कि राज्य के विकास के लिए जनता किसान किसी प्रकार इसका भार वहन करेगी परन्तु अब कर नहीं लगना चाहिए।

२१ मई १९५६ को विधान परिषद में वित्त मन्त्री ने १२ अन्य वस्तुओं से जिनमें कुछ अनाज भी सम्मिलित हैं, बिक्री कर हटाये जाने की घोषणा की। बिक्री कर से मुक्त वस्तुएँ इस प्रकार है :—ज्वार, कुट्ट, भुना हुआ चना, रामदाना, सूखा सिंघाड़ा, खली, बिनौला आदि। उन्होंने बताया कि सरकार व्यापारियों द्वारा वार्षिक बिक्री कर की सीमा को १२००० से बढ़ा कर ३०,००० रुपये करने के प्रश्न पर विचार कर रही है तथा सरकार एक-पदीय बिक्री कर लगाने के प्रस्ताव पर भी विचार कर रही है। उन्होंने कहा कि राज्य सरकार अन्तर राज्य जटिलताओं को दूर करने के लिए भारत सरकार से एक सम्बद्ध योजना के लिए समझौता वार्ता कर रही है। सरकार राज की आय में मितव्ययिता करने के लिए सभी आवश्यक क़दम उठा रही है।

सरकार ने ज्ञान विज्ञान की प्रसारिका पुस्तकों एवं अखबारी कागज पर भी बिक्री कर लगा दिया था जो सचमुच प्रगति के रास्ते में एक रोड़ा था किन्तु शीघ्र ही उसने अपनी गलती सुधार ली और इन वस्तुओं को कर से मुक्त कर दिया। हम यह नहीं कहते कि बिक्री कर लगना ही न चाहिए। करों का लगना भी उन्नत समाज का लक्षण है किंतु ध्यान यह रखना चाहिए कि कर भार को वहन करने वालों में शक्ति है या नहीं। जीवनोपयोगी अनिवार्य वस्तुओं को कर से सर्वथा मुक्त कर विलासिता एवं सौंदर्य प्रसाधन की वस्तुओं पर कर लगाना अनुचित न होगा एवं इस प्रकार नए करों का भार निर्धन वर्ग पर न पड़ कर उन पर पड़ेगा जो उसके वहन करने में पूर्ण सक्षम होंगे।

: ८३ :

भारतीय रेल-उद्योग और उसकी प्रगति

आज के व्यस्त युग में जब कि विज्ञान ने असीमित दूरी को सीमित बनाकर सुदूर के समस्त देशों को 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की पंक्ति में लाकर

खड़ा कर दिया है, रेलगाड़ी की उपयोगिता हमारे जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओं में से एक है। प्रतिदिन लाखों व्यक्तियों को एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाने वाली ये रेलगाड़ियाँ यातायात एवं वहन के अतिरिक्त लाखों व्यक्तियों की जीविका का भी साधन हैं। लाखों व्यक्तियों के पारस्परिक सहयोग से ही रेलगाड़ियों का संचालन किया जाता है। लाखों व्यक्ति रेल के कारखानों में काम करते हैं, पटरियों की देख-भाल करते हैं, रेलों के प्रशासनिक कार्यालयों में काम करते हैं। सौभाग्य से भारत की रेल-व्यवस्था एशिया में सबसे बड़ी है और विश्व में इसका चौथा स्थान है। संसार की जिन रेलों का राष्ट्रीयकरण हो चुका है, उनमें इसका दूसरा स्थान है।

भारतीय रेलों में लगभग दस लाख व्यक्ति काम करते हैं, उनमें से दो लाख बाइस हजार के लगभग कारखानों में काम करते हैं। इससे कहीं दुगुने पटरियों की देखभाल, मरम्मत और गाड़ियों के ठीक तरह से आने जाने का प्रबन्ध करते हैं, लाखों प्रशासनिक कार्य एवं केबिनों तथा कंट्रोलों में जमे हुए हैं। इन्हीं सब के सम्मिलित सहयोग से रेलें प्रतिदिन ३५ लाख यात्रियों को ढोकर एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचाती हैं।

भारत में रेल मार्गों का कुल विस्तार ३४ हजार ७०५ मील है, इसी आधार पर भारत का रेल-उद्योग एशिया में सबसे बड़ा है और संसार के रेल-उद्योगों में इसका चौथा स्थान है। भारत में प्रायः सम्पूर्ण रेल व्यवस्था का राष्ट्रीयकरण हो चुका है, केवल ५५० मील के रेल-मार्ग का संचालन प्राइवेट कम्पनियों के हाथ में है। रेलों का राष्ट्रीयकरण की दृष्टि से प्रथम स्थान रूस का है और द्वितीय भारत का। रेल मार्गों की लम्बाई के हिसाब से भारत की रेल-व्यवस्था का स्थान एशिया में सर्व प्रथम है, दूसरा स्थान चीन का है और तीसरा जपान का।

रेल-मंत्रालय के आर्थिक सलाहकार श्री एल० ए० नटेसन ने रेल मार्गों के विस्तार के अनुसार, भारतीय रेलों की तुलना विदेश की कुल रेलों के साथ करते हुए जो आँकड़े प्रस्तुत किए हैं, वे इस प्रकार हैं:—

भारत	३४,७०५ मील
जापान	१२,४५६ ,,
चीन	१६,००० ,,
बर्मा	१,७८७ ,,
पाकिस्तान	७,०८२ ,,
ब्रिटेन	१६,१५१ ,,
कनाडा	४१,१५८ ,,
अमेरिक	२,२४,८१६ ,,
दक्षिणी अफ्रीका (१६५३-५४)	१३,४१३ ,,
फ्रांस	२५,६०० ,,
आस्ट्रेलिया (१६५३-५४)	२६,६३३ ,,

क्षेत्रफल के हिसाब से भारत में प्रत्येक सहस्र वर्ग मील में केवल २७ मील की दूरी में ही रेल चलती है। अमेरिका में यह औसत ७४ मील, ब्रिटेन में २०४ मील, कनाडा में १२ मील, फ्रांस में १२० और जापान में ८७ मील है। जनसंख्या के आधार पर भारत की औसत ६ लाख की आबादी पर केवल ६ मील में ही रेल चलने का पड़ता है। अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस, कनाडा तथा जापान में क्रमशः यह औसत १३८, ३७, ६०, २७२ तथा १४ मील का पड़ता है।

वर्ष भर की रेल यात्रा, माल की ढुलाई आदि का विवरण श्री नटेसन साहब ने आँकड़ों में इस प्रकार प्रस्तुत किया है। यह विवरण सन् १९५४-५५ का है :—

देश	यात्री	यात्री मील	माल ढुलाई (टनों में)
भारत	१३,००,२२४	३,८६,४६,३१२	१,१५,११७
ब्रिटेन	६,६१,१६३	२,०७,१२,०००	२,८३,४६८
कनाडा	२७,३८८	२७,५३,६५१	१,३३,५४४

अमेरिका	४,३६,३५६	२,६२,८६,००८	२२,६७,६६६
फ्रांस	५,००,३००	१,६५,०६,८०१	१,६६,५२८
जापान	३५,४६,६६५	५,१६,१६,०१२	१,४७,१५२

इस विवरण के अनुसार जापान की रेलों को छोड़कर भारतीय रेलों में ही यात्रा करने वाले यात्रियों की संख्या अधिक रही। अमेरिका में कम यात्रा करने का कारण मोटर-यात्रा का प्रचलन है। भारतीय रेलों द्वारा अन्य देशों की अपेक्षा कम माल ढोये जाने का कारण औद्योगिक विकास का पिछड़ापन है। प्रगति की दृष्टि से १६३८-३६ की तुलना में १६५४-५५ में रेल-यात्रियों की संख्या लगभग तिगुनी रही। पहले एक व्यक्ति की रेल-यात्रा का औसत लगभग १.५ प्रति वर्ष था, अब यह बढ़कर ३.४ हो गया है। १६३८-३६ में यदि भारत में १०० व्यक्तियों ने रेल से यात्रा की तो १६५४-५५ में २८७ व्यक्तियों ने। किन्तु ब्रिटेन में रेल यात्रियों की संख्या में १८% की कमी हुई है। स्मरण रहे भारत में बस-यात्रा की वृद्धि के साथ ही रेल-यात्रा में आशातीत वृद्धि हो रही है इससे भारतवासियों के रहन सहन के स्तर एवं आर्थिक स्थिति की प्रगति का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में रेल-विस्तार के विस्तृत उद्योगीकरण का प्रयत्न किया जा रहा है। रेलवे मंडल के अध्यक्ष श्री जी० पाण्डेय ने दूसरी पंचवर्षीय योजना को दस लाख रेल-कर्मचारियों के लिए एक चुनौती घोषित किया है। इस योजना के अन्तर्गत रेलों के विस्तार का एक विशाल कार्य-क्रम तैयार किया गया है।

प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत भारतीय रेलों को पुनर्व्यवस्थित करने का प्रयत्न किया गया था। पुराने इंजनों एवं रेलगाड़ी के डिब्बों तथा सामान को बदलने का काम हुआ था। इस योजना में रेल-उद्योग के लिए चार अरब रुपये की व्यवस्था की गई थी परंतु कुल व्यय चार अरब बत्तीस करोड़ रुपये हुआ जिसमें दो अरब चालीस करोड़ रुपया केवल इंजन आदि खरीदने में ही खर्च हो गया। इन रुपयों से १५८६ इंजन, ४८३७ सवारी

डब्बे और ६१,७७३ माल डब्बे खरीदे गये। युद्ध के समय बन्द हुई रेलवे लाइनें खोली गईं। बारह नई लाइनें खोली गईं। इंजन निर्माता चितरंजन कारखाने ने प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत २६८ इंजनों के निर्माण का अनुमान लगाया था किंतु १९५५ तक ३३७ इंजन तैयार कर अपनी कार्यकुशलता का अद्भुत परिचय दिया। पेराम्बूर का रेल के डिब्बे वाला कारखाना भी प्रगति के पथ पर है।

आर्थिक स्थिति की दृष्टि से रेल-उद्योग काफी सफल रहा। १९५१-५२ में रेलों की वास्तविक आय दो अरब ९४ करोड़ १४ लाख रुपये हुई थी। १९५५-५६ के बजट में ३ अरब १४ करोड़ १० लाख की आय का अनुमान लगाया गया था। योजना के प्रथम तीन वर्षों में कार्य-संचालन के व्यय में वृद्धि हुई। १९५३-५४ में यह व्यय ८५.०२ प्रतिशत तक पहुँच गया था, परंतु चौथे वर्ष यह स्थिति सँभली और यह व्यय ८१.७४ प्रतिशत हो गया।

दूसरी योजना के उद्देश्य :—इस योजना के अन्तर्गत रेल-उद्योग की प्रगति के लिए ११ अरब २५ करोड़ रुपये स्वीकार किया गया है जिस में से पौनेचार अरब रुपया रेलों को अपनी आय से लगाना होगा। आमदनी की वृद्धि होने पर रेलवे विभाग इस योजना में आवश्यकतानुसार प्रगति कर सकता है। ११.२५ अरब रुपये से १५ प्रतिशत अतिरिक्त यात्रियों तथा ४ करोड़ ७० लाख टन अधिक माल के ढोने की व्यवस्था होगी। माल ढोने की शक्ति में वृद्धि होने से इस्पात उद्योग की वृद्धि के लिए ढाई करोड़ टन कोयले और अन्य कच्चे माल की ढुलाई की समस्या हल हो जायगी। इसके अतिरिक्त ६० लाख टन कोयला और ४० लाख टन सीमेंट और ढोया जा सकेगा। प्रति वर्ष रेल यात्रियों की संख्या में तीन प्रतिशत वृद्धि करने की व्यवस्था की जायगी। इस योजना के अन्तर्गत नयी रेल लाइनें बिछाने का व्यापक आयोजन अर्थाभाव के कारण नहीं हो सका है, अभी लगभग ८५० मील लाइन बिछाने का ही अनुमान लगाया गया है जिनमें मुजफ्फरपुर, दरभंगा, रामशाही-बिन्नागुरी, बरासेत-बसीर-हाट और गुना-उज्जैन लाइनें मुख्य हैं।

रेलों के लिए स्वीकृत ११.२५ करोड़ रुपये व्यय करने की व्यवस्था इस प्रकार की गई है। ३८० करोड़ रुपया डब्बे खरीदने पर, लगभग ६६ करोड़ रुपया नयी रेल लाइन बिछाने पर, और १०० करोड़ रुपया रेल-लाइनों को सुधारने तथा उन्हें शक्तिशाली बनाने में व्यय किया जायगा। दोहरी लाइनें बिछाने तथा प्रमुख रेलयार्डों के पुनर्निर्माण के लिए १६६ करोड़ रुपये की व्यवस्था की गई है। पुराने रेल-कारखानों के पुनर्निर्माण तथा नए रेल-कारखाने बनाने के लिए ६५ करोड़ रुपये की व्यवस्था की गई है। ८५० मील की लम्बी लाइनों पर बिजली द्वारा रेल चलाने पर ८० करोड़ रुपये खर्च किए जाँयेगे। कई स्थानों पर डिज़ेल इंजिन चलाने की भी व्यवस्था की जायगी। रेल यात्रियों को अधिक से अधिक सुविधा देने का प्रयत्न किया जायगा। रेल-कर्मचारियों के लिए मकान बनवाने तथा उनकी कल्याण योजनाओं के लिए ५० करोड़ रुपये की व्यवस्था की गयी है।

भारतीय रेल-उद्योग की इस प्रकार की आश्चर्यजनक प्रगति को देखकर स्वतंत्रता-प्राप्ति से पूर्व जून १९४७ का वह दिन याद आ जाता है, जब भारतीय रेल-इंजीनियरों का एक प्रतिनिधि मंडल केंद्रीय सरकार के तत्कालीन स्वराष्ट्र मंत्री सरदार पटेल से मिलने गया था और उन्होंने बातचीत समाप्त हो जाने पर यही प्रश्न पूछा था कि 'यदि सभी ब्रिटिश रेल अधिकारी एक साथ छोड़कर चले जाँय तो क्या आप भारतीय अफसर रेलों का काम चला सकेंगे ?' उस समय रेलों की जीर्ण अवस्था को देखते हुए भी चितरंजन इंजन कारखाने के जनरल मैनेजर श्री करनैल सिंह ने बड़े हौसले एवं साहस के साथ कहा था—'जनाब हम बहुत अच्छी तरह काम करके दिखायेगें। मुझे विश्वास है कि उनसे भी अच्छी तरह नहीं तो उनकी ही तरह तो हम रेलें जरूर चला ले जायेंगे। अगर वे सभी चले जायेंगे तो रेलों के कुछ विभागों में वास्तव में काफ़ी कठिनाई हो जायगी, लेकिन हमें विश्वास है कि हम अवश्य सफल होंगे।'

कहना नहीं होगा कि स्वतंत्रता प्राप्त होते ही रेल-यातायात को देश

विभाजन के कारण जो अग्नि परीक्षा देनी पड़ी, वह उसमें सफल रहा। अनेक आपत्तियों का सामना करते हुए ४० लाख विस्थापितों को रात दिन एक करके अपने नए और अपूर्ण प्रशिक्षण से भारत पहुँचाना हँसी-खेल नहीं है। इसी प्रकार आसाम से रेल-संबंध स्थापित करने का प्रयास भी कम सराहनीय नहीं है। इसकी प्रशंसा अमेरिका के पत्र 'रेलवे-प्रोग्रेस' ने अपने संपादकीयस्तंभ में मुक्तकंठ से इस प्रकार की थी :—

'मलेरियाग्रस्त इलाकों और जंगलों में रेल मार्ग बनाकर और अलग पड़े आसाम को भारत के साथ मिलाकर भारतीय रेल कर्मचारियों ने बहुत प्रशंसनीय कार्य कर दिखाया है।'

इस प्रकार भारतीय रेल-उद्योग की वर्तमान प्रगति को देखकर स्वर्गीय सरदार पटेल को अपने उस प्रश्न पर पश्चाताप हुए बिना न रहता जो उन्होंने आशंकित चित्त से श्री करनैल सिंह से पूछा था।

: ८४ :

स्वतंत्रता के नौ वर्ष

१५ अगस्त १९४७ हमारे भारतीय इतिहास का एक स्वर्णिम दिवस है। इसी दिन समस्त भारतवासियों को अपनी युगों से खोई हुई अमूल्य निधि प्राप्त हुई। हम विदेशी शासकों के अत्याचारों से मुक्त हुए। परंतु इस स्वतंत्रता का मूल्य हमारे लिये बहुत महँगा सिद्ध हुआ। लाखों व्यक्तियों के प्राणोत्सर्ग करने पर भी हम स्वयं अपनी विकट समस्याओं से पूर्ण रूप से मुक्ति न पा सके। ये समस्यायें आज तक हमारे समक्ष विशृंखल कड़ियों की भाँति फैली हुई हैं यद्यपि हमारी राष्ट्रीय सरकार ने इनमें से

अनेकों समस्याओं को हल कर लिया है और भविष्य में भी इस दिशा की ओर सतत जागरूक है। इस प्रकार अनेकों प्रकार के परिवर्तनों के बीच सांस लेते हुए स्वतंत्रता के देदीप्यमान शिशु ने अपने आठ वर्ष समाप्त किये।

गत आठ वर्षों में इसने काफी प्रगति की। इन्हीं वर्षों के अंतर्गत मध्यस्थ बनकर धनोपार्जन करने वालों एवं जमींदारी, मालगुजारी तथा जागीरदारी प्रथाओं का अंत हुआ जिनसे निर्धन जनता बुरी तरह से पीड़ित थी। आचार्य विनोबा भावे के अथक परिश्रम और सहयोग ने जनता को नवजीवन प्रदान किया तथा आर्थिक क्षेत्र में भी आश्चर्यजनक प्रगति हुई।

इसी प्रकार अनेक प्राचीन प्रणालियों में भी सुधार हुये। जैसे कृषि प्रणाली बहुत पुरानी थी अतः उत्पादन भी अल्प मात्रा में होता था। ऐसी स्थिति में हमारे गरीब किसानों के सामने अन्न के अभाव की सबसे प्रमुख समस्या उपस्थित थी। अत्यधिक संख्या में लोग भूखों मरते थे। स्वतंत्रता प्राप्ति के लिये हमको भारत का विभाजन करना पड़ा। इसे दो भागों में विभक्त किया गया। प्रथम पाकिस्तान, द्वितीय हिंदुस्तान। इस विभाजन के फलस्वरूप सिंचाई के साधन वाले भाग पाकिस्तान में चले गये जिससे खाद्य स्थिति की समस्या अत्यधिक विकट हो गई। सूती वस्त्र व जूट के कल कारखाने तो भारत में रह गये और इनके लिये कच्चा माल उत्पन्न करने वाले भाग पाकिस्तान में चले गये। विभाजन होने पर जनता को विशेष आपत्तियों का सामना करना पड़ा। लाखों व्यक्तियों को अपना घर-बार त्यागना पड़ा। दूसरी समस्या यह थी कि पाकिस्तान ने काश्मीर पर, जो कि भारत का ही एक भाग है, आक्रमण कर दिया। वहाँ पर युद्ध होने लगा। ऐसी संकटपूर्ण परिस्थिति में भारत के कुशल कर्णधारों ने अपनी बुद्धिमत्ता का पूर्ण परिचय दिया जिससे भारत गत सात आठ वर्षों में सर्वतोमुखी उन्नति के पथ पर अग्रसर हो सका है।

इसके अतिरिक्त सबसे महत्वपूर्ण भारतीय संविधान का निर्माण है। भारत में लोक सत्तात्मक गणतंत्रीय संविधान का निर्माण हुआ है। यह संविधान हमारी राष्ट्रीय एकता, समता, राजनीतिज्ञता तथा प्रतिभा का

प्रतीक है। २६ जनवरी १९५० से यह हमारे देश में लागू किया गया। इसमें जनता के जीवन के प्रत्येक पहलू पर ध्यान रखते हुए उसको धर्म, संप्रदाय, जाति-वर्ण, लिंग का भेद भाव न कर समान नागरिकता दी गई है। प्रत्येक नागरिक को भाषण व लेखन संबंधी, यातायात, पेशा, स्वतंत्रता, शिक्षा, भाषा व संस्कृति संबंधी बहुत से मौलिक अधिकार प्रदान किये गये हैं। योग्यता अथवा पद के अनुसार चुनाव में भाग लेने का भी अधिकार दिया गया है। १९५२ के चुनाव में १७॥ करोड़ मतदाता थे। विभिन्न व्यवस्थापक मंडलों के लगभग ४,००० सदस्य निर्वाचित किये गये। बाहर के देशों से भी भारतीय अधिकारी वहाँ चुनाव के संचालन के लिये आमंत्रित किये गये थे, यह हमारे लिए गौरव का विषय है।

दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य यह हुआ कि स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व जो छोटी-छोटी रियासतें इधर-उधर बिखरी हुई थीं उन ५६० देशी रियासतों का भारतीय संघ के साथ एकीकरण हुआ। इन रियासतों को आपस में मिलाकर एक संघ बनाया गया और संघ की स्वतंत्र इकाइयाँ बना दी गई। यह कार्य सरदार वल्लभ भाई पटेल के नेतृत्व में देशी नरेशों के साथ समझौते द्वारा संपन्न हुआ। १९५० में इन रियासतों का भारतीय संघ से एकीकरण भी हो गया। केवल काश्मीर का प्रश्न अभी तक निश्चित रूप से तय न हो सका है।

विभाजन के अवसर पर सांप्रदायिक झगड़ा होने के कारण ८५ लाख शरणार्थी भारत में चले आये थे। प्रतिवर्ष पूर्वी बंगाल से भी लाखों हिन्दुओं का आना जारी रहा। सरकार ने इनके रहने के लिये उपनगरों की स्थापना की तथा आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए नये-नये उद्योग-धंधे स्थापित किये, कृषि की दशा सुधारने के लिये नई भूमि व हल-बैल दिये। इसके अतिरिक्त उन्हें आवश्यक पूँजी और ऋण देने के लिये 'रिहैबिलिटेशन फाइनेन्स कार्पोरेशन' की व्यवस्था की गई। शरणार्थियों द्वारा छोड़ी हुई संपत्ति के लिये भी पाकिस्तान सरकार से समझौता हो गया। अब उस सम्पत्ति के बदले सरकार ने मुआवजा देना आरम्भ कर

दिया है। भारत सरकार ने किसानों को इस योग्य बना दिया है कि वे निराश्रित न रहकर स्वयं अपने पैरों पर खड़े रह सकते हैं।

देश में शरणार्थियों की संख्या में वृद्धि होने से खाद्यपदार्थों में कमी आ गई। सरकार ने इसकी पूर्त्ति के लिये भी विशेष ध्यान दिया, उत्पादन की वृद्धि के लिये पंचवर्षीय योजना निर्मित की। उत्तम बीज, खाद व कृषि की वैज्ञानिक प्रणाली के समुचित उपयोग द्वारा किसानों को उत्पादन में ज्यादा से ज्यादा वृद्धि करने के लिये उत्साहित किया। उन्हें आवश्यक सहायता प्रदान की। १९४७ ई० में एक केन्द्रीय ट्रेक्टर आर्गेनाइजेशन की स्थापना की गई जिससे लाखों एकड़ भूमि की जुताई व सफाई करके भूमि को खेती करने योग्य बनाया गया। सिंचाई के साधनों में भी काफी वृद्धि हुई, फलतः खाद्य स्थिति में सुधार हुआ। १९५१ ई० तक बाहरी देशों से कई लाख टन अन्न मँगाना पड़ता था किन्तु १९५४ तक विदेशों से अनाज मँगाना बंद हो गया। देश के सर्वतोमुखी विकास के लिये १९५१ से लेकर १९५६ तक के लिये भारत सरकार ने जो पंचवर्षीय योजना निर्मित की उसमें २,०६९ करोड़ रु० व्यय करने की व्यवस्था की गई। योजना के अन्तर्गत सिंचाई तथा कृषि के साधनों और विद्युत शक्ति को प्रथम स्थान दिया गया। १९५६-५७ से लेकर १९६२ तक के लिये द्वितीय पंचवर्षीय योजना बनाई गई है जिसमें ग्रामोन्नति तथा उद्योगों के विकास को प्राथमिकता दी जायगी।

विकास संबंधी योजनाओं में नदी-घाटी योजनाएँ भी बनाई गई हैं। इनकी कुल संख्या १३५ है। ऐसी योजना बाढ़ रोकने, सिंचाई, तथा विद्युत उत्पादन में विशेष सहायक सिद्ध होगी। वर्तमान काल में कार्यान्वित होने वाली योजनाओं में भाकरानंगल, हिराकुड, दामोदर घाटी योजनाएँ प्रधान हैं। इनके द्वारा ३६ लाख एकड़ भूमि सींची जा सकेगी तथा अन्न और रुई आदि के उत्पादन में अत्यधिक वृद्धि होने की आशा की जाती है। हिराकुड योजना से ११ लाख एकड़ भूमि की सिंचाई होगी और २४,००० किलोवाट विद्युत शक्ति प्राप्त होगी जो कल कारखानों को स्था-

पित करने में सहायक होगी। दामोदर घाटी से उत्पन्न होने वाली विद्युत शक्ति दक्षिणी बिहार व बंगाल से आने वाली बाढ़ों को रोकेगी। १९४७ से अब तक अनेकों राजकीय उद्योग व कारखाने स्थापित किये जा चुके हैं। इनमें रसायनिक खाद बनाने का कारखाना, रेल इंजनों के निर्माण का कारखाना, हवाई जहाज बनाने का कारखाना तथा मशीन औज़ार बनाने वाले कारखानों का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

: ८५ :

गोवा की समस्या

आज समस्त जनता तथा हमारी राष्ट्रीय सरकार के समक्ष गोवा की जटिल समस्या उपस्थित है जिसका निवारण करना सरकार का सर्व प्रथम कार्य है। यह समस्या बजाय सुलझने के उत्तरोत्तर उलझती ही जा रही है। राजनीतिक दलों की एकता ने इस समस्या को अत्यधिक महत्त्व-पूर्ण बना दिया है। गोवा हमारे भारतवर्ष का ही एक भाग है। अतः हम इसे विदेशी शासकों द्वारा पदाक्रांत नहीं रहने देना चाहते। सरकार भी उसे विदेशियों के आधिपत्य से मुक्त करने के लिये विशेष रूप से प्रयत्न-शील है।

किन्तु यह बड़े दुःख की बात है कि भारत को स्वतंत्रता मिलने के पश्चात् भी गोवा पर विदेशी शासकों का प्रभुत्व स्थापित है। सर्वप्रथम गोवा पर पश्चिमी साम्राज्यवाद ने आधिपत्य जमाया। उसे मुक्त करने का उत्तरदायित्व भारतीय जनता तथा भारत सरकार पर है। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् जनता ने यह कल्पना की कि अब भारत में केवल हमारा ही शासन होगा किन्तु उस समय भी भारत में कुछ विदेशी बस्तियाँ अवशेष थीं, जिनमें फ्रांसीसी शासन के अन्तर्गत पांडिचेरी, चन्द्रनगर और पुर्तगाली शासन के अधिकार में गोवा, दामन तथा ड्यू थे। फ्रांसीसी शासकों ने

भारत सरकार के विचारों से सहमत होकर अपना शासन उन्हें सौंप दिया किन्तु
पुर्त्तगाली शासकों ने ऐसा न किया, और न उन्होंने भारतीय सत्ता को
ही स्वीकार किया। पञ्चशील को भी उन्होंने अपनी सत्ता एवं स्वतन्त्रता में
बाधक माना और भारत सरकार को इस बात की चुनौती दी कि
बिना युद्ध किये गोवा पुर्तगाली शासन से मुक्त नहीं हो सकता। इस प्रकार
गोवा में स्वतन्त्रता-संग्राम का प्रारम्भ हुआ, जिसमें गोवा की जनता ने
अत्यंत महत्त्वपूर्ण भाग लिया है।

आंदोलन का प्रारम्भ गोवा की राजनीतिक पार्टियों तथा वहाँ की
जनता की नैसर्गिक स्वतन्त्र भावनाओं के सहयोग से हुआ। पुर्त्तगाली सर-
कार के अमानुषिक एवं कठोर अत्याचारों ने भारतीय जनता तथा सरकार
का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया। २३ जुलाई सन् १९५४ को 'गोवा
संयुक्त मोरचे' के महामन्त्री वामन देसाई ने घोषणा की—'स्वतंत्रता की
मशाल जल चुकी है और जब तक गोवा विदेशी शासन से मुक्त नहीं हो
जाता तब तक यह मशाल नहीं बुझेगी।' और उस समय से १५
अगस्त सन् १९५५ तक सम्पूर्ण नगर हवेली ने पुर्तगाली पराधीनता से
स्वयं को मुक्त कर लिया। इस आंदोलन में भारतीय जनता ने सत्याग्रह के
रूप में भाग लिया। १५ अगस्त को एक विशाल ज्वार के रूप में
मनुष्यों का जत्था अपनी मातृभूमि को पुर्तगाली तानाशाही से मुक्त कराने
के लिये अग्रसर हुआ। मनुष्यों के इस विशाल एवं अपार समुदाय में समस्त
भारत के कोने कोने से आये हुये देशभक्त सम्मिलित थे। मानव समुदाय
के इस प्रचण्ड ज्वार को रोकने के लिये पुर्तगाली प्रधान मंत्री सालाजार ने
जनता पर गोलियों की बौछार करवाई, किन्तु जनता अपने स्थान पर ज्यों
की त्यों अटल रही।

इस प्रकार गोवा मुक्ति का संकल्प लेने वाले ४९ भारतीय सत्याग्रहियों
ने १४ अगस्त की रात्रि में गोवा की सीमा में प्रवेश किया। हज़ारों सत्या-
ग्रहियों ने पुर्तगाली सीमा को घेर लिया। १५ अगस्त को ५ हजार
सत्याग्रहियों की छोटी छोटी टोलियों ने गोवा बस्ती में प्रवेश किया। प्रवेश

करने वाली टोलियों में गोवा के सत्याग्राहियों की संख्या पचीस हजार, दामन की दो हजार तथा ड्यू की दो सौ के लगभग थी। परन्तु पुर्तगाली शासकों ने इन शांतिपूर्ण सत्याग्राहियों के साथ बहुत ही निर्मम व्यवहार किया। बेचारे निहत्थे सत्याग्रहियों पर स्टेनगनों और मशीनगनों की गोलियाँ बरसायी गयीं। फलतः भारत में सभी राजनीतिक दलों ने भारत सरकार को सैनिक कार्यवाई करने के लिये कहा। इस युद्ध में ५६० सत्याग्राहियों को चारों ओर से घेर लिया गया तथा १५ व्यक्तियों को गोलियों से भून दिया गया और २२५ व्यक्ति घायल हुये। पुर्तगालियों ने अपनी निकृष्टतम पाशविकता का व्यवहार जनता की स्वातंत्र्य भावनाओं को कुचलने के उद्देश्य से किया था। अतः पुर्तगाली बस्ती की मुक्ति के लिये १५ अगस्त १६५४ से ही सत्याग्रह आंदोलन नियमित रूप से प्रारम्भ हुये। इन जत्थों के प्रमुख नेता श्री बी० जी० देश पांडे, श्री मधुलिमिये और ईश्वर लाल देसाई थे। पुर्तगालियों के इस नृशंस एवं अमानवीय व्यवहार को बढ़ते हुये देख कर गोवा विमोचन समिति ने १५ अगस्त को सामूहिक सत्याग्रह समाप्त करने का आदेश दिया। इसके उपरांत ४ सितम्बर को कांग्रेस की महासमिति ने भी दिल्ली के अधिवेशन में एक प्रस्ताव पास किया जिसमें भारतीय व्यक्तिगत अथवा सामूहिक सत्याग्रह करने का विरोध किया गया और यह भी बतलाया गया कि गोवा का मुक्ति संघर्ष केवल गोवा की जनता का ही मुक्ति संघर्ष हो, न कि अन्य किसी का। देश के अन्य राजनीतिक दलों ने कांग्रेस के निश्चय का विरोध किया। भारत के सत्याग्राही पुर्तगाली बस्तियों में जाने से रोक दिये गये फिर भी छोटे मोटे आंदोलन जारी रहे। ११ सितम्बर को आचार्य विनोवा भावे के एक प्रमुख शिष्य ने व्यक्तिगत सत्याग्रह किया।

भारत सरकार ने आर्थिक नाकाबंदी तथा अंतर्राष्ट्रीय जनमत के प्रभाव के द्वारा गोवा की समस्या को हल करना निश्चित किया। १ सितम्बर को गोवा से भारतीय वाणिज्यदूत वापस बुला लिया गया। दूतावासों को बंद करने का हुक्म दिया गया। इधर नाकाबंदी होने से पुर्तगाल में हलचल मच गई,

पाकिस्तान उसे पूर्ण रूप से सहायता देने के लिये प्रस्तुत हो गया। इसी बीच एक दूसरी कठिनाई उपस्थित हुई, वह यह कि गोवा की समस्या राष्ट्रीय ही नहीं रही, वरन् एक अन्तर्राष्ट्रीय समस्या बन गयी। मद्रास की एक सार्वजनिक सभा में भाषण देते हुए रूस के प्रधान मन्त्री बुल्गानिन ने कहा "भारत भूमि की सीमा में गोवा का पुर्तगाली बस्ती के रूप में बना रहना, मानवता के लिये लज्जास्पद है।"

गोवा की समस्या पर स्पष्ट रूप से भारत के पक्ष का समर्थन होने तथा उपनिवेशवादियों और साम्राज्यवादियों की तीव्र आलोचना एवं भर्त्सना होने से बड़ी अशांति उत्पन्न हो गयी। इसी समय पुर्तगाल तथा अमेरिका के परराष्ट्र मन्त्रियों ने एक संयुक्त वक्तव्य दिया जिसमें उन्होंने रूसी नेताओं द्वारा दिये गये भाषणों को, जो पुर्तगाल के सम्बन्ध में दिये गये थे, घृणित ठहराया। परन्तु इन नीतियों का भारत पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। अमेरिका में भी इस विषय पर कटु आलोचना तथा निन्दा हुई और गोवा का प्रश्न एक अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्न के रूप में उपस्थित हुआ, जिस पर विश्व की दो तिहाई जन संख्या का समर्थन भारत को प्राप्त है और इसका न्याय पक्ष भी भारत के साथ है। भारत ने कई बार इस बात की घोषणा भी की है कि गोवा पर कोई शक्ति अस्त्रशस्त्र का बल लेकर विजयी नहीं हो सकती, उसके लिये तो सब से बड़ा शस्त्र न्याय है, जिसके द्वारा हर एक उस पर विजय पा सकता है। विदेशों में भी इस आंदोलन के प्रति सहानुभूति बढ़ती जा रही है। ३० अगस्त १९५५ को तेजपूर की एक सार्वजनिक सभा में पण्डित जवाहर लाल नेहरू ने भाषण देते हुये कहा कि भारत गोवा पर पुर्तगाली शासन सहन नहीं कर सकता, वह उसे सुगमता के साथ शस्त्र बल अथवा सैन्य शक्ति द्वारा पुर्तगाली शासन से मुक्त कर सकता है, परन्तु ऐसा करना उसकी नीति के विरुद्ध है, क्योंकि उसकी नीति शांतिवादी है और वह समझौता, वार्ता तथा अन्य अहिंसात्मक उपायों से प्रत्येक समस्या को हल करना चाहता है। ऐसी ही अनेकों आर्थिक शक्तियाँ सम्मिलित रूप से गोवा मुक्ति के कार्य में निरत हैं।

सदस्य है। इन संस्थाओं में भी उसे वह सभी अधिकार प्राप्त हैं जो अन्य स्वतंत्र देशों को दिये गये हैं।

इस संविधान की एक अन्य विशेषता है उसकी लौकिकता अर्थात् धार्मिक विषयों में अहस्तक्षेप। इसका संपूर्ण विवरण नागरिक के मौलिक अधिकारों के अंतरगत दिया गया है। प्रत्येक नागरिक को अपने धर्म एवं संप्रदाय के विषय में पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त है। वह अपनी इच्छानुसार जिस धर्म को चाहे अपना सकता है। सरकार की ओर से किसी प्रकार के धार्मिक कृत्य के लिये बाध्य नहीं किया जा सकता और न तो धर्म के कारण किसी व्यक्ति को सरकारी सेवा से वंचित किया जायगा। परन्तु इस विषय में राज्य किसी संस्था आदि को सहायता नहीं देगा। कहने का तात्पर्य यह नहीं कि धर्म का राज्य से कोई प्रयोजन ही नहीं, वरन् इसका अर्थ यह होता है कि मनुष्य चाहे नास्तिक हो अथवा आस्तिक, हिन्दू हो अथवा मुसलमान राज्य के लिये सभी एक समान हैं, क्योंकि संविधान में अस्पृश्यता का अंत कर दिया गया है। हिन्दू हरिजनों को भी मन्दिरों, कुओं आदि पुनीत स्थानों में वे रोक टोक जाने का पूर्ण अधिकार प्राप्त है। छुआ-छूत के भेद भाव के साथ ही साथ सांप्रदायिकता का आवरण भी हटा दिया गया है। नागरिक को कोई धर्म मानने तथा उसके प्रचार करने का भी अधिकार दिया गया है किन्तु सामाजिक शांति और स्वास्थ्य के मूल्य पर कोई व्यक्ति अपने धर्म का प्रचार नहीं कर सकता। शिक्षा संस्थाओं में भी धार्मिक शिक्षा को अनिवार्य नहीं बनाया गया है।

भारतीय संविधान लिखित तथा निर्मित है। इङ्गलैण्ड का विधान सर्वथा अलिखित है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता इसका 'लचीला' होना है। विधान प्रायः दो प्रकार के होते हैं। परिवर्तनशील तथा अपरिवर्तनशील। परिवर्तनशील शासन विधान उसे कहते हैं जो राजनीतिक, सामाजिक अथवा आर्थिक ढाँचे में परिवर्तन होने पर समय तथा वातावरण के अनुकूल सरलतापूर्वक बदला जा सके। इस प्रकार के विधान प्रायः लिखित होते हैं। दूसरा अपरिवर्तनशील शासन विधान जिसको अंग्रेजी

में 'रिजिड' कहते हैं इनमें परिवर्तन करना कठिन होता है। अमेरिका का संविधान लिखित तथा, अन्य देशों के विधान की अपेक्षा छोटा भी है। भारतीय संविधान, प्राचीन परम्पराओं का अनुसरण बहुत कम करता है अधिकांश काम लिखित विधानों के अनुसार होते हैं।

यह संविधान न तो साम्यवादी है, न समाजवादी और न पूँजीवादी, न किसी आर्थिक सिद्धांत के मत का अनुयायी ही। यह एक संघात्मक शासन विधान है। देश की समस्त जनता को समान नागरिक अधिकार प्राप्त हैं। प्रत्येक प्रांत में अलग अलग विधानमंडल हैं; भारत का विधानमंडल दिल्ली में स्थित है। यह संविधान 'एक उत्तरदायी' संविधान है। देश के प्रत्येक नागरिक को जो वयस्क है अथवा जिसकी अवस्था २१ वर्ष की हो चुकी है निर्वाचन में भाग लेने तथा अपना वोट देने का अधिकार प्राप्त है। इसके अतिरिक्त किसी प्रकार की शिक्षण संस्था में प्रवेश करने तथा सरकारी नौकरी प्राप्त करने में जाति-पाँति, वर्ण-व्यवस्था, रूप-रङ्ग की रुकावट न होगी। डाक्टर अंबेदकर के शब्दों में 'संविधान की अच्छाई अथवा बुराई संविधान पर निर्भर न होकर स्वयं जनता की अच्छाई और बुराई पर निर्भर है।'

वोटों की महत्ता

विश्व के समस्त राष्ट्र आधुनिक युग के भयंकर प्रभाव से प्रभावित हैं। द्वितीय महायुद्ध के फलस्वरूप समस्त विश्व पर जो प्रभाव पड़ा है, समय पाकर भविष्य में और भी अधिक विकराल रूप धारण कर सकता है क्योंकि दिन प्रति दिन नये नये आवागमन के साधनों द्वारा प्रत्येक देश का पारस्परिक संपर्क बढ़ता जा रहा है। मानव प्रकृति की भांति राष्ट्रों का

भी यह सहज स्वभाव है कि जब वे किसी दूसरे राष्ट्र के अधिक निकट आ जाते हैं तो उस राष्ट्र के उत्थान को देख उनमें ईर्ष्या और द्वेष की भावना का प्रादुर्भाव हो जाता है, जिसके मूल में अशांतिमय भावना काम करती है, और यही भावना उन्हें उन्नति के पथ पर अग्रसर होने के लिये प्रेरणा देती है। इसका परिणाम युद्ध और संघर्ष होता है। ऐसी स्थिति में साधारणतया लोग अपने निजी स्वार्थ की ओर झुक जाते हैं, पारस्परिक सहयोग एवं सहानुभूति की भावना से परे हो जाते हैं। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र से भयभीत एवं त्रस्त रहा करता है, तथा उनमें विश्वास की दृढ़ भावना का लोप हो जाता है। यद्यपि इनका वास्तविक रूप इतना विषम नहीं होता किन्तु इन भावनाओं का स्वरूप जब युद्धों और महायुद्धों के रूप में परिणत हो जाता है, तो इनका परिणाम विशेष घातक सिद्ध होता है।

अंतः आधुनिक युग में प्रत्येक देश अथवा राष्ट्र के लिये सभी अंतर्राष्ट्रीय देशों से पारस्परिक सहयोग के द्वारा एक ऐसे सम्मेलन की परम आवश्यकता थी, जिससे समस्त सृष्टि शांतिमय वातावरण से परिपूर्ण हो जाय। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये सीटो नामक संगठन की व्यवस्था की गई। यह दक्षिणी पूर्वी एशिया के देशों का एक संगठन है जो देशों को सभी प्रकार की संकटग्रस्त परिस्थितियों से सुरक्षित रखने के लिए ही निर्मित किया गया है। योरप में भी 'सीटो' संगठन की भांति ही 'नेटो' नामक एक दूसरा संगठन है जो योरप अथवा उत्तरी अटलांटिक महासागर के देशों की सुरक्षा के लिये बनाया गया है। इन दोनों संगठनों का निर्माण अमेरिका और युनाइटेडकिंगडम के सहयोग से एक दूसरे की सहायता तथा शक्ति-वर्द्धन के लिये किया गया है। साथ ही इन दोनों संगठनों के सदस्यों ने युद्ध-काल में सैनिकों को आर्थिक सहायता देने के लिये भी अपने अपने हस्ताक्षर किये हैं। दोनों संगठनों का मुख्य सिद्धांत है—"सङ्गठन का हर सदस्य सारे सदस्यों के लिये है और सारे सदस्य हर सदस्य के लिये हैं।"

'सीटो' और 'नेटो' दोनों ही संगठन साम्यवाद के भय से विशेष रूप

से प्रभावित हैं। योरप के अधिकांश भागों पर भी साम्यवाद का प्रभाव पड़ा है क्योंकि कोरिया का भयंकर युद्ध ही साम्यवाद के प्रभाव का प्रमाण है। इसके अतिरिक्त एशिया के देश विश्व के अन्य प्रगति शील देशों की अपेक्षा पिछड़ी दशा में हैं। अतः सीटो नामक संगठन द्वारा ही साम्यवाद से दक्षिणी-पूर्वी एशियाई देशों की रक्षा हो सकती है ऐसा सीटो के सदस्यों का विश्वास है।

'सीटो' को अपनी शक्ति पर पूर्ण विश्वास है। उसका दावा है कि वह विश्व राजनीति से पारस्परिक वैमनस्यता तथा इस अशाँतिमय वातावरण का अंत करेगा। सीटो के सदस्यों के कथनानुसार उनके लिये सदस्य देशों की साम्यवाद से रक्षा करना उतना प्रमुख कार्य नहीं जितना कि सदस्य देशों की भावी युद्ध से रक्षा करना है। सीटो की सदस्यता लेने वाले देशों के नाम इस प्रकार हैं :—संयुक्त राज्य, ब्रिटेन, फ्रांस, थाईलैंड, फिलीपाइन्स, आस्ट्रेलिया, पाकिस्तान तथा न्यूजी लैंड। इस प्रकार सीटो की अपनी एक निजी विशेषता है, वह न तो संयुक्त राष्ट्र के नियमों और सिद्धांतों पर ही आधारित है, न उनका अनुसरण करने के लिये बाध्य ही है। बल्कि उसका आधार स्तंभ निजी है, जिन मूल सिद्धांतों की भित्ति पर वह निर्मित हुआ है। सीटो का कार्य सदस्य देशों को आर्थिक सहायता देना तथा वहाँ की जनता के जीवन स्तर को उन्नत बनाना भी है। क्योंकि आर्थिक सपन्नता की न्यूनता ही जनता के आत्मनिर्भरता की शक्ति को निर्बल बनाती है। आत्मनिर्भरता ही उन्नति का मार्ग है। जब तक जनता में इस शक्ति की अभाव रहेगा तब तक उसका उत्थान होना असंभव है, और ऐसी स्थिति में वह अन्य दूसरी दृढ़ शक्तियों से भी लोहा लेने में समर्थ न हो सकेगी। आर्थिक सुधार हो जाने पर जनता की आत्म शक्ति सबल हो जायगी, उनके हृदय से साम्यवाद का भय दूर भाग जायगा। इस प्रकार 'सीटो' संयुक्त राष्ट्र, का ही एक छोटा सा संस्करण बन जायेगा। 'सीटो' के सभी सदस्यों का भी यही कथन है कि 'सीटो' सुरक्षा के एक महान् संगठन का रूप ग्रहण करेगा जिसके अंतर्गत दक्षिणी-पूर्वी के सभी उन्नतिशील राष्ट्र सदस्य

बनेंगे। अपने इसी अंतिम लक्ष्य की प्राप्ति के लिये 'सीटो' निरंतर जागरूक एवं प्रयत्नशील है।

इन समस्त शक्तियों के सुसंगठित होने पर भी सीटो का भविष्य उज्जवल नहीं दिखाई पड़ता क्योंकि दक्षिणी पूर्वी एशिया के अधिकाँश महत्वपूर्ण राष्ट्रों, यथा भारत, वर्मा, इंडोनेशिया, तथा सिलोन, ने इसकी सदस्यता स्वीकार नहीं की है। वे इसे एशिया के देशों के लिए अहितकर समझते हैं। इसके विषय में उनके नेताओं का यही विचार है कि 'सीटो' अमेरिका के पिछलग्गुओं का एक संगठन है। इसका संगठन अमेरिका रूस से सामना करने के लिये कर रहा है। भारत के प्रधान मन्त्री श्री नेहरू ने भी इसकी कड़े शब्दों में आलोचना की है।

: ८८ :

एक यात्रा के संस्मरण

अंततः वह दिवस भी आ ही गया जिसकी हम इतने समय से प्रतीक्षा कर रहे थे। कौन ऐसा विद्यार्थी होगा जिसे परीक्षा समाप्त होने पर ऐसा न लगा हो कि कारागार से अभी ही मुक्ति मिली है। फिर हम लोगों की तो बात ही और थी। राहुल जी का 'घुमक्कड़ शास्त्र' पढ़ कर हम विश्व-भ्रमण की कितनी ही योजनाएँ बना चुके थे। उन सारी योजनाओं को कार्यान्वित करने का समय तो अब ही आया था। मित्र-मंडली की आवश्यक बैठक हुई और समस्त योजनाओं पर नए सिरे से विचार किया गया। हिमालय से हिन्द महासागर तक, अर्थात् काश्मीर से रामेश्वरम् तक, संभवतः कोई ही महत्वपूर्ण स्थान बचा हो जहाँ जाने का प्रस्ताव हममें से किसी न किसी ने न रखा हो। परन्तु बाहरी दिल्ली! तेरा ही आकर्षण सब से अधिक बलवान सिद्ध हुआ। दिल्ली का नाम आते ही कुतुब मीनार, लाल किला, बिड़ला मंदिर, राष्ट्रपति भवन और जंतर मंतर के चित्र हमारे सामने आ गए और

फिर काश्मीर की डल झील, अजंता और ऐलोरा की गुफ़ाओं और बंबई और कलकत्ते की ऊँची ऊँची अट्टालिकाओं सभी का वैभव फीका पड़ गया। बिस्तरे और ट्रंक ठीक होने लगे और रात के साढ़े नौ बजे हम लोग 'अपर इन्डिया' पर सवार होने के लिए रेल्वे स्टेशन पर उपस्थित थे।

रात्रि की यात्रा थी। बहुत सोच-विचार के पश्चात् यह तय हुआ कि बारी-बारी से हम चार लोगों में से दो लोग सोएँ और दो लोग सामान की रक्षा करें। एक-दो स्टेशन आने तक तो सब ठीक रहा पर उसके पश्चात् सामान की रक्षा किसने की यह घट-घट व्यापी ही जानें। जब मेरी आँख खुली तो देखा कि सूर्य नारायण का प्रकाश चारों ओर फैला हुआ है और मेरे सारे साथी खर्राटे ले रहे हैं। दिल्ली अब अधिक दूर नहीं थी। सबको जगाया और सामान ठीक करना प्रारम्भ कर दिया। दिल्ली में ठहरने की समस्या सामने आएगी इसलिए एक धर्मशाला का पता मालूम करके चले थे। पर वहाँ पहुँचने पर मालूम हुआ कि उसे धर्मशाला के स्थान पर होटल कहना ही अधिक उपयुक्त होगा। दो रुपया प्रति दिन के हिसाब से पाँच दिन का अग्रिम भुगतान करने पर एक कमरा मिला। उसमें जगह इतनी थी कि कठिनाई से ही हम चारो के लेटने का प्रबन्ध हो सका। कुछ खाया-पिया, और थोड़ी देर विश्राम किया। उसके पश्चात् हम लोग निकल पड़े दिल्ली घूमने।

दिल्ली में दर्शनीय स्थानों का इतना बाहुल्य है कि हम लोग यही निश्चय नहीं कर पा रहे थे कि पहले किधर जायें। धर्मशाला पुरानी दिल्ली में थी इसलिये यही निश्चय हुआ कि पहले लाल किला, जामा मस्जिद और चाँदनी चौक ही देखे जायँ। चाँदनी चौक जाने के लिए तांगेवाले से बात कर ही रहे थे कि पीछे से घंटा बजने की आवाज़ आई। मुड़ कर देखा तो ट्राम आ रही थी। यद्यपि उसमें बहुत अधिक भीड़ थी पर हम लोग भी किसी तरह चढ़ ही गए। ट्राम पर बैठने का हमारा यह प्रथम अवसर था। ट्राम से उतर कर चाँदनी चौक खूब घूमा और फिर लाल किला देखने चले गए।

लाल किला, जैसा कि उसके नाम से ही बोध होता है, लाल पत्थर का

बना हुआ है। इसके चारों ओर खाई है जिसे प्रदर्शक के कथनानुसार शत्रु के आक्रमण का भय होने पर पानी से भर दिया जाता था। किले के भीतर दर्शनीय स्थानों में 'दीवाने आम' और 'दीवाने खास' मुख्य हैं। इनमें किले के निर्माता शाहजहाँ तथा उसके वंश के सम्राटों का दरबार होता था। प्रदर्शक ने हमें वह स्थान दिखाया जहाँ किसी समय कोहिनूर-जटित 'तख्ते ताऊस' रखा जाता था। फिर हम लोग किले के अन्य दर्शनीय स्थानों को देखते रहे जिनमें ब्रिटिश सरकार द्वारा स्थापित संग्रहालय भी था। संग्रहालय देखते समय ही घंटी बजी और हमें बताया गया कि बाहर निकलने का समय हो गया है यद्यपि अभी हम पूरा किला नहीं देख पाये थे परन्तु बाहर आना पड़ा। उसके सामने बनी हुई जामा मस्जिद दिखाई दी और फिर हम उसी की सीढ़ियाँ चढ़ने लगे। प्रदर्शक ने बताया कि यह एशिया की सबसे बड़ी मस्जिद है। उसके बृहताकार को देख कर वास्तव में आश्चर्य चकित रह जाना पड़ा।

दूसरे दिन प्रातः ही हम लोग चल पड़े नई दिल्ली में बिड़ला बन्धुओं के द्वारा बनवाए गए प्रसिद्ध लक्ष्मी नारायण मन्दिर को देखने। इसी मन्दिर को सामान्यतः बिड़ला-मन्दिर के नाम से सम्बोधित किया जाता है। इस मन्दिर की जितनी भी प्रशंसा की जाय थोड़ी ही है। ऐसा लगता था कि हम एक विचित्र लोक में आ गए हैं जहाँ कुशल शिल्पियों और चित्रकारों ने अपनी कल्पना के आधार एक अनुपम सौंदर्य-जगत का निर्माण किया है। हिन्दुओं के समस्त प्रमुख देवी देवताओं की मूर्तियाँ वहाँ विद्यमान थीं। मन्दिर में सर्वत्र दीवारों पर ऐतिहासिक दृश्य प्रदर्शित करने वाले चित्र टंगे थे जो हमें अपने गौरवपूर्ण अतीत का स्मरण दिलाते थे। यज्ञस्थल, नाट्यशाला, व्यायामशाला, उद्यान और जलाशय सभी कुछ तो वहाँ था। एक स्थान पर एक बहुत बड़े हाथी की मूर्ति थी। निकट से देखा तो पता चला कि वह तो एक देव-मन्दिर का बाह्याकार मात्र है। सभी कुछ विचित्र था। हम लोग खाने पीने की सुध बुध भूल गए और कैमरे पर रीलें ही चढ़ाते उतारते रहे। उसका ध्यान तब आया जब मन्दिर

भवन के अंदर स्थित एक जलपानगृह पर दृष्टि पड़ी। उस दिन सायंकाल तक का समय मन्दिर देखने में ही निकल गया।

अगले दिन सवेरे ही कुतुबमीनार देखने जाने के लिए मेहरौली की बस पर सवार हुए। मार्ग में न मालूम कितने नगर पड़े। ये सब नवनिर्मित बस्तियाँ हैं और दिल्ली के उपनगर हैं। बस-स्टेशन से कुतुबमीनार तक पहुँचते पहुँचते जाने कितने मक़बरों और ऐतिहासिक भवनों के ध्वंसावशेष देखे। कुतुबमीनार के पास ही एक लौह स्तम्भ खड़ा है जिस पर जंग का नाम न था। यह किसी हिन्दू सम्राट द्वारा बनवाया गया था। उसे देखने के पश्चात् कुतुबमीतार की कुछ उजेली और कुछ अंधेरी लगभग तीन सौ अस्सी सीढ़ियाँ चढ़कर उसकी चोटी पर पहुँचे। वहाँ से नीचे देखने पर ऐसा लगता था कि जैसे हम बादलों की गोद से पृथ्वीतल का अवलोकन कर रहे हों। दस-बारह मील दूर स्थित लाल किला और जामा मस्जिद भी स्पष्ट दीख रहे थे। वापस होते होते सायंकाल हो गया। फिर नई दिल्ली का प्रसिद्ध बाजार कनाट सर्कस देखा।

एक संसद-सदस्य महोदय की कृपा से संसद का अधिवेशन देखने के लिए प्रवेश पत्र हमें मिल गया और इसीलिए अगले दिन संसद् भवन पहुँचे। थोड़े समय तक तो सदस्यों की वक्तृताओं में कोई आनन्द नहीं आया परन्तु बाद में किसी प्रश्न पर पंडित जी और विरोधी दल के नेता में झड़प हो गई, उस समय विशेष आनन्द आया। जिन संसद्-सदस्य महोदय का ऊपर उल्लेख किया है उन्हीं की कृपा से राष्ट्रपति भवन देखने को मिला। वहाँ के उद्यान अनुपम हैं। वापस आते समय मार्ग में जंतर-मंतर देखा। पहले तो उन टेढ़ी मेढ़ी सीढ़ियों का कुछ रहस्य समझ में ही नहीं आया, परन्तु संयोग से उस दिन एक अमेरिकी दम्पति भी उसे देखने आए थे। उन्हें जंतर मंतर के अधीक्षक स्वयं विस्तार के साथ सब कुछ समझा रहे थे। उन्हीं के साथ-साथ हमने भी देखा कि किस प्रकार इन टेढ़ी मेढ़ी दीखने वाली सीढ़ियों से सूर्य, चन्द्र और नक्षत्रों की गति का अनुमान लगाया जाता था।

दिल्ली चार-छः दिन रहने पर भी यदि हमें किसी विदेशी राज्य के प्रधान या मुख्यमंत्री के दर्शन न होते तो आश्चर्य की ही बात होती। हमारे दिल्ली-आगमन के पांचवें दिन सऊदी अरब के शाह वहाँ आ रहे थे। उनके स्वागत के लिए जगह-जगह स्वागत-द्वार बनाए गए थे और सारे मार्गों पर सजावट की गई थी। उनका स्वागत देखने के लिए हम लोग इंडिया गेट पहुँचे जहाँ हज़ारों हिन्दू-मुसलमान मार्ग के दोनों ओर पंक्ति बांधे खड़े थे। उनका स्वागत देखने के बाद इंडिया-गेट की छवि देखी। उसके निकट बनी नहर में कुछ देर नौका-विहार किया और रात होते-होते अपने निवास-स्थान पर वापस आए।

इस समय तक हम न तो यमुना में स्नान कर पाए थे, न आकाश-वाणी का दिल्ली केन्द्र ही देखा था और न दिल्ली के बाज़ार घूमने का ही अच्छी तरह अवसर मिला था। परन्तु हम लोगों की जेबें खाली होने को आ गई थीं और आँखों में घरवालों के हमारे परीक्षा के बाद सीधे घर न पहुँचने के कारण क्रुद्ध चेहरे घूमने लगे थे। अगले ही दिन वापसी की बात तय हुई। जल्दी-जल्दी घर के सब लोगों के लिए कुछ न कुछ उपहार खरीदे और दोपहर की ट्रेन से ही वापसी यात्रा आरंभ की। इस यात्रा की प्रमुख घटना यही है कि हमारे एक साथी की जेब का भार किसी सहयात्री ने हल्का कर दिया, उसमें रखे रूमाल और पर्स में से केवल रूमाल ही शेष रह गया।

: ८६ :

भारत में साबुन उद्योग

मनुष्य को जीवित रखने के लिये जिस प्रकार भोजन और जल आवश्यक पदार्थ हैं उसी प्रकार शारीरिक स्वच्छता का भी मानव जीवन से घनिष्ट संबंध है। शरीर को स्वच्छ रखने में साबुन बहुत ही

उपयोगी सिद्ध हुआ है। प्रायः सभी देशों में घर-घर में इसका प्रयोग होता है। यह हमारे शरीर को साफ करने के अतिरिक्त कपड़े धोने या अन्य कामों में भी आता है। जैसे जैसे मानवीय सभ्यता का विकास होता गया वैसे वैसे हमारी आवश्यकताओं में भी वृद्धि हुई और वस्तुओं के उत्पादन तथा माँग में भी निरंतर वृद्धि होती गई। पहले भारत में साबुन का प्रचार इतना अधिक नहीं था जितना १९३० के बाद बढ़ा है। इस समय भारतवर्ष में साबुन के ६० कारखाने हैं। जो मुख्यतः बंबई, पश्चिम बंगाल और बड़ौदा में स्थित हैं। इसके अतिरिक्त लगभग ४ हजार की संख्या में ऐसे कारखाने हैं जहाँ कुटीर उद्योग के स्तर पर उत्पादन होता है। परन्तु इन कारखानों में बढ़िया किस्म का साबुन नहीं तैयार किया जाता।

१९२० तक तो हमें कई हजार टन साबुन विदेशों से मँगाना पड़ता था किन्तु अब हमारा देश पूर्ण रूप से आत्मनिर्भर है। हमारे देश में प्रतिवर्ष १२५,००० टन साबुन की खपत होती है। यद्यपि अमेरिका, आस्ट्रेलिया आदि देशों में यहाँ से अधिक साबुन की खपत होती है लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं कि उत्पादन में वृद्धि होने के कारण ऐसा होता है वरन् उन देशवासियों के रहन-सहन और कच्चे माल का भी विशेष प्रभाव पड़ता है क्योंकि यह इन्हीं पर निर्भर रहता है।

भारतवर्ष में साबुन दो विधियों से बनाया जाता है। (१) संगठित कारखानों द्वारा (२) कुटीर उद्योग धंधों द्वारा।

फिर भी भारत फिनलैंड, बर्मा, इंगलैंड, अमेरिका के मुकाबले में नहीं ठहर पाता। इसके कई मुख्य कारण हैं। साबुन के बनाने में महुआ, नीम, अरंडी तथा नारियल के तेल की आवश्यकता पड़ती है। इनमें से अधिकांशतः कच्चा माल तो हमें अपने देश में ही प्राप्त हो जाता है किन्तु गरी का तेल और अन्य शेष कच्चे माल हमें विदेशों से मँगाना पड़ता है और यह इतना मँहगा होता है कि हम उसका उपयोग नहीं कर सकते। इसके अतिरिक्तसाबुन के बाजार को व्यापक बनाने का प्रश्न आता है क्योंकि

विना इसके साबुन के उद्योग का विकास होना संभव नहीं। यद्यपि भारतवर्ष में विदेशों की अपेक्षा घटिया किस्म का साबुन नहीं बनाया जाता है तथापि आवश्यकता इस बात की है कि देश में इसका अधिकाधिक प्रचार हो। पाकिस्तान सरकार की नीति ने इसके उद्योग को विशेष क्षति पहुँचाई। विदेशी व्यापारिक प्रतिनिधियों द्वारा यह ज्ञात हुआ है कि १६३० के बाद से गत २६ वर्षों में भारत में साबुन के उद्योग ने आश्चर्यजनक उन्नति की है, जिसके फलस्वरूप आज भारत में संगठित कारखानों द्वारा १६४,००० टन और कुटीर उद्योग धंधों द्वारा ७०,००० टन साबुन तैय्यार किया जाता है।

कुटीर उद्योग धंधों द्वारा निर्मित साबुन निम्न श्रेणी का होता है, जिसकी अधिकतर खपत अशिक्षित एवं अनुभवहीन जनता में ही होती है। इस प्रकार के साबुन के बनाने में महुआ, नारियल, मूंगफली के तेल के अतिरिक्त सोडा ऐश, कास्टिक सोडा, कोयला तथा ब्लीचिंग पाउडर जैसे रसायनिक पदार्थों की भी आवश्यकता पड़ती है जो बहुत मँहगे पड़ते हैं। इनमें से तेल पर ही साबुन की ६० प्रतिशत कीमत निर्भर करती है। सरकार ने तेल पर १ आना प्रति रुपया के हिसाब से बिक्री कर लगा दिया है। दूसरी बाधा यह कि केन्द्रीय सरकार २॥‌‌‌‌) प्रति मन आबकारी के रूप में भी वसूलती है इसके अतिरिक्त भी जनता को कपड़ा धोने के साबुन पर प्रति रुपया पर दो पैसा तथा नहाने वाले साबुन पर एक आना कर और चुंगी देनी पड़ती है तथा कुटीर उद्योग धंधों के मालिकों को साबुन बनाने वाले रसायनिक पदार्थ और कोयला भी उचित मात्रा में ठीक समय पर नहीं मिल पाता जिससे उन्हें अनेकों प्रकार की आपत्तियों का सामना करना पड़ता है। उन्हें अधिक से अधिक रुपया देकर माल खरीदना पड़ता है जिससे उन्हें उत्पादन में भी अधिक व्यय करना पड़ता है। यदि इन कुटीर उद्योगों को राजकीय सहायता प्राप्त होने लगे, पर्याप्त पूँजी तथा कुशल एवं शिक्षित कारीगरों का अभाव न हो तो साबुन उद्योग का पूर्ण रूप से विकास हो सकता है क्योंकि शिक्षित होने के साथ

ही साथ लोग साबुन की उपयोगिता को समझेंगे और देश में साबुन का प्रचार बढ़ेगा। सरकार को चाहिए कि वह इन वस्तुओं पर अधिक टैक्स न लगाये अन्यथा लोगों की क्रय शक्ति का ह्रास होने लगेगा। परिणाम यह होगा कि साबुन की बिक्री घट जायगी। एक ओर जहाँ वह इन उद्योगों के प्रचार व विस्तार के लिये पंचवर्षीय योजना का निर्माण कर रही है तो दूसरी ओर वह अपनी इस नीति द्वारा कहाँ तक सफलता पा सकती है। अतः साबुन उद्योग को विकसित करने के लिये उसे सरकारी सहायता के अतिरिक्त टैक्स कम करके बिक्री बढ़ाने का प्रयत्न करना चाहिए।

अब दूसरी विधि द्वारा साबुन तैय्यार करने में भारत के संगठित कारखाने आते हैं। इन कारखानों की संख्या ६० है। जिनमें से लिवर ब्रदर्स और टाटा का कारखाना प्रमुख है; इन कारखानों का कुल उत्पादन १३६,००० टन ही है। टाटा तथा लिवर ब्रदर्स के अतिरिक्त अनेकों और भी कारखानें हैं जो उत्तम कोटि का साबुन तैय्यार करते हैं तथा जनता की बहुत बड़ी माँग को पूरा करते हैं।

संगठित कारखानों का विकास सर्वप्रथम हमारे प्रांत में ही हुआ था। १८७६ में मेरठ में एक अंग्रेज ने सबसे प्रथम कारखाने की स्थापना की थी। १६१३ तक यहाँ केवल १४,००० टन साबुन बनता था किंतु धीरे-धीरे इसकी खपत और उत्पादन में वृद्धि होती गई। विशेषतः युद्धकाल में साबुन की माँग में भी वृद्धि हुई, जिसके फलस्वरूप १६४७ ई० तक देश में साबुन का उत्पादन १ लाख ८ हजार टन हो गया। आज समस्त देश में कारखानों की कुल उत्पादन शक्ति २६४,००० टन वार्षिक की है जो कुटीर उद्योगों और बड़े कारखानों के सहयोग से बनता है। सनलाइट साबुन बनाने वाले लिवर ब्रदर्स और ५०१ साबुन बनाने वाले टाटा आयल मिल्स विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। १६३६ में बंबई में सिवरी मिल्स नामक दूसरे कारखाने की स्थापना हुई। १६२६-३० में तो केवल ३६०० पेटियाँ साबुन जिनका मूल्य ५०,००० रु० था, तैयार हुईं किन्तु आज ४ करोड़ से भी अधिक मूल्य का साबुन बनता है। व्यापार के विस्तार एवं प्रचार के लिये भारत में १०

विक्रय केन्द्र स्थापित किये गये। विदेशी संरक्षण में रहने वाली कंपनियों में १९५३, १९५४ और १९५५ में क्रमशः ५०,५६१ टन, ५०,३८१ टन और ५७,८१० टन उत्पादन हुआ। इसके अतिरिक्त संगठित क्षेत्रों में ३२,७८६ टन, ३८,१००, टन और ४२,५३० टन उत्पादन हुआ। असंगठित इकाइयों में केवल १९५५ में १२०,००० टन साबुन तैय्यार किया गया।

इस प्रकार निरंतर साबुन उद्योग के विकास को देखते हुए इस बात की आशा की जाती है, कि भविष्य में इस उद्योग धंधे की विशेष प्रगति होगी।

: ९० :

भारत का चीनी उद्योग

भारतीय चीनी उद्योग की प्रगति का इतिहास निस्संदेह आश्चर्यजनक रहा है। भारतीय बड़े उद्योगों में इसका द्वितीय स्थान है। प्रथम स्थान सूती वस्त्र उद्योग का है। चार वर्ष की सीमित अवधि में इस उद्योग ने इतनी प्रगति कर ली है कि हमें अब विदेशों से एक तोले चीनी तक का आयात नहीं करना पड़ता। अपनी चीनी संबंधी आवश्यकताओं में हम पूर्णतः स्वालम्बी हैं। भारत के औद्योगिक क्षेत्र में चीनी-उद्योग की आशातीत सफलता शुभ लक्षण है।

भारत में चीनी-उद्योग का सूत्रपात जो लोग अंग्रेजों के सम्पर्क से मानते हैं, वे इतिहास के साथ बड़ा अनर्थ करते हैं। गन्ना और गन्ने से बनी वस्तुओं का उल्लेख हमें ईसा से पाँच सहस्र पूर्व अथर्व-वेद कालीन युग में प्राप्त होता है। अति प्राचीन आयुर्वेदिक ग्रंथों में गन्ने के गुण-दोषों का विश्लेषण विस्तार से किया गया है। चरक और सुश्रुत संहिता में इस प्रकार के उल्लेखों से पृष्ठ के पृष्ठ भरे हैं। इस प्रकार के उल्लेख साक्षी हैं कि भारत में ईसवी सन् के बहुत पूर्व गन्ने और शक्कर का उत्पादन अपनी प्रगति के चरम उत्कर्ष पर था।

खाद्य एवं कृषि मंत्रालय के चीनी-निर्देशक श्री के० पी० जैन का कहना

है कि 'ईसवी सन् ४०० वर्ष पूर्व से लेकर १३०० ईसवी तक भारत, चीन और मिश्र के बीच गन्ना और गन्ने से बनने वाली चीजों की जानकारी का आदान-प्रदान होता था। ६२७ ईसवी से ६५० ईसवी के बीच ताई-तुंग सम्राट ने मगध (बिहार) में अपना आदमी भेजकर शक्कर बनाने की विधि जाननी चाही थी। मध्ययुगीन भारत में शक्कर का काफी व्यापार होता था। १२६० में मार्कोपोलो ने अपने यात्रा-विवरण में इसका उल्लेख किया है। १४६८ में वास्कोडीगामा जब भारत आया तो उसने यहाँ बाजारों में ढेरों शक्कर देखी थी। इटली के यात्री लोदोविकोन्डीवर्थना ने (१५०३-१५०८ में) भारतीय शक्कर को अरब के जिवित में प्रचुर मात्रा में देखा था। दौर्त बरबोसा ने भी सन् १५१३ में चीनी का उल्लेख किया है। अबुलफजल की 'आइने अकबरी' में गन्ने की खेती और विभिन्न प्रकार की शक्कर तथा गन्ने से तैयार किये गये आसव का उल्लेख है। ईस्ट इंडिया कम्पनी (१६००) के जमाने में भी शक्कर भारत के बाहर फारस और मध्यपूर्व के देशों को भेजी जाती थी। ब्रिटेन तथा अन्य यूरोपीय देशों को भी शक्कर जाती थी। इस बात से प्रमाण मिलते हैं कि ईस्टइंडिया कम्पनी समय-समय पर ब्रिटेन को भारत से शक्कर भेजा करती थी।'

इस समय चीनी-उद्योग में कुल मिलाकर ७२ करोड़ रुपये की पूँजी लगी हुई है। भारत में सफेद चीनी तैयार करने के १५० अति आधुनिक वैज्ञानिक प्रणाली से निर्मित कारखाने हैं जो प्रति वर्ष ४३२ लाख मन चीनी तैयार करते हैं एवं जिसकी कीमत ११६ करोड़ ६३ लाख रुपये के आस-पास पड़ती है। इस समय सारे भारतवर्ष में सब मिलाकर ४० लाख एकड़ भूमि में गन्ना उगाया जाता है। गन्ना उगाने में दो करोड़ आदमियों को रोटी मिलती है। चीनी के कारखानों में एक लाख चालीस हजार प्रशिक्षित कर्मचारी एवं विश्वविद्यालयों के पैंतीस सौ स्नातक काम कर रहे हैं। इसके अतिरिक्त अप्रत्यक्ष रूप से हजारों व्यक्तियों की रोजी चीनी-उद्योग के द्वारा चलती है। जिनमें फुटकर चीनी विक्रेताओं से लेकर थोक विक्रेता, दलाल एवं हलवाई आदि सम्मिलित हैं।

अपनी प्रारंभिक अवस्था में चीनी (शक्कर) का उत्पादन कुटीर उद्योग के रूप में होता था किन्तु इस उद्योग की आय ने शीघ्र ही अपनी ओर अँग्रेजों का ध्यान आकर्षित किया। उन्होंने बिहार और बंगाल में गुड़ साफ करके शक्कर बनाने वाले कारखाने स्थापित किये जिनमें प्रतिवर्ष १८६,००० मन शक्कर साफ की जाती थी। सन् १९०३-१९०५ में चीनी बनाने के ६ कारखाने उत्तरी बिहार और उत्तर प्रदेश में स्थापित किये गये जिनमें से कई अब भी वर्तमान हैं। प्रथम विश्व महायुद्ध तक चीनी-उद्योग कोई विशेष प्रगति न कर सका। १९१२-१९१७ के पाँच वर्षों के बीच भारत को पाँच लाख सड़सठ हजार टन चीनी विदेशों से मँगानी पड़ी। चीनी-उद्योग की इस दयनीय स्थिति को देखकर देश के राजनीतिक नेताओं ने केंद्रीय धारा सभा में तत्कालीन शासकों का ध्यान आकर्षित किया। फलस्वरूप १९१२ में केन्द्रीय सरकार की ओर से कोयम्बटूर में गन्ना संबंधी शोध कार्य के लिए एक औद्योगिक यंत्रशाला खोली गयी। सन् १९१९ में भारत सरकार ने सफेद चीनी उद्योग की प्रगति का लेखा-जोखा रखने के लिए भारतीय चीनी समिति की स्थापना की। कोयम्बटूर के गन्ने की उपज से उत्तर प्रदेश के चीनी-उद्योग को बहुत बल मिला। फलस्वरूप केवल उत्तरप्रदेश के चीनी-उद्योग से ९०,००० टन चीनी प्राप्त हुई।

सन् १९३२ में चीनी उद्योग को संरक्षण देने के लिए भारतीय धारा सभा ने चीनी उद्योग अधिनियम पास कर दिया। इसके अनुसार विदेशी चीनी के आयात पर ७ रु० १४ आ० प्रति हंडरवेट संरक्षण-शुल्क तथा १ रु० १३ आ० प्रति हंडरवेट राजस्व-शुल्क लगा दिया गया। इस संरक्षण से चीनी उद्योग को बहुत प्रोत्साहन मिला। १९३६-३७ तक सफेद चीनी का उत्पादन करने वाले कारखानों की संख्या बढ़कर १३८ हो गयी। इन कारखानों से इतनी चीनी का उत्पादन हुआ कि नौ लाख टन चीनी का आयात करने वाला हमारा देश पूर्ण रूप से स्वावलम्बी बन गया।

चीनी उद्योग की प्रगति ने अन्य सहायक उद्योगों को भी पर्याप्त सहायता प्रदान की है। मुरब्बे और अचार तैयार करने वाली उद्योगशालाएँ

चीनी के ही बल पर चल रही हैं। चूरा, खंडसारी और शीरे के अनेकों प्रयोगों से भिन्न-भिन्न प्रकार के उद्योगों का विकास हो रहा है। तख्तियाँ एवं कागज की लुग्दी बनाने में इन वस्तुओं की सहायता ली जाती है। एकोनिटिक एसिड, तम्बाकू और शीरे की शराब बनाने में शीरे का प्रयोग किया जाता है। शीरे के विभिन्न मिश्रणों से जो पेट्रोल की तरह का द्रव-पदार्थ तैयार किया जाता है, वह विदेशों से आयात किये जाने वाले पेट्रोल की आंशिक बचत कर देता है और इस प्रकार विदेश जाने वाला धन देश के ही लोगों की जीविका का साधन बना रहता है। इस समय देश में ४४ शराब खींचने वाली भट्ठियाँ चल रही हैं। कहना नहीं होगा कि वे शीरे की ही सहायता से चल रही हैं।

चीनी उद्योग की आश्चर्यजनक सफलता को देखकर दूसरी पंचवर्षीय योजना में इसे पहले से अधिक व्यापक रूप देने का प्रयत्न किया जा रहा है। इस योजना के अन्तर्गत चीनी उद्योग में २५ लाख टन वार्षिक उत्पादन बढ़ाने का लक्ष्य निर्धारित किया गया है। भारत सरकार ने ४० नये कारखाने स्थापित करने एवं ४२ वर्तमान कारखानों को व्यापक रूप देने की अनुमति दे दी है। इस प्रकार चीनी-उद्योग दिन प्रतिदिन प्रगति के पथ पर अग्रसर होता हुआ देश की औद्योगिक-समृद्धि में महत्वपूर्ण हाथ बँटा रहा है।

: ६१ :

स्वतंत्र भारत में औद्योगिक शिक्षा की प्रगति

वर्तमान युग विज्ञान का युग है। इस युग में अनेकों ऐसी शक्तियों का आविष्कार हुआ जिन्होंने मानव ही क्या सृष्टि के कण कण को परिवर्तित कर दिया है। आज सम्पूर्ण मानव जीवन विज्ञानमय हो गया

है, उसके जीवन का प्रथम और अन्तिम ध्येय केवल विज्ञान और भौतिक उद्योग तक ही सीमित हो गया है। हमारा भारतवर्ष चिरकाल से ही औद्योगिक शिक्षा का केन्द्र रहा है। ब्रिटिश शासकों के समय में सरकारी नीति भारत के विपरीत थी किंतु ब्रिटिश शासन का अन्त होने पर भी स्वतन्त्र भारत की औद्योगिक शिक्षा में विशेष प्रगतिशीलता नहीं दिखाई पड़ती। इसका सारा दोषारोपण हम ब्रिटिश सरकार पर ही करते हैं किंतु इनके शासन के पूर्व भी गुप्त तथा मौर्य काल में धार्मिक शिक्षा की प्रधानता होने के कारण औद्योगिक शिक्षा को विशेष महत्व नहीं दिया गया। उस काल की आर्थिक स्थिति विशेष शोचनीय न थी, देश सम्पन्न था। आर्थिक दृष्टिकोण से अन्य विदेशी राष्ट्रों के प्रति प्रतियोगिता की भावना थी, किन्तु वर्तमान स्थिति इतनी सबल नहीं है। आज तो पग-पग पर आर्थिक विषयों में विदेशों से टक्कर लेना पड़ती है। अतः ऐसी दशा में औद्योगिक शिक्षा को गौण रूप देना किसी प्रकार भी हितकर नहीं है।

ब्रिटिश शासन काल में अंग्रेजी भाषा की प्रधानता थी, सभी कार्य-अँग्रेजी भाषा के माध्यम से होते थे। औद्योगिक शिक्षा की प्राप्ति के लिये इने गिने लोग विदेश भेजे गये और वे शिक्षा समाप्त करने के पश्चात् जब वापस आये तो सरकारी नौकरियाँ प्राप्त कर संतुष्ट हो गये। औद्योगिक शिक्षा की प्रगति के लिये पुनः न तो उन्हें सरकार की ओर से ही कोई प्रोत्साहन मिला और न वे स्वयं उद्योगों के प्रति आकर्षित हुए। इसके अतिरिक्त दूसरी ओर यह भावना भी थी कि भारत का मस्तिष्क यंत्रों के लिये नहीं, प्रत्युत दर्शन, अध्ययन तथा मनन के लिये बना है। यही प्रमुख कारण था कि जनता ने भी इसकी प्रगति की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। किंतु भारत के स्वतन्त्र होते ही सरकार के समक्ष अनेकों समस्यायें जटिल रूप धारण कर उपस्थित हुईं जिनमें सर्वप्रथम औद्योगीकरण और राष्ट्रीय-करण की समस्याएं हैं। इन समस्याओं के निदान के लिये भारत-सरकार ने विशेष प्रयत्न किया। फलतः बम्बई, मद्रास तथा कलकत्ता के यांत्रिक केन्द्र जो अँग्रेजों के समय में खोले गये थे उनका दृढ़ीकरण किया गया। कुटीर

उद्योग धंधों का पुनर्जन्म हुआ। इनके संचालन के लिये प्रदेश में
नये-नये विभागों की स्थापना हुई। देश के अनेकों छात्र सरकारी व्यय पर
यान्त्रिक और औद्योगिक शिक्षा प्राप्त करने के लिये विदेशों को भेजे गये।
भिन्न-भिन्न समय में शिक्षा के भिन्न-भिन्न उद्देश्य रहे हैं। जब भारत
में धर्म का अधिक प्रचार था उस समय धर्मशास्त्र की शिक्षा देना अनि-
वार्य समझा जाता था। यवन काल में औषधि शास्त्र पर विशेष बल
दिया गया। इस प्रकार उस काल में भी औद्योगिक और यांत्रिक शिक्षायें
गौण रहीं। भारतवासी इस शिक्षा में विशेष रुचि न रखते थे। हिन्दू-
कालीन शिक्षा का मुख्य उद्देश्य अध्ययन एवं मनन द्वारा ब्रह्मप्राप्ति तक
ही सीमित था। किन्तु आज की शिक्षा उपर्युक्त शिक्षाओं से सर्वथा भिन्न
समझी जाती है, क्योंकि वर्त्तमान शिक्षा प्रणाली का रूप वैज्ञानिक है।
इसके अतिरिक्त आज की शिक्षा का लक्ष्य मनुष्य की सामाजिक तथा
आर्थिक समस्याओं के समाधान में भौतिक विज्ञानों को प्रयुक्त करना है।
द्वितीय महायुद्ध के विनाशकारी प्रभाव से जहाँ सभी दिशायें प्रभा-
वित हुई वहाँ दूसरी ओर उसने ज्ञानोंपार्जन के लिये अनेकानेक मार्गों को
प्रशस्त किया। युद्ध के परिणामस्वरूप सर्वप्रथम यंत्र और उद्योगों की
शिक्षा का जन्म हुआ। अन्वेषण कार्यों के लिये हर देशों में शिक्षा केन्द्र
खोले गये। भारत ने भी इसकी प्रगति में सहयोग दिया। यहाँ के अनेकों
छात्र अमेरिका, ब्रिटेन तथा रूस के यांत्रिक तथा औद्योगिक केन्द्रों से
अध्ययन समाप्त कर लौटे। कई विश्वविद्यालयों ने भी राष्ट्रीय अन्वेषणशाला
के अन्तर्गत खोले गये यंत्र और औद्योगिक शिक्षा केन्द्रों को मान्यता दी।
उद्योगों में प्रयुक्त होने वाले साधनों के दृष्टिकोण से भारतवर्ष
विश्व का एक समुन्नत एवं संपन्न देश है। खनिज पदार्थों में कोयले
और लोहे की उपज में संसार के अग्रगण्य देशों में है। विद्युत्त शक्ति
उत्पन्न करने के लिये यहाँ नदियों का जाल बिछा हुआ है। अतः इन
सभी प्रकृति-दत्त औद्योगिक साधनों के उपयोग के लिये भारत सरकार ने
राष्ट्रीय स्तर पर 'नेशनल रिसर्च लिबोरेटरीज़' खोली हैं। यही संस्थायें

उपर्युक्त लिखित शिक्षाओं की प्रमुख केन्द्र हैं। यह संस्थायें हर क्षेत्र में अपना कार्य कर रही हैं। मोटरकार तथा हवाई जहाजों के निर्माण का कार्य भी तीव्रगति से हो रहा है। इसके अतिरिक्त अन्य वस्तुएँ जैसे साईकिल, पंप, बिजली के पंखे आदि का निर्माण विदेशों की तरह यहाँ भी हो रहा है। भारत के लिये यह विशेष गौरव की बात है कि अन्य राष्ट्रों की तुलना में वह भी औद्योगिक और यांत्रिक कार्यों के क्षेत्र में विशेष पीछे नहीं है। विदेशों से भारतीय इंजीनियर और यंत्रादि की माँग आने लगी है। देश की जनता इस महानिर्माण के व्रत की पूर्ति में तन मन धन से संलग्न है। द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत भी औद्योगिक तथा विज्ञान की शिक्षा को प्रमुख स्थान दिया गया है। इस क्षेत्र में भारत को कनाडा और आस्ट्रेलिया के अनुभवों से आशातीत लाभ प्राप्त हुआ है। अमेरिका, सोवियत संघ तथा युनाइटेड किंगडम ने भी भारत को विशेष सहयोग दिया है।

: ६२ :

बेसिक शिक्षा योजना

शिक्षा का आधार भूत तत्त्व है बालकों का सर्वांगीण विकास। दूसरे शब्दों में शिक्षा का अर्थ केवल यहीं तक सीमित न होना चाहिए कि बालक पुस्तकों के ज्ञान से ही पूर्ण शिक्षित बन जाय, वरन् शिक्षा का वास्तविक संबंध बालक के मानसिक, शारीरिक व नैतिक विकास से होना चाहिए। शिक्षा के वास्तविक उद्देश्य की पूर्त्ति उसके उपयोगी होने में ही है। शिक्षा एकांगी न होकर सर्वतोमुखी होनी चाहिए अर्थात् उसमें साहित्य, विज्ञान, गणित आदि के साथ संगीत, कला कौशल आदि का भी पूर्ण समन्वय होना चाहिए।

अंग्रेजी स्कूलों में प्रचलित शिक्षा केवल पुस्तकीय ज्ञान तक ही सीमित रही, क्योंकि यह विदेशियों द्वारा बनाई हुई योजना थी, जो हमारे समाज

के अनुकूल नहीं थी। इससे बालकों को जीवन संबंधी शिक्षा नहीं मिल रही थी, और न इस शिक्षण पद्धति में बालकों की रुचि अथवा वातावरण का ही कोई ध्यान रक्खा जाता था। ऐसी शिक्षा उनके व्यक्तित्व के विकास में सहायक न होकर बाधक सिद्ध हो रही थी। अतः इस अनुपयोगी एवं निरर्थक शिक्षा प्रणाली को हटाकर बालकों में अध्यवसाय, त्याग और सेवा की भावना जाग्रत करने के लिये महात्मा गाँधी के नेतृत्व में एक सभा की आयोजना की गई और एक समिति बनाई गई। समिति-मंत्री डाक्टर जाकिर हुसेन की अध्यक्षता में एक नवीन योजना का निर्माण हुआ। इस योजना को कांग्रेस ने बेसिक शिक्षा योजना के रूप में स्वीकार किया।

योजना बनाते समय निम्नलिखित बातें ध्यान में रक्खी गई थी :—

१—नई शिक्षा योजना की नींव मनोवैज्ञानिक हो।

२—योजना सामाजिक वातावरण और राष्ट्रीय सभ्यता के अनुकूल हो।

३—शिक्षा ७ से १४ वर्ष तक के बालकों के लिये अनिवार्य और निःशुल्क हो।

४—मातृभाषा ही शिक्षा का माध्यम हो।

५—शिक्षा किसी दस्तकारी अथवा हाथ के काम को केन्द्र बनाकर उसके आधार पर दी जाय।

६—व्यय की दृष्टि से पाठशालायें आत्म-निर्भर हों, अर्थात् अपना खर्च स्वयं चला सकें।

इस शिक्षा प्रणाली ने बालकों को मानवोचित गुणों को ग्रहण करने का अवसर प्रदान किया। उनमें आध्यात्मिक और नैतिक गुणों का समावेश किया। शिक्षा द्वारा सृजनात्मक तथा रचनात्मक प्रवृत्ति को भी प्रेरणा मिली।

उत्तर प्रदेश में काँग्रेस मंत्रिमंडल ने भी इसके सिद्धांतों को स्वीकार कर लिया। आचार्य नरेन्द्र देव की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की गई जिसकी नियुक्ति वर्धा योजना के आधार पर हुई। इसने शिक्षा प्रणाली के सभी स्तरों

पर सुझाव पेश किया। १६३८ में बेसिक शिक्षा प्रणाली समस्त देश भर में लागू की गई। ४ वर्ष में १५,००० प्राइमरी स्कूलों ने बेसिक पाठशालाओं का रूप धारण कर लिया। किन्तु १६३६ में लोकप्रिय मंत्रिमंडल के त्याग पत्र दे देने पर गवर्नरी शासन स्थापित हो गया। १६४६ में पुनः जनप्रिय मंत्रिमंडल की स्थापना हुई। इसने प्रति वर्ष २२०० स्कूल खोलने का तथा दस वर्षों में २२ हजार स्कूल खोलने का निश्चय किया। योजना निर्मित होने के पश्चात् प्रथम वर्ष में ही २,३५० स्कूल खोले गये। ५ वर्ष में १२,००० से भी अधिक प्राइमरी स्कूलों की स्थापना हुई। योजना के अनुसार पाठ्य क्रम और शिक्षा प्रणाली में भी संशोधन किया गया। हस्तकला, भाषा, गणित, समाज एवं सामान्य विज्ञान आदि विषय सम्मिलित किये गये। प्रत्येक जिले में एक बेसिक ट्रेनिंग केन्द्र खोला गया और जिन जिलों में नये स्कूल खोले गये थे वहाँ पर सचल शिक्षादल की स्थापना हुई। इसके अतिरिक्त प्राइमरी स्कूलों को बेसिक स्कूल बनाने में १६४५ से लेकर १६५३ तक में चौंतीस लाख अट्ठावन हजार चार सौ बत्तीस रुपये व्यय हुए; ६ से ११ वर्ष तक की आयु के ४० प्रतिशत बच्चों के लिये अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था की गई। १६५५ और ५६ के बजट में कुल शिक्षा पर बारह करोड़ अट्ठारह लाख छियालिस हजार एक सौ दस रुपया व्यय हुआ, ऐसा अनुमान किया गया है। अनुमानित व्यय का विवरण इस प्रकार है :—

शिक्षा अनुदान में १०२,११८,००० रु० हरिजनों की शिक्षा पर, ४,८६१,१००, रु० पुनर्वास विभाग में शिक्षा पर, १,१७१,००० रु० औद्योगिक, और व्यवसायिक शिक्षा पर १३,६६६,०१० रु० व्यय हुआ।

यह शिक्षा हमारे जीवन को प्रगतिशील बनाने वाली है। विदेशी शिक्षा पद्धति ने हमें कर्मण्यता से दूर कर अकर्मण्य बना दिया था। प्रगति के पथ पर सफलता पूर्वक अग्रसर होने के लिए ऐसी शिक्षा परम आवश्यक है। बेसिक शिक्षा के सिद्धांतों में कुछ ऐसी मूल बातों का समावेश है, जिनका बालकों के जीवन से घनिष्ट संबंध है। बालक की मनोवृत्तियों पर पारिवारिक और सामाजिक वातावरण का विशेष प्रभाव

पड़ता है। अतः शिक्षकों अथवा उसके संरक्षकों के लिये यह आवश्यक है कि वह बालक के स्वभाव के अनुसार उसे ऐसे अनुकूल वातावरण में रक्खें जहाँ उसे विकास के लिये पूर्ण अवसर प्राप्त हो सके। बालक की रुचि के अनुसार गणित, दर्शन आदि विषयों का जिनमें उसकी विशेष रुचि हो अध्ययन करने का अवसर प्राप्त होना चाहिए। केवल पुस्तकों के अध्ययन से ही मनुष्य पूर्ण ज्ञानी नहीं बन सकता इसलिये उसे एक आदर्श नागरिक बनने के लिये क्रियात्मक जीवन से भी निकट संपर्क रखना चाहिए। शिक्षा का मूल उद्देश्य उसकी विवेकशील प्रवृत्तियों को जगाना और उपयोगी बनाना है। इसलिये शिक्षा सोद्देश्य और सृजनशील होनी चाहिए। डाक्टर संपूर्णानंद के विचारानुसार 'आदर्श शिक्षा वही है जो व्यक्ति को आत्मनिर्भर बना सके। विज्ञान और टेक्नालोजी के विकास के परिणाम-स्वरूप वर्तमान युग में विचारों में ही जटिलता उत्पन्न नहीं हुई है, वरन् हमारा सामाजिक और आर्थिक ढाँचा भी जटिल हो गया है। इसलिये कोई भी व्यक्ति आज सपूर्ण नहीं है। आत्मनिर्भर रहकर सामाजिक जीवन व्यतीत करना असंभव सा है; बेसिक शिक्षा पद्धति इस बात को ध्यान में रखती है। इस शिक्षा का उद्देश्य जीवन से निकट संपर्क स्थापित करना तथा शिक्षा को जीवनोपयोगी बनाना है। बापू के शब्दों में इस शिक्षा का उद्देश्य 'बालक की आंतरिक शक्ति और सौंदर्य का विकास करना है।'

बेसिक शिक्षा को सुचारु रूप से चलाने के लिये प्रदेश में बेसिक ट्रेनिंग के ८ केन्द्र और एक बेसिक ट्रेनिंग कालेज की स्थापना की गई है, जिनमें अध्यापकों को नौ माह की ट्रेनिंग दी जाती है। इसके अतिरिक्त सचल प्रशिक्षक दलों की भी स्थापना हुई है जो अध्यापकों को उन्हीं के स्थानों में जा कर प्रशिक्षण देने का कार्य करते हैं। पुराने प्रशिक्षित अध्यापकों को नये प्रकार से प्रशिक्षित करने में इलाहाबाद के बेसिक ट्रेनिंग कालेज ने विशेष सहायता प्रदान की है। सचल शिक्षक दलों ने हिंदुस्तानी टीचर्स सर्टीफिकेट के कोर्स का प्रशिक्षण देना आरंभ किया। इससे यह लाभ हुआ कि ग्रामीण क्षेत्रों में भी शिक्षा का प्रसार होने लगा। अध्या-

पकों की शिक्षा पद्धति की ट्रेनिंग के लिये ७० हजार 'पथ प्रदर्शक' पुस्तकों की रचना हुई। इसमें केवल मौखिक पढ़ाई से ही काम नहीं चल सकता था क्योंकि हस्त-कौशल संबंधी विषयों का अध्यापन और अध्ययन अन्योन्याश्रित है। शिक्षा के प्रसार के लिये पुराने स्कूलों का विकास करने तथा नये भवनों के निर्माण की आवश्यकता थी। इसमें भी भारत सरकार ने विशेष सहयोग दिया, १०,००० से भी अधिक स्कूल भवन बनाये गये, प्रत्येक स्कूल को १००० रु० दिया गया, शेष व्यवस्था स्थानीय जनता द्वारा हुई। इस प्रकार बेसिक योजना की प्रगति उत्साहजनक रही है।

: ६३ :

श्रमदान आंदोलन

श्रमदान की परंपरा भारत में प्राचीन काल से ही चली आ रही है। प्राचीन काल में इसका बहुत महत्व था। इसके अंतर्गत केवल राष्ट्र-हित की भावना ही नहीं वरन्, सामाजिक, सांप्रदायिक एवं समस्त सृष्टि की कल्याणकारी भावनाओं का भी समन्वय निहित है। श्रमदान का अर्थ होता है अपनी अर्जित शक्तियों द्वारा निःस्वार्थ भाव से जनहित के कार्यों में हर प्रकार से सहयोग देना। आजकल श्रमदान का निकटतम संबंध ग्राम सुधार की योजनाओं से है, और इन्हीं योजनाओं को सफल बनाना इसका प्रमुख उद्देश्य है। ग्रामसुधार की योजनाओं में सर्वप्रथम पंचवर्षीय योजना आती है। इस योजना के अंतर्गत कृषि संबंधी कार्य, सिंचाई के लिये नालियाँ निर्मित करना, कुएँ खोदना, प्रकाश तथा वृक्षारोपण आदि करने का प्रबंध किया जा रहा है।

भारत की आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिये इन बहुमुखी योजनाओं को सफल बनाना हमारे लिये परमावश्यक है। इन योजनाओं की सफलता-असफलता पर ही हमारे देश का उत्थान और पतन निर्भर है।

अतः प्रत्येक नागरिक का यह प्रथम कर्त्तव्य है कि वह तन मन धन से अपनी शक्तियों को एक ही स्थान पर केन्द्रीभूत करने के लिये संलग्न हो जाएँ और अपने श्रम का एक आदर्श रूप विश्व के समक्ष प्रस्तुत करें।

हमारी राष्ट्रीय सरकार भी श्रमदान के महत्व की ओर विशेष रूप से ध्यान दे रही है। गत कई वर्षों के अंदर श्रमदान के फलस्वरूप अनेकों सार्वजनिक कार्यों में पूरी सफलता प्राप्त हुई है। उत्तर प्रदेश की लोकप्रिय सरकार के उच्चधिकारियों एवं अध्यापक, विद्यार्थी, मजदूर तथा कृषक वर्गों ने भी इसमें भाग लिया है और अपने अथक परिश्रम द्वारा बड़े सराहनीय कार्य किये हैं। शिक्षण संस्थाओं के विद्यार्थियों ने तो भव्य इमारतों के निर्माण के साथ ही साथ उद्यान, चहारदीवारी तथा सड़कों के निर्मित करने में अपनी कुशलता का पूर्ण परिचय दिया है। किन्तु योजना के उद्देश्य की पूर्ति के लिये सरकार जो रुपया व्यय कर रही है वह जनता का ही है, जिसे वह सरकार को कर के रूप में देती है। जनता को श्रमदान के प्रति प्रेरित करने के लिए यह आवश्यक है कि उससे कर द्वारा प्राप्त धन का सदुपयोग हो। दूसरी बात यह है कि कर का भार उतना ही होना चाहिए जिसे जनता सहर्ष वहन कर सके, अन्यथा जनता का सहयोग प्राप्त होना कठिन होगा।

यदि श्रमदान का समुचित प्रबंध किया जाय तो संभवतः कृषि तथा पंचायतों और ग्रामों की आर्थिक स्थिति में यथोचित सुधार हो सकता है। श्रमदान ही मानव के अंतःकरण को विशुद्ध करने का एक श्रेष्ठतम मार्ग है। अंतःकरण के शुद्ध हो जाने पर उदारता, परोपकार एवं त्याग की उज्ज्वल भावनाओं का हृदय में समावेश होता है। यही भावनायें हमें स्वार्थ से परमार्थ की ओर तथा पतन से उत्थान की ओर ले जाने में सहायक होती हैं। इतना ही नहीं, वरन् हमारे मानसिक, एवं शारीरिक विकास में भी श्रमदान का महत्वपूर्ण हाथ है, जिसके फलस्वरूप हम आशा करते हैं कि हमारी आर्थिक स्थिति के सुधार में तथा राष्ट्र को उन्नति के शिखर पर ले जाने में श्रमदान आंदोलन अत्यंत महत्वपूर्ण सिद्ध होगा।

इस आन्दोलन का प्रमुख उद्देश्य जनता में रचनात्मक कार्यों के प्रति विशेष रुचि उत्पन्न करना है। २३ जनवरी १९५३ से समस्त राज्य भर में बड़े समारोह के साथ श्रमदान सप्ताह मनाया गया। इसे अधिक व्यापक बनाने के लिये उच्च कक्षाओं के पाठ्यक्रम में भी सम्मिलित कर लिया गया।

किसी उद्देश्य की पूर्ति में सफलता तभी प्राप्त हो सकती है जब कि शासक और जनता का पूर्ण रूप से आपसी सहयोग हो। किन्तु हम देखते हैं कि हमारी राष्ट्रीय योजना को कार्यान्वित करने में जनता तथा शासकों की कितनी रुचि है, तो हमें इस बात का पता चलता है कि जनता इसकी वास्तविकता समझने में भी असमर्थ है। उसकी असमर्थता का भी एक विशेष कारण है, और वह है, उसकी निर्धनता की जटिल समस्या जिससे मुक्ति पाना उसके लिये असंभव सा हो गया है। ऐसी स्थिति में वह किसी कार्य में सहयोग देने में भी सर्वथा असमर्थ है। दूसरी बात यह है कि योजना की प्रणाली भी ऐसी नहीं है जो सभी को अपनी ओर आकर्षित कर सके। बल्कि वास्तविक स्थिति तो यह है कि दिन भर घोर परिश्रम करने पर भी बेचारा मजदूर पर्याप्त वेतन नहीं पाता, तब क्या श्रमदान से पीड़ितों की समस्या का हल निकल सकता है, यह एक विचारणीय प्रश्न है।

श्रमदान से देश की संकटापन्न स्थिति तभी दूर हो सकती है जब सरकारी अधिकारी जनता को अपनी ईमानदारी का पूर्ण परिचय दें, और उसके कष्टों को दूर करने के लिये विशेष रूप से प्रयत्न शील हों; अर्थात् निजी स्वार्थ से परे होकर जनता की भलाई में निरत हो जाएँ। तभी जनता के मन में सरकार के प्रति आस्था उत्पन्न होगी और उन्हें इस बात का पूर्ण विश्वास होगा कि उनके सम्मिलित श्रम का उचित लाभ उन्हें प्राप्त होगा।

इसके अतिरिक्त भी एक दूसरी समस्या उपस्थित होती है—वह है शिक्षित व्यक्तियों के दृष्टिकोण के विषय में। आज के शिक्षित वर्ग में कुछ इने गिने लोग ही श्रमदान के महत्त्व को समझते है; शेष लोगों के लिये वह केवल मनोरंजन का एक साधन मात्र है। अधिकांशतः इस आन्दोलन में शिक्षित

वर्ग के ऐसे व्यक्ति जो स्वार्थी हैं या ऊँचे पद प्राप्त करना चाहते हैं वही सम्मिलित होते हैं। ऐसी स्थिति में उद्देश्य की पूर्ति होना असंभव सी बात है, क्योंकि जब ये व्यक्ति श्रमदान के लिये गाँवों में नियुक्त होकर जाते हैं तब ग्रामवासी इन व्यक्तियों का कार्य के प्रति विशेष रुचि न देखकर उसे केवल दिखावा समझते हैं। इसीलिये ग्रामवासी भी इनके कार्यों में सहयोग नहीं देते। एक अन्य कारण यह भी है कि ग्रामवासी सामाजिक या आर्थिक उपयोगिता को बहुत कम समझते हैं, परन्तु अनेक स्थानों में यह कार्य विशेष ईमानदारी के साथ समपन्न हो रहा है।

ग्राम विभाग से संबंधित अनेकों विभाग जैसे प्रांतीय रक्षा दल, पंचायतें, कृषि विभाग, सिंचाई विभाग, जन-निर्माण विभाग आदि ने श्रमदान आंदोलन में विशेष सराहनीय कार्य सम्पन्न किये हैं। मन्त्रालय के कर्मचारियों और सार्वजनिक संस्थाओं ने भी इसमें सहयोग दिया है। मन्त्रियों ने फावड़ा कुदाल लेकर इस आन्दोलन का नेतृत्व किया है। नालियों के निर्माण, सड़कों की मरम्मत आदि में भारत सेवक समाज की सेवायें भी विशेष रूप से उल्लेखनींय हैं। उपर्युक्त संस्थाओं के सम्मिलित परिश्रम द्वारा उत्तर प्रदेश में दो सो तैंतालिस तालाब खोदे गये, और दो सौ पचपन गहरे किए गए। पांच सौ छियालिस कुओं का निर्माण हुआ। उन्हत्तर मील लम्बी नालियाँ सिंचाई के लिए बनाई गई। बासठ पुलियाँ और तीन पुल बनाये गए। इसके अतिरिक्त एक लाख पचीस हजार सात सौ नालियाँ तथा चारसौ गढ़ों का निर्माण हुआ।

श्रमदान का उद्देश्य केवल योजनाओं की पूर्त्ति तक ही सीमित नहीं है, वरन् मनुष्यों के नैतिक स्तर को उन्नत बनाना तथा उनमें देश भक्ति, स्वार्थ त्याग की भावनायें उत्पन्न करना है। और इन्हीं भावनाओं के अवलंब पर देश की आर्थिक समस्या एवं बेकारी की विभीषिका का निवारण हो सकता है तथा देश पुनः सुखी एवं सम्पन्न हो सकता है। अतः सभी के लिए यह आवश्यक है कि श्रमदान के लिए अपना तन मन धन अर्पित करने के लिए सदैव तत्पर रहें।

: ६४ :

आधुनिक वैज्ञानिक आविष्कार

आवश्यकता अविष्कारों की जननी है। मानव-सभ्यता जैसे जैसे उन्नति के उच्च शिखर पर चढ़ती जाती है, मनुष्य की आवश्यकताओं का क्षेत्र भी उसी मात्रा में विशाल होता जाता है। असंतोष ही जीवन का दूसरा नाम है, इस कारण मनुष्य अपनी वर्तमान परिस्थिति में कभी तुष्ट न रह कर नित्य नवीन सुख की कल्पना करता है। जहाँ कल का मनुष्य अपने को पैदल यात्रा या कार अथवा रेल की यात्रा से बढ़ कर वायुयान के आनन्द को ही सर्वोपरि समझ रहा था, वहाँ अब मङ्गल-ग्रह की राकेट-यात्रा की केवल बातें ही नहीं चल रही हैं, भावी यात्रा के लिए राकेट में स्थान भी पूर्वाधिकृत किए जा रहे हैं। यही नहीं, शीशे के वस्त्रों के प्रयोग, तथा खाद्य-पदार्थों के सम्बन्ध में भी नये नये अनुसंधान हो रहे हैं। सिनेमा का स्थान टेलीविज़न लेता जा रहा है। धातुओं के स्थान पर प्लास्टिक का अधिकाधिक प्रयोग हो रहा है। प्लास्टिक ने तो चिकित्सा के क्षेत्र में भी—प्लास्टिक सर्जरी के रूप में, अपूर्व कार्य किया है। अखरोट से पीतल की वार्निश का आविष्कार हुआ है।

चिकित्सा के क्षेत्र में भारत की एक अद्‌भुत देन 'सर्पगंधा' नामक जड़ी है। रक्तचाप की चिकित्सा का अब तक कोई उचित विधान न था। प्रयोग करने पर इस साधारण जड़ी को रक्तचाप की अपूर्व औषधि पाया गया। इसी प्रकार संतति-नियमन के क्षेत्र में भी अब तक काफी अन्धकार था। किसी प्रकार की कोई औषधि ऐसी न थी, जो पूर्ण सफल एवं दोषरहित हो, अधिकांश औषधियों में कुनैन की मात्रा रहती थी एवं उनके आंतरिक या वाह्य प्रयोग से हानि की आशंका रहती थी। भारत-सरकार द्वारा इधर मटर के कैप्स्यूल बनाये जा रहे हैं, जिनकी लागत केवल दो आने पड़ेगी, एवं, जिनके दोषरहित होने की पूरी संभावना है। कुत्ता खाँसी के लिये भी अब तक कोई प्रभावशाली उपचार न था। राष्ट्र के कितने होनहार भावी

नागरिक इस भीषण रोग के शिकार होकर अल्पावस्था में ही काल के
कराल गाल में समा जाते थे। अब 'एरोस्पोरिन' नामक पदार्थ से इस रोग
के काफी मात्रा में दूर किए जा सकने की आशा है। यह 'एण्टिबायोटिक'
पदार्थ इङ्गलैण्ड के सरे नामक स्थान की मिट्टी में उपलब्ध है।

मिट्टी से रोग दूर करने के क्षेत्र में नए नए प्रयोग और हो रहे हैं।
'क्लोरोमाइसिटीन' जैसी उपयोगी औषधि का निर्माण भी वेन्जुएला के एक
खेत की मिट्टी से हुआ था। छुतैले द्रव्यों से होने वाले जुकाम, इन्फ्लुएंजा,
पीला बुखार आदि रोगों के उपचार के लिए भी मिट्टी के प्रयोग हुए हैं, एवं
सफलता प्राप्त हुई है। कैंसर के रोगी जब असाध्यावस्था में पहुँच कर पीड़ा
से तड़पने लगते हैं, उस समय इस पीड़ा के अनुभव से मुक्त करने के
लिए उन्हें 'मार्फीन' के इंजेक्शन दिए जाते थे। इस 'मार्फीन' का निर्माण
'अफीम' से हुआ है। इसी उद्देश्य के लिए, अफीम से एक और 'मेटोपोन'
नामक औषधि का निर्माण किया गया है जो मार्फीन से अधिक शक्तिशाली
है। यद्यपि इस औषधि का प्रयोग करते करते एक ऐसी स्थिति आती है,
जब कि यह औषधि रोगी के ऊपर प्रभावहीन हो जाती है; पर जहाँ 'मार्फीन'
में ऐसी अवस्था शीघ्र आ जाती है, वहाँ 'मेटोपोन' द्वारा यह स्थिति देर में
उत्पन्न होती है।

अब तक कैंसर को दूर करने के लिए रेडीयम की किरणों से काम लिया
जाता था; अब यही कार्य उससे भी अधिक शक्तिशाली कोबाल्ट किरणों से
लिया जाता है। इन रेडियो सक्रिय कोबाल्ट किरणों की जरा सी झलक
से ही भयंकर से भयंकर कैंसर दूर हो जाता है। इन्हें 'रेडीयम तोप' भी
कहते हैं। रूस के स्वास्थ्य-मन्त्रालय के प्रोफेसर कोचेर्राजन का कहना है
कि इस नए परीक्षणवाली रेडीयम तोप से गहरे से गहरा कैंसर दूर हो
सकता है। उनके अनुसार इस यन्त्र से कोबाल्ट किरणों का उपयोग चार
सौ ग्राम रेडीयम के बराबर है। टैली-रेडियम इलाज से फेफड़े का कैंसर दूर
करने में भी सफलता मिली है। यूक्रेन के चिकित्सालयों में इन यंत्रों का
प्रयोग बहुतायत से हो रहा है। जिनेवा-सम्मेलन में रूसी प्रतिनिधि ने

अणु के शांतिपूर्ण प्रयोगों के संबंध में बताया था कि कैंसर दूर करने में उन्हें ६४ प्रतिशत सफलता प्राप्त हुई है।

वाहन अथवा आवागमन के साधनों में भी सुधार हो रहा है। अब ऐसी मोटरों का निर्माण हो रहा है, जो हल्की होंगी। कुछ ऐसी सस्ती मोटरें बन रही हैं, जो मध्यश्रेणी के लोगों के लिए भी सुलभ हो सकेंगी। जर्मनी के डाक्टर अलबर्ट साइमन संसार का सब से बड़ा विमान बना रहे हैं। वह इतना बड़ा होगा कि उसमें चार सौ यात्री एक समय में यात्रा कर सकेंगे। यह विमान बन जाने पर हवाई यात्रा सरल हो जायगी। इस ६५० फुट लम्बे विमान में हेलियम नामक तेल भरा जायगा, जिसमें आग नहीं लगती। एक 'वाक्सवैगन आफ दी एयर' अथवा 'जनता का विमान' भी जर्मनी में बन रहा है। इस अत्यंत सस्ते विमान की कीमत केवल १२,००० मार्क होगी। यह विमान २४ फुट लम्बा होगा; पंखों का कुल घेरा इसका दुगुना होगा। इसमें केवल दो या तीन व्यक्ति बैठ सकेंगे। अमरीका की एक कंपनी ने सरल उड़नखटोला भी बनाया है, जिसको कोई भी २० मिनट सीखने के बाद चला सकता है। यह न केवल १५० सेर वजन ढो सकता है, वरन् १५० मील तक ६५ मील प्रति घंटा की गति से निरंतर उड़ सकता है। इसी प्रकार की एक हवाई साइकिल अमेरिका की हवाई-सेना में प्रयुक्त हो रही है। इसका वज़न २०० पौंड है, तथा इसमें लगाई गई मोटर चार हार्स पावर की है। इस हवाई साइकिल में साइकिल जैसा ही हैण्डल लगा होता है। चालक को जिस दिशा में उड़ना होता है, वह उस दिशा में झुक जाता है। विमानों के क्षेत्र में—जंग न लगने वाले इस्पात तथा टीटानियम युक्त धातु से बनने वाले विमानों आदि में भी कई प्रयोग हो रहे हैं। किंतु इस दिशा में सबसे महत्व का प्रयोग हो रहा है, विमानों के निर्माण में चीनी मिट्टी के उपयोग का। पोर्सिलीन या चीनी मिट्टी का उपयोग धातु पर लेप के समान किया जायगा, इससे उसकी गति में वृद्धि होगी। पहले विमान अधिक गति से उड़ाने पर पंखों में इंजन द्वारा आग लग जाती थी। पर चीनी मिट्टी उस

ताप को सहन कर अपने चिकनेपन से उसकी गति बढ़ायेगी।

बर्लिन की एक कम्पनी ने पानी में चलने वाली प्लास्टिक की स्कूटर बनाई है। इसमें एक सिलैंडर है, और इसकी शकल अंडाकार है। यह एक घंटे में दस मील चल सकती है। रूस ने एक ऐसी पनडुब्बी बनाई है जो ३०० फुट गहरे पानी में होने पर भी, पानी की सतह पर निशाना लगाने के साथ सतह से १४० मील दूर तक मार कर सकती है।

विचार-शक्ति से युक्त 'रॉबट' या 'यन्त्र-मस्तिष्क' के संबंध में भी कई अनुसंधान हुए हैं। ये रॉबट गणित, आधुनिक घटना-चक्र, तथा इतिहास आदि से संबद्ध प्रश्नों के उत्तर दे सकते हैं। केनेथ फ्रायड नामक विद्यार्थी ने एक ऐसा रॉबट बनाया है, जो कागज उठा सकता है, पानी की बन्दूक से अपना बचाव कर सकता है तथा लड़के लड़कियों से छेड़छाड़ भी कर सकता है। यही नहीं, अपने वालों को खड़ा करके वह भय-प्रदर्शन करने में भी नहीं चूकता। इसके निर्माण में २०० डालर व्यय हुए हैं।

खाद्य-पदार्थों की दिशा में जेकोस्लोवाकिया के वैज्ञानिकों ने एक नवीन अनुसंधान किया है। ब्लाटना-स्थित 'बोहम वनस्पति अनुसंधानशाला' में ऐसा आलू उपजाया गया है, जिसका स्वाद सेव जैसा है। मजे की बात यह है कि यह आलू सेव की ही भाँति कच्चा खाया भी जा सकता है। इसमें 'विटामिन सी' भी काफी मात्रा में मिलता है, तथा सबसे बढ़कर विशेषता यह है कि यह विटामिन आलू उबाले जाने पर भी नष्ट नहीं होता।

इसके अतिरिक्त सफरी एक्सरे यंत्र जो परमाणु भट्टी से प्राप्त होने वाले रेडियो-एक्टिव आइसोटोपों की सहायता से निर्मित हुए हैं, भी बनाए गए हैं। लारियों का वज़न लेने वाली सफरी तराजू वाली मशीनें भी बनी हैं। इसके द्वारा चलते फिरते रहकर भी किसी स्थान पर रुक कर झट किसी लारी का वज़न लेकर यह पता लगाया जा सकेगा कि इसमें कितने वज़न का सामान भरा है। एक आँख पर होने वाला शीशा भी बनाया गया है, जो समाचार पत्र के कागज जितना मोटा है। इसका भार

इतना कम है कि इसे तैरने वाला शीशा कहा जाने लगा। इसे आँख की ऊपर की पलक पर चिपका दिया जायगा, जो पलकों के झपकने के साथ ऊपर नीचे होता रहेगा, और आँखें किसी भार का अनुभव नहीं करेंगी।

मनोरंजन के क्षेत्र में भी काफी आविष्कार हुए हैं। बारह इंच के व्यास का एक ऐसा ग्रामोफोन रेकार्ड बनाया गया है जो लगातार आधा घण्टे तक आप का मनोरंजन कर सकता है। उतनी देर में साधारणतया बदल बदल कर आपको १० रेकार्ड बजाने पड़ते। वस्तुतः यह रेकार्ड मशीन पर बहुत धीमी गति में घूमता है। सिनेमा के क्षेत्र में प्रथम आविष्कार सिनेमा स्कोप का है। इसकी विशेषता इतनी ही है कि इसमें पर्दे बड़े कर दिए जाते हैं, और एक बड़े पर्दे पर सारे दृश्यों का आनन्द हम लेते हैं। अनेक क्रियाओं, एवं अगणित मनुष्यों का अवलोकन आप उसी स्थान पर बैठे-बैठे कर सकते हैं। स्टीरियोफोनिक ध्वनि से (Stereophonic) ध्वनियों की यथार्थता विशेषतः वातावरण गत यथार्थता उपस्थित होती है। थ्री डी पिक्चर्स से हम किसी भी दृश्य को उसके यथार्थ रूप, अर्थात् जैसे हम अपनी आँखों से देखते हैं—लम्बाई, मोटाई, तथा गहराई युक्त, पाते हैं। किन्तु यह प्रयत्न यहीं तक सीमित नहीं रहा है। अब तो ऐसा भी प्रयत्न हो रहा है कि दर्शक उपवन का दृश्य आने पर पुष्पों की गन्ध का भी अनुभव कर सकें। पर इस में अभी समय लगेगा।

बड़ी बड़ी मशीनें भी काफी निकल रही हैं। ब्रिटेन में मोजे बनियाइन बनाने का संसार की सबसे तेज़ मशीन बनी है, जो एक मिनट में टाँके की सौ कतरें बिनती है। रूस में, लकड़ी में मन चाहे मोड़ देने वाली मशीनें बन रही हैं। इस मशीन के अविष्कार से फर्नीचर-उद्योग में नई क्रांति आ गई है। इसके अतिरिक्त रूसी लोगों ने 'किरोवस्की मैटलिस्ट' नामक एक और मशीन फर्नीचर के कारखाने के लिए ईजाद की है, जिससे लकड़ी काटने, छीलने तथा साफ सुथरा करने वाले भारी भारी औज़ार आराम से पैने अर्थात् तेज़ धार वाले बनाए जा सकेंगे। मेनस्कित पोर्टलैंड की 'नार्दन पोर्टलैंड कारपोरेशन' के श्री हरसन कोहैन ने एक २४ फुट लम्बे कृषि-

यंत्र का आविष्कार किया है, जो जुताई, बुआई, भूमि को समतल करना, बीज बोना, आदि कई कार्य एक साथ कर सकेगा। सूर्य-ताप-चूल्हा भारत में भी बनाया जा चुका है। सूर्य से विद्युत ग्रहण करने के लिए रूस में ऐसे स्टेशन बनाए जा रहे हैं, जहाँ सूर्य-ताप को विद्युत में परिणत किया जा सकेगा।

किन्तु विज्ञान ने जहाँ इतने सुख के साधन प्रस्तुत किये हैं, वहाँ वह सृष्टि के संहार की भी व्यवस्था कर रहा है। अणु बम और उद्जन बम के प्रयोग चल ही रहे हैं। एक जंगी हेलीकोप्टर भी बनाया गया है, जिसकी गति ७५ मील प्रति घण्टा है। इसका नाम है, 'जिन'। इस पर दो व्यक्ति बैठ सकते हैं। इसकी विशेषता यह है कि यह चारों ओर से खुला हुआ है और मशीन का अधिकांश भाग ऊपर की ओर 'फिट' है। यह भूमि पर झटका देकर ऊपर उठता है, और चारो ओर चक्कर खाता है।

यद्यपि वैज्ञानिकों ने मानव-कल्याण के लिए खोजी गई शक्तियों को भी संहार का रूप देने में कोई कसर नहीं उठा रखी, फिर भी मानवीय-प्रकृति संहार की अपेक्षा निर्माण की ओर अधिक झुकती है। यही कारण है कि अब अणु-शक्ति से मानवता के नाश की अपेक्षा विकास पर अधिक बल दिया जा रहा है। वाशिंगटन-स्थित विशाल भवन 'कैपीटोल' को जहाँ अमरीकी संसद की सभाएँ होती है, अणु-शक्ति द्वारा विद्युत प्रकाश ही नहीं पहुँचाया जायगा, ताप और शीत की व्यवस्था भी होगी। यही नहीं उसमें अणु-शक्ति के अधिकाधिक मानव-कल्याणकारी अन्य प्रयोगों की ओर प्रयत्न हो रहा है। जब तक मानव विज्ञान को, मानवता के सहज गुणों—दया, करुणा, उपकार, आदि के वशीभूत होकर, प्रयोग में नहीं लायेगा, तब तक विज्ञान के सारे घातक प्रयोग आत्महत्या के समान मानवता के नाश के लिए होंगे। जब तक सर्व-सामान्य के हित की दृष्टि से कार्य नहीं होगा तब तक विज्ञान विश्व-शांति में बाधक ही रहेगा। संतोष की बात है कि इस दिशा में सभी राष्ट्र प्रयत्नशील हैं।

: ६५ :

स्वतंत्रता-संग्राम में नारी का सहयोग

भारत की जनता के सभी वर्गों में देश प्रेम की भावना व्याप्त रही है। यहाँ की स्त्रियाँ त्याग और सहनशीलता की मूर्ति ही नहीं रही हैं, उनमें शिशु-पालन के साथ साथ तलवार उठाने की शक्ति भी रही है। वे देवियाँ दया और करुणा की साक्षात प्रतिमा बन कर पति-सेवा को ही अपना सर्वस्व मान कर उसी में लीन नहीं रहती थीं, अवसर पड़ने पर देश के लिए प्राण दे देने में भी पीछे नहीं रही हैं। मुसलमानों के आक्रमण के समय इन देवियों ने युद्ध-भूमि में रणचंडी के समान बनकर तथा जलती चिता में कूदकर अपने शौर्य का परिचय दिया है। किंतु मुस्लिम-काल में इनका दृष्टिकोण मुख्यतः अपने अधिकारों अथवा अपने सतीत्व की रक्षा रहा है। आधुनिक काल में देश के स्वातंत्र्य-संग्राम में अग्रसर होने वाली पहली महिला थीं—झाँसी की रानी लक्ष्मी बाई, जिन्होंने भारत की स्वतंत्रता के लिए न केवल सामूहिक रूप से प्रयत्न किया, वरंच अंग्रेजों के छक्के छुड़ा दिए।

लक्ष्मीबाई की बचपन से ही युद्ध तथा अस्त्रकला में रुचि थी। स्वतंत्रता की भावना बीज रूप में बहुत पहले ही इनके हृदय में वर्तमान हो चुकी थी, जो विवाह के पश्चात् और भी बढ़ गई। जिस समय अंग्रेजों ने इनका राज्य हड़पने का प्रयत्न किया, उस समय मानो इस स्वातंत्र्य-भावना की ज्वाला में घी पड़ गया। रानी उस अन्याय से उबलकर और भी दृढ़ हो गई। वह वीराँगना बोली, 'मैं अपनी झाँसी नहीं दूँगी।' वह ललकार न केवल झाँसी के लिए थी, वरन् समग्र भारत को विदेशियों के पंजों से मुक्त करने की चुनौती थी। यही वह ज्योति थी जिसने नाना साहब धुन्धुपन्त तथा ताँतियाटोपे जैसे ज्वलंत दीपों को प्रज्वलित किया और एक बार १८५७ में विद्रोह की प्रचंड ज्वाला जाग्रत की। यदि उस वीरांगना के अनुसार ही सारे कार्य निश्चित समय पर धैर्य पूर्वक होते तथा कुछ जयचंद न पैदा हो जाते

तो, भारत बहुत पहले ही स्वतंत्र हो जाता। वह घोड़े की पीठ पर बैठ कहाँ नहीं अंग्रेजों के छक्के छुड़ाती फिरी—खूब लड़ी—पर अंत में घायल होकर वीर-गति को प्राप्त हुई।

फिर एक बार पर्याप्त समय के लिए अंधकार छा जाता है। अंग्रेज क्रूरता से उस स्वतंत्रता की ज्वाला को दबा देते हैं। फिर न केवल दमन का नग्न चक्र चलता है, वरंच काफी समय के लिए वह ज्वाला मंद पड़ जाती है। बीच बीच में वह ज्वाला भड़कती है, पर उसमें पुरुषों का ही अधिक हाथ रहता है।

तत्पश्चात् राजनीतिक-क्रांतियों का समय आता है, और भारत के राजनीतिक-रङ्गमञ्च पर एक महिला इस विचार-धारा को लेकर प्रकट होती है कि 'भारत सत्यं शिवं सुन्दरम्' का देश है, वही विश्व को मोक्ष प्रदान करने में समर्थ है। भारत के प्राचीन गौरव से प्रभावित यह महिला थी मैडम लैवस्की। भारत में यही थियोसाफिकल आन्दोलन की जन्म दात्री थीं। इनके द्वारा वह जन समूह को जाग्रत कर उनमें आत्म-विश्वास की भावना पैदा करना चाहती थीं। इन्हीं की सभाओं में ही इण्डियन नेशनल काँग्रेस का जन्म हुआ, जिसे आज भारत को स्वतंत्र करने का श्रेय मिला है।

मैडम लैवस्की ने समस्त विश्व का भ्रमण किया, एवं विश्व में फैले विभिन्न धर्मों तथा विश्वासों का सूक्ष्मता से अध्ययन किया। अंत में वह इस निर्णय पर पहुँचीं कि हिन्दू धर्म ही इनमें श्रेयस्कर है, तथा हिमालय के अलौकिक बुद्धि-संपन्न योगी ही विश्व को आत्मिक-शांति तथा मोक्ष प्राप्त करने में पथ-प्रदर्शन करने में समर्थ हैं।

२० वीं शताब्दी के प्रारंभ में एक और विदेशी रमणी प्रकाश में आती हैं। ये थीं सिस्टर निवेदिता। सिस्टर निवेदिता इंग्लैंड से भारत सत्य तथा ज्ञान के अन्वेषण के लिए आई थीं। यहाँ आकर वे श्रीरामकृष्ण की अनुगामिनी बन गईं। उनका कार्य-क्षेत्र मुख्य रूप से बंग-प्रदेश था, जहाँ उन्होंने शिक्षा के लिए कार्य किया, तथा भारतीय-महिलाओं के उत्थान की चेष्टा की। उनकी ही अपूर्व चेष्टा की फलरूप थीं बीनादास, जिन्होंने

गवर्नर पर गोली चलाई, तथा प्रीतिलता जो प्रसिद्ध चटगाँव शस्त्रागार केस की अभियुक्ता थीं, जैसी वीरांगनाएँ। उनकी कार्य क्षमता, दृढ़ता एवं साहस ने महिलाओं में एक अद्भुत शक्ति का संचार किया।

उन्होंने ऐसी पुस्तकों की रचना की जो भारतीयों में स्वतन्त्रता, साहस, तथा आत्मविश्वास की भावना भरने में समर्थ हुईं। उनसे उन्हें अपनी संस्कृति के प्रति आत्म-गौरव की अभूनुति ही नहीं हुई, अपने भाग्योदय पर भी विश्वास हुआ। वे स्वामी विवेकानन्द की शिष्या थीं, उन्होंने उन पर भी एक पुस्तक लिखी—'स्वामी, जैसा कि मैंने उन्हें देखा'—'Master as I saw Him' बाद में यह आंग्ल-भिक्षुणी काली की उपासिका बन गईं।

भारत में थियोसाफिकल आन्दोलन चल ही रहा था। इस बीच में डा० एनीबेसेन्ट ने आकर मैडम लैवस्की के छोड़े हुए कार्य को सँभाल लिया। उन्होंने होमरूल लीग की स्थापना की तथा प्रथम-विश्व-युद्ध के समय वे भारत के लिये स्व-शासन (Home Rule) की माँग उठाई। वे भारत के राजनीतिक गगन की उज्ज्वल नक्षत्र ही नहीं बन गईं, तिलक तथा लाजपतराय के साथ उनकी गणना होने लगी। वे एक लेखिका थीं। उन्होंने अनेकों पुस्तकें प्रकाशित कराईं। शिक्षा की ओर भी उनका ध्यान था, जिसके फलस्वरूप बनारस में सेन्ट्रल कालेज की स्थापना हुई। यही सेन्ट्रल कालेज काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का पूर्वज था।

२० वीं शताब्दी के तीसरे दशक तक गाँधी जी का स्वातंत्र्य-संग्राम के क्षेत्र में नेतृत्व स्थापित हो चुका था, तथा वे अपने अहिंसावाद एवं असहयोग के अस्त्रों से ब्रिटिश सरकार से लोहा ले रहे थे। उनकी एक प्रसिद्ध अनुगामिनी थीं, एक ब्रिटिश एडमिरल की पुत्री, मिस मेडलाइन स्लेड, जो बाद में मीरा बेन के नाम से प्रसिद्ध हुईं। वे ऐश्वर्यपूर्ण जीवन पर लात मार कर, भारत के गरीबों से सच्ची सुहानुभूति प्रकट करने के लिए, निर्धनतापूर्ण जीवन बिताने आईं। वे गाँधी-आश्रम की निवासिनी बनीं, एवं सविनय आज्ञा-भंग आन्दोलन में दो बार गिरफ्तार की गईं।

राउण्टेबिल-कान्फ्रेंस वाले वर्ष, अर्थात् १९३१ गाँधी जी के साथ यह भी इंगलैंड गईं थीं। सन् १९३४-३५ में इन्होंने भारत की स्वतन्त्रता के लिए ब्रिटेन तथा अमेरिका का भी भ्रमण किया।

वे १९४२ में पुनः गिरफ्तार की गईं थीं, तथा उन्हें गाँधी जी के साथ ही आगा खाँ महल में २१ माह तक कैद रखा गया। सन् १९४४ में उन्होंने गाँधी जी के चरण-चिह्नों पर चलते हुये एक अपना छोटा सा आश्रम खोला। सन् १९४६ में उत्तर प्रदेश की सरकार ने उन्हें 'अधिक अन्न उप-जाओ' आंदोलन में विशेष परामर्श दाता के रूप में नियुक्त किया।

भारतीय-स्वतंत्र्य-संग्राम की एक अन्य प्रमुख महिला थीं—श्रीमती सरोजिनी नायडू, जिन्हें १९२५ में इण्डियन नेशनल कांग्रेस का सभापति भी बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। यह सौभाग्य प्राप्त करने वाली ये प्रथम महिला थीं। स्वातंत्र्य-संग्राम में सतत भाग लेने के कारण इस कवयित्री को 'वंदीगृह की चिड़िया' के नाम से पुकारा जाने लगा था। ये ही प्रथम महिला थीं, जो उत्तर प्रदेश ऐसे विशाल भूभाग की गवर्नर हुईं, तथा उस प्रतिष्ठापूर्ण पद पर कार्य करते हुए ही मरीं। उनकी अंग्रेजी भाषा की रचनाओं का न केवल भारतीय-भाषाओं में वरन् कुछ विदेशी भाषाओं में भी अनुवाद हो चुका है।

एक अन्य महिला कमलादेवी चट्टोपाध्याय तो रङ्गमञ्च से राजनीति की ओर आईं। १९२६ में उन्होंने धारा सभा का चुनाव लड़ा, १९२२ में वे कांग्रेस में शामिल हुईं, तथा १९३० तक वे 'अखिल भारतीय स्त्री-समाज' की संगठन-मंत्राणी रहीं। सविनय आज्ञाभंग आंदोलन करने में वे अग्रगण्य रहीं। उन्होंने सामाजिक-सुधार के क्षेत्र में भी कार्य किया। बाल विवाह का विरोध कर 'शारदा-एक्ट' पास कराने में उनका भी हाथ रहा है। समाज-वादी आंदोलन में भी उनका भाग रहा है, एवं उन्होंने 'आलइण्डिया कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी की भी स्थापना की थी। युवक-आंदोलन में भी उनकी रुचि रही।

१९४२ के आंदोलन ने एक नई वीरांगना को जन्म दिया, और वे थीं

श्रीमती अरुणा आसफ अली। बम्बई में नौ अगस्त को वे एक अज्ञात स्थान से प्रकट हुईं, और पुलिस से घिरे हुए स्थान पर तिरंगा फहरा दिया। लुका छिपी के खेल खेलती इस क्रांतिकारिणी ने विदेशी शासन को नाक में चने चबवा डाले। इन्होंने १६२८ में श्री आसफ अली से विवाह किया था। आजकल ये वामपक्षी दल में हैं।

तदतिरिक्त महात्मा गाँधी को प्रेरणा देने वाली, उनके कंधे से कंधा भिड़ा कर स्वातंत्र्य-समर में आगे बढ़ने वाली माता कस्तूरबा, राजकुमारी अमृत कौर, विजयालक्ष्मी, तथा सुभद्रा कुमारी चौहान एवं जलियाँवाला बाग के हत्याकांड, तथा सन् १६४२ में स्थान स्थान पर असहयोग और विद्रोह की आग भड़काने वाली महिलाओं को भूल जाना अन्याय ही होगा। बलिया तथा सितारा में क्रांति का झंडा लेकर पुरुषों को प्रोत्साहित करने वाली, कायर पतियों के हृदय में विद्रोह की ज्वाला भड़काने वाली, तथा अग्नि शिखा सी बङ्गाल की महिलाएँ क्या भूलने योग्य हैं? अभी भारत के एक भाग, गोवा की स्वाधीनता के लिए हुए आंदोलन में कितनी ही महिलाओं ने पुरुषों के साथ ही डंडे, गोलियाँ खाईं। उनमें छोटे छोटे बच्चे लिए माताएँ भी थीं, वृद्धाएं और युवतियाँ भी। वीरता से भारत का ध्वजा लेकर आगे बढ़ने वाली वीरांगना सुभद्रा बाई का नाम भला हम कैसे भुला सकते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अत्यंत प्राचीन काल में ही भारत के स्वातंत्र्य-समर में स्त्रियों ने न केवल प्रमुख भाग लिया, वरन् क्रांति का झंडा ऊँचा उठाकर पुरुषों का नेतृत्व करने में भी वे पीछे नहीं रहीं। उन्होंने दिखा दिया कि वे केवल सुकुमारता की मूर्ति ही नहीं; समय पड़ने पर तलवार उठाने के साथ साथ डंडे और गोलियों को हँसते हँसते खा सकती हैं। भारत की स्वतंत्रता में यहाँ की स्त्रियों का भी हाथ रहा है, और उसकी रक्षा में आगे भी रहेगा, ऐसी आशा ही नहीं हमें विश्वास है। जब भारत की स्वतंत्रता का इतिहास लिखा जायगा, भारत को स्वतंत्र कराने वाली इन वीरांगनाओं का नाम स्वर्णाक्षरों से लिखा जायगा एवं युग-युगान्तर तक भारतवासी इनका स्मरण आदर पूर्वक करते रहेंगे।

: ६६ :

प्राच्य और पाश्चात्य नारी-जीवन

पूर्व और पश्चिम, प्राच्य और पाश्चात्य, दोनों दो विभिन्न सभ्यताओं और आदर्शों के पोषक हैं। यदि पश्चिम ने ठेठ भौतिकता से युक्त जीवन को प्रथम स्थान दिया है, तो पूर्व एक आदर्श लेकर चला है। पाश्चात्य देशों में 'Eat drink and be merry' 'खाओ पीओ और मौज करो' का ही सिद्धान्त प्रचलित है। नैतिकता की अपेक्षा वे स्वार्थ और अपने सुख को प्राथमिकता देते हैं। पश्चिमी देशों के निवासियों ने ऐहिक जीवन के पीछे अपने को यंत्रवत् बना डाला है, वे गिरजों में भी जाते हैं, पर उसी प्रकार, जैसे वे खाना खाते हैं। किंतु भारत के निवासी भौतिक सुखों की अपेक्षा उससे भी सुखद वस्तु मोक्ष की कामना करते हैं—इसी कारण उनमें धार्मिक भावना का आधिक्य है, और धार्मिकता नैतिकता की जन्मदात्री है। उनके जीवन का आदर्श है, स्वयं जीओ एवं दूसरों को भी जीने दो। वे एक विश्व-धर्म की कल्पना में निमग्न रहते हैं। इन विचारों का प्रभाव भिन्न-भिन्न रूप से प्राच्य और पाश्चात्य देशों के नारी-जीवन पर भी पड़ा है। यद्यपि भारत काफी समय तक परतन्त्र रहा, और इस कारण विजयी देश की विचार धारा का प्रभाव विजित देश पर पड़ना स्वाभाविक है, फिर भी उसकी मूल प्रवृत्तियाँ अब भी शेष हैं। यहाँ का नारी-समाज काफी प्रगतिशील हो चुकने पर भी, मूल में अब भी अपनी भावनाओं की जड़ पकड़े है।

पाश्चात्य नारी-जीवन मृगतृष्णाओं के पीछे व्याकुल, भोग की मूर्ति है। विलास की चरम सीमा ही उसका आदर्श है। मातृत्व की भावना से कोसों दूर पश्चिमी देशों की नारियाँ अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए, सौन्दर्य की वृद्धि के लिए, नए-नए साधन निकालती हैं। वासना की पूर्ति के नए नए तरीके अपनाए जाते है। वहाँ एक विशेष प्रकार के इंजेक्शन का आविष्कार किया गया है, जिसे लगवा कर नारी कुछ क्षणों

के लिए वासनागत सुखों का अनुभव करती है। वहाँ की स्त्रियों ने बार-बार इस इंजेक्शन का प्रयोग किया, भले ही उनका शरीर छलनी हो गया। वहाँ की सौन्दर्य प्रतियोगिता शारीरिक सौन्दर्य के नग्न प्रदर्शन के अतिरिक्त और क्या है? सूर्य-स्नान के नाम पर निर्लज्जता से विवस्त्र होकर अठखेलियाँ की जाती हैं। गिरजे आदि धार्मिक-प्रार्थना के स्थान वस्तुतः प्रेम-मिलन के अड्डे हो रहे हैं। उन दुराचार के अड्डों के आस-पास की भूमि सायंकालीन प्रार्थना समाप्त होते ही युगल प्रेमियों से युक्त हो जाती है। हिन्दी के एक प्रसिद्ध लेखक ने, जो अभी कुछ दिन पूर्व अपनी यूरोप-यात्रा समाप्त करके लौटे हैं, इन स्थानों के व्यभिचारस्थल होने का उल्लेख किया है।

मनोरंजन के स्थानों पर भी, यह कलुषता कम नहीं फैली है। नाचघर, होटल, मनोरंजन-गृह, सर्वत्र नारी का सौन्दर्य वासना की गोद में मदिरा की भाँति उफनता रहता है। वहाँ की नारी, पुरुष को नचाने के साथ, अपनी अभिलाषा की पूर्ति के लिए स्वयं भी इच्छाओं के आगे नाचती रहती हैं। अपने यौवन को बिखेरने में वह गर्व का अनुभव करती हैं। लज्जा को वह मूर्खता और पिछलेपन की निशानी कहती हैं। शाम होती है, और पेरिस आदि पाश्चात्य-नगरों के बाजार जैसे स्वर्ग को मात करने लगते हैं। नारी के रूप का क्रय-विक्रय, और उद्दाम नृत्य-अर्द्धनग्न या नग्न अवस्था में—वहाँ की संस्कृति को उसके असली रूप में दिखा देता है।

पाश्चात्य देशों की नारी के दाम्पत्य जीवन पर भी एक नजर डालिए। अपने जीवन में वह न मालूम कितने विवाह करती है, जैसे विवाह भी एक समझौता न होकर खेल हो। विवाह होते हैं, और जरा-जरा सी बात पर विच्छेद होकर फिर दूसरा साथी ढूंढ़ लिया जाता है। साहब आज कुत्ते को अपने साथ घुमाने ले जाना चाहते हैं; पत्नी उसे अपने साथ रखना चाहती है, इसी छोटी सी बात पर झगड़ा होता है; और दोनों अदालत का द्वार खटखटाने पहुँच जाते हैं। जहाँ इस प्रकार की भावना हो, वहाँ केवल अपने सुखों का ही ध्यान नारी के मन में आ

सकता है। परस्पर सहयोग, एक दूसरे की सेवा, और सुख-दुख में सहानुभूति का तो जैसे वहाँ सर्वथा अभाव ही है। जब तक साथ निभता रहा दोनों अपनी-अपनी धुन में मस्त चलते रहे, जहाँ जरा भी बात उठी, एक इधर चला, और दूसरा उधर। वहाँ की नारी तितली की भाँति एक पुरुष से दूसरे पुरुष के चारों ओर मँडराती, विलास की पुतली बनी घूमती रहती हैं; तलाक चलते रहते हैं, पुनर्विवाह और उसके हाथ ही साथ प्रेम भी चलता रहता है जो केवल कुछ घंटों या दिनों तक ही सीमित रहता है।

प्राच्य नारी तुलसी के बिरवे सी पवित्र, आखों में मातृत्व की अटल ज्योति, सरल स्नेह प्रवाह लिए, सबके लिए सर्व समर्पण कर देना चाहती है। उसमें त्याग और क्षमा कूट-कूट कर भरी होती है। पाश्चात्य देशों में तो केवल पति पत्नी का ही परिवार होता है। भारतीय-परिवार में न केवल पति पत्नी और बच्चे वरन् पति के माता पिता और भाई बहन भी रहते हैं। भारतीय नारी इन सबका ध्यान रखती है। सबकी सेवा करना, सबको खिला कर खाना, उसके सेवा और त्याग की घोषणा करते हैं। वह अन्नपूर्णा सी सबका पेट भरने का प्रयत्न करती है, भले ही उसे भूखे सो जाना पड़े। उसकी आँखों में मानव-मात्र के लिए करुणा का स्रोत संचित रहता है। वह पति की सेवा करने में, छायासी पति की अनुगामिनी, आज्ञाकारिणी बनने में ही आनन्द का अनुभव करती है।

भारतीय नारी के जीवन का पृष्ठ-पृष्ठ सेवा की भावना से भरा रहता है। बचपन में पिता की स्नेह छाया में वह माता-पिता की देख भाल करती है, भाइयों का ध्यान रखती है, तो यौवन में पति के साथ समूचे परिवार की अन्नपूर्णा सी स्नेहाकांक्षिणी बन जाती है। माता बनने पर, तथा वृद्धावस्था की ओर उन्मुख होने पर वह केवल अपने ही बच्चों को नहीं परिवार भर के बच्चों को स्नेह से पालती है, जैसे वे सब उसके अपने ही हों। वह लज्जा की मूर्ति होती है; किसी भी क्षेत्र में निर्लज्जता या प्रदर्शन उसे रुचिकर नहीं। वह शृङ्गार भी करती है, पर पति-प्रेम प्राप्त करने के लिए ही। कवि-गुरु कालिदास ने कितने सुन्दर शब्दों में भारतीय

नारी के इस आदर्श को व्यक्त किया है, 'प्रियेषु सौभाग्य फलाहि चारुता'।

भारतीय नारी पति को अपनी सेवा से आकर्षित करना चाहती है। रूप तो उसके लिए देवता की आराधना का तुच्छ पुण्य है। जब पार्वती ने रूप को देवता की आराधना में—उनका प्रेम प्राप्त करने में असफल पाया तो वे देवता के चरण-चिह्नों पर चल कर, तपस्वी को तप द्वारा ही प्राप्त करने में रत हो गई। और किस देश की नारी में इतनी दृढ़ता होगी जो वर्षा, शीत, धूप आदि सह कर, शिव ऐसे डरावने और निर्धन पति को प्राप्त करने का प्रयत्न करे; और किसमें इतनी प्रेम-भावना होगी?

भारतीय नारी का पति पतित क्यों न हो, फिर भी वह एक तो उसके पतन पर विश्वास नहीं करेगी, और करे भी तो उसकी श्रद्धा की मात्रा कम नहीं होगी। वह अपने पति और पुत्रों के लिए व्रत उपवासादि करती है, देवताओं से मनौतियाँ मानती है। उसके लिए गोबर गणेश से लेकर वृक्ष आदि तक सभी देवता हैं। उसकी उपासना का क्षेत्र विस्तृत है, उसकी श्रद्धा का पार नहीं। यह श्रद्धा कभी-कभी तो अंध-श्रद्धा बन कर उसे पीरों और फकीरों तक भी पहुँचाती है। ऐसा वह केवल अपने परिवार की स्नेहकांक्षा के वशीभूत होकर ही करती हैं। उसकी अंधविश्वास की भावना के मूल में स्नेह और वात्सल्य की ही धाराएँ छिपी हुई हैं। पाश्चात्य नारी अंधविश्वास से कोसों दूर है। उसकी अपने पति पर अंधश्रद्धा भी नहीं। शराबी और आवारा पति को तो वह सैंडिलें मार कर घर से बाहर निकाल देगी।

पाश्चात्य नारी यदि पुरुषों का चुनाव करती फिरेगी, तो भारतीय नारी अपने अंधे और बहरे पति की सेवा में भी सुख मानेगी। पुराणों में तो एक सती के अपने कोढ़ी पति को कंधों पर लाद कर वेश्या के यहाँ ले जाने का उल्लेख है। संत तुलसीदास ने कितने सुन्दर शब्दों में भारतीय नारी का आदर्श चित्रित किया है—

'वृद्ध रोगबस जड़ धन हीना। अंध बधिर क्रोधी अति दीना॥
ऐसेहु पति कर किय अपमाना। नारि पाव जमपुर दुख नाना॥

एकइ धर्म एक व्रत नेमा। काय वचन मन पति पद प्रेमा॥
वह अपने पति की निन्दा भी नहीं सुनेगी। 'कुमारसंभव' में जब बटुवेष धारी शंकर पार्वती से अपनी ही (महादेवकी) निन्दा करते हैं तो पार्वती ने अपनी सखि से कहा—'सखि! इस बटु से कहो, या तो यह यहाँ से चला जाय, या मैं ही हट जाऊँ।' भारतीय पत्नी पति-निन्दा सुनते ही कानों पर हाथ रख लेती हैं। भारतीय नारियों में पर-पुरुष-दर्शन पाप माना गया है। उनके अनुसार उत्तम नारी या पतिव्रताओं के चार प्रकार हैं—

जग पतिव्रता चारि विधि अहहीं। वेद पुरान संत सब कहहीं॥
उत्तम के अस बस मन माहीं। सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं॥
मध्यम परपति देखइ कैसे। भ्राता पिता पुत्र निज जैसे॥
धर्म विचारि समुझि कुल रहई। सो निकृष्ट तिय श्रुति अस कहई॥

भारतीय नारी का आदर्श है कि वह परपुरुष को स्वप्न में भी हृदय में स्थान न देगी। मध्यम श्रेणी की स्त्रियाँ परपुरुष को भाई या पिता की दृष्टि से देखेंगी। जो कुल-मर्यादा का विचार करके ही पति-धर्म-पालन करती हैं, वे भी सतियों में गिनी गई हैं, पर उनका स्थान नीचा है। कारण वह मन में परपुरुष का ध्यान कर सकती है, और यह पाप है—

'पति बंचक परपति रति करई। रौरव नरक कल्प सत परई॥'

भारत की स्त्रियाँ पति को मरता छोड़कर सुख की खोज में नहीं भटकेंगी। वह तो उसके मर जाने के बाद भी उसके नाम की माला जपती, उसके पुत्रों और परिवार की सेवा में अपने दिन काट देंगी, तिलतिल गलती, अपने को घुलाती, त्याग और तपस्या का जीवन व्यतीत करती हुई। यद्यपि अब भारतीय नारियों पर भी पाश्चात्य देशों की सभ्यता का प्रभाव पड़ रहा है, और वे भी उसी भाँति विलासिता के मार्ग पर बढ़ती हुई, उच्छृङ्खल, भोग के लिए लालायित, और पुरुषों के समान अधिकार की इच्छा रखने वाली हो रही हैं, उनकी संख्या अल्प है, कारण भारत की अधिकांश नारियाँ गाँवों की रहने वाली हैं, और वहाँ शिक्षा का अधिक प्रचार न होने से यह विचारधारा नहीं फैल पाई है। एक प्रकार से तो इस विचारधारा की

आवश्यकता है, कारण भारतीय नारी को काफी सताया गया है। समाज के जो सड़े गले बंधन हैं, वे नष्ट हो जाने चाहिये, किन्तु साथ ही 'पुराण-मित्येव न साधु सर्वं' का आदर्श लेने पर भी, सब पुरानी चीजें खराब ही नहीं होतीं, यह भी ध्यान रखना चाहिए। हमें चाहिए कि हम बीच का मार्ग ग्रहण करें। पाश्चात्य देशों की नारियों में यदि स्वतंत्रता है तो उसको हम भारतीय साँचे में ढालकर शिक्षा आदि का प्रचार करें, तभी हमारा नारी समाज उन्नति कर सकता है।

: ६७ :

वही मनुष्य है जो मनुष्य के लिये मरे

'बहु जन हिताय' एवं 'बहुजन सुखाय' के आदर्श से संपृक्त भारतीय-संस्कृति की पृष्ठ भूमि में मानव-मात्र के कल्याण की भावना निहित है। उसके अनुसार मनुष्य का जन्म जन-हित के हेतु ही है। यह आंतरिक-दृष्टि—यह विश्वास इतना प्रबल हुआ कि उसने अपनी इस विचारधारा का आरोप वाह्य-प्रकृति पर भी किया। वर्षा का जल अपनी शांति के लिए नहीं, धरती की तृप्ति के लिए होता है, नदियों का जल-कोश सदा-व्रत की भावना का परिचायक होता है। इस 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के दृष्टिकोण वाली संस्कृति का मूलाधार है, :—

> 'सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
> सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुखभाग्भवेत्॥'

दानवों के अत्याचार से सारी सृष्टि कराह रही थी। सभी किंकर्त्तव्य-विमूढ़ हो रहे थे। एक ही मार्ग शेष था—यदि महर्षि दधीचि की अस्थियों से वज्र बनाया जाय, तो समाज इस आपत्ति से बच सकता है—सब दधीचि के पास गये और उस पूतात्मा ने सहर्ष इस नश्वर शरीर का त्याग कर अपनी अस्थियों का दान कर दिया। इस पौराणिक रूपक को आप इस

रूप में भी ले सकते हैं कि दधीचि ने परोपकार की भावना से, मनुष्य-मात्र के कल्याण के लिए अपना शरीर ही नहीं गला दिया, प्रतीक रूप से, अपनी हड्डियाँ भी खपा दीं। दधीचि तो त्यागी थे, राजा शिवि के उपाख्यान पर ही दृष्टिपात कीजिए। क्या उन्होंने दीन कपोत रूपी मानवता के लिए अपने शरीर का तिल तिल भाग नष्ट नहीं कर डाला? रंतिदेव ने भूख से व्याकुल मानवों के लिए अन्न-दान किया, और विशुद्ध सेवा-भाव से पृथ्वी पर घूमते रहने वाले छद्म-वेशी महाराज विक्रमादित्य की कहानियाँ तो विश्व-विश्रुत हैं।

सन्तों का जीवन परोपकार की भावना से ओत-प्रोत होता है। 'परोपकाराय हिं सतां विभूतयः' वाला वाक्य उन पर पूर्णरूपेण चरितार्थ होता है। सन्त किसी भी भूभाग, जाति, अथवा राष्ट्रीयता के अंचल से उद्भूत हुए हों, जनगण के लिए सर्वस्व त्याग के लिए सर्वदा उद्यत रहते हैं। इस दृष्टि से गाँधी और ईसा एक समान है। उनका एक ही मार्ग था, एक ही लक्ष्य था—मानव-सेवा। वे मानव-धर्म के अनुयायी थे। महात्माओं का जन्म किसी धर्म के प्रवर्तनार्थ नहीं होता—वे तो मानव के आंतरिक और बाह्य दुखों के अपसारण के लिए ही प्रकट होते हैं। उनका जीवन मानवों के लिए आदर्श-पदचिह्न छोड़ जाता है। अपने लिए तो पशु पक्षी भी जी लेते हैं, मनुष्य वह है, जो मनुष्य के हित के लिए जिए।'

महाकवि तुलसीदास ने 'साधु-चरित' के रूप में मानव-आदर्श को चित्रित किया है। वे साधु की तुलना कपास से करते हैं,

'जे सहि दुख पर छिद्र दुरावा।'

कपास स्वयं, दुख सह लेता है, किंतु मानव-मात्र का तन ढँकने में प्रयत्नशील रहता है। यही तो है मानव का आदर्श। कवि चंडीदास ने भी मानव-प्रेम के सर्वोच्च होने की उद्घोषणा मुक्त हृदय से की है।

यदि चिरकाल से यह परहित के लिए कष्ट सहन की विचारधारा न प्रवाहित होती आती, मनुष्य केवल 'स्व' के संबंध में सोचता, परिवार और जाति के बंधनों में जकड़ा कूप-मंडूक बना रहता तो निश्चय ही मानवता का

सर्वनाश हो जाता। प्रत्येक मनुज अपने सुखों की पूर्ति के लिए दूसरों का सर्वस्व अपहरण करने के हेतु उद्यत रहता, नित्य ही महायुद्ध की विभीषिका नर-कंकालों के नृत्य और मृत्यु-संगीत से सृष्टि को श्मशान का रूप दिए रहती। किंतु मानव अपने इस जन-कल्याण के आदर्श की रक्षा में सदैव सचेष्ट रहा है। इस परमाणु-युग में भी, जब कि प्रत्येक शक्तिशाली राष्ट्र नित्य नव विध्वंसक अस्त्रों के प्रयोग द्वारा अव्यक्त रूप से अन्य राष्ट्रों को धमकाता रहता है, 'भुवन भवन' का प्रतिपालन-उदघोषक भारत, पंचशील आदि के शांतिमय सह-अस्तित्व द्वारा उन उद्भ्रांत राष्ट्रों की सहानुभूतिपूर्ण परिचर्या में व्यस्त है। अब इस देश की यह आवाज़ है कि उन घातक अस्त्रों का प्रयोग मानवता की हत्या के लिए न होकर उसकी सुरक्षा एवं पोषण के लिए हो। आज आवश्यकता इस बात की है कि प्रत्येक मनु-पुत्र 'स्व' की भावना का परित्याग कर 'मानवहिताय' 'मानव सुखाय' के पुण्य-यज्ञ में आत्म-बलि दे। जब तक जन जन में, व्यष्टि व्यष्टि में इस मूल-मंत्र का संप्रवेश नहीं होगा, तब तक हम मरु को नन्दन-वन में परिणत करने तथा एक राष्ट्र एवं एक समाज में वर्ग हीन मानव का स्वप्न ही देखते रहेंगे। 'स्व' के 'पर' में लय होने पर ही यह उदघोष उठेगा—

> 'सह नाववतु सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै।
> तेजस्विनावधीतमस्तु, मा विद्विषावहै।'

: ६८ :

हानि लाभ जीवन मरण यश अपयश विधि हाथ

मानव, स्रष्टा की अद्भुत सृष्टि है, उसकी शक्ति का प्रतीक है। वह अपने निर्माता का ही प्रतिरूप है। जल, स्थल, नभ-मंडल सभी पर तो विजय पा ली है उसने। वह चाहे तो पवन को बंदी बना ले, सहस्रार्जुन की

भाँति नदियों के प्रवाह को रोक दे और उससे मनमाना काम ले; या बड़े-बड़े पर्वतों के शीश पर लात मार, दुर्लंघ्य सागरों को यों ही हवा में उड़ानें भरता लाँघ जाय। ऐसे महान् शक्तिशाली मानव का भी तेज अवसर पड़ने पर मन्द हो जाता है। वह हतप्रभ, निरुपाय हो, किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाता है। उस समय उसे अपनी दयनीय स्थिति का ज्ञान होता है—विशाल विश्व में अणु से भी क्षुद्र मानव! सभी साधन सुलभ होते हुए भी वह केवल आगंत विपत्ति की संहार-क्रिया देखता रह जाता है, निस्तब्ध, विवश सा।

राम ईश्वर के अंश-महामानव, सीता जैसी शक्तिरूपा पत्नी, इन्द्रजयी मेघनाद का भी गर्व खर्व करने वाला लक्ष्मण सा भाई सहायक रूप में, माता पिता सभी अनुकूल, वशिष्ठ ऐसे ज्ञानी पंडित का निकाला हुआ मुहूर्त्त, सब एक क्षण में व्यर्थ गया। राज्य-प्राप्ति वनवास में परिवर्तित हो जाती है, दशरथ की मृत्यु होती है; एवं सारा साकेत रुदन से व्याप्त हो उठता है। नियति मुस्कराती है, और संकेत करती है—क्षुद्र मानव! तुझसे भी अधिक शक्तिशाली एक तेज और है, वही है तेरा नियंता, तेरा विधि विधान, उसके आगे मनुष्य की क्या बिसात।

राजा नल द्यूत-विद्या के आचार्य, सर्व सुखों से संपन्न, देवों से भी अभिलषित दमयंती जैसी सुन्दरी के स्वामी—वे भी जब विधि के चक्कर में पड़े तो न केवल राज्य ही खो बैठे, वरंच फिर जहाँ-जहाँ भी हाथ पसारा, वहाँ सोना भी मिट्टी बन गया। भुनी मछलियों के जी उठने की क्या वे कल्पना भी कर सकते थे? और तो और, देवों को भी समय-चक्र में पड़कर कम दुख नहीं सहन करना पड़ा। इन्द्र ने कितनी बार इन्द्रासन नहीं खोया, शंकर ने न केवल भस्मासुर के हाथों कष्ट पाया, पत्नी-वियोग भी सहा; वह भी एक समय था जब कि सृष्टि के निर्माता, देवों के भी देव विष्णु के वक्ष पर एक साधारण ब्राह्मण ने लात मार दी, और उस पदाघात का चिह्न आज तक उनके वक्ष से न मिट सका। समय के फेर ने ही हरि को परस्त्रीगामी बनाया, और वृन्दा के शाप ने उन्हें पत्थर का रूप देकर

तुलसी जैसे नन्हें वृक्ष के चरणों पर ला पटका। कहाँ सृष्टि के निर्माता निर्गुण, निराकार नारायण, कहाँ व्यभिचार, और फिर शाप से यह दुरावस्था।

प्राणी नाना उपाय करके हार जाते हैं, पर काल के आगे कुछ वश नहीं चलता। उस काल कराल को भी रावण ने बंदी बना लिया। किंतु क्या बच सका? इन्द्रजित् एवं कुंभकर्ण ऐसे सहायकों, एवं स्वयं देवाधिदेव का वरद-हस्त होते हुए भी वह मारा गया। काम ने शिव का संयम भंग करना चाहा, शिव का त्रिनेत्र खुल गया, और जब तक देवगण विरोध करें, क्रोध के संरोध की प्रार्थना समाप्त कर सकें, काम भस्मीभूत हो गया,

'क्रोधं प्रभो! संहर संहरेति
यावत् गिरा खे महतां चरंति।
तावत्स वह्निर्भवनेत्र जन्मा
भस्मावशेषं मदनं चकार॥'

देवता प्रयत्न करके भी मदन को भस्म होने से न बचा सके। किन्तु फिर भी मदन क्या बिल्कुल नष्ट हो गया। नहीं। वह आज भी 'अनंग' होकर अपने पुष्प-बाणों के तीखे प्रहार से विश्व को व्याकुल एवं कामी बना रहा है। शिव के त्रिनेत्र की ज्वाला जो प्रलय के अवसर पर संपूर्ण सृष्टि को जला कर क्षार कर देती है मदन को भस्म करके भी उसे प्रनष्ट नहीं कर पायी। विष्णु-भक्त प्रह्लाद के लिए ही क्या क्या प्रयत्न नहीं किए गये? पहाड़ों पर से गिराया गया, शृंखला-बद्ध कर समुद्र में डाला गया, हाथी के पैरों के पास फेंक दिया गया, यही नहीं चिता में भी जलाया गया, पर वह बच निकला, और स्तंभ चीर कर, एक ऐसे प्राणी ने जो न मनुष्य था न पशु, घर के आंतरिक एवं बाह्य भाग के मध्य में उसको मारने वाले का वध कर डाला। उसके सारे वरदान धरे रह गये। उसे क्या पता था कि कोई नृसिंह ऐसा प्राणी भी हो सकता है जो घर की देहली पर मुझे जाँघों पर लिटा कर मार डालेगा।

इन सारी घटनाओं का एक यही सार निकलता है कि मनुष्य हानि

लाभ, फलाफल के द्वंद्व से रहित होकर निष्काम भाव से कर्म करे। मानव स्वतंत्र नहीं, विधि के हाथों का एक खिलौना है, किंतु फिर भी कायरों की भाँति निष्क्रिय हो बैठना भी उचित नहीं, प्रत्येक दशा में कर्म ही श्रेयस्कर है। जब हानि, लाभ, जीवन एवं मृत्यु, यश और अपयश विधि के इंगित के ही स्वर हैं, तो उस संबंध में सोचना ही व्यर्थ है। विधि के अधिकारों की सीमा विधि के हाथों छोड़ उद्योगी पुरुष प्रयत्नशील रहते हैं, निरन्तर बाधाओं से टकराते हैं चाहे फल कुछ भी हो। मानव राम के आगे विधि को भी अंत में हार माननी ही पड़ी थी।

: ९९ :

परिवार-नियोजन

परिवार वर्तमान मानवीय संस्थाओं में सर्वाधिक प्राचीन है परन्तु उसके आकार को नियंत्रित तथा सुनियोजित होना चाहिए इस बात की ओर मुख्यतः आधुनिक काल में ही विचारशील व्यक्तियों का ध्यान गया है। आजकल तो प्रायः प्रत्येक देश में परिवार-नियोजन के प्रश्न को अत्यधिक महत्व दिया जा रहा है। आज यह प्रश्न न केवल व्यक्ति अथवा परिवार के हित के लिए ही महत्त्वपूर्ण माना जाता है, वरन् इसे सामाजिक, आर्थिक, राष्ट्रीय और यहाँ तक कि अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से भी बहुत अधिक महत्त्व दिया जा रहा है। विश्व के अन्य देशों की भाँति भारत में भी परिवार-नियोजन की आवश्यकता और महत्व को स्वीकार कर लिया गया है। हमारे देश के योजना आयोग ने प्रथम पंचवर्षीय योजना में परिवार-नियोजन पर पैंसठ लाख रुपये व्यय करने की व्यवस्था की थी। इस धनराशि को जनता को परिवार-नियोजन के बारे में शिक्षित करने, स्वास्थ्य-कर्मचारियों के प्रशिक्षण, तथा जन्म-नियंत्रण (बर्थ कन्ट्रोल) के सस्ते, विश्वसनीय तथा अनिष्टरहित साधनों की खोज पर व्यय किया गया। सरकार की ओर से स्थान-स्थान पर परिवार-नियोजन केन्द्र स्थापित किए गए हैं, जहाँ नागरिकों

को परिवार नियोजन के बारे में निःशुल्क परामर्श दिया जाता है। यह तथ्य इस बात को भलीभाँति स्पष्ट कर देते हैं कि हमारे देश का शासन परिवार नियोजन के प्रश्न को कितना महत्पूर्ण मानता है।

यह सब देख और सुनकर मन में यह कुतूहल जाग्रत होना स्वाभाविक ही है कि आजकल परिवार-नियोजन को इतना अधिक महत्व क्यों दिया जा रहा है। साथ ही यह जिज्ञासा होना भी स्वाभाविक है कि यदि वस्तुतः यह प्रश्न इतना महत्वपूर्ण है तो अब तक इसकी ओर ध्यान क्यों नहीं दिया गया। प्रथम प्रश्न का उत्तर यह है कि वैज्ञानिकों तथा अर्थशास्त्रियों ने अधिक परिश्रम कर अपनी खोजों से अब यह भली भाँति सिद्ध कर दिया है कि परिवार-नियोजन से न केवल व्यक्ति और परिवार का ही भला होगा वरन् उससे देश, समाज, और मानवता का भी हित संपादन होगा। अठारहवीं शताब्दी के अंत में इंगलैंड के एक प्रसिद्ध अर्थशास्त्री टॉमस माल्थस ने जनता का ध्यान इस तथ्य की ओर आकर्षित किया था कि एक निश्चित समय में किसी भी क्षेत्र में खाद्य सामग्री के उत्पादन की गति में जितनी वृद्धि होती है, उससे कई गुनी गति से जनसंख्या में वृद्धि होती है। इसका अवश्यंभावी परिणाम यह होता है कि जनता के लिए खाद्य सामग्री पर्याप्त नहीं होती और प्राकृतिक प्रकोपों के द्वारा जनसंख्या में कमी होना आवश्यक हो जाता है। माल्थस के अनुसार इससे बचने का एक ही उपाय है और वह है कृत्रिम या अकृत्रिम उपायों से जन्म-दर की वृद्धि को रोकना, जिसे दूसरे शब्दों में हम परिवार नियोजन भी कह सकते हैं। माल्थस के विचारों से पूर्णतः सहमत न होते हुए भी अधिकांश वैज्ञानिक और अर्थशास्त्री उनके मूलतः सत्य होने से इन्कार नहीं करते।

माल्थस ने उपर्युक्त बात आज से लगभग डेढ़ सौ वर्ष पूर्व कही थी। परन्तु आज जो भविष्यवाणियाँ की जा रही हैं वे और भी अधिक भयावह हैं। अनुमान किया गया है कि पिछले १०० वर्षों में विश्व की जनसंख्या दुगुनी से भी अधिक हो गई है। प्रो० कार सान्डर्स ने जो इस विषय के एक विशेषज्ञ हैं, अनुमान लगाया है कि विश्व की जनसंख्या इस समय

एक प्रतिशत प्रति वर्ष के हिसाब से बढ़ रही है और यदि वह इसी गति से बढ़ती रही तो पाँच सौ वर्ष पश्चात् विश्व की जनसंख्या इतनी हो जायगी कि पृथ्वी पर समस्त मनुष्यों को खड़े होने को भी स्थान न मिलेगा—फिर इनके लिए खाद्य सामग्री के उत्पादन का तो कहा ही क्या जाए। उनका कथन अतिशयोक्तिपूर्ण भले ही हो पर वह मानवता के कल्याण के लिए परिवार नियोजन के द्वारा जन्म नियंत्रण की आवश्यकता स्पष्ट कर देता है।

यदि हम देश दुनिया की चिन्ता न भी करें तो भी परिवार नियोजन का महत्त्व कम नहीं होता। हम सभी संसार में सुखी जीवन व्यतीत करना चाहते हैं और यह तभी संभव है जब हमारा जीवन-स्तर पर्याप्त ऊँचा हो। एक व्यक्ति की आय पर जितने अधिक प्राणी अवलंबित होंगे उतना ही उनका जीवन-स्वर निम्न होगा। जैसा कि डा० चार्ल्स का कथन है, स्पष्ट ही है कि एक हजार पौंड प्रति वर्ष आय वाले एक ऐसे व्यक्ति का जिसके चार बच्चे हों, जीवन-स्तर एक कुंवारे व्यक्ति के जीवन-स्तर के लगभग पांचवें भाग के बराबर होगा। इस प्रकार जीवन में सुख प्राप्त करने के लिए भी परिवार नियोजन अतीव आवश्यक है। यह तथ्य सर्वविदित है कि जिस व्यक्ति के जितने अधिक बालक होंगे उसे उतनी ही अधिक चिंताएँ होंगी। ऐसी दशा में यह कहना गलत न होगा कि परिवार-नियोजन मानसिक शांति प्रदान करने में भी सहायक होता है। इस प्रकार वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय किसी भी दृष्टिकोण से विचार करने पर परिवार नियोजन की उपादेयता में शंका नहीं की जा सकती। भारत सरीखे देशों के लिए जिनकी अर्थव्यवस्था अभी पिछड़ी हुई है और जिनकी बढ़ती हुई जनसंख्या उनकी प्रगति में बाधक सिद्ध हो रही है, परिवार-नियोजन उपयोगी ही न होकर अत्यन्त आवश्यक भी है।

इस सम्बन्ध में दूसरा प्रश्न जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, यह उठता है कि परिवार नियोजन के इतना अधिक उपयोगी होने पर भी अभी तक इसकी ओर ध्यान क्यों नहीं दिया गया और अभी भी जनता इसकी ओर से उदासीन क्यों है। इसके कई कारण हैं। पहला कारण तो

यह है कि अभी कुछ समय पूर्व तक जनसंख्या सम्बन्धी पर्याप्त तथ्य तथा आंकड़े उपलब्ध न थे। परन्तु इनसे अधिक महत्वपूर्ण कारण है जनता के अंध-विश्वास तथा उसका अज्ञान। अनेक देशों में कुछ लोगों में यह भावना कूट-कूट कर भरी हुई है कि बच्चे भगवान की देन होते हैं और मनुष्य को भगवान की इच्छा में हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं है। इसी आधार पर अनेक व्यक्ति जन्म-निरोध का विरोध करते हैं और उसके कृत्रिम साधनों को अनैतिक बतलाते हैं। आज के विज्ञान के युग में इस भावना को अंधविश्वास ही कहा जाएगा। एक सीमा तक कुछ धर्मों ने भी ऐसी भावनाओं के प्रसार में योग दिया है। उदाहरणार्थ, हिन्दू धर्म ग्रंथों में यह उल्लेख है कि जिस व्यक्ति के पुत्र उत्पन्न नहीं होता उसे मुक्ति नहीं प्राप्त होती और नर्क की यातना सहन करनी पड़ती है। इस बात में विश्वास कर अनेक धर्म भीरु हिन्दू पुत्र की प्राप्ति के लिए कई-कई विवाह करते हैं। निश्चय ही ऐसा करने वाले व्यक्ति उस लोक के सुख के लिए इस लोक के सुख को भी गंवा बैठते हैं, परन्तु वे किसी के कहने से अपने पुत्र प्राप्त करने के उद्योग से विरत न होंगे। जनता में फैला अज्ञान तथा अशिक्षा ऐसे अंधविश्वासों का मूल कारण है और जब तक इनको विनष्ट नहीं किया जाता तब तक परिवार-नियोजन आंदोलन को अधिक सफलता प्राप्त न होगी।

परिवार-नियोजन आयोजन के अधिक सफल न होने का एक कारण यह भी है कि अब तक जन्म-निरोध के जिन साधनों का आविष्कार हुआ है वे संतोषजनक नहीं हैं। प्रजनन-क्रिया से सम्बन्धित अंगों पर व्यवहृत होने वाले साधन कष्टदायी होते हैं तथा उन पर विश्वास भी नहीं किया जा सकता। कुछ लोग ऐसे भी हैं जो परिवार के सदस्यों की संख्या सीमित रखने के लिए ब्रह्मचर्य को ही एकमात्र उपाय बताते हैं। परन्तु यह भी समस्या का वास्तविक उपाय नहीं है। वयस्क पुरुष स्त्रियों के लिए मौन-क्रिया भी उतनी ही स्वाभाविक है जितना भोजन या शयन, और इस कारण उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। इस दिशा में नई खोजें हो रही हैं और

आशा है शीघ्र ही जन्म-निरोध के ऐसे साधनों का आविष्कार होगा जो न
केवल सस्ते, सर्वजन सुलभ, विश्वास के योग्य तथा हानि की आशंका से
रहित होंगे वरन् जिनके उपयोग से मौन-क्रिया से प्राप्त होने वाले सुख में
भी बाधा नहीं पड़ेगी। हमारे देश के वैज्ञानिक भी इस दिशा में प्रयत्न
शील हैं।

परिवार-नियोजन आँदोलन को सफल बनाने के लिए यह भी
आवश्यक है कि बाल्यावस्था से ही युवक युवतियों को समुचित यौन-शिक्षा
दी जाय तथा उन्हें अनियोजित परिवार की कठिनाइयों से परिचित कराया
जाय। यह आवश्यक है कि उनके मस्तिष्क में यह बात भली भाँति बैठा
दी जाय कि अनियन्त्रित परिवार के परिणाम होते हैं—विपन्नता, जातीय
स्वास्थ्य का पतन, बाल-मृत्यु, तथा अंततः इससे निश्चित रूप से राष्ट्रीय
विकास का मार्ग अवरुद्ध होता है। उन देशों के उदाहरण हमारे समक्ष हैं
जो अपनी जनसंख्या के आधिक्य के कारण साम्राज्यवादी नीति अपनाने
के लिए बाध्य हुए। जब जनता इन बातों को समझेगी और अपने दैनंदित
जीवन में परिवार-नियोजन की उपादेयता से परिचित होगी तभी इस
आँदोलन को सफलता मिलेगी। जब तक ऐसा नहीं होता तब तक परिवार
नियोजन की योजनाएं कुछ सुशिक्षित नागरिकों तथा कार्यालयों की
फाइलों तक ही सीमित रहेगी।

: १०० :

अणु एवं उद्जन बम

सृष्टि के आरम्भ काल से ही मनुष्य अपनी रक्षा और अपने शत्रुओं
के संहार के लिये अस्त्र-शस्त्रों का प्रयोग करता रहा है। इन अस्त्र-शस्त्रों की
भयंकरता में क्रमशः वृद्धि होती रही है और आज वह स्थिति आ गई है
जब मनुष्य न केवल समस्त मानव-जाति का वरन् विधाता की समस्त सृष्टि

का नाश कर सकता है। ऊंची-ऊंची अट्टालिकाएं, बड़े-बड़े भवन, सुन्दरतम प्रासाद और अतुलनीय वन-उपवन सभी पलक मारते ध्वस्त हो सकते हैं। आज सारे संसार की जनता भयाक्रांत है। उसे हर समय आशंका बनी रहती हैं कि पता नहीं किस दिन विश्व युद्ध आरम्भ हो जाए और देखते-ही-देखते संसार से मानव नामधारी प्राणी का ही लोप हो जाए। जापान की हिरोशिमा और नागासाकी नगरियाँ, जिन्हें अगस्त १९४५ में अमेरिका के अणु बमों ने पूर्णतः ध्वस्त कर दिया था, उसे अपने भावी जीवन की अनिश्चिनता का स्मरण दिलाती रहती हैं। फिर आज तो अणुबम से भी अधिक शक्तिशाली तथा सर्वनांशकारक बमों का निर्माण कर लिया गया है। हाइड्रोजन और कोबाल्ट बमों की विनाशकारी शक्तियों का वर्णन-मात्र ही आँखों के सामने महा प्रलय का चित्र प्रस्तुत कर देने के लिए पर्याप्त होता है।

अणुबम के बनने की संभावना का बोध उस समय हुआ जब इटली के प्रसिद्ध वैज्ञानिक एनरिको फर्मी को अणु के टुकड़े करने में सफलता मिली। उनकी सफलता के पश्चात् अन्य वैज्ञानिकों ने भी अणु के विभाजन द्वारा आणुविक-शक्ति के सृजन की ओर ध्यान दिया। इस कार्य में सर्वाधिक सफलता जर्मन वैज्ञानिक ओटो हान को मिली। उनकी सफलता का लाभ उठा कर हिटलर ने अणुबम के निर्माण के लिए द्रुत गति से प्रयत्न किया परन्तु उसे सफलता मिलने के पूर्व ही मित्र-राष्ट्र उपरोक्त जर्मन वैज्ञानिक को बंदी बनाकर उससे अणु-शक्ति का रहस्य प्राप्त करने में सफल हो गए। प्रथम अणु या ऐटम बम का निर्माण जर्मनी में न होकर अमेरिका में हुआ। प्रथम बार इसका प्रयोग हुआ जापान के हिरोशीमा और नागासाकी नगरों पर जिनके भस्मावशेष आज भी हमें अणुबम की भंयकर विनाशक शक्ति का स्मरण दिलाते हैं।

परन्तु विभिन्न देशों के राजनीतिज्ञ और वैज्ञानिक अणुबम के निर्माण से ही संतुष्ठ न रहे। इसका कारण यह था कि शीघ्र ही अणुबम का रहस्य अन्य देशों को भी ज्ञात हो गया और इस कारण उस पर किसी देश का

एकाधिकार न रहा। शीत-युद्ध के कारण शस्त्रास्त्रों की होड़ प्रारंभ हो गई थी और उसमें विजयी होने के लिए यह आवश्यक था कि अणुबम से भी अधिक शक्तिशाली किसी बम को तैयार किया जाय। कुछ ही वर्ष के परिश्रम के परिणामस्वरूप अमेरिकी वैज्ञानिक अणुबम से भी कई गुना अधिक शक्तिशाली उद्जन (हाइड्रोजन) बम तैयार करने में सफल हो गए। मार्च १९५४ में प्रशांत महासागर में स्थित बिकिनी द्वीप पर इसका प्रयोग किया गया। इस प्रयोग के परिणाम ने उद्जन बम के निर्माताओं को भी चकित कर दिया। सैकड़ों मील के क्षेत्र का सारा वातावरण रेडियो-सक्रिय हो गया और समुद्र के असंख्य जीव जन्तु मर गए। बम के प्रयोग-स्थल से पर्याप्त दूरी पर मछली पकड़ने वाले कई नाविक भी इन रेडियो-सक्रिय किरणों से प्रभावित हुए और उनमें से कई-एक की अवर्णनीय यातना सहन करने के उपरान्त मृत्यु हुई। अनेक वैज्ञानिकों ने अपना निश्चित मत व्यक्त किया है कि उद्जन बमों के प्रयोग से समस्त संसार का वातावरण विषाक्त हो जाएगा जिसके कारण पृथ्वीतल और समुद्र के समस्त जीव जन्तुओं का नाश हो जाएगा। यहाँ यह बात भी उल्लेखनीय है कि विभिन्न देशों के राजनीतिज्ञ और वैज्ञानिक उद्जन बम का निर्माण करके भी संतुष्ट नहीं हुए हैं। जिन कारणों ने उन्हें उद्जन बम बनाने के लिए प्रेरित किया था वे ही कारण उन्हें इससे भी अधिक शक्तिशाली बम बनाने के लिए प्रेरित कर रहे हैं। शस्त्रास्त्रों की होड़ अभी भी जारी है और अब उद्जन बम पर भी किसी एक राष्ट्र का एकाधिकार नहीं है।

अणु और उद्जन बमों के निर्माण ने हमारे भौतिक जीवन और विचार जगत दोनों को प्रभावित किया है। इन भयंकर शास्त्रास्त्रों के निर्माण के पूर्व युद्ध की विभीषिका मुख्यतः रणक्षेत्र तक ही सीमित रहती थी, परन्तु अब तो सैनिक और असैनिक, युद्ध-भूमि और सेनाविहीन नगरों का अन्तर ही समाप्त हो गया है। इनके प्रयोग से सभी पर एक सा प्रहार होता है—यहाँ तक कि स्वयं इनके प्रयोग करने वाले भी इनके प्रभाव से मुक्त नहीं रह सकते। क्या यह संभव है कि रूस पर उद्जन बम गिराया जाय और

ब्रिटेन तथा फ्रांस उसके प्रभाव से अछूते रह जाय ? कदापि नहीं। इस प्रकार इनके निर्माण ने युद्ध के स्वरूप में ही आमूल परिवर्तन कर दिया है। जो देश युद्ध में रत है उसके, तथा उसके निकटवर्ती देशों के नागरिक कभी भी चिंता से मुक्त नहीं रह सकते।

जहाँ तक विचार जगत पर प्रभाव का प्रश्न है इसने हमें यह सोचने के लिए बाध्य कर दिया है कि वर्तमान व्यवस्था में आमूल परिवर्तन करना आवश्यक नहीं है। आज सभी देशो में अन्तर्राष्ट्रीय भ्रातृभाव की भावना का प्रसार हो रहा है। इसका कुछ श्रेय इन सर्वनाशकारी अस्त्रों को भी दिया जाना चाहिए। लोगों के मस्तिष्क में यह भावना दृढ़ता से जमती जा रही है कि हमारी वर्तमान समस्याओं का समाधान विश्वराज्य की स्थापना से ही हो सकता है। यह एक शुभ लक्षण है।

सभी देशों की जनता की आज यह माँग है कि अणु तथा उद्‌जन बम जैसे भयंकर अस्त्रों के प्रयोग पर अविलम्ब रोक लगाई जानी चाहिए। इस मांग को विश्व के समस्त शांति चाहने वाले देशों का समर्थन प्राप्त है। परन्तु दुख की बात है कि कुछ स्वार्थी राजनीतिज्ञ अपने हितों की साधना के लिए इनके प्रयोगों को जारी रखना चाहते हैं। वे यह तर्क देते हैं कि यदि विभिन्न राष्ट्रों के बीच आणुविक अस्त्रों का एक संतुलन स्थापित हो जाय तो कोई भी राष्ट्र युद्ध प्रारम्भ करने का साहस ही न कर सकेगा। यह तर्क सारहीन है क्योंकि प्रथम तो ऐसा संतुलन होना ही कठिन है और एक बार स्थापित हो जाने पर भी वह अधिक काल तक बना न रहेगा। उचित मार्ग यही है कि समस्त राष्ट्र यह घोषणा करें कि भविष्य में वे कभी भी इन अस्त्रों का प्रयोग नहीं करेंगे। वस्तुतः यह मानव-जाति के लिए अत्यन्त लज्जा का विषय है कि वह पृथ्वी पर स्वर्ग की रचना करने के साधन उपलब्ध होते हुए भी उनका प्रयोग अपने सर्वनाश के लिए करने को उद्यत है।

: १०१ :

भारतीय राज्यों का पुनर्गठन

विदेशी शासन की दासता से मुक्ति पाने के पश्चात् भारतीय जनता के सम्मुख जो अनेक जटिल समस्याएँ आईं उनमें राज्यों के पुनर्गठन की समस्या का मुख्य स्थान है। वस्तुतः एक समय तो ऐसा प्रतीत होने लगा था कि भाषा-प्रेम का उन्माद भारत की एकता को ही विनष्ट कर देगा और उसके कारण भारतीय देशभक्तों के एक स्वाधीन एवं अखंड भारतीय राष्ट्र के निर्माण के लिए किये गए समस्त बलिदान व्यर्थ हो जाएंगे। परन्तु हमारे नेताओं की दूरदर्शिता और बुद्धिमत्ता ने देश को उस संकट से बचा लिया। आशा है कि इस समस्या का जो हल निकाला गया है वह स्थायी सिद्ध होगा।

राज्यों के पुनर्गठन की समस्या के मूल तक पहुँचने के लिए हमें आधुनिक भारत के सांविधानिक एवं राजनीतिक विकास पर एक दृष्टि डालनी होगी। जब अंग्रेजों ने भारतीय नरेशों को पराजित कर हमारे देश पर अधिकार स्थापित करना आरंभ किया तब उन्होंने अपने प्रशासन की सुविधा को ध्यान में रख कर विजित प्रदेशों को प्रान्तों का रूप दे दिया। कुछ क्षेत्र गवर्नरों के प्रान्त बने और कुछ चीफ़ कमिश्नरों के। इन प्रांतों के निर्माण का कोई वैज्ञानिक आधार नहीं था। न तो इनका निर्माण करते समय क्षेत्र की जनता की भाषा की एकता का ध्यान रखा गया और न उसके आर्थिक विकास की आवश्यकताओं का। विदेशी शासकों से इसकी आशा भी कैसे की जा सकती थी। इन प्रान्तों के अतिरिक्त भारत का पर्याप्त क्षेत्र अंग्रेजों की प्रभुसत्ता के अधीन होते हुए भी देशी राज्यों के नरेशों के अधिकार में था। देश के इस अप्राकृतिक और अवैज्ञानिक गठन को जनता ने कभी स्वीकार नहीं किया। इस शताब्दी के तृतीय दशक में देश की प्रमुख राष्ट्रीय संस्था कांग्रेस ने भाषा के आधार पर राज्यों के पुनर्गठन की मांग की। देश के अन्य समस्त प्रमुख राजनीतिक दलों ने

एक स्वर से इस मांग का समर्थन किया। यद्यपि इस मांग का समर्थन करने में विभिन्न राजनीतिक दलों का उद्देश्य समान न था, परन्तु इस तथ्य से असहमति नहीं व्यक्त की जा सकती कि स्वतंत्रता-प्राप्ति के समय तक भाषा के आधार पर राज्यों के पुनर्गठन की मांग ने राष्ट्रीय मांग का स्वरूप ले लिया था।

स्वाधीनता प्राप्त होने के साथ ही हमारे देश की राजनीतिक एकता पर भीषण प्रहार हुआ। पाकिस्तान के निर्माण के समय साम्प्रदायिक उपद्रवों के कारण हुए भीषण रक्तपात ने हमारे राष्ट्र के कर्णधारों को इस बात पर सोचने के लिये विवश किया कि किस प्रकार भारत की राष्ट्रीय एकता की रक्षा की जाय। उन्होंने यह अनुभव किया कि यदि इस समय जब कि जनता में उत्कट राष्ट्र प्रेम की भावना का अभाव सा ही है, यदि राज्यों के पुनर्गठन की स्थापना को हाथ में लिया गया तो उससे विभिन्न भाषा-भाषियों में कटुता ही उत्पन्न होगी। इसी कारण उन्होंने इस प्रश्न को भविष्य के लिए टाल दिया। इसका एक अन्य कारण यह था कि देश के सम्मुख उस समय अन्य ऐसी अनेक समस्याएं उपस्थित थीं जिनका समाधान करना अधिक आवश्यक था।

सन् १९५३ में आन्ध्र राज्य के निर्माण के लिए श्री श्रीरामुलु के अनशन और उसके परिणामस्वरूप उनकी मृत्यु ने राज्यों के पुनर्गठन की समस्या को पुनः एक महत्वपूर्ण प्रश्न बना दिया। उनकी मृत्यु के पश्चात् तेलुगू भाषी क्षेत्रों में स्थान-स्थान पर उपद्रव हुए और अंततः हमारे प्रधान मंत्री ने २६ मार्च १९५३ को यह घोषणा की कि शीघ्र ही आंध्र राज्य का निर्माण किया जाएगा। १ अक्टूबर १९५३ को भारत के राजनीतिक मानचित्र में आंध्र राज्य ने अपना स्थान बना लिया।

आंध्र राज्य के निर्माण ने भाषा के आधार पर राज्यों के पुनर्गठन के समर्थकों के आन्दोलन को नवजीवन प्रदान किया और हमारी केन्द्रीय सरकार ने २९ दिसम्बर १९५३ को सैयद फ़ज़्ले अली की अध्यक्षता में 'राज्य पुनर्गठन आयोग' की नियुक्ति की घोषणा की। इस आयोग ने

इस प्रश्न में अभिरुचि रखने वाले समस्त व्यक्तियों तथा संस्थाओं की सम्मतियों पर विचार कर सन् १९५५ में अपनी आख्या प्रस्तुत की। आयोग ने भारतीय संविधान में किए गए राज्यों के वर्गीकरण का अंत करने की सिफारिश की और स्वीकार किया कि भाषा की एकता को राज्यों के पुनर्गठन के संबंध में एक महत्त्वपूर्ण तत्व माना जाए। परन्तु आयोग ने यह भी सिफारिश की कि भाषा की एकता को ही पुनर्गठन का एक मात्र आधार न बनाया जाय। आयोग ने अधिकांश राज्यों के भाषा के आधार पर पुनर्गठित किए जाने और पंजाब और बंबई को उनकी विशेष स्थिति के कारण द्विभाषी राज्य बनाने की सिफारिश की। अल्पसंख्यक समूहों के हितों के संरक्षण के लिए भी इसने अनेक सुझाव दिए।

राज्य पुनर्गठन आयोग की आख्या प्रकाशित होते ही समस्त देश में इसके पक्ष और विपक्ष में प्रबल आंदोलन प्रारंभ हो गया। भारतीय सरकार ने विभिन्न असंतुष्ट गुटों और नेताओं को संतुष्ट करने के लिए आयोग के सुझावों में अनेक संशोधन किए। इससे परिस्थिति और बिगड़ गई। विवाद के मुख्य क्षेत्र पंजाब और बम्बई थे। पंजाब में अकालियों ने आयोग की सिफारिशो का घोर विरोध किया परन्तु अंत में पुनर्गठित पंजाब में हिन्दी और पंजाबी भाषा-भाषियों के पृथक् क्षेत्रों का निर्माण करने का आश्वासन देकर उन्हें संतुष्ट कर दिया गया। परन्तु बम्बई के संबंध में ऐसा कोई समझौता न हो सका। विवाद का मुख्य विषय था बम्बई नगर का भविष्य और जब भारतीय सरकार ने उसे केन्द्र द्वारा शासित प्रदेश बनाने की माँग की तब संयुक्त महाराष्ट्र के समर्थकों ने अपना आंदोलन प्रारंभ कर दिया। इस आंदोलन ने शीघ्र ही हिंसात्मक रूप ले लिया और पुलिस की गोलियों और उपद्रवकारियों के हाथों से सैकड़ों व्यक्ति हताहत हुए। इसी प्रश्न पर मतभेद होने के कारण केन्द्रीय मंत्रिमंडल से डा० देशमुख सरीखे योग्य व्यक्ति ने त्याग-पत्र दे दिया। अंत में बम्बई और गुजरात के अनेक नेताओं की इच्छा को मान कर भारत सरकार ने बम्बई को द्विभाषी राज्य बनाने की घोषणा की। यह घोषणा समस्या का स्थायी हल नहीं है, यह बात

अहमदाबाद के उपद्रवों और संयुक्त महाराष्ट्र के समर्थकों के आन्दोलनों ने स्पष्ट कर दी है। परन्तु कम से कम वर्तमान काल के लिए इसने निश्चित ही परिस्थिति में सुधार किया है।

भारत की संसद् के द्वारा अंतिम रूप से पारित राज्य पुनर्गठन विधेयक के अनुसार राज्यों के पुनर्गठन के पश्चात् भारत में १ नवम्बर १९५६ से जम्मू व काश्मीर, पंजाब, राजस्थान, उत्तर प्रदेश, बिहार, पश्चिमी बंगाल, मध्य प्रदेश, आसाम, उड़ीसा, बम्बई, मैसूर, आन्ध्र, मद्रास और केरल राज्य होंगे। इनके अतिरिक्त भारत में कुछ केन्द्र द्वारा शासित क्षेत्र भी होंगे। इनके नाम हैं : हिमांचल प्रदेश, मनीपुर, त्रिपुरा, अंडमान-निकोबार और लकादिवे द्वीप समूह तथा भारत की राजधानी दिल्ली। १ नवम्बर १९५६ को राज्यों के पुनर्गठन की इस योजना को कार्यरूप दे दिया गया। इन राज्यों के बीच पारस्परिक सहयोग स्थापित करने के लिए इन्हें उत्तरीय, दक्षिणीय, पूर्वीय, पश्चिमीय तथा मध्यवर्ती विभागों में विभक्त कर दिया गया है। प्रत्येक विभाग में एक एक परामर्शदात्री परिषद होगी जो विभाग के आर्थिक विकास के लिए राज्यों के समक्ष सुझाव प्रस्तुत करेगी। भारतीय राज्यों के पुनर्गठन के साथ ही भारत से वंशानुगत शासन के एक मात्र अवशिष्ट राजप्रमुख-पद का भी अंत हो गया और इस प्रकार भारतीय समाज का जनतंत्रीकरण पूर्ण हुआ।

राज्यों के पुनर्गठन की समस्या को जिस प्रकार हल किया गया है उससे बहुत से लोग असंतुष्ट हैं। पंजाब में महापंजाब समिति क्षेत्रीय योजना को रद्द कराने के लिए माँग कर रही है। महाराष्ट्र की संयुक्त महाराष्ट्र समिति भी अपने उद्देश्य बम्बई-युक्त-संयुक्त-महाराष्ट्र के निर्माण के लिए आन्दोलन कर रही है। गुजरात की जनता का एक बड़ा भाग महाराष्ट्रियों के साथ एक राज्य में रहने को प्रस्तुत नहीं है। बंगाल और उड़ीसा के नेता अपने राज्य के क्षेत्र में वृद्धि की माँग कर रहे हैं। परन्तु यहाँ हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि ऐसी योजना का निर्माण जिससे सभी को संतुष्ट किया जा सके असंभव है। यह संभव है कि वर्तमान योजना में कुछ दोष

हों; परंतु उन्हें बाद में दूर किया जा सकता है। देश का हित इसी में है कि समस्त नागरिक इस योजना को स्वीकार कर इसे सफल बनाने का प्रयास करें। वस्तुस्थिति यही है कि यह समस्या स्थायी रूप से तभी हल हो सकती है जब सारे देशवासी अपने क्षेत्र और अपनी भाषा से देश की एकता को अधिक महत्त्व दें। अन्यथा विघटनकारी शक्तियों के हाथों देश का अनिष्ट होना अवश्यम्भावी है।

: १०२ :

स्वेज़ नहर का राष्ट्रीयकरण

एशिया और अफ्रीका के देशों के पुनर्जागरण और उनमें राष्ट्रवाद की भावना के व्यापक प्रचार तथा योरोपीय साम्राज्यवाद के क्रमिक ह्रास को यदि बीसवीं शताब्दी की सर्वप्रधान प्रवृत्ति कहा जाए तो यह अत्युक्ति न होगी। साम्राज्यवाद राष्ट्रवाद की शक्ति का सफलतापूर्वक सामना न कर पाने के कारण द्रुत गति से अपने अंत की ओर अग्रसर होता जा रहा है। आज एशिया अथवा अफ्रीका का कोई भी राष्ट्र किसी विदेशी शक्ति का हस्तक्षेप सहन करने अथवा किसी अन्य देश के इंगित पर नाचने के लिए प्रस्तुत नहीं है। इसका नवीनतम तथा पुष्टतम प्रमाण मिस्र (इजिप्ट) के राष्ट्रपति कर्नल नासिर द्वारा २६ जुलाई १९५६ को की गई स्वेज़ नहर के राष्ट्रीयकरण की घोषणा है जिसने एक बार समस्त विश्व के राजनीतिक वातावरण को उद्वेलित कर दिया। ब्रिटेन और फ्रांस ने मिस्र से अपनी बात मनवाने के लिए सेनाएँ सज्जित कीं पर वे उस समय युद्ध की घोषणा न कर सके।

स्वेज़ नहर के राष्ट्रीयकरण के महत्त्व को समझने तथा उसके औचित्य-अनौचित्य पर विचार प्रकट करने के पूर्व स्वेज़ नहर का संक्षिप्त इतिहास जान लेना आवश्यक है। यह नहर लगभग सौ मील लंबी है और भूमध्य

सागर को लाल सागर से मिलाती है। इसका निर्माण उन्नीसवीं शताब्दी के छठे दशक में एक फ्रांसीसी इंजीनियर डिलेसेप्स के प्रोत्साहन पर स्थापित एक अन्तर्राष्ट्रीय कंपनी के द्वारा किया गया था। अनेक फ्रांसीसी तथा अन्य देशों के व्यापारी, मिस्र का तत्कालीन शासक और टर्की का सम्राट इस कंपनी के भागीदार थे। इस कंपनी ने मिस्र के तत्कालीन शासक से सन् १८५६ में नहर को निर्माण करने का आदेश प्राप्त कर लिया था, परन्तु यह शर्त थी कि नहर के उद्घाटन के समय से ९९ वर्ष के पश्चात् नहर पर मिस्र के शासन का अधिकार हो जाएगा। ९९ वर्ष के इस काल में कंपनी मिस्र के शासकों को एक निश्चित दर के अनुसार शुल्क देगी। नवम्बर १८६९ में नहर का औपचारिक रीति से उद्घाटन हुआ।

स्वेज़ कम्पनी के निर्माण के समय उसके अध्यक्ष ने ब्रिटेन से भी कम्पनी के कुछ हिस्से क्रय करने का अनुरोध किया था परन्तु उस समय ब्रिटेन ने इस नहर के निर्माण का ही विरोध किया। बाद में अपने विश्व-व्यापी साम्राज्य की रक्षा के लिए इस नहर के महत्त्व को देखते हुए उसने मिस्र के शासक के समस्त हिस्से स्वयं क्रय कर लिए और इस प्रकार वह कम्पनी का सबसे बड़ा भागीदार बन गया। सन् १८८२ में मिस्र ब्रिटेन का 'संरक्षित राज्य' बन गया और इस कारण अन्य राज्यों को स्वेज़ जलमार्ग के संबंध में चिंता हुई। सन् १८८८ में स्वेज़ नहर के संबंध में एक संधि पर ब्रिटेन, जर्मनी, आस्ट्रिया, स्पेन, फ्रांस, इटली, रूस, टर्की तथा नीदरलैंड ने हस्ताक्षर किए। इस संधि के द्वारा यह घोषणा की गई कि स्वेज़ नहर युद्ध व शांति दोनों ही कालों में बिना किसी भेद-भाव के सब राष्ट्रों के युद्ध और वणिक-पोतों के लिए खुली रहेगी। इस समझौते को ब्रिटेन ने स्वयं भंग किया। प्रथम और द्वितीय महायुद्ध के काल में नहर को केवल मित्र-राष्ट्रों के पोतों के लिए प्रयोग में लाने दिया गया और जर्मनी आदि के पोत इसके प्रयोग से वंचित ही रहे। सन् १९२२ में ब्रिटेन ने मिस्र की स्वतन्त्रता को स्वीकार कर लिया था और उस समय से स्वेज़ नहर पर मिस्र के शासन का प्रभाव बढ़ता गया। इस प्रक्रिया का अन्त

सन् १९५६ की जून में हुआ जब अंतिम ब्रिटिश सैनिक ने जुलाई १९५४ में हुए समझौते के अधीन स्वेज़ नहर क्षेत्र को खाली किया। पर अभी भी स्वेज़ नहर का प्रशासन एक कम्पनी के अधीन था जिसमें ब्रिटेन और फ्रांस की प्रधानता थी और जो स्वेज़ नहर से बहुत बड़ी मात्रा में द्रव्योपार्जन करती थी। जाग्रत मिस्र इसे अधिक समय तक सहन करता यह आशा नहीं की जा सकती।

परन्तु स्वेज़ के एकाएक राष्ट्रीयकरण का तात्कालिक कारण मिस्र की जनता की राष्ट्रीय आकांक्षाएँ नहीं थीं। इसका तात्कालिक कारण था अमेरिका और ब्रिटेन का नील नदी पर बनाए जाने वाले आसवाँ बाँध के निर्माण के लिए आर्थिक सहायता देने से इन्कार। गत कुछ वर्षों से अमेरिका और ब्रिटेन मिस्र के शासन की तटस्थता की नीति से संतुष्ट नहीं थे और उसे किसी प्रकार अपने गुट में मिलाना चाहते थे। मिस्र का साम्यवादी देशों से बढ़ता हुआ पारस्परिक सहयोगपूर्ण सम्बन्ध भी उन्हें असह्य था। इसी कारण मिस्र पर दबाव डालने के लिए उन्होंने आसवाँ बाँध के निर्माण के लिए सहायता देने से इन्कार कर दिया। मिस्र की जनता यह सहन न कर सकी कि साम्राज्यवादी देशों की स्वेज़ कम्पनी प्रति वर्ष करोड़ों पौंड का लाभ उठाए और मिस्र की जनता बाँध के अभाव के कारण भूखी मरे। अपनी २६ जुलाई की स्वेज़ नहर के राष्ट्रीयकरण की घोषणा में राष्ट्रपति नासिर ने स्पष्ट रूप से कहा कि 'हम स्वेज़ नहर की होने वाली आय से, जिसके हम ही वास्तविक अधिकारी हैं, आसवाँ बाँध का निर्माण करेंगे। स्वेज़ कम्पनी की वार्षिक आय पैंतीस करोड़ पौंड है। इसका अर्थ यह है कि स्वेज़ नहर के राष्ट्रीयकरण से मिस्र को पाँच वर्ष में १७५ करोड़ पौंड की आय होगी। यह धन बिना किसी बाह्य सहायता के बाँध निर्माण करने के लिए पर्याप्त होगा।'

राष्ट्रपति नासिर की घोषणा ने विश्व के समस्त राजनीतिक और व्यापारिक केन्द्रों में हलचल मचा दी। यह केवल ब्रिटेन और फ्रांस के लिए चिंता का विषय न थी वरन् उन समस्त राष्ट्रों के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण

थी जो स्वेज़ नहर का प्रयोग करते थे। ब्रिटेन और फ्रांस के लिए इसका महत्व इस कारण और भी अधिक था कि स्वेज़ नहर उनके सुदूर पूर्व में स्थित उपनिवेशों से आवागमन का मुख्य मार्ग थी। जहाँ इस घोषणा ने ब्रिटेन और फ्रांस को चिंता में डाल दिया वहाँ इसने एशिया और अफ्रीका के देशों की जनता में नव स्फूर्ति का संचार किया और उनके द्वारा इसका उत्साहपूर्ण स्वागत किया गया।

ब्रिटेन और फ्रांस की सरकारों ने राष्ट्रीयकरण की घोषणा को मान्यता देने से इन्कार कर दिया और उसे अवैध और अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों के विरुद्ध घोषित किया। साथ ही उन्होंने अपनी जल, थल और नभ सेनाओं को सावधान रहने और आदेश की प्रतीक्षा करने को कहा। मिस्र ने भी इसका उत्तर समस्त युवकों के सैन्यीकरण से दिया। ऐसा प्रतीत होने लगा था कि युद्ध आरंभ ही होने वाला है। परन्तु युद्ध प्रारंभ देर से हुआ। इसके कई कारण थे।

यद्यपि ब्रिटेन और फ्रांस कर्नल नासिर की घोषणा को अवैध बता रहे थे, परन्तु स्वयं उन्हें अपनी बात पर विश्वास न था। यदि उन्हें अपने पक्ष की वैधानिक दुर्बलता का ज्ञान न होता तो निश्चय ही वे इस मामले को अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के समक्ष ले जाते। ब्रिटेन तो स्वयं सन् १९५४ के समझौते में यह स्वीकार कर चुका था कि स्वेज़ मिस्र का अविच्छिन्न अंग है। ऐसी स्थिति में युद्ध प्रारंभ करने पर विश्व की जनता ब्रिटेन और फ्रांस को ही दोष देती न कि मिस्र को। दूसरी बात यह थी कि अमेरिका स्वेज़ नहर के प्रश्न पर मिस्र के साथ युद्ध करने के पक्ष में न था क्योंकि इससे विश्व युद्ध आरंभ हो जाने की संभावना थी। जब लन्दन में ब्रिटेन, फ्रांस और अमेरिका के प्रतिनिधियों ने वार्ता कर स्वेज़ नहर का प्रयोग करने वाले राष्ट्रों का एक सम्मेलन आमंत्रित करने की घोषणा की तो विश्व की जनता ने युद्ध का संकट टला जान कर संतोष की सांस ली।

लन्दन सम्मेलन में अमेरिका के राज्य-सचिव जॉन फ़ास्टर डलेस ने स्वेज़ नहर के लिए अन्तर्राष्ट्रीय प्रबंध स्थापित करने का प्रस्ताव रखा।

भारत, रूस और कुछ अन्य देशों ने इस प्रस्ताव का विरोध किया और यह प्रस्ताव रक्खा कि स्वेज़ का प्रबंध मिस्र के ही हाथ में रहे, परन्तु वह उपयोक्ताओं के परामर्श के अनुसार हो। साथ ही मिस्र यह घोषणा करे कि वह स्वेज़ को सभी राष्ट्रों के पोतों के लिए खुला रखेगा। यद्यपि मिस्र ऐसी घोषणा कर चुका था परन्तु भारत का प्रस्ताव न माना गया। कर्नल नासिर से वार्ता करने के लए आस्ट्रेलया के प्रधान मंत्री राबर्ट मेंज़ीज़ की अध्यक्षता में एक प्रतिनिधि मंडल काहिरा गया परन्तु वह कोई हल न निकाल सका। लन्दन में दोबारा सम्मेलन हुआ और उसमें स्वेज़ नहर उपयोक्ता संघ के निर्माण की घोषणा की गई। यद्यपि इस संघ का पहली अक्टूबर को उद्‌घाटन हो गया परन्तु इसके निर्णयों को कार्यान्वित कराने की समस्या शेष ही रह गई।

अंततः ब्रिटेन और फ्रांस ने स्वेज़ नहर का मामला संयुक्त राष्ट्र संघ की सुरक्षा परिषद् के सम्मुख प्रस्तुत किया। सुरक्षा परिषद् भी किसी निर्णय पर न पहुँच सकी। इसी बीच ब्रिटेन, फ्रांस और मिस्र के विदेश मंत्रियों में वार्ता हुई और वे स्वेज़ संबंधी समझौते के आधार भूत सिद्धांतों पर एक मत हो गए। यह मान लिया गया कि स्वेज़ पर मिस्र का ही प्रबन्ध रहे परन्तु इसमें उपयोक्ता राष्ट्रों के मत का ध्यान रखा जाय। मिस्र ने पुनः ऐसी घोषणा करने का आश्वासन दिया कि ऐसे प्रत्येक राष्ट्र के जिससे मिस्र का युद्ध नहीं हो रहा है, पोतों के लिए स्वेज़ नहर खुली रहेगी।

स्वेज़ समस्या को इस प्रकार हल होते देख समस्त विश्व की जनता संतोष की सांस ले रही थी कि इतने में ही उसे समाचार मिला कि इसरायल ने मिस्र पर बिना किसी कारण के आक्रमण कर दिया है। आक्रमण प्रारंभ होने के तत्काल बाद ही ब्रिटेन और फ्रांस ने दोनों पक्षों के बीच युद्ध रोकने की आड़ में ३१ अक्तूबर १९५६ को मिस्र की राजधानी काहिरा (कायरो) पर बमबारी आरंभ कर दी। ब्रिटेन के कुछ पुछलग्गू देशों के अतिरिक्त विश्व के सभी राष्ट्रों ने इसका प्रबल विरोध किया और संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा ने भी एक प्रस्ताव पारित कर इन देशों से आक्रमण बंद करने

और अपनी सेनाएँ वापस बुलाने को कहा। ब्रिटेन और फ्रांस ने इस पर कोई ध्यान नहीं दिया और अपनी सेनाएँ स्वेज़ क्षेत्र में उतार कर उस पर अधिकार करना आरंभ कर दिया। इसी बीच रूस के प्रधान मंत्री मार्शल बुल्गानिन ने अपने पत्रों के द्वारा ब्रिटेन, फ्रांस और इसरायल से युद्ध बंद करने को कहा और साथ ही यह चेतावनी भी दी कि उन पर भी आणुविक अस्त्रों से आक्रमण हो सकता है। इस चेतावनी के बाद ही इसरायल ने संयुक्त राष्ट्र के प्रस्ताव को मान लिया और ब्रिटेन व फ्रांस ने भी युद्धबंदी की घोषणा की। अब संयुक्त राष्ट्र संघ की ओर से एक अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस की टुकड़ी मिस्र में शांति स्थापन के लिए भेजी जा रही है।

स्वेज़ समस्या अंतिम रूप में किस प्रकार हल होगी यह अभी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, परन्तु इतना निश्चित है कि अब एशिया और अफ्रीका के देशों पर किसी शक्तिशाली राष्ट्र द्वारा बल प्रयोग को विश्व की जाग्रत जनता सहन नहीं करेगी। इस समस्या को स्थायी रूप से मिस्र की जनता की भावनाओं का आदर करते हुए ही हल किया जा सकता है। (१२-११-१९५६)

॥ इति ॥